बीभत्स रस और हिन्दी साहित्य

(पंजाब-विश्वविद्यालय से स्वीकृत एक सर्वथा मौलिक क्रांतिकारी शोध-प्रबन्ध)

डा० कृष्णदेव झारी
पी० जी० डी० ए० वी० कॉलेज
(दिल्ली विश्वविद्यालय)
नई दिल्ली-१

शोध-प्रबन्ध प्रकाशन, नई दिल्ली-५

बीभत्स रस
और
हिन्दी साहित्य

अकिंचन समर्पण !

ममतामयी स्वर्गीया माता जी को !

जिनका मुग्ध-स्नेह

मेरा चिर सम्बल

रहा है !

—कृष्णदेव झारी

लेखक की अन्य प्रकाशित रचनाएँ

आलोचनात्मक

- रस-शास्त्र और साहित्य-समीक्षा ९ ००
- प्रेमचन्द और गोदान नव मूल्याकन ६·५०
- भारतीय काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त ८ ००
- अष्टछाप के कवि नन्ददास ५ ५०
- उपन्यासकार इलाचन्द्र जोशी १०·००
- निबन्धकार रामचन्द्र शुक्ल ३·५०
- काव्य-मनोविज्ञान और अद्भुत रस (मुद्रणस्थ)
- छायावाद और उसके चार स्तम्भ १·५०

राजनीतिक-ऐतिहासिक

- भारत-पाक-युद्ध १९६५ ८·५०

सम्पादित

- कहानी की कहानी ५ ००

बीभत्स रस और हिन्दी साहित्य

(पंजाब-विश्वविद्यालय से स्वीकृत एक सर्वथा मौलिक क्रांतिकारी शोध-प्रबंध)

डा० कृष्णदेव झारी
पी० जी० डी० ए० वी० कॉलेज
(दिल्ली विश्वविद्यालय)
नई दिल्ली-१

शोध-प्रबन्ध प्रकाशन, नई दिल्ली-५

प्रकाशक : शोध-प्रबन्ध-प्रकाशन,
५-मननगर, करौलबाग, नई दिल्ली-५
मुद्रक : आगरा फाइन आर्ट प्रेस, राजा मण्डी, आगरा-२
मूल्य : बीस रुपये
प्रथम संस्करण : जनवरी १९६७

Bibhatsa-Rasa & Hindi Literature

BY

Dr. Krishan Dev Jhari

Price Rs. Twenty only.

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोध-प्रबध मेरी पाँच साल पहले की रचना है। इसके प्रकाशन मे अनावश्यक विलम्ब हो गया। परीक्षको की प्रशंसापूर्ण रिपोर्ट के आधार पर पंजाब-विश्वविद्यालय ने इसे स्वयं प्रकाशित करने का निर्णय किया था, किन्तु सभवत उचित व्यवस्था न होने के कारण प्रकाशन मे विलम्ब हो गया। तब मैने इस वर्ष फर्वरी-मार्च मे इसे स्वय प्रकाशित कराने की अनुमति पंजाब-विश्वविद्यालय से प्राप्त कर ली और यह प्रकाशन सभव हुआ। यद्यपि भारतीय काव्य-शास्त्र—विशेषतः रस-सिद्धान्त के सम्बन्ध मे मेरी विचारधारा गत पाँच वर्षो मे और आगे बढी है और इस दृष्टि से प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे परिवर्द्धन और स्वल्प सशोधन की अब पर्याप्त गुजाइश थी, किन्तु दो कारणों से मैने इस रचना को ज्यो-का-त्यो प्रकाशित कराना ही उचित समझा' एक तो यही कि मै शोध-कार्य के यथारूप मे प्रकाशित होने के पक्ष मे हूँ ताकि समय-समय पर हुए हमारे शोध-कार्य के स्तर और गतिविधि का ठीक-ठीक पता चलता रहे, दूसरे यह कि मेरे नव चितन का कुछ अश 'रस-शास्त्र और साहित्य-समीक्षा' नामक पुस्तक मे गत वर्ष प्रकाशित हो चुका है और अन्य भी 'भारतीय काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त' तथा 'काव्य-मनोविज्ञान और अद्भुत रस' नामक दो अन्य ग्रथो मे प्रकाशित हो रहा है। अत' बिना कुछ जोडे-घटाये मै इसे ज्यो-का-त्यो प्रकाशित करा रहा हूँ। इन शब्दो के अतिरिक्त इसका प्राक्कथन भी वही रख रहा हूँ।

जैसाकि शीर्षक से ही स्पष्ट है, प्रस्तुत प्रबन्ध दो भागों मे विभाजित किया गया है। पूर्वार्द्ध मे रस-सिद्धान और बीभत्स रस का शास्त्रीय विवेचन किया गया है और उत्तरार्द्ध मे हिन्दी साहित्य मे बीभत्स रस का अध्ययन किया गया है।

भारतीय रस-सिद्धात पर मेरी आस्था है। इसलिए आरम्भ मे रस-सिद्धान्त की उपयोगिता पर संक्षेप मे विचार किया गया है। रस-सिद्धान्त मे आवश्यक सशोधन और परिवर्द्धन करके हम इसे समीक्षा का सर्वग्राह्य शाश्वत मानदण्ड घोषित कर सकते है, ऐसी मेरी मान्यता है। प्राचीन रस-सिद्धान्त की भ्रांतियो और कमियो को दूर करके तथा उसके सीमित क्षेत्र को व्यापकता प्रदान करके उसके पुनर्निर्माण की आवश्यकता को मैंने अनुभव किया है। सब तत्त्वो से समन्वित उदात्त रस को मैने काव्य की कसौटी निर्धारित किया है। प्राचीन आचार्यो की रस-सम्बन्धी स्थूल

वस्तुगत दृष्टि का मैंने खण्डन किया है, और रस-दृष्टि को विषयीगत काव्य-मनोवैज्ञानिक दृष्टि मानना ही उचित ठहराया है। भयानक-रौद्र आदि अन्य रसों के स्वरूप-विवेचन में मैंने प्राचीन आचार्यों की भ्रान्तियों का भी अवलोकन किया है। विषयीगत मानसिक रूप को ही रस का वास्तविक रूप माना है। मम्मट आदि के शृंगार-सम्बन्धी स्थूल शारीरिक उदाहरणों में भी मुझे रस का मानसिक रूप खोया-सा प्रतीत हुआ है।

बीभत्स रस के सम्बन्ध में आचार्यों की 'रुधिर-मांस-मज्जा' वाली स्थूल लौकिक वस्तुगत धारणा का मैंने खण्डन किया है। आचार्यों द्वारा प्रतिपादित बीभत्स-रस रस प्रतीत ही नहीं होता। आचार्यों के जुगुप्सा स्थायी भाव को मैंने इन्द्रियज ग्लानि माना है, और उसे केवल संचारी भाव स्वीकार किया है। मानसिक जुगुप्सा या मानसिक घृणा को ही बीभत्स रस का स्थायी भाव ठहराया है। बीभत्स रस के वास्तविक स्वरूप का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके उसके उदात्त रूप की विस्तृत सैद्धान्तिक व्यवस्था की है। बीभत्स रस का नैतिकता से अनिवार्य सम्बन्ध मानकर उसके सामाजिक आधार को भी स्पष्ट किया गया है। मैंने अन्य रसों और भावों से घृणा के भेद और सम्बन्ध की मीमांसा करके बीभत्स रस के सही स्वरूप का निर्णय करने का प्रयत्न किया है। घृणा के अनेक भेदोपभेदों पर भी विचार किया गया है। करुण रस की तरह, बीभत्स रस के बारे में भी यह प्रश्न उठता है कि इस दुखात्मक भावानुभूति से आनन्द-प्राप्ति कैसे सम्भव होती है? इस प्रश्न के समाधान के अतिरिक्त बीभत्स रस में एक और समस्या उठती है कि बीभत्स, कुरूप, विद्रूप वस्तुओं अथवा दृश्यों के देखने या पढ़ने से भी सौन्दर्यानुभूति कैसे होती है? अतः बीभत्स रस से आनन्दानुभूति और सौन्दर्यानुभूति की समस्याओं पर भी विचार किया गया है। साहित्य में अश्लीलता के प्रश्न पर विचार करके मम्मट आदि के "अश्लील क्वचिद् गुण." पर बीभत्स रस की दृष्टि से विचार किया है। उपर्युक्त सिद्धान्त-विवेचना में मेरी कुछ मौलिक स्थापनाएँ ये हैं :

१ उदात्त भावानुभूति ही रसानुभूति है।

२. पाश्चात्य सेंटिमेंट भी हमारे स्थायी भाव नहीं, केवल उदात्त, स्पृहणीय भाव या सेंटिमेंट ही स्थायी भाव है।

३ उदात्त रस ही काव्य की श्रेष्ठता का मानदण्ड है।

४ रसों-सम्बन्धी उत्पाद्य-उत्पादक धारणा भ्रान्तिपूर्ण है।

५. रौद्र रस का आश्रय राक्षसादि को नहीं माना जा सकता।

६ शत्रुपक्ष (विपक्ष) में भय से भयानक रस की सिद्धि नहीं होती।

७. बीभत्स दृश्य अनिवार्यतः बीभत्स रस का विषय नहीं कहा जा सकता। शत्रु के रक्त से स्नात भीम बीभत्स रस का आलम्बन नहीं।

८. रस-दृष्टि विषयगत नहीं, विषयीगत मानसिक दृष्टि है।

९. मम्मट आचार्य आदि के स्थूल शारीरिक उदाहरणो मे शृंगार रस का भी मानसिक मनोवैज्ञानिक उदात्त रूप दब-सा गया है।

१०. आचार्यों की विषयगत रस-दृष्टि ने रसों के स्वरूप-बोध मे कई भ्रांतियाँ उत्पन्न की है।

११. आचार्यों का बीभत्स रस-निरूपण सर्वथा दोषपूर्ण है।

१२. घ्राण आदि इन्द्रियो के ही आधार पर ग्लानि उत्पन्न करने वाली वस्तुओ को बीभत्स रस का आलम्बन नही माना जा सकता।

१३ रस प्रवृत्त्यात्मक होता है।

१४. आचार्यों द्वारा जुगुप्सा का स्वरूप इन्द्रियज ग्लानि ही है, वह स्थायी भाव की कसौटी पर नही ठहरता।

१५. इन्द्रियज ग्लानि सचारी भाव है।

१६. मानसिक घृणा ही बीभत्स रस का स्थायी भाव है।

१७ मानसिक घृणा का नैतिकता से अनिवार्य सम्बन्ध है।

१८. आत्मग्लानि मानसिक घृणा का ही रूप है।

१९. घृणा प्रेम के समकक्ष व्यापक, तीव्र और उदात्त भाव-वृत्ति है।

२०. आदि कवि का आदि श्लोक शोक (करुण रस) का नही, घृणा (बीभत्स रस) का उदाहरण है।

२१. अनेक सचारियो से युक्त घृणा अनेक रूपो मे प्रकट होती है।

२२ तीखे व्यग्य को हास्य रस मे नही, बीभत्स रस मे गिनना चाहिए।

२३. प्रेम की सम्बन्ध-भावना-जैसी आनन्दानुभूति घृणा की सम्बन्ध-भावना में होती है।

२४ जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे बीभत्स रस के विभिन्न आलम्बन पाये जाते है।

२५. रस के अवयवो मे उद्दीपन-विभाव के अतिरिक्त अनुभाव और संचारी भाव भी उद्दीपक-सामग्री ही है।

२६. रति-मोह को छोडकर बीभत्स रस मे सब संचारियो की स्थिति सभव है।

२७. बीभत्स रस मे जहाँ आलम्बन की आन्तरिक कुरूपता के साथ बाह्य वातावरण की कुरूपता और आलम्बन की व्यक्तिगत बाह्य कुरूपता का सामजस्य घटित होता है, वहाँ घृणा भाव अत्यन्त ही ऊँची रस-भूमि को प्राप्त होता है।

२८ स्थायी भावों मे उच्च-नीच-प्रकृति मानना भ्रांति है।

२९. अश्लील शारीरिक अनुभव भावनात्मक अनुभूति दो ही रूपो में हो सकता है—एक प्रेम और दूसरे घृणा के रूप में।

३०. करुण और बीभत्स रस का सह-अस्तित्व अनेक सशक्त काव्यों मे रहता है, आदि।

उत्तरार्द्ध में हिन्दी साहित्य—विशेषकर आधुनिक साहित्य मे बीभत्स रस का जो प्रचुर चित्रण पाया जाता है, उसका अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। हमारे संस्कृत-प्राकृत तथा हिन्दी के प्राचीन साहित्य मे अधिकतर व्यक्ति-चरित्रो के रूप मे ही बीभत्स रस-चित्रण पाया जाता है। वस्तुत. आधुनिक युग मे ही जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टि जगने के कारण, समाज और जीवन की अनेक यथार्थ समस्याएं साहित्य मे चित्रित हुई है। अत सामाजिक विकृतियो के रूप मे घृणा का प्रसार आधुनिक युग की ही विशेषता है। हमारे लेखकों ने समाज की गली-सड़ी रूढ़ियो, दूषित परम्पराओ तथा भिन्न-भिन्न सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक बुराइयो एव वैयक्तिक दूषित मनोवृत्तियो को आधुनिक साहित्य मे उघार कर रख दिया है। समाज की समस्त बुराइयो के प्रति उनकी घृणा फूट निकली। अत. हमारे आधुनिक साहित्य मे बीभत्स रस का खूब चित्रण हुआ है। समाज के भिन्न-भिन्न पहलुओ, अनेक अगो तथा जीवन की अनेक समस्याओ का रोचक अध्ययन इस बीभत्स रस के अध्ययन मे स्वत हो गया है। जीवन की सैकड़ो समस्याएं और उनके भिन्न-भिन्न रूप इस घृणा भाव के आश्रय प्रकाश मे आए है। इस प्रकार बीभत्स रस का अध्ययन भी एक तरह से जीवन का अध्ययन ही है—यह स्पष्ट सिद्ध हुआ है। हमारे प्राचीन आचार्य जीवन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे बीभत्स रस का अवलोकन नहीं कर सके थे। इस अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि बीभत्स रस जीवन-निर्माण की अद्भुत उपयोगी शक्ति रखता है।

रस और बीभत्स रस-सम्बन्धी युग-युग से प्रचलित भ्रान्त धारणाओ के खण्डन मे कही-कही पुनरुक्ति की भी मुझे आवश्यकता प्रतीत हुई है। बीभत्स रस के सम्बन्ध मे बहुत-से आधुनिक आलोचको मे भी परम्परागत दृष्टि ही पाई जाती है। मेरे कई साथी-बन्धुओं ने बीभत्स रस की सामग्री पर ही सन्देह प्रकट किया था। उनका कहना था कि बीभत्स रस हिन्दी साहित्य मे इतना कहाँ है कि थीसिस का विषय बन सके। उनका सन्देह मिटाने के लिए तथा बीभत्स रस की तीव्र अनुभूति कराने के लिए मुझे साहित्यिक रचनाओ से उदाहरण भी खूब प्रस्तुत करने पड़े है। किन्तु मेरे अध्ययन के इस उत्तरार्द्ध मे केवल उदाहरण ही नही है, विवेचना की कुछ मौलिक स्थापनाये भी हैं। जैसे, मेरी मान्यता है कि (१) संस्कृत के 'शिशुपालवध' और 'वेणीसहार' मे बीभत्स रस का आलम्बन पूर्णत प्रतिष्ठित नहीं हो पाया है, इसी से इन मे रस-दोष पाया जाता है। (२) प्रेमचन्द आदि सामाजिक उपन्यासकारों का बीज भाव घृणा ही है। (३) 'सेवासदन', 'सरकार तुम्हारी आँखो में', 'गद्दार', 'बलचनमा' आदि तथा प्रगतिवादी और अन्य यथार्थवादी लेखकों के अनेक उपन्यास तथा सैकड़ों कहानियाँ बीभत्स रस-प्रधान हैं। (४) जैनेन्द्र के उपन्यासो में आत्मपीड़न

के कारण क्षोभपूर्ण घृणा का प्रसार कम है उनमे घृणा का दयामिश्रित रूप ही प्रकट हुआ है . (५) बीभत्स रस के आलम्बनत्व की अपूर्णता के कारण ही हिन्दी की राष्ट्रवादी तथा प्रगतिवादी कविता मे इतिवृत्तात्मकता का पर्याप्त दोष पाया जाता है, आदि।

इस प्रकार रस-सिद्धान्त और बीभत्स रस पर नई दृष्टि से विचार करना और बीभत्स रस के वास्तविक स्वरूप की स्थापना द्वारा हिन्दी साहित्य मे उसके व्यापक प्रसार का अध्ययन करना ही प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय है। भारतीय काव्य-शास्त्र के दो-ढाई हजार वर्षो के इतिहास मे बीभत्स रस का सर्वथा मौलिक, सर्वांगीण काव्य-मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने वाला यह पहला ग्रन्थ है। आशा है विद्वानो को यह रचना रुचिकर प्रतीत होगी।

अन्त में मैं उन सब विद्वानो तथा महानुभावो के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना कर्त्तव्य समझता हूं, जिनसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुझे इस कार्य की सिद्धि-हेतु सहायता प्राप्त हुई है। मित्रवर डा० गणपतिचन्द्र गुप्त तथा डा० जयभगवान गोयल का प्रेरणापूर्ण अपार स्नेह मुझे कार्यगति प्रदान करता रहा है—इनका आभार मैं कैसे प्रकट करूं ? मित्रवर श्री तनसुखराम गुप्त का भी विशेष आभारी हूं जिनकी कृपा से इस ग्रन्थ का शीघ्र प्रकाशन सम्भव हुआ।

नई दिल्ली
कृष्ण-जन्माष्टमी स० २०२३
तदनुसार ८ सितम्बर, १९६६

—कृष्णदेव झारी

विषय-सूची

द्वितीय खण्ड : बीभत्स-रस का शास्त्रीय निरूपण

उत्तरार्द्ध : हिंदी साहित्य में बीभत्स-रस

पूर्वार्द्ध

रस-सिद्धान्त और बीभत्स रस का शास्त्रीय विवेचन

प्रथम खण्ड

रस-सिद्धान्त और आचार्यों का रस-दृष्टि-दोष

अध्याय १

रस-सिद्धान्त : साहित्य-समीक्षा का मान

● रस-सिद्धान्त: साहित्य-समीक्षा का मान

रस-सिद्धान्त—एक परीक्षण

बीभत्स रस पर विचार करने से पूर्व रस और रस-सिद्धान्त की महत्ता या
गिता पर विचार करना आवश्यक है। यह आवश्यकता आज और भी अधिक
त्र हो रही है, क्योंकि आधुनिक युग में रस तथा रस-सिद्धान्त को संदेह की दृष्टि
ा जा रहा है। कुछ विद्वान् आधुनिक साहित्य की परख में रसों और रस-
त की आवश्यकता ही नहीं मानते। प्रगतिवादी आलोचक भारतीय रस-सिद्धान्त
था विरुद्ध है। डा० रामविलास शर्मा अपने एक लेख "रस-सिद्धान्त और आधु-
ाहित्य" में लिखते हैं—"साहित्य विकासमान है, और वह एक महान् सामाजिक
है, इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि प्राचीन आचार्यों ने भविष्य देखकर जो
त बनाये थे, वे आज नए साहित्य पर पूरी-पूरी तरह लागू नहीं किए जा
। उन्हें लागू करने से या तो पैमाना टूट जाएगा या फिर अपने ही पैरों को
तराशना पड़ेगा। काव्य के नौ रसों से नये साहित्य की परख नहीं होती।.........
की धाराएँ एक-दूसरे से इतनी मिली-जुली है कि नौ रसों की मेड बाँध कर
पने मन के मुताबिक नहीं बढ़ाया जा सकता। प्रेमचन्द के साहित्य ने यह सिद्ध
दया है कि इस नये साहित्य को परखने के लिए युग के अनुकूल नये सिद्धान्त
होंगे।.........इसलिए साहित्य के सामने यह समस्या नहीं है कि रस नौ होते हैं
नसे ज्यादा, और "गबन" में शृंगार है या रसाभास। इन संचारी-व्यभिचारी
को रटा-रटा कर हम अपने विद्यार्थियों को साहित्य की प्रगति से दूर रखने का
प्रयास कर रहे हैं। साहित्यकार सामाजिक उत्तरदायित्व को भूलकर अगर
की अखण्डता और रस के स्वयं-प्रकाश अलौकिक ब्रह्मानन्द-सहोदर होने की
ोहराता रहेगा, तो वर्गहीन समाज के निर्माण में सहायक न हो सकेगा।"[1]

ा० रामविलास शर्मा : "रस-सिद्धान्त और आधुनिक साहित्य" नामक निबन्ध। "सिद्धान्त
ौर समीक्षा" (संपादक सन्तराम विचित्र), पृष्ठ ८८-९० में उद्धृत।

रस और रस-सिद्धान्त के सम्बन्ध मे उपर्युक्त धारणा के कई कारण है। एक तो यह कि काव्यरस के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध मे कुछ भ्रान्तियो का निराकरण अभी भी अपेक्षित है। काव्यरस के उदात्त रूप का समुचित अवलोकन और उसकी प्रतिष्ठा की आवश्यकता है। हमारे प्राचीन आचार्यो मे भी रसो-सम्बन्धी अनेक भ्रांतियाँ पाई जाती है। प्राचीन आचार्य भी काव्यरस मे उदात्त तत्त्व की प्रतिष्ठा भली प्रकार नही कर सके थे। उनके लिए संभवत: शृङ्गार रस की कामुकतापूर्ण उक्ति भी रस का उदाहरण थी, और त्याग, कर्त्तव्य, साहस आदि उदात्त भावनाओ से परिपूर्ण प्रेम का चित्रण भी शृङ्गार रस का उदाहरण था। इन दोनों मे श्रेष्ठता की दृष्टि से परख का विचार उनके सम्मुख था ही नही। यही कारण है कि रसानुभूति की श्रेष्ठता की कसौटी वे हमे प्रदान नही कर सके।

रस-सिद्धान्त पर संदेह का दूसरा बड़ा कारण यह है कि आज तक हम अपनी रस-दृष्टि केवल इस बात मे ही सीमित किए हुए है कि अमुक रचना मे कौन-कौन-सा रस है, किस रस की प्रधानता है, अर्थात् हमारी रस-दृष्टि केवल रस गिनाने तक ही सीमित रहती है। हम भावो और रसो की जीवनोपयोगिता तथा उनके आधार पर कवि या लेखक की सम्पूर्ण रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण करते ही नहीं, और इस प्रकार रस-सिद्धान्त एक सीमित समीक्षा-सिद्धान्त प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि उसका समाज और जीवन की प्रगति से विशेष सम्बन्ध नही, कि वह वैयक्तिक आनन्दानुभूति मात्र है।

अतः रस-सिद्धान्त-सम्बन्धी उपर्युक्त विरोध का खण्डन करने के लिए हमे काव्यरस के उदात्त रूप का स्पष्ट प्रतिपादन करना होगा, और इस सम्बन्ध म समस्त भ्रांतियो का निराकरण करते हुए सिद्ध करना होगा कि रस-सिद्धान्त व्यक्तिगत नही, समष्टिगत है या व्यष्टिगत होते हुए भी समष्टिगत है, और इसमे जीवन की सम्पूर्ण उदात्तता को समाहित करने की शक्ति है। जीवन के वैषम्य पर क्षुब्ध, करुणार्द्र या घृणा से प्लावित हुए बिना अर्थात् भावानुभूति या रसानुभूति के बिना कोई व्यक्ति वर्गहीन या वैषम्यहीन समाज के निर्माण मे प्रवृत्त हो ही नही सकता, या यों कहे कि काव्य मे सामाजिक विषमता के प्रति लेखक की घृणात्मक तथा करुणामय प्रतिक्रिया ही, जो निश्चय ही रसानुभूति है, वर्गहीन समाज के निर्माण मे सहायक होगी। अतः रस का निषेध करना भ्रान्तिपूर्ण है।

डा० रामविलास शर्मा आदि हिन्दी के प्रगतिवादी आलोचकों की रस-सिद्धान्त-विरोधी मान्यता और सामाजिक प्रगति को ही साहित्य और साहित्य-समीक्षा का मानदण्ड मानने की विचारधारा का विरोध करते हुए भी उनके उपर्युक्त कथन के मूल मे जो सत्य है, उस पर हमे अवश्य ध्यान देना होगा। निस्सदेह रस-सिद्धान्त-सम्बन्धी रस गिनाने वाली प्राचीन धारणा अपर्याप्त है। आज हमे अपनी रस-दृष्टि को व्यापक बनाने की आवश्यकता है। ऐसी व्यापक उदात्त रस-दृष्टि को

ही हमे आलोचना का आदर्श मानदण्ड घोषित करना होगा, जिसमे नैतिक मूल्याकन का मानदण्ड तथा समीक्षा की ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक तुलनात्मक, समाजशास्त्रीय आदि सभी शैलियाँ और भिन्न-भिन्न साहित्य-रूपो के भिन्न-भिन्न रचना-विधान से सम्बन्धित तत्त्व समन्वित हो। ऐसी व्यापक रस-दृष्टि की प्रतिष्ठा का ही प्रयास हमने आगे किया है।

रस-सिद्धान्त-विरोधी कुछ आलोचको को छोडकर, आज हिन्दी मे प्राय सभी प्रमुख आलोचको को यह स्वीकार है कि न केवल प्राचीन रस सिद्धान्त को यथावत् रूढ़ रूप मे अपनाने से काम चलेगा और न ही उसकी उपेक्षा से। प्राचीन मानदण्ड को ही व्यापक बनाने की आवश्यकता है, तभी हम अपने राष्ट्रीय साहित्य के अनुरूप समीक्षा का समुचित स्वरूप सुरक्षित रख सकेगे। इस सम्बन्ध मे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का कथन है . "नए साहित्य के साथ पुराने सिद्धान्तो का विनियोग किस प्रकार होगा, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। कदाचित् इसीलिए कुछ लोग यह कहने और मानने लगे है कि उन पुरातन सिद्धान्तो को छोड ही देना चाहिए, और नवीनतम पाश्चात्य सिद्धान्तो को अपना लेना चाहिए। मै इस प्रकार के विचारों और विचारको से सहमत नही हूँ।"[1]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र आदि हिन्दी के प्रमुख विचारक रस-सिद्धान्त के बड़े समर्थक है। शुक्ल जी ने तो बडे विश्वास के साथ घोषित किया था कि अपनी रस-पद्धति से हम सब देशो के सब भाषाओं के साहित्य का समुचित मूल्याकन कर सकते है। वाजपेयी जी और डा० नगेन्द्र ने भी रस-सिद्धान्त की छान-बीन करके उसे नवीन वैज्ञानिक दीप्ति प्रदान करने का स्तुत्य कार्य किया है। अभी भी ये विद्वान् इसी प्रयत्न मे लगे है।

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी . 'नया साहित्य, नये प्रश्न' (प्रथम संस्करण) पृ० १३४।

पाश्चात्य समीक्षा-मान और रसानुभूति

भारतीय रस-आचार्य और समीक्षक ही नही, प्लेटो से लेकर टाल्स्टाय तथा
स आदि तक सभी प्राचीन और आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् भी काव्य मे भावानु-
और आनन्द का महत्त्व स्वीकार करते आए है। इन पाश्चात्य विद्वानो की अनेक
उक्तियाँ प्रकट की जा सकती है, जिनमे रस-सिद्धान्त का समर्थन या भाव और
ी महत्ता स्पष्ट प्रमाणित होती है। ग्रीक समीक्षा के इतिहास मे पहला नाम
का लिया जाता है। राष्ट्रीय आवश्यकताओ, युगीन परिस्थितियो तथा समाज-
ा की उत्कट अभिलाषा के कारण प्लेटो ने केवल आनन्द-सुख, निष्क्रिय सुख या
परितोष को ही काव्य-प्रयोजन मानकर काव्य की उपेक्षा ही की। उसकी
गितावादी नैतिक दृष्टि को काव्य सत्य से दुगना-तिगुना दूर दिखाई दिया। उसने
ो ख्याली पुलाव पकाने वाला निठल्ला प्राणी ही समझा। पर इस फटकार और
मे भी हम कुछ महत्त्वपूर्ण शब्द पा जाते है, जो भारतीय रस-दृष्टि के अनुकूल
विता की प्रभावशक्ति और आनन्द-विभोर करने की क्षमता को मानते हुए प्लेटो
ा—"उस समय जबकि वह शोकार्त व्यक्ति का अनुकरण करते हुए विषादमय
प्रकट करता है तो तुम जानते हो कि वह हमे आनन्द प्रदान करता है और
क्त भाव से उसका अनुगमन करने लगते है, हमारी सहानुभूति जाग्रत होती है
,म पर गभीर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार जिसका हमारे ऊपर सर्वाधिक प्रभाव
है, उसी की सुकवि के रूप मे हम प्रशसा करते हैं।"[1]
यद्यपि इस प्रभाव को वस्तुजगत् का असत्य मानकर प्लेटो ने इसकी उपेक्षा
पर भावो की आनन्ददायिनी और प्रभावोत्पादिनी शक्ति तथा करुण रस की

श्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा (सपादक डा० नगेन्द्र), पृ० २१ (प्लेटो के 'गणतत्र' का
नुवाद)।

आनन्दानुभूति में सहानुभूति सिद्धान्त आदि ऐसे तथ्य है, जो रस-सिद्धान्त से निकट सम्बन्ध रखते हैं, और उनके कथन मे हमे अनायास ही प्राप्त हो गए है। खेद है कि भावो की प्रभाव-शक्ति को मानते हुए भी प्लेटो इस प्रभाव के उदात्त रूप का साक्षात्कार नही कर सके। उस समय के त्रासदी साहित्य का करुण प्रभाव उन्हें निरर्थक ही लगा।

प्लेटो के पश्चात् अरस्तू तथा लोंजाइनस ने ग्रीक समीक्षा को पर्याप्त हद तक नैतिक आतंक से मुक्त किया। अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त तथा लोगिनस या लोजाइनस के 'उदात्त तत्त्व' मे भी भावो की महत्ता स्पष्ट स्वीकृत है। अरस्तू ने त्रासदी को उत्कृष्ट कला इसीलिए माना कि त्रासदी मे भावो का सघन प्रभाव अधिक होता है। फिर भी अरस्तू की दृष्टि अधिकतर वस्तुपरक ही रही, यही कारण है कि वे भावो को मूल्यांकन की व्यापक कसौटी प्रमाणित नहीं कर सके। अरस्तू की वस्तुपरक दृष्टि के विपरीत लोजाइनस ने आत्मपरक दृष्टि को अपनाया। उनके उदात्त के विवेचन मे आत्म-तत्त्व की ही प्रधानता है। उन्होने उदात्त अभिव्यंजना के पाँच तत्त्व बताए है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रथम तत्त्व है—महान् विचारोद्भावना की क्षमता। दूसरा प्रमुख तत्त्व है—प्रेरणा-प्रसूत एव उद्दाम आवेग। इन दोनो तत्त्वो को लोजाइनस ने अधिकाशत नैसर्गिक बताया। शेष तीन तत्त्व अशत कला की पूर्ति करते है। वे है—समुचित अलकार-योजना, सुष्ठु भाषा और गरिमामय रचना-विधान।[1] लोजाइनस ने उच्च विचारो और उदात्त भावो को काव्य के प्रमुख तत्त्व घोषित करके काव्य के सच्चे स्वरूप की प्रतिष्ठा की।

पुनर्जागरण काल से लेकर सत्रहवी शताब्दी तक पश्चिम मे साहित्य तथा समालोचना के सम्बन्ध मे जो विचार-जगत् आन्दोलित हुआ, उसके परिणामस्वरूप १८ वीं, १९ वी तथा २० वीं शताब्दियों मे कई गंभीर काव्य-सिद्धान्तो का जन्म हुआ। शास्त्रवादी : स्वच्छन्दतावादी, कलावादी नीतिवादी, सौष्ठववादी . बौद्धिक ज्ञानवादी, मनोवैज्ञानिक · समाजवादी आदि कई दार्शनिक द्वन्द्वो की परम्परा चली। इस विचार-मथन से कला और साहित्य-सम्बन्धी अनेक सत्यो की उपलब्धि हुई।

शास्त्रवादियों की रूढिवादिता के विरुद्ध स्वच्छन्दतावादियों ने वैयक्तिक स्वतत्रता, कल्पना-प्रियता, आह्लाद, व्यष्टिचेतना, सौन्दर्यवाद और भावुकता आदि तत्त्वो का आग्रह किया। कला और साहित्य की स्वच्छन्द भावात्मक आतरिक सौन्दर्यानुभूति का सिद्धान्त इनकी बडी देन है। कॉलरेज, वर्ड्स्वर्थ, शैले आदि सभी ने भाव-तत्त्व की महत्ता स्वीकार की है। कॉलरेज के अनुसार, काव्य का प्रयोजन सौन्दर्य के माध्यम से भाव-जन्य आनन्द प्रदान करना है।[2]

---

१. काव्य मे उदात्त तत्त्व, (प्रथम संस्करण), पृ० ४४।
२. 'Poetry is the excitement of emotion for the purpose of immediate pleasure through the medium of beauty.' —*Coleridge*

स्वच्छन्दतावादियो ने सौन्दर्य को प्रमुख तत्त्व माना। उनके अनुसार आनन्द या आह्लाद सौन्दर्य पर आधारित है और सौन्दर्य कल्पना पर आश्रित है। कल्पना और सौन्दर्य की बात इन्होने अधिक की, फलत भाव-सौन्दर्य या भावानन्द की बात पीछे पड़ गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि इनकी व्यक्तिगत स्वतत्रता समष्टिचेतना और सामान्य भावानुभूति की विरोधी-सी होने लगी। कल्पना की क्रीडा और सौन्दर्य-चित्रण के आग्रह मे भावो की उदात्तता का दृष्टिकोण पीछे पड गया। सास्कृतिक और नैतिक मूल्यो की बात भी दब गई। इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप १९ वीं शती के उत्तरार्द्ध मे मैथ्यू आर्नल्ड, रस्किन आदि विचारको ने कला मे सास्कृतिक मूल्यो के महत्त्व पर जोर दिया।

टाल्स्टाय का काव्य-सिद्धान्त : टाल्स्टाय भी कला के प्रति मानवतावादी उपयोगितावादी सिद्धान्त लेकर आए। उन्होने कला और साहित्य की कसौटी विशाल मानवतावादी प्रभाव बताई। केवल सौन्दर्य-आनन्द कला का प्रयोजन नही है। उनके अनुसार अपने युग और अपने वर्ग से ऊपर उठकर जो कवि सम्पूर्ण मानवता के मगल का विधान अपनी रचना मे करता है, वही सर्वश्रेष्ठ है। कला को केवल आनन्द का साधन समझने वाले प्लेटो आदि प्राचीन विचारक तो भ्रम मे थे ही, पर उनसे भी कही अधिक भ्रम में आज के कलावादी हैं, जो कला का साध्य केवल आनन्द मानते हैं।

टालस्टाय ने कला का मूल भाव को ही बताया। उनके सक्रमण सिद्धान्त (Infection Theory) के अनुसार काव्य के भाव सक्रामक होते है, अर्थात् दूसरो मे सम्प्रेषणीय होते है। अत वे ऐसे नही होने चाहिएँ, जो रोग के कीटाणुओं की तरह छूत की बीमारी फैलाये। वे उदात्त होने चाहिएँ, जिनका जन-जीवन पर शुभ प्रभाव पडे। उदात्त भावो का क्षेत्र टालस्टाय ने धर्म को बताया। विश्वप्रेम और विश्वकरुणा ही वास्तविक धर्म है। अत इन्ही की सिद्धि श्रेष्ठकला का मानदण्ड है। टालस्टाय का उदात्त भावानुभूति का सिद्धान्त भारतीय रस-सिद्धान्त से बहुत साम्य रखता है। पर जब टालस्टाय कला का मानदण्ड उदात्त भाव के स्थान पर विश्व-बधुत्व की सिद्धि बताने लगते है, तब वे विशुद्ध साहित्यिक मूल्याकन से दूर प्रतीत होते है। जहाँ सौन्दर्यवादियो और स्वच्छन्दतावादियों ने सौन्दर्य के उदात्त रूप अर्थात् उदात्त भाव-सौन्दर्य की अवहेलना की, वहाँ टालस्टाय जैसे रस-सिद्ध विचारक भी नीति या धर्म और सौन्दर्य या आनन्द का सही समन्वय प्रस्तुत न कर सके। वस्तुत उदात्त भाव से आगे धार्मिक या मागलिक मूल्य को वे साध्य मान लेते है और भाव को केवल साधन। यदि वे उदात्त भावानन्द को ही कला का मानदण्ड ठहराते तो कलावादियो या आनन्दवादियों से भी उनका कोई विरोध न रहता।

'कला कला के लिए' सिद्धान्त : उपर्युक्त नीतिवादी या जीवनोपयोगितावादी कलासिद्धान्त के विपरीत, पश्चिम मे वाल्टर पेटर, आस्कर वाइल्ड और ब्रैडले आदि विचारको ने 'कला कला के लिए' या 'कविता कविता के लिए' सिद्धान्त का प्रचार

किया। इनकी विचारधारा का केन्द्र-बिन्दु था सौन्दर्य। सौन्दर्य-जन्य आनन्द को ही इन्होंने काव्य-कला का चरम मूल्य और प्रयोजन स्वीकार किया। इन्होंने जीवन-तत्त्वों या नैतिक मूल्यों की बात कला-साहित्य से एकदम बहिष्कृत करना चाही हो, सो तो नहीं, हाँ उसे गौण अवश्य बना दिया।

ब्रैडले ने काव्य का अन्तरंग मूल्य कल्पनात्मक अनुभव या सौन्दर्यानुभव ही माना है। शिक्षा, वासनाओं का संस्कार आदि सांस्कृतिक एवं धार्मिक तत्त्व काव्य के बहिरंग मूल्य ही हैं।[1] उन्हें इस बात का डर रहा है कि इन बाह्य मूल्यों पर ध्यान रहने से काव्य-मूल्य (कल्पनात्मक अनुभूति) को क्षति पहुँचेगी। ब्रैडले का कथन है कि 'काव्य अपना साध्य आप है'—से यह समझना भूल है कि काव्य और मानव-हित परस्पर विरोधी है। काव्य भी मानव-हित का ही एक रूप है। पर इसका मूल्यांकन इसके अपने मूल्य को छोड़कर मानव-हित को नहीं बनाना चाहिए। वस्तुतः ब्रैडले यही चाहते हैं कि किसी कविता का मूल्यांकन नीति, धर्म आदि की बाह्य बातों के आधार पर नहीं होना चाहिए। वे उसकी कसौटी यही बताते हैं कि क्या काव्य हमारी कल्पना को परितोष देता है? नीति, धर्म, ज्ञान, सांस्कृतिक उच्च आदर्श अपने में कुछ नहीं। काव्य की दृष्टि से इनका महत्त्व तभी सिद्ध होता है, जब वे कवि की आत्मा में अन्तर्भूत होकर आते हैं, उसकी कल्पना का अंग बन जाते हैं।

ब्रैडले के विचारों से जो तथ्य निकलते हैं, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण यही है कि काव्य-मूल्यांकन किसी नीति या आदर्श के आधार पर नहीं किया जा सकता। नीति या धर्म को वे कल्पनात्मक अनुभूति के रूप में ही काव्यान्तर्गत ग्राह्य मानते हैं। पर वे नीति या जीवन-तत्त्वों और काव्य का सम्बन्ध "प्रच्छन्न" (Underground) कह-कर एक तरह नीति या जीवन-मूल्यों को वैकल्पिक बना देते हैं। काव्य में उच्च जीवन-मूल्यों के विधान से उसकी "कल्पनात्मक अनुभूति" (Imaginative experience) उदात्त और अधिक प्रभावशाली हो सकती है, इस तथ्य को वे नहीं समझा सके। काव्य की परख आन्तरिक मूल्यों से ही होनी चाहिए, यह तो ठीक है, पर वे आन्त-रिक मूल्य अनुभूति की कौन-सी सर्वश्रेष्ठ दशा हो सकते हैं, यह भी वह नहीं बता सके; उदात्त भाव या उदात्त भावानुभूति ही यह कसौटी बन सकती है—यह रहस्य ब्रैडले नहीं खोल सके। वे नैतिक मूल्यों को नितान्त बाहरी मान बैठे। इस सम्बन्ध

1. 'This experience (imaginative experience) is an end in itself, is worth having on its own account, has an intrinsic value. . its poetic value is this intrinsic worth alone. Poetry may have also an ulterior value as a means to culture or religion, because it con-veys instruction, or softens the passions, or furthers a good cause because it brings the poet fame or money or a quiet conscience."

—*A C. Bradley . Oxford Lectures On Poetry. P. 4-5*

में पेटर का दृष्टिकोण कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण लगता है। उन्होंने सौन्दर्य की आधार-शिला पर नैतिक मूल्यों की अवस्थिति से ही कला की महानता स्वीकार की है। सुन्दर कला से महान् कला का अन्तर स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि सुन्दर रूप-विधान से कला अच्छी कला तो बन सकती है, पर यह आवश्यक नहीं कि वह महान् भी हो। "अच्छी कला और महान् कला में अन्तर सम्प्रति रूप-विधान पर नहीं, वस्तु पर निर्भर करता है। कम-से-कम साहित्य के क्षेत्र में तो यह सभी स्थितियों में सत्य है। कला की महानता इस पर निर्भर करती है कि यह जिस वस्तु को अनुप्राणित अथवा नियमित करती है, वह किस कोटि की वस्तु है। उसकी विविधता, महत् उद्देश्यों से उसकी सन्धि, उसमें विद्रोह की गहराई अथवा आशा का सन्देश—ये सब उसकी महानता को निर्धारित करते हैं। जिन अवस्थाओं में मैंने अच्छी कला की स्थिति मानी है, उनमें यदि कला अवस्थित हो, और फिर यदि उसे मानवता की कल्याण-साधना में, पीड़ित-दमित के परित्राण में, अथवा हमारी सहानुभूति के विस्तार में लगाया जाय, तो वह कला महान् होगी, अथवा यदि कला हमारे विषय में तथा हमारे और विश्व के सम्बन्धों के विषय में ऐसे नए या पुराने सत्य का उद्घाटन करे जिससे हमारे ऐहिक जीवन को शक्ति और उन्नयन मिले, अथवा दाँते की तरह वह ईश्वर की महत्ता को प्रकाशित करे, तो वह कला महान् होगी।[1]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि पेटर जीवन के नैतिक मूल्यों की महत्ता स्पष्ट स्वीकार करते हैं। "कला कला के लिए" सिद्धान्त में यदि पेटर का यह कथन भी उतना ही प्रचारित हो जाता, जितना सौन्दर्य और आनन्द का प्रयोजन प्रचारित हुआ, तो इस सिद्धान्त को जीवन-विरोधी या नीति-निरपेक्ष कहने का साहस किसी को न होता। पेटर के उक्त कथन में सौन्दर्य-तत्त्व और जीवन-तत्त्व पृथक्-पृथक् से प्रतीत होते हैं। वास्तव में पेटर ने जिस स्थिति में महान् कला की सम्भावना की है, वह उदात्त भावानुभूतियों के सिवा और कुछ नहीं हो सकती। उदात्त भावानुभूति में ही सौन्दर्य-तत्त्व और नीति-तत्त्व दोनों एक-साथ गुथे हुए समन्वित रूप में प्रकट हो सकते हैं।

क्रोचे के काव्य-सिद्धान्त "अभिव्यंजनावाद" की "सहजानुभूति" भी तीव्र भावानुभूति ही है। क्रोचे ने कला को मानसिक व्यापार माना है। इसका निर्माण न तर्कपूर्ण बौद्धिक ज्ञान से होता है, न इन्द्रियज ज्ञान से और न ही साधारण लौकिक भावात्मक ज्ञान से। क्रोचे ने सहज ज्ञान (Intuition) से ही इसका सम्बन्ध बताया है। सहज ज्ञान से क्रोचे का अभिप्राय हृदय के उस सहज स्वतः स्फूर्त अनुभवात्मक ज्ञान से है जो अपनी अनुभूति की तीव्रता के कारण अभिव्यक्ति के लिए बाध्य होता है। कोई व्यक्ति अपने पुत्र के जरा-से अपराध पर भी क्षुब्ध हो सकता है, और इस अनुभवात्मक अवस्था में एकदम उसे बुरा-भला कहने लगता है, पर उसका यह क्षोभ

---

१. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा, पृ० २३१ (पेटर के विचारों का हिन्दी अनुवाद)।

सहजानुभूति (Intuition) की वस्तु नही कहा जा सकता। आदि कवि बाल्मीकि ने जब व्याध द्वारा मारे जाते हुए क्रौंच पक्षी को देखा, तो उनके हृदय से या उनकी अन्तश्चेतना से व्याध के लिए जो क्षोभपूर्ण फटकार एकदम स्वत ही निकल पडी, वह सहजानुभूति से सम्बन्ध रखती है। निश्चय ही हमारी रसानुभूति की तरह ऐसी सहजानुभूति भी, जिसे क्रोचे ने मन की सक्रिय आध्यात्मिक चेष्टा कहा है, अन्तश्चेतना की व्यक्तिगत स्वार्थ-सम्बन्धो से मुक्त दशा की ही द्योतक है। इस प्रकार क्रोचे की सहजानुभूति एक तरह की रसानुभूति ही प्रतीत होती है। मेरे विचार मे यह सहजानुभूति भारतीय रस-ध्वनि से भिन्न कोई विचित्र वस्तु नही है। ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने कहा है कि निषाद के बाण से विद्ध, सहचरी के वियोग से कातर क्रौंच के क्रन्दन से उत्पन्न आदि कवि का शोक ही श्लोक मे परिणत हो गया।[1]

जिस प्रेरणा या सहज अनुभूति से अभिभूत होकर बाल्मीकि श्लोक के रूप मे अभिव्यक्ति करने को बाध्य हुए, उसे ही क्रोचे ने कला का मूल स्रोत माना है। यह दृष्टिकोण एक तरह वर्ड्स्वर्थ के "Spontaneous overflow of powerful feelings" अर्थात् "तीव्र भावावेगो का स्वत प्रवर्त्तन" से भी मिलता-जुलता है। क्रोचे इस प्रकार की अनुभूति को ही सफल अभिव्यक्ति मानते है। तीव्र अनुभूति ही अभिव्यक्ति के लिए मचलेगी। अत. अभिव्यक्ति ही कविता है—इसमे सफल-असफल का भी प्रश्न नही उठता, क्योकि ऐसी अभिव्यक्ति जब होगी, सफल ही होगी। उक्त तीव्र अनुभूति रसानुभूति या उदात्त भावानुभूति के अतिरिक्त कुछ और होगी, हम नही जानते। अत क्रोचे के अभिव्यजनावाद का भी सीधा सम्बन्ध भावानुभूति या रसानुभूति अथवा रस-सिद्धान्त से ही मानना पडता है। इस सिद्धान्त से कला के निर्माण मे व्यक्ति-चेतना का सत्य ही प्रकट हुआ है। यह सिद्धान्त जितना सूक्ष्म आदर्श प्रस्तुत करता है उतना व्यावहारिक सत्य नही है। तो भी काव्य का यह आदर्श उदात्त भवानुभूति का आदर्श ही सिद्ध होता है।

क्रोचे के 'अभिव्यजनावाद' की ही तरह **मनोवैज्ञानिक अन्तश्चेतनावाद** भी कला के मनोवैज्ञानिक निर्माण से ही सम्बन्ध रखता है, समीक्षा-मूल्यो से इसका कोई सीधा सम्बन्ध नही। फ्रायड ने अचेतन मन की प्रबलता पर प्रकाश डाला, बताया कि हमारे मस्तिष्क का ⅞ अचेतन है और यही हमारे विभिन्न कार्य-व्यवहारो का विशेष प्रेरक होता है। फ्रायड ने अचेतन मन की सारी शक्तियो का मूल आधार मानव की दमित काम-वासना को माना। यह सामाजिक और नैतिक बधनो के कारण चेतन को ग्राह्य नहीं होती। यह अचेतन मे दमित कुंठा बन जाती है, जो निष्कासन का अवसर ढूंढती रहती है। कभी-कभी इसका उदात्तीकरण भी हो जाता है—जैसे देश-प्रेम,

---

१. 'तथा चादि कवेर्वाल्मीकेर्निहत सहचरी विरहकातर क्रौंचाक्रन्दजनित शोक एव श्लोकतया परिणत.'—ध्वन्यालोक।

भगवद्-प्रेम आदि के रूप मे। यह सामाजिक प्रतिबंधों के कारण प्रच्छन्न-रूप मे प्रकट होती है। स्वप्न, दिवास्वप्न और साहित्य इसके प्रच्छन्न प्रकट-रूप ही है। साहित्य-कला मे इसी दमित वासना का चेतनगत उन्नयन हो जाता है, जो उदात्तीकरण कहलाता है। साहित्य को कलाकार की दमित वासनाओ का परिणाम बताकर फ्रायड ने मनोवैज्ञानिक समीक्षा का मार्ग प्रशस्त किया, जिसमे कलाकार के वैयक्तिक जीवन का अध्ययन करके उसकी सृजन-प्रेरणा के स्रोतो का अध्ययन किया जाता है। कहना न होगा कि यह समीक्षा एकांगी है। इसमे कला-कृतियो के मूल्याकन का पूर्ण मानदण्ड उपलब्ध नही हुआ।

एडलर ने मानव-क्रिया-कलापो के मूल मे हीन-भावना (Inferiority Complex) की पूर्ति का सिद्धान्त बताया और महत्त्वाकाक्षा को ही कला-प्रेरणा का मूल-मत्र माना। युग ने फ्रायड के सकुचित व्यक्तिगत अवचेतन को 'सामूहिक अवचेतन' की विशालता प्रदान की और युग-युग के मानव-संस्कारो की प्रबलता स्वीकार की। इस मनोवैज्ञानिक प्रभाव से साहित्य में व्यक्तिवादी प्रवृत्ति को प्रश्रय मिला। साहित्य के विषय-तत्त्व और रचना-विधान मे भी आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ, पर काव्य की श्रेष्ठता का मानदण्ड इसमे प्राप्त नही हुआ।

समाज-शास्त्रीय या मार्क्सवादी मानदण्ड · मानव जीवन विविधताओ से भरा है। समय की परिस्थितियो के साथ जीवन की आवश्यकताएँ, जीवन के आदर्श और मान्यताएँ भी बदलती रहती है। आज का भौतिक-बौद्धिक युग जितना जटिलताओ से पूर्ण है, वैसा पहले कभी न था। जीवन के जो प्रश्न, जो समस्याएँ आज हमारे सामने है, वे हमारे पूर्वजो के सम्मुख न थी। आज के वैयक्तिक अहवादी आत्म-केन्द्रित मानव को समझने के लिए जिस प्रकार हमे मनोवैज्ञानिक 'एक्स-किरणो' (X-Rays) का प्रयोग करना पडता है और मनोवैज्ञानिक समीक्षा-पद्धति अपनानी पड़ती है, उसी प्रकार जीवन की भौतिक एव सामाजिक जटिलताओं को समझने के लिए समाज-शास्त्र का सहारा लेना पडता है। समाज-शास्त्रीय समीक्षा-पद्धति कलाकारो से यह माँग करती है कि उनकी रचनाओ से युग-चेतना को कितनी गति मिली। वही कला श्रेष्ठ मानी जाती है जो समाज के प्रगतिशील तत्त्वो को उभारती है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण आर्थिक या भौतिक मूल्यो को ही महत्त्व देता है। समाजवादी समीक्षक कवि की सामाजिक एवं राजनैतिक चेतना का ही आकलन करता है, अन्य बातो को वह गौण मान लेता है। साहित्य तथा जीवन या समाज का सम्बन्ध अटूट है। अत. यह तो उचित है कि कलाकार जीवन के बदलते हुए मानो, उसकी विभिन्न समस्याओ को अपनी अनुभूति का विषय बनाए, पर उसकी कला की परख इस बाह्य मान से करना त्रुटि-पूर्ण ही होगा। इसी सम्बन्ध मे कलाकार को दो बातों का ध्यान रखना होगा। एक तो यह कि युग की समस्याओ को सामयिक रूप में न अपनाकर युग-युग की शाश्वत मानवीय सवेदनाओ के रूप मे अपनाना होगा। कलाकार प्रचारक या राजनीतिक लीडर

नही बन सकता। उसका राज्य तो मनोराज्य है। सामयिक समस्याएँ उसके साहित्य को युग-युग का स्थायी साहित्य नही बना सकती। दूसरे, उसे इन समस्याओं या सामाजिक मूल्यो को साहित्य-रस मे घोल कर, रस-रसायन बनाकर ही प्रस्तुत करना होगा। अर्थात् इनका साहित्यिक मूल्य तभी होगा, जब ये उदात्त भावों के रूप में प्रकट होगी। अत सामाजिक या आर्थिक मूल्य को समीक्षा का अलग स्वतत्र मूल्य मानना भ्रान्तिपूर्ण ही है। हम कलाकार से यह माँग नही कर सकते कि उसने वर्ग-सघर्ष का चित्रण क्यो नही किया, या पूजीवादी समाज-व्यवस्था का खोखलापन क्यो नही दिखाया। इस प्रवृत्ति के अभाव मे ही हम उसे निकृष्ट कलाकार नही कह सकते। हाँ, हम कलाकारो को युग की बदलती हुई सवेदनाओ से परिचित करा सकते है। हम मानवता के निर्मम शोषण और उसके भिन्न-भिन्न रूपो की ओर उनका ध्यान आकर्षित कर सकते है। युग-अनुरूप साहित्य की माँग भी कर सकते है। पर अपनी माँग को ही मूल्याकन की कसौटी नही बना सकते। कसौटी तो हर हालत मे उदात्त भाव ही रहेगे। अत समाज-शास्त्रीय समीक्षा भी समीक्षा का एकागी मानदण्ड ही है। वह मूल्याकन की आदर्श पद्धति नही मानी जा सकती। हाँ, इसने कला के सामाजिक मूल्य की ओर हमारा ध्यान अवश्य आकर्षित किया, यही इसकी देन है।

रिचर्ड्स का मनोवैज्ञानिक मूल्य का सिद्धान्त : वर्तमान युग मे आई० ए० रिचर्ड्स के मनोवैज्ञानिक मूल्याकन का विशेष महत्त्व है। रिचर्ड्स ने ब्रेडले के 'कविता कविता के लिए' सिद्धान्त का विरोध किया। उन्होने नैतिक मूल्यों को कला-मूल्याकन का आवश्यक तत्त्व बताया। उनके अनुसार मूल्यांकन की स्थिति मे हम 'मानव-जीवन के महान् निर्माण मे उसके स्थान' और अन्य अनेक परोक्ष महत्त्वों को हिसाब मे लाकर ही मूल्य आक सकते है।[1]

रिचर्ड्स ने डा० ब्रेडले के इस मत को भी पूर्ण सत्य नही माना कि नैतिक मूल्यों आदि परोक्ष तत्त्वो से काव्य-मूल्य का अपकर्ष होता है। काव्य का एक रूप ऐसा भी है, जिसमे परोक्ष मूल्यों का अन्तर्भाव हो जाता है।[2] जिस प्रकार एक पाठक को रसज्ञ मानव, नैतिक, व्यावहारिक, राजनीतिक मानव आदि अनेकानेक रूपों मे विभक्त नही किया जा सकता, इसी प्रकार कविता के खण्ड-खण्ड विभाजन के वे पक्षपाती नही है। सच्ची अनुभूति मे ये सब तत्त्व स्वत. ही सम्मिलित हो जाते है। अत: रिचर्ड्स इन अनुभूतियो के मनोवैज्ञानिक मूल्याकन का सिद्धान्त—'A Psychological Theory of Value'—प्रकट करते है। उनका कथन है कि समस्त मानवीय वृत्तिया दो भागो मे बाँटी जा सकती है—१ प्रवृत्त्यात्मक वृत्तिया (Appetencies) और २. निवृत्त्यात्मक वृत्तिया (Aversions)। अत वह वस्तु मूल्यवान है जो हमारी प्रवृत्ति को तुष्ट

---

१. I. A Richards . Principles Of Literary Criticism, P. 75

२. वही, पृ० ७७।

करे, अर्थात् इच्छा की पूर्ति करे। हर कोई अपनी अधिक-से-अधिक प्रवृत्तियों को तुष्ट करना चाहता है। पर यह संभव नही होता। अत रिचर्ड्स मूल्य-सम्बन्धी परिभाषा देते हुए कहते है—"Anything is valuable which will satisfy an appetency without involving the frustration of some equal or more important appetency. In other words, the only reason which can be given for not satisfying a desire is that more important desires will thereby be thwarted"[1] अर्थात् वही वस्तु उत्तम है जो हमारी प्रवृत्ति को बिना दूसरी समान या अधिक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियो को हानि पहुँचाए तुष्ट करे। अत वही कवि महान् साहित्य की रचना करेगा जो प्रवृत्तियो के मूल्यो को समझता है। "प्रवृत्तियो की अधिकाधिक तृप्ति को मूल्य की कसौटी मान लेना एक मोटा मानदण्ड है।"[२] वस्तुत साहित्य का उत्कर्ष भावोत्कर्ष पर निर्भर करता है। भाव ही प्रवृत्ति को जगाते है। अत रिचर्ड्स अपने भाव-जगत को छोड़कर प्रवृत्ति की स्थूल बात चलाने लगते है। नैतिक मूल्यों को प्रवृत्ति की सापेक्षता मे देखने से उनका भावानुभूति से सीधा सम्बन्ध नही रहता जो काव्य का प्राण है। किस सच्ची अनुभूति मे नीति आदि तत्त्व स्वत ही सम्मिलित हो जाते है, यह भी रिचर्ड्स ने नही बताया। तो भी यह स्पष्ट है कि रिचर्ड्स का मनोवैज्ञानिक मूल्य का सिद्धान्त भावो—उदात्त भावो—पर ही आधारित है।

उदात्त भावानुभूति ही रसानुभूति है. इस प्रकार कुछ प्रमुख पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तो के सक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाश्चात्य विचारको ने भी भावानुभूति का महत्त्व स्वीकार किया है, और इन समीक्षा-सिद्धान्तो मे वे सिद्धान्त ही मूल्याकन की समस्या सुलझाने मे महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए है, जिनमे भावानुभूति को ही मूल्याकन का मानदण्ड स्वीकृत किया गया है। उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हुआ होगा कि उदात्त भावानुभूति मे जीवन के नैतिक मूल्य का तत्त्व भी स्वत सम्मिलित हो जाता है। उदात्त भावानुभूति को ही काव्य-मूल्याकन का मानदण्ड मानना उचित है। पाश्चात्य विद्वानो की यह उदात्त भावानुभूति ही हमारी रसानुभूति है। हमारे आचार्यो ने भावो के उदात्त प्रेषणीय रूप को ही काव्य के 'स्थायी-भाव' निश्चित किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से तो ईर्ष्या, लोभ आदि भाव भी स्थायी भाव (Sentiments) है, पर इनका प्रेषणीय रूप संभव न होने से आचार्यो ने इन्हे काव्यगत स्थायी भावो की कोटि मे नही लिया। यही नही, क्रोध, घृणा आदि स्थायी भावो का भी उदात्त रूप ही रस का आधार बनता है। अत्याचारी रावण को भी सीता पर क्रोध आता है, और एक व्यक्ति किसी मामूली बात पर भी क्रोध

1. Principles Of Literary Criticism, P 48.
२. नन्ददुलारे वाजपेयी, 'नया साहित्य : नए प्रश्न', पृ० ९२।

का अनुभव करने लगता है, पर क्रोध के इन रूपों का रौद्र रस से कोई सम्बन्ध नहीं। रौद्र रस का विषय तो उदात्त क्रोध भाव ही बनेगा, अर्थात् यदि हम किसी अबला पर किसी अत्याचारी को बलात्कार करते देखते है, तो उस अत्याचारी के प्रति हमारा क्रोध उदात्त होगा और यही रौद्र रस का विषय कहलाएगा। अत हमारी रसानुभूति उदात्त भावानुभूति ही है। नवों रसो के स्थायीभाव उदात्त प्रेषणीय भाव ही है। आगे हमने स्थायी भावो की विवेचना मे अच्छी तरह स्पष्ट किया है कि पाश्चात्य 'सेंटिमेंट' ही हमारे स्थायी भाव नही है, बल्कि सेंटिमेंट के उदात्त रूप ही काव्यगत स्थायी भाव बन सकते है। अब आगे हम अपनी रस-पद्धति पर विचार करते हुए देखेंगे कि हमारा रस-सिद्धान्त समीक्षा का सर्वमान्य व्यापक सिद्धान्त बनने की योग्यता रखता है या नहीं, उसमे संशोधन और परिवर्द्धन कहाँ तक अपेक्षित है।

काव्य-आत्मा तथा काव्य की कसौटी

•

भरतमुनि से लेकर पण्डितराज तक लगभग अठारह सौ वर्षों की दीर्घ साहित्य-परंपरा संस्कृत आचार्यों की सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति और काव्य-मर्मज्ञता की परिचायक है। इस बीच कई काव्य-सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ जिनमें काव्य तथा उसके अंग-प्रत्यंग, जैसे—काव्य का स्वरूप, परिभाषा, प्रयोजन, कवि-प्रतिभा, काव्य-हेतु, रस, अलंकार, रीति, गुण-दोष, ध्वनि आदि का विशद् विवेचन किया गया। काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में कई सम्प्रदाय प्रचलित हुए।

अलंकारवादी आचार्यों ने काव्य में अलंकारों की प्रधानता मानते हुए उन्हें काव्योत्कर्ष-वर्द्धक के स्थान पर उत्कर्ष का कारण घोषित किया और काव्य-आश्रय माना। ये आचार्य काव्य के आत्मतत्त्व का निर्णय कर ही नहीं सके। इनकी दृष्टि बहिरंग ही रही। वामन आचार्य ने गुणों पर आधारित विशिष्ट पद-रचना (रीति) को काव्य की आत्मा माना। गुणों को काव्य के स्थायी धर्म बताना वामन की सुलझी दृष्टि का परिणाम अवश्य है, पर ये गुण किस पर आश्रित हैं, काव्य का आत्मन् क्या है, ये बातें वे नहीं बता सके। अतः वामन का सिद्धान्त भी अलंकार-सम्प्रदाय की तरह सीमित और बाह्यपक्ष-प्रधान ही है। यही बात कुंतक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त के बारे में कही जा सकती है। काव्य के आत्मतत्त्व का स्पष्टीकरण वक्रोक्ति-सिद्धान्त से भी नहीं हो सका, हाँ, रचना-विधान-सम्बन्धी कुछ प्रतिमान अवश्य प्राप्त हुए।

आनन्दवर्द्धन के ध्वनिसिद्धान्त में ही सर्वप्रथम समन्वय की प्रवृत्ति का आभास मिलता है। ध्वनिकार ने काव्य की आत्मा ध्वनि को बताया। काव्य में वाच्यार्थ के स्थान पर व्यंग्यार्थ ही प्रमुख है और काव्य-सौन्दर्य व्यंग्य-ध्वनि में ही रहता है। व्यंग्यार्थ की महत्ता पर ही काव्य की कसौटी रखी गई और काव्य के तीन भेद किए गए—१ उत्तम काव्य, जिसमें व्यंग्यार्थ ही प्रधान होता है। इसे ही ध्वनि-काव्य कहते हैं। २ मध्यम अथवा गुणीभूत-व्यंग्य काव्य, जिसमें वाच्यार्थ से ही व्यंग्यार्थ प्राप्त

होता है और इस प्रकार वाच्यार्थ का भी महत्त्व रहता है, ३. अधम-काव्य अथवा चित्र-काव्य, जिसमे वाच्यार्थ की ही प्रधानता रहती है। ध्वनि के भी तीन भेद किए गए—१. वस्तु-ध्वनि, २. अलकार-ध्वनि, और ३ रस-ध्वनि। ध्वनिवादियो ने इन तीनों मे रस-ध्वनि को ही सर्वश्रेष्ठ माना। इस प्रकार ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन ने ही सर्वप्रथम अलकार, रीति आदि से दबे हुए रस-सम्प्रदाय को अलंकारादि के भार से मुक्त किया।

काव्यानन्द : ध्वनिकार का यह लक्षण—'सहृदयह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्' अर्थात् सहृदय को आह्लादित करने वाला शब्दार्थ ही काव्य है, पण्डितराज की यह परिभाषा—'रमणीयार्थप्रतिपादक. शब्द काव्यम्' अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को काव्य कहते है; तथा विश्वनाथ की 'रसात्मक वाक्य काव्य' आदि सब परिभाषाएं और लक्षण मन को आनन्दित करने से सम्बन्ध रखती है। प्लेटो से लेकर आधुनिक काल के रिचर्ड् स, इलियट आदि प्राय सब पाश्चात्य समीक्षक तथा सभी भारतीय आचार्य काव्य की कसौटी आनन्द ही स्वीकार करते है। जिस रचना मे जितना अधिक आनन्द प्रदान करने की क्षमता होगी, वह उतनी ही श्रेष्ठ मानी जायगी। पर प्रश्न उठता है, कैसा आनन्द ? काव्यानन्द का क्या स्वरूप है ? सर्वोत्तम काव्य-आनन्द किसे माने ? निरर्थक किन्तु सगीतमय मधुर पदावली भी आह्लादकारी होती है, चमत्कारपूर्ण सूक्ति से भी कुछ-न-कुछ आनन्द मिलता ही हे; कौतूहलपूर्ण घटनाओं के पढ़ने या सुनने मे भी मन आनन्द प्राप्त करता है, ज्ञान के जिज्ञासुओ को बौद्धिक विचार-तत्त्व मे भी आनन्द आ सकता हे, तथा अपरिष्कृत रुचि वाले व्यक्ति अश्लील एव गदी कहानियो के पढने मे मजा लेते है। पर सच्चा, श्रेष्ठ काव्यानन्द इन मे शायद ही किसी को माना जाय। काव्यानन्द या काव्यरस न तो सतरे का रस है, न ही लौकिक अनुभूति-जन्य आनन्द। न यह शतरज, ताश आदि खेलो का मनोरजन है, न नाच-तमाशे का आनन्द। वस्तुत काव्यानन्द उदात्त भाव-जन्य आनन्द है, जो सहृदय को हृदय की मुक्तदशा अथवा सत्त्वोद्रेक की दशा मे प्राप्त होता है।

सार्थक 'अलंकार-ध्वनि' तथा 'वस्तु ध्वनि' भी किसी-न-किसी भाव की ओर इगित अवश्य करेगी, इसी से ध्वनिकार ने उसके आह्लाद को भी काव्य की आत्मा माना। पर ये दोनो भाव की पुष्ट अनुभूति नही कराती। अत: 'रस ध्वनि' से ये निकृष्ट कोटि की ध्वनियाँ है। इस प्रकार 'रस ध्वनि' को सर्वश्रेष्ठ मानकर एक तरह से ध्वनिवादियो ने 'वस्तुध्वनि' और 'अलकार-ध्वनि' का पर्यवसान 'रस' मे ही सिद्ध किया है। आनन्दवर्द्धन का स्पष्ट कथन है कि 'यद्यपि प्रतीयमान् (व्यग्यार्थ) के और (वस्तु, अलकार, ध्वनि आदि) भी भेद दिखाए गए है, परन्तु रस-प्राधान्य के कारण

रस-भाव द्वारा ही उनका उपलक्षण (ज्ञापन) होता है।[1] वास्तव मे काव्य के लक्षण-निर्धारण मे तो ध्वनिकार की दृष्टि पूर्णतया व्यापक रही है, इसी से उन्होने अलंकार या वस्तुध्वनि को ही नही, अपितु प्रतीयमान या व्यंग्य के अभाव में 'चित्रकाव्य' को भी काव्य की सज्ञा देने मे सकोच नही किया। उन्होने कहा कि जहा वस्तु या अलकार-ध्वनि न हो, उसे चित्रकाव्य का विषय भले ही माना जाए, पर काव्य मे किसी वस्तु का रसस्पर्श न हो, यह युक्तिसंगत नही। संसार की सब वस्तुएँ किसी रस या भाव का अग अवश्य बन जाती है। ऐसी कोई वस्तु नही जो किसी प्रकार की चित्तवृत्ति को उत्पन्न न करे।[2]

रस ही काव्य की कसौटी है: काव्य-लक्षण-निर्माण मे इतने उदार होने पर भी जब ध्वनिकार के सम्मुख काव्य की परख—उसकी उत्कृष्टता की कसौटी—का प्रश्न आता है, तो वे स्पष्ट शब्दो मे रस को ही एक-मात्र कसौटी बताते है। उन्होने स्पष्ट कहा है कि रस-भाव को प्रवाहित करने वाली महाकवियों की वाणी ही उनकी अलौकिक प्रतिभा को व्यक्त करती है, जिसके कारण, कवियो की नाना-विध परम्परा वाले इस ससार मे कालिदास आदि दो-तीन अथवा पाँच-छ: ही महाकवि गिने जाते है।[3] अत रस ही काव्य की कसौटी है।

भारतीय काव्य-शास्त्र के अलकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और रस—इन पाँचों सम्प्रदायो को शरीरवादी और आत्मवादी दो रूपो मे बाँटा जा सकता है। अलकार, रीति और वक्रोक्ति सिद्धान्त शरीरवादी है तो ध्वनि और रस आत्मवादी है। पहले तीनो को रीति या शैली (अभिव्यजना शैली—अग्रेजी Style of Expression के व्यापक अर्थ मे) के नाम से अभिहित किया जा सकता हे, और अन्तिम दोनो को रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत ही समन्वित किया जा सकता है। इस प्रकार मूलत दो सम्प्रदाय ही ठहरते है—रस और रीति। क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धान्त इन दोनो मे ही समाहित हो जाता है। आत्म-पक्ष-सम्बन्धी औचित्य रस-सिद्धान्त का विषय होगा और अभिव्यक्ति तथा रचना-विधान-सम्बन्धी औचित्य रीति के अन्तर्गत आ जायगा। शरीर और आत्मा का सापेक्षिक सम्बन्ध अन्योन्याश्रित होता है। अत: काव्य के इन दोनों पक्षों का अटूट सम्बन्ध है। प्राचीन आचार्यों ने भी एक-दूसरे के सिद्धान्त का विरोध करते हुए भी सबकी महत्ता किसी-न-किसी रूप मे मानी है। आरम्भ मे समन्वय-बुद्धि का अभाव था, किन्तु बाद मे सब भ्रान्तियो का निवारण होता गया और

---

१. 'प्रतीयमानस्य चान्य भेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात्'।

२. ध्वन्यालोक—चित्रकाव्यस्य स्वरूपम्।

३. 'येनास्मिन्नति विचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदास प्रभृतयो द्वित्रा पञ्चषा एव वा महाकवय इति गण्यन्ते' ॥६॥—ध्वन्यालोक (भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० १३२)।

काव्य के सब तत्त्वों का समन्वय स्थापित हुआ। रस-सिद्धान्त मे इन सबका अन्तर्भाव सहज ही हो जाता है। अलंकारवादियो ने भी रस का तिरस्कार नही किया। रुद्रट ने तो यहाँ तक कह दिया कि काव्य रसयुक्त होना ही चाहिए। अग्निपुराण मे भी रस को काव्य का प्राण घोषित किया गया है।[१] अत. वक्रोक्ति, अलंकार, ध्वनि आदि सब तत्त्वो में काव्य-प्राण-रूप रस ही मानना पडता है। महापात्र विश्वनाथ काव्य-पुरुष मे इन सब का समन्वय करते हुए लिखते हैं—शब्द और अर्थ काव्य-पुरुष के शरीर हैं, रस और भावादि उसका आत्मा, शूरता, दया, दाक्षिण्य आदि के सदृश माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण उसके गुण है और काणत्व आदि के समान श्रुतिकटुत्व आदि दोष है, वैदर्भी आदि रीतियाँ शरीर के भिन्न-भिन्न अंगो का गठन है तथा उपमादि अलंकार कटक, कुण्डलादि के तुल्य होते है।[२]

---

१ वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्—अग्निपुराण, हिन्दी साहित्यदर्पण, पृ० १२।

२. काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्, इति ॥ —साहित्यदर्पण

४ | उदात्त रस ही सर्वश्रेष्ठता का मानदण्ड

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हुआ कि रस-ध्वनि या रस ही काव्य की श्रेष्ठता का मानदण्ड है। अब प्रश्न है कि क्या सब प्रकार की 'रस-ध्वनि' या 'विभावानुभाव-सचारी' से पुष्ट सब प्रकार की रसानुभूति सर्वश्रेष्ठ काव्य की ही द्योतक होती है ? क्या रस को समीक्षा का व्यापक मानदण्ड बनाया जा सकता है ? क्या यह मानदण्ड इतना पूर्ण है कि हम सब देशों के सब कालों के सब प्रकार के साहित्य का मूल्याकन केवल रस के आधार पर कर सकते है ? श्रेष्ठतम रसानुभूति का स्वरूप क्या है ? इन गम्भीर प्रश्नो का उत्तर देने से पूर्व काव्य के प्रयोजन पर आचार्यो के विचार प्रकट करना आवश्यक है, क्योकि हमारे आचार्यो के काव्य-प्रयोजन तथा काव्य-स्वरूप-विवेचन अर्थात् काव्य-दर्शन से ही उनका समीक्षा-दर्शन ग्रहण करना पडता है। उन्होने समीक्षा या समीक्ष्यवादी की दृष्टि से समीक्षा के मानदण्डो पर विचार नही किया। काव्य से जो प्रयोजन या सिद्धि उन्हे अभिप्रेत थी, किसी रचना मे वह सिद्ध होती है या नही—यह भी उनकी समीक्षा की एक कसौटी ही समझी जा सकती है।

जीवन की पूर्णता हमारे तत्त्वचिंतको ने "अभ्युदय" और "नि.श्रेयस" स्वीकार की है। इसी से जीवन के सब पक्षो मे चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) प्राप्ति ही उनका उद्देश्य रहा है। प्राय· सब साहित्याचार्यो ने भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष अर्थात् चतुर्वर्ग की प्राप्ति ही को काव्य का भी प्रयोजन बताया है। इसके साथ ही मनोरजन या आनन्द तथा कवि की दृष्टि से यश और धन-लाभ भी काव्य का प्रयोजन माना गया है।[1] मम्मट ने कुछ व्यापक दृष्टि से काव्य-प्रयोजन पर प्रकाश डाला। उनके अनुसार काव्य-प्रयोजन है, 'यश-प्राप्ति, धन-लाभ, लोक-व्यवहार की

---

१. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥—काव्यालंकार (भामह)

शिक्षा, अमंगल का विनाश, तुरन्त अलौकिक आनन्द तथा मधुर नैतिक उपदेश।[1] इससे स्पष्ट है कि आनन्द के साथ शिव-तत्त्व या नैतिक उपयोगिता की सिद्धि भी आचार्यों को मान्य थी। मम्मट ने इस सम्बन्ध में अलौकिक आनन्द को 'सकल प्रयोजनमौलि भूत' कहकर सौन्दर्य या आनन्द को प्राथमिकता दी है। यही तो काव्य का प्राण है। इसके बिना दूसरे प्रयोजनों की कोई सार्थकता ही नहीं। आचार्यों द्वारा आनन्द और नैतिकता के इस समन्वय का ही परिणाम है कि हमारे यहाँ 'कलावाद', 'नीतिवाद', 'अभिव्यंजनावाद', 'सौष्ठववाद' आदि वादों का वादविवाद नहीं खड़ा हुआ। हमारा रस-आनन्द ही जीवन का बहुत बड़ा पुरस्कार है। यह हृदय की सात्त्विक प्रवृत्तियों से सम्बन्ध रखता है; यह हृदय-परिष्कार और हृदय-प्रसार का द्योतक है। मनुष्य के प्रकृत रागों पर आधारित यह रस-रूप काव्यानन्द उच्चकोटि का होता है, इसमें सन्देह नहीं। पाश्चात्य समीक्षक रस की मनोवैज्ञानिक उच्चता को नहीं पा सके। वे केवल आह्लाद, मनोरंजन, आनन्द, प्रभाव और बहुत हुआ तो भावानन्द तक ही अपनी काव्य-परिभाषा या काव्य-प्रयोजन ले जा सके। वे यह नहीं बता सके कि तीव्रतम भावानन्द की प्रक्रिया क्या है, उसका स्वरूप और अवयव क्या हैं। स्थायी भावों का विभावानुभाव आदि से परिपुष्ट होकर रस-दशा को प्राप्त होना ही अलौकिक आनन्द-रूप तीव्रतम भावानुभूति है, इस रहस्य का पूर्ण उद्घाटन तो भारतीय आचार्यों ने ही किया। रससिद्धान्त को भारतीय समीक्षा का प्रतिनिधि सिद्धान्त कहा जा सकता है। भारतीय मनीषियों की हजार वर्षों की अटूट चिन्ताधारा से प्राप्त यह 'रस' (रससिद्धान्त) अपने में रीति, अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य, गुणदोष आदि सब तत्त्वों को समाहित किये हुए है।

तो प्रश्न उठता है कि क्या रस जीवन की सम्पूर्ण उदात्तता को भी अपनी परिधि में ले लेता है? और क्या नैतिक मूल्यों की बात उसके साथ चलाने की आवश्यकता नहीं? क्या रस की कसौटी सार्वकालिक और सार्वदेशिक शाश्वत कसौटी मानी जा सकती है? सब-कुछ विचार करने के पश्चात् हमें लगता है कि हमारे रस-सिद्धान्त में कमी अवश्य है, जिसके कारण आचार्यों के रस को हम पूर्ण कसौटी के रूप में पेश करते हुए हिचकिचाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हर रस-दशा हृदय की सात्त्विक वृत्तियों को जगाती है, पर रस की सब दशाएं ऐसी नहीं मानी जा सकती, जिनमें जीवन के उदात्त तत्त्व अनिवार्य-रूप से समाहित हों। जैसे, रीति-कवियों का शृङ्गार-चित्रण या आचार्यों द्वारा विशेषकर मम्मट द्वारा प्रस्तुत शृङ्गार रस के उदाहरण महान् जीवनादर्शों या स्वस्थ जीवन-प्रेरणाओं से दूर ही है। आचार्यों के बीभत्स रस का

---

१. काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ १/२ ॥—काव्यप्रकाश
(हिन्दी साहित्य सम्मेलन, द्वितीय संस्करण), पृ० १४।

मास-मज्जा-रुधिर वाला वस्तुगत रूप भी उदात्तता से विशेष सम्बन्ध नही रखता। जीवन के उच्च मूल्यो को हम भुला नही सकते। अत भाव या रस की ऐसी परिपुष्ट दशा ही, जिसमे जीवन के उदात्त तत्त्व या उच्च नैतिक मूल्य भी समाहित हो, रस की सर्वश्रेष्ठ दशा कही जा सकती है। हम मानते है कि रस एक अविभाज्य, अखण्ड अभिव्यक्ति है। पर उसकी पूर्णता मे जिस प्रकार हम अलकार, रीति आदि शैली के सब श्रेष्ठ साधनो को आवश्यक मानते है, अर्थात् हम कहते है कि उत्कृष्ट वर्ण-शब्द-योजना (कलात्मक अभिव्यजना) से रस की श्रेष्ठ सिद्धि होती है, उसी प्रकार हमे यह भी मानना होगा कि उच्च जीवनादर्शो से समन्वित रस-दशा रस की सर्वश्रेष्ठ और पूर्ण दशा होगी। एक उदाहरण लीजिये। मीरा की पदावली मे भावो की तीव्रता है, सन्देह नही। किन्तु यदि उनकी पदावली सूर या महादेवी की तरह अधिक कलात्मक भी होती अर्थात् उत्कृष्ट और परिष्कृत भाषा-शैली के सब प्रसाधनो का उसमे योग होता, तो वह और भी अधिक प्रभावशाली, अधिक भावप्रवण और अधिक आह्लादकारी होती। इसी प्रकार रीति-कवियो के शृङ्गार-चित्रण मे 'विभावानुभाव-सचारी सयोगाद्रसनिष्पत्ति' का पूर्ण आयोजन है। अतः आचार्यो के शास्त्रीय दृष्टि-कोण से वह शृङ्गार रस है। पर उसमे जीवन के उदात्त मूल्यो का अभाव है। यदि यह शृङ्गार-चित्रण जीवन के उच्च मूल्यो या महान् जीवनादर्शो से समन्वित होता, इसमे त्याग, उत्साह, साहस, वीरता, धीरता आदि उदात्त प्रवृत्तियो का भी योग होता, तो क्या हम उसे अधिक प्रभावशाली और अधिक पुष्ट न मानते ? रीतिकाल के ही बिहारी आदि की अपेक्षा हम घनानन्द के शृङ्गार को अपेक्षाकृत उत्तम क्यो मानते हैं ? निश्चय ही इसी लिए कि घनानन्द के शृङ्गार मे प्रेमी-जीवन की ऐन्द्रिक स्थूलता के स्थान पर मानसिक प्रेम-प्रसार, त्याग तथा नि.स्वार्थता की उदात्त वृत्तियाँ अपेक्षा-कृत अधिक है। अत: काव्य की श्रेष्ठता के मानदण्डो मे रस के आश्रय रीति, अलंकार, ध्वनि आदि अर्थात् शैली-तत्त्व की तरह जीवन के उदात्त मूल्यो को भी एक तत्त्व मानना चाहिये। यह होगा रस के आश्रित ही, अर्थात् भाव-संवेदनाओ मे गुथा हुआ। नैतिक मूल्य भी वे ही ग्राह्य होगे, जो मानवता के शाश्वत और सार्वदेशिक उच्च मूल्य है। हमारे कथन का अभिप्राय यह नही है कि नैतिक मूल्यो को काव्य की कसौटी बनाया जाय। काव्य की कसौटी तो रस ही रहेगा। संसार में वही काव्यकृति चिर-स्थायी और सर्वश्रेष्ठ मानी जायगी जिसमे उदात्त जीवन-मूल्यों से आवेष्ठित रस की परिपुष्ट दशा होगी। अत. उदात्त रस या रस के उदात्त रूप को ही काव्य की शाश्वत, सार्वदेशिक कसौटी कहा जा सकता है।

रस के साथ यह उदात्त विशेषण कोई विचित्र बात नहीं समझनी चाहिए। काव्य मे उदात्त भावनाओ का प्रकाशन होना चाहिए, ऐसा प्राय सभी विद्वान् कहते हैं। अत. समीक्षा का व्यापक मानदण्ड उदात्त भावो से पुष्ट रस का उदात्त रूप मानने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। सूरदास का वात्सल्य-चित्रण और शृङ्गार-

वर्णन हिन्दी साहित्य का गौरव है तुलसीदास शृङ्गार और वात्सल्य का इतना उदात्त, इतना व्यापक और इतना गहन चित्रण नहीं कर सके। यदि 'विभावादि' से रस की परिपुष्टि के सिद्धान्त की दृष्टि से देखें तो इन रसो के प्रकाशन मे सूरदास तुलसी से उच्च कोटि के कवि माने जायेगे। पर वह क्या बात है जो हमे सूर को तुलसी की अपेक्षा उच्च मानने से रोकती है? निश्चय ही भाव-उदात्तता। तुलसी मे हमें उदात्त भावो से पुष्ट उदात्त रस का विस्तार अधिक मिलता है। इन दो रसो के चित्रण मे तुलसी चाहे पीछे रहे हों, पर मानव-जीवन की जितनी उदात्त वृत्तियो का उन्होने चित्रण किया है, उतना सूरदास ने नहीं। तुलसी की महानता नैतिकता मे नही, बल्कि नीति या उदात्त जीवन-मूल्यो को रस-रूप देने मे—रस को उदात्त बनाने मे—है। अतः जीवन के उदात्त (महान्) आदर्शों को आचार्यो के रस-सिद्धान्त का अग बनाकर उदात्त रस को समीक्षा का सर्वमान्य शाश्वत मानदण्ड बनाया जा सकता है।

हमें उदात्त रस का सिद्धान्त निरूपित करने की आवश्यकता इसीलिए अनुभव हुई है कि हमारे आचार्यो ने 'विभावानुभाव सचारी संयोगाद्रसनिष्पत्ति' के विवेचन मे जीवन की उदात्तता पर ध्यान नही दिया। उच्च जीवन-तत्त्वो का रस से सम्बन्ध वे अच्छी तरह नही दिखा सके। वे भाव, रस, शैली तथा जीवन-मूल्यो या नीति आदि का अनिवार्य सहभाव पूरी तरह स्थापित नहीं कर सके। वे रस की श्रेष्ठतम अवस्था या अनुभूति को नही पकड़ सके। उनकी विवेचना मास-मज्जा-रुधिर के स्थूल दृश्यो मे जिस बीभत्स रस का अनुभव करती है, उसमे और करुण रस के अनुभव मे कोई अन्तर नहीं बताती। शृंगार के स्थूल ऐन्द्रिक उदाहरण भी सम्भवत उन्हे उतने ही सरस प्रतीत होते थे, जितने आन्तरिक अनुभूति के मार्मिक उदाहरण। शृंगार के लक्षण-निरूपण मे भरत मुनि ने उसे उज्ज्वलवेषात्मक कहा है और उसका आलम्बनत्व 'उत्तम युवक-युवती' के रूप मे स्वीकार किया है।[1] शंकुक ने अपनी व्याख्या में 'वेष' शब्द का अर्थ साधारण वस्त्रालकार लेने की भूल की है, पर वास्तव मे 'उज्ज्वल वेष' शब्द यहॉ रस की विभावानुभाव-रूप समस्त सामग्री का बोधक है। अभिनवगुप्त का भी यही मत है—'जो चित्तवृत्ति को अन्यत्र व्याप्त करना है अर्थात् (अपने) बोधन द्वारा (रस रूप में) संक्रान्त करता है वह विभाव अनुभाव-रूप 'वेष' होता है। और जो (रत्यादि-रूप) स्थायी भाव मे समा जाते हैं अर्थात् व्याप्त होते है वे व्यभिचारी भाव वेष कहलाते है। वे जिसमे उज्ज्वल अर्थात् उत्कृष्ट है, उस प्रकार

१. "तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मकः × × स च स्त्री-पुरुष हेतुकः, उत्तमयुवप्रकृति'।" —नाट्यशास्त्र (छठा अध्याय, शृङ्गार रस प्रकरणम्)।

का स्वरूप जिसका है वह उज्ज्वल वपात्मक शृङ्गार हुआ।[१]

खेद है कि भरत मुनि ने तथा 'नाट्यशास्त्र' के व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने केवल शृङ्गार के सम्बन्ध में ही उज्ज्वलता की बात कही, अन्य रसों के विभावानुभावादि भी उज्ज्वल अर्थात् उत्कृष्ट या उदात्त होने चाहिये, यह बात आचार्यों ने स्पष्टतः नहीं कही। सब रसों के विभावादि सब अवयवों में उदात्त तत्त्व होना चाहिए, और सब के औदात्त्य से ही उदात्त रस या रस के उदात्त रूप की निष्पत्ति सम्भव होती है। विभावादि की उज्ज्वलता या उदात्तता को एक उदाहरण में स्पष्ट करते है। शकुंतला और दुष्यन्त के प्रेम का प्रसंग लीजिए। इसमें विभावादि अर्थात् आलम्बन-रूप में केवल नर और नारी का होना उदात्तता की दृष्टि से पर्याप्त नहीं है। दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों की परिस्थितियाँ, दोनों का उदात्त रूप-सौन्दर्य, प्रकृति, प्रवृत्तियाँ, वेशभूषा, वातावरण आदि सब मिलकर उन्हे उदात्त रस का विषय बनाते है। अतः कण्व ऋषि की पालिता, आश्रम के रम्य वातावरण मे सौन्दर्य और सौम्यता की पूर्ण प्रतिमा बनी हुई देव-कन्या पवित्र बाला शकुन्तला ही पूर्ण योग्य और उदात्त आलम्बन है। किन्तु इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि यदि केवल एक मुक्तक मे ही कवि किसी नर-नारी के साक्षात्कार और प्रेमोद्बोध का वर्णन करता है, तो वह भी विषय तो शृंगार रस का ही होता है। उस अवस्था मे सुन्दर, युवा नर-नारी भी आलम्बन ही कहे जायेंगे। पर यह स्थिति परम पुष्ट, योग्य और उदात्त आलम्बन की वैसी स्थिति नहीं है, जैसी पहली शकुन्तला की। पहली अवस्था उदात्त है, क्योंकि शकुन्तला की निसर्ग-सुन्दरता, पवित्रता, स्वच्छता, निष्कपटता, सदाशयता आदि बाह्य एवं आन्तरिक गुणों के साथ तपोवन की पवित्रता, रम्य उपवन की चित्र-मयी छटा आदि सब से युक्त शकुन्तला मे जो उदात्तता (Grandeur) है, वह उदात्त शृगार रस का पूर्ण उदात्त विभावपक्ष है।

अब बीभत्स रस की दृष्टि मे विचार करें। आचार्यों ने बीभत्स रस के जो आलम्बन बताये या उद्धृत किये है, वे उदात्त नहीं माने जा सकते। मांस-मज्जा, दुर्गंधादि का वर्णन मन पर किसी उच्च भाव की छाप अंकित नहीं कर सकता, उसकी अपेक्षा यदि कवि किसी सामाजिक बुराई का वर्णन करता है, वेश्यागामी लोगों की शराब से गुच बीभत्स दशा का चित्रण करता है, तो यह आलम्बनत्व योग्य और उदात्त होगा। इससे हमारी उदात्त घृणा जगेगी, मानसिक उद्वेलन होगा, क्योंकि मानव का ऐसा पतन हमारी नैतिक भावना के प्रतिकूल है। ऐसा आलम्बन ही उदात्त

---

१. "वेषयति व्यापयति चित्तवृत्तिमन्तश्च ज्ञापनया सङ्क्रामयतीति वेषो विभावानुभावात्मा। वेषयन्ति व्याप्नुवन्ति स्थायिनमिति वेषा· व्यभिचारिणः। ते उज्ज्वला उत्कृष्टा यस्मिन् तथाभूत आत्मा यस्येति।"—हिन्दी अभिनवभारती (भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर), पृ० ५४२।

होगा, क्योंकि उसका सम्बन्ध हमारी उदात्त प्रवृत्तियों से होगा। इसकी प्रतिक्रिया हमारे मन को उदात्त बनाती है। उदात्त आलम्बन से यह अभिप्राय नहीं कि आलम्बन अर्थात् व्यक्ति या वस्तु-विशेष महान् हो, बल्कि वह महान् प्रवृत्तियों को जगाने वाली होनी चाहिये। उसकी प्रतिक्रिया हमारे मन को सबल बनाए एवं परिष्कृत करे। प्राचीन आचार्यों के वीभत्स-सम्बन्धी प्राय: सब और शृंगारहास्यादि अन्य रसों के भी बहुत-से आलम्बन अयोग्य और अनुदात्त प्रतीत होते हैं।

इसी प्रकार अनुभाव और व्यभिचारी भावों में उदात्तता होनी चाहिए। अत: उदात्त स्थायी भाव तथा विभावादि की उदात्तता से ही उदात्त रस की सिद्धि होती है। पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि समष्टि-प्रभाव तक ही रही। इस समष्टि-प्रभाव का सच्चा रूप हमारे उदात्त रस में ही प्रगट हो सकता है। हमारे उदात्त रस की पुष्ट दशा भी समष्टि-प्रभाव (Accumulated effect) ही है, क्योंकि उदात्त विभावादि, उदात्त (उत्कृष्ट) भाषा-शैली, रीति, नीति, संगीत आदि सब का समन्वित रूप समष्टि-प्रभाव उत्पन्न करता है। पर हम इसे समष्टि-प्रभाव न कहकर उदात्त रस-दशा ही कहेंगे। इससे हमारे पास मान-दण्ड का वास्तविक रूप सुरक्षित रहता है।

उपर्युक्त विवेचन से हमने जिस उदात्त रस को काव्य की सर्वश्रेष्ठता का मानदण्ड निर्धारित किया है, वह साहित्य-समीक्षा का विशुद्ध साहित्यिक मान है। उसे न हम कलावादी मानदण्ड कह सकते हैं, न नीतिवादी, न अभिव्यंजनावादी मान कह सकते हैं, न केवल सौष्ठववादी। उसमें उच्चकोटि की भाषा-शैली और रचना-विधान की प्रक्रिया, उच्च उदात्त विभावादि तथा महान् जीवनादर्श आदि सब तत्त्व अपने 'उज्ज्वलवेष' में प्रकट होते हैं। यह उदात्त रस-दशा ही श्रेष्ठतम अनुभूति की दशा है, यही उत्तम प्रकार का समष्टि-प्रभाव उत्पन्न करती है। निश्चय ही इस उदात्त रस को हम काव्य की श्रेष्ठता का शाश्वत और सार्वदेशिक मानदण्ड घोषित कर सकते हैं।

हमारे यहाँ व्यावहारिक समीक्षा की सब शैलियों का समुचित विकास नहीं हुआ था। पाश्चात्य समीक्षा की एक बहुत बड़ी देन है—व्यावहारिक समीक्षा की विभिन्न शैलियाँ। ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, व्याख्यात्मक, वैज्ञानिक तुलनात्मक, प्रभाववादी, समाज-शास्त्रीय आदि समीक्षा के विभिन्न रूपों का प्रदर्शन करके पाश्चात्य समीक्षकों ने समीक्षा या मूल्यांकन की पूर्णता का मार्ग दिखाया। समीक्षा का सर्वमान्य मानदण्ड उदात्त रस को बनाया जा सकता है, किन्तु समीक्षा का व्यावहारिक पूर्णरूप इन सब शैलियों के समन्वय से ही सिद्ध होगा। यहाँ 'मानदण्ड' और 'व्यावहारिक पूर्णता' में अन्तर स्पष्ट कर देना आवश्यक है। "किसी वस्तु या सिद्धान्त के सौष्ठव को नापने की कसौटी या साधन को ही मानदण्ड कहते हैं। अर्थात् पहले हम श्रेष्ठता की पराकाष्ठा का एक मान स्थिर कर लेते हैं और फिर उसी मान के आधार पर हम किसी वस्तु या सिद्धान्त की श्रेष्ठता का विवेचन करते हैं।"[1] हमने 'उदात्त रस'

---

१ साहित्याचार्य प० सीताराम चतुर्वेदी : "समीक्षा-शास्त्र"—पृ० ५६ (प्रथम संस्करण)।

को साहित्य की श्रेष्ठता की पराकाष्ठा का मानदण्ड निर्धारित किया है, अर्थात् जिस रचना मे जितना अधिक रस का उदात्त रूप होगा, उतनी ही वह श्रेष्ठ होगी। यह मूल्यांकन की बात हुई। किन्तु किसी रचना की पूर्ण समीक्षा करने के लिए हमें भिन्न-भिन्न समीक्षा-प्रणालियो को अपनाना होता है, जैसे, हम कवि पर पड़े युग के प्रभावो का अध्ययन करेंगे, उन समस्त सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक स्रोतो को खोजेगे, जहाँ से कवि ने प्रेरणा ग्रहण की, यह ऐतिहासिक समीक्षा-प्रणाली होगी। हम मनोवैज्ञानिक पद्धति से कवि की वैयक्तिक चेतना का स्रोत ढूँढेगे। कवि के भाव-आशयो, उसकी सौन्दर्यानुभूति तथा भाव और शैली की कलात्मक जागरूकता की व्याख्या करेंगे। अन्य कवियो से उसकी तुलना करेगे, उसकी रचना के मानवतावादी और सामाजिक मूल्यो का उद्घाटन करेंगे और कला के रचना-तत्त्वो की दृष्टि से उसकी परख करके जब उसके सम्बन्ध मे अपना पूर्ण निर्णय देंगे, तभी हमारी आलोचना पूर्ण होगी। अत. पाश्चात्य समीक्षक चाहे एक सर्वमान्य शाश्वत समीक्षामान देने मे असमर्थ रहे हो, पर पूर्ण समीक्षा की विविध शैलियाँ प्रदान करने का महत्त्वपूर्ण कार्य उन्होंने अवश्य किया है। हमारे यहाँ व्यावहारिक समीक्षा की इन वैज्ञानिक शैलियो का प्रायः अभाव ही था। इन सब शैलियो को हम अपनी निर्णयात्मक समीक्षा की सहायक बनाकर पूर्ण समीक्षा का आदर्श पा सकते है। अत: सम्पूर्ण भारतीय पद्धतियो तथा सम्पूर्ण पाश्चात्य सिद्धान्तो—लोंगिनुस के औदात्त्य, टी० एस० इलियट के अभिजात्य, ब्रेडले के आन्तरिक मूल्य-सम्बन्धी सौन्दर्यवादी सिद्धान्त, प्रगतिवादियो के समाज-शास्त्रीय मूल्यांकन, टाल्स्टाय के मानवतावादी व्यापक उपयोगितावादी तथा आई० ए० रिचर्ड्स के मनोवैज्ञानिक मूल्य-सम्बन्धी सिद्धान्त सब से समन्वित उदात्त रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत आदर्शपूर्ण व्यावहारिक समीक्षा का स्वरूप-विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है—

१. विषय-तत्त्व—

इसके अन्तर्गत समीक्षक पहले ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक समीक्षा के सहारे किसी रचना के विषय-तत्त्व के प्रेरणा-स्रोतों की जाँच करेगा। विषय कहाँ से लिया गया है? उसमे मौलिकता कितनी है, आदि-आदि। फिर वह विषय की सवेदनाओ की व्याख्या करता हुआ उनके सम्पूर्ण विभाव-अनुभाव-सचारी भाव आदि तत्त्वो को प्रकट करेगा। कलाकार की उदात्त अनुभूतियो को स्पष्ट करेगा। भावानुभूतियो को तीव्रतम बनाने वाले तत्त्वो की व्याख्या करेगा। भाव-विस्तार कितना है, भाव-गहनता कितनी है, उदात्तता कहाँ तक आ पाई है? उसकी सजग कल्पना ने भावोत्कर्ष मे कहाँ तक योग दिया है? आदि।

२ भाषा-शैली—

रचना की रस-प्रक्रिया को उत्कृष्ट बनाने तथा उसे एक सर्वाङ्ग-सुन्दर रचना बनाने में शैली के प्रसाधनों ने कहाँ तक योग दिया है ? कौन-कौन से प्रसाधन अपनाये गये है—अलकार, मुहावरे, लाक्षणिक व्यंजनात्मक प्रयोग आदि कितने कलापूर्ण और उपयुक्त है ? भाषा में भावानुरूप माधुर्य, ओज आदि गुण तथा सगीत-सौन्दर्य, सरलता, स्पष्टता और प्रवाह आदि विशेषताएँ कहाँ तक है ? मौलिकता कितनी है ?

३. रचना-शैली—

इसके अन्तर्गत अन्य रचना-कौशल या रचना-विधान की बात भी होगी, जैसे, कविता मे छन्दादि, उपन्यास मे कथानक, चरित्रचित्रण आदि तत्त्व । इनकी कलात्मक पूर्णता ही रचना को सर्वाङ्ग-सुन्दर बनायेगी । रचना-विधान की किस कमी से समष्टि-प्रभाव या उदात्त रस-परिपाक मे कमी आई है, किन-किन विशेषताओ ने मिलकर समष्टि-प्रभाव की सिद्धि की है ? रचना-विधान में मौलिकता कैसी और कितनी है ? इत्यादि ।

४ नैतिक मूल्य : विचार-पक्ष—

कवि या लेखक का क्या नैतिक उद्देश्य है । उसने किन उच्च मानवतावादी आदर्शों की स्थापना की है ? उसने समाज और समाज से भी ऊपर मानवता के किन शाश्वत मूल्यों की प्रतिष्ठा की है ? उसकी रचना युग के किन प्रगतिशील तत्त्वो को उभार सकी है ? उसमे युग-युग के मानव को सन्देश देने की कहाँ तक क्षमता है ? किन उदात्त मानवीय सवेदनाओ को उसने जगाया है ? वह नैतिक मूल्यो को रसानुभूति का अग पूरी तरह बना सका है या नही ? कही उसके मानवतावादी आदर्श 'उदात्त रस' के रूप मे प्रगट होने की बजाय प्रचारवादी या नीतिवादी के सैद्धान्तिक उपदेश या सन्देश-मात्र बन कर तो नही रह गये ? उसके विचार-तत्त्व मे कहाँ तक गहराई है, कहाँ तक मौलिकता है ? इत्यादि ।

कहने की आवश्यकता नही कि उपर्युक्त तत्त्वो के विश्लेषण मे हमारा आदर्श समीक्षक सर्वत्र वैज्ञानिक तुलनात्मक तथा निर्णयात्मक पद्धति भी अपनाये रहेगा और सब तत्त्वो की मूल धुरि उदात्त रस ही रहेगी और इस प्रकार भाव, शैली आदि सभी दृष्टि से रचना की रमणीयता, उसकी उदात्तता, सार्वभौम अर्थात् व्यापक प्रभावात्मकता आदि के आधार पर विशुद्ध साहित्यिक मूल्यांकन करेगा । इस प्रकार की समीक्षा ही आदर्श समीक्षा होगी जो सब प्रकार के समीक्षा-प्रसाधनो और समीक्षा-शैलियो को आत्मसात् करके चलेगी । इसी आदर्श पर नवीन व्यापक समीक्षा का भव्य प्रासाद खड़ा करना होगा । इससे न केवल हम अपने साहित्य, अपितु विश्वसाहित्य का सही मूल्यांकन करने मे सफल होगे ।

अपने रस-सिद्धान्त को इस प्रकार व्यापक 'उदात्त रस-सिद्धान्त' बनाकर हम उसे समीक्षा का शाश्वत मानदण्ड घोषित कर सकते है। रस की अवहेलना से काम नही चल सकता। और न ही केवल परम्परागत नौ रसो को गिनाने-मात्र से काम चलेगा। इस व्यापक उदात्त रस-सिद्धान्त से हम आज के साहित्य का पूर्ण मूल्यांकन कर सकते है। डा० रामविलास शर्मा आदि रस-विरोधी आलोचको ने तो रस की उपेक्षा की ही, हमारे कई अन्य साहित्य-समीक्षक भी इस दोष से नही बचे है। आलोचक को चाहिये कि साहित्य-रचनाओ की परख आलोचना के शाश्वत मानदण्ड (रस के उदात्त रूप) के आधार पर ही करे। समीक्ष्यवादी को प्रत्येक युग की प्रत्येक रचना की स्वतन्त्र सत्ता का भी ध्यान रखना चाहिए। अत युग-विशेष के रचना-सम्बन्धी रूढ नियमो तथा मानो को ही कसौटी नही बनाना चाहिए। समीक्षा के कुछ बाहरी मानदण्डो या सिद्धान्तो को काव्य-सामान्य के लिए सत्य मानकर समीक्षा करना अनुचित ही है। रूढ नियमो को कलाकृति मे न पाकर उसे हेय समझ बैठना आलोचना की भारी त्रुटि है। इस सम्बन्ध मे हमारा आग्रह है कि साहित्य-समीक्षको को युग-साहित्य के ऐसे नियम बनाते हुए साहित्य के मूलभूत शाश्वत मानदण्ड— रस या उदात्त रस—को नही भुलाना चाहिए। चाहे हम महाकाव्य के लक्षण या नियम बना रहे हो अथवा उपन्यास के, हमें सदा उन तत्त्वो को प्रमुखता देनी चाहिए जो साहित्य के मूल तत्त्व है। हमारे प्राचीन आचार्यो ने महाकाव्य के लक्षणो पर प्रकाश डालते हुए छन्द-नियम, सर्ग-सख्या, मगलाचरण आदि बाह्य बातों को भी उतना आवश्यक ठहराया जितना रस-परिपाक और उदात्तता आदि अन्तरग तत्त्वों को। महाकाव्य के व्यापक और शाश्वत मानदण्डो के आधार पर उसके अनिवार्य अन्तरग तत्त्वो और परिवर्तनीय बाह्य तत्त्वो मे भेद बताकर पूर्ण विवेचना आचार्यों ने नहीं की। अब यदि कोई समीक्षक किसी आधुनिक महाकाव्य मे मगलाचरण न पाकर अथवा छन्द-परिवर्तन का प्राचीन नियम न देखकर उसे दूषित ठहराने लगे, तो उसकी आलोचना कितनी हास्यास्पद होगी! खेद की बात है कि आज भी हम वही गलती दोहरा रहे हैं। उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि आधुनिक साहित्य-विधाओ के तत्त्व-निरूपण मे हम मूल तत्त्वो को भुला रहे है। उपन्यास-कहानी के तत्त्व प्रकाशित करते हुए बहुत-से आलोचक भावानुभूति—भाव और रस—को गिनाते ही नही। प्रेमचन्द के उपन्यासो की समीक्षा करने वाले कई समीक्षको ने भाव-संवेदनाओ की दृष्टि से मूल्यांकन छोड ही दिया है। क्या प्रेमचन्द की महानता केवल इस बात में है कि उन्होंने समाज की विविध समस्याओं का बोध कराया, जो कार्य कि एक समाज-शास्त्री भी कर सकता था? मैं समझता हूँ प्रेमचन्द इसलिए महान् हैं कि उन्होने जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओ पर हमारी भाव-सवेदनाये जगाई, जो निश्चय ही युग के महान् सास्कृतिक निर्माण से सम्बन्ध रखती हैं। अनुभूति-क्षेत्र के रागात्मक तत्त्वो के माध्यम से ही प्रेमचन्द के प्रगतिशील तत्त्वों का अध्ययन समीचीन होगा। इसके बिना उनकी समीक्षा

अधूरी ही कही जा सकती है। अतः डा० रामविलास शर्मा आदि के इस मत से हम सहमत नहीं हो सकते कि प्राचीन रस के पैमाने से आधुनिक साहित्य की समीक्षा असम्भव है। उदात्त रस-सिद्धान्त द्वारा हम आधुनिक साहित्य—उपन्यास, कहानी आदि सब की पूर्ण परख कर सकते है। हमारा रस-तत्त्व साहित्य का मेरुदण्ड है, इसकी अवज्ञा साहित्य की ही अवज्ञा है। इसी मूल साहित्यिक धारणा से प्रेरित होकर हमने आचार्यों के रस-निरूपण के पुनः परीक्षण की आवश्यकता का अनुभव किया है। अपनी रस-पद्धति को छोड़ने की बजाय हमें उसमे आवश्यक संशोधन और परिवर्द्धन करना चाहिए। सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास के साथ मानवीय भाव-जगत और मानव-संस्कारों मे जो परिवर्तन हुआ है, तदनुसार रस के विवेचन मे भी हमें परिवर्तन, संशोधन परिवर्द्धन आदि करना चाहिए। हमारे प्राचीन आचार्यों के रस-विवेचन मे जो भ्रान्तियां पाई जाती है, उनका निराकरण करना चाहिए। आगे हम आचार्यों की रस-दृष्टि के दोषों का निराकरण करते हुए, बीभत्स रस के वास्तविक स्वरूप और व्यापक मानव-जीवन मे उसके प्रसार का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

अध्याय २

आचार्यों का रस-दृष्टि-दोष और बीभत्स-रस-निरूपण

(क) आचार्यों का रस-दृष्टि-दोष

(ख) आचार्यों का बीभत्स-रस-निरूपण

(क) आचार्यों का रस-दृष्टि-दोष

जैसा कि पहले संकेत कर चुके है, प्राचीन आचार्यो की सम्पूर्ण रस-दृष्टि के पुन. परीक्षण की आवश्यकता है। यह कार्य अपने मे इतना व्यापक है कि हमारे प्रबन्ध की सीमा मे समा ही नहीं सकता। अत यहाँ हम संकेत-रूप मे आचार्यों की कुछ भ्रातियो का ही उल्लेख करेंगे, ताकि बीभत्स रस के बारे मे उनकी भ्रात धारणा स्पष्ट हो जाय।

रस और रस-सिद्धान्त पर सर्वप्राचीन प्राप्य ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' ही है। रस पर विचार करते हुए भरत मुनि ने सर्वप्रथम रसो मे उत्पाद्य-उत्पादक की बात चलाई है। उनका कथन है--शृङ्गार से ही हास्य उत्पन्न होता है, रौद्र से करुण रस, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है।[1] भरत के इस कथन मे आंशिक सत्य ही माना जा सकता है। खेद है कि आचार्यो को हास्य का विभावपक्ष विकृत शृङ्गार-सामग्री मे ही प्रतीत हुआ। सम्भवत उस समय नाटकों आदि मे हास्योत्पत्ति का आधार शृंगार का अनौचित्य ही होता था। अभिनवगुप्त ने अपनी व्याख्या मे यह स्वीकार किया है कि शृङ्गार ही नही, सब रसो का विषय अनौचित्यपूर्ण होने पर हास्योत्पादक हो सकता है। इस तथ्य को मानते हुए भी अभिनवगुप्त ने स्पष्ट शब्दो मे भरत मुनि का खण्डन नही किया है, बल्कि भरत के उक्त सूत्र का समर्थन ही किया है।

हमारे आचार्यो ने अपने रस-विवेचन मे कई बार पाठक या सहृदय अथवा कवि की दृष्टि से विचार करना भुला दिया है, यही कारण है कि उनके रस-निरूपण मे कई स्थानो पर भ्रातियाँ पाई जाती है। वास्तव मे रसानुभूति का विचार कवि

---

१. 'शृङ्गाराद्धिभवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानक ॥ नाट्यशास्त्र ६/३९

हिन्दी अभिनव भारती, पृ० २२७।

या सहृदय की दृष्टि से ही होना चाहिए। न केवल वीभत्स रस के बारे मे, अपितु रौद्र, भयानक आदि कुछ अन्य रसो के सम्बन्ध मे भी आचार्यों के मत कई स्थानो पर इसीलिए भ्रात प्रतीत होते है कि उन्होने सहृदय की अनुभूति का विचार छोड दिया। रौद्र रस के सम्बन्ध मे प्राचीनो की कुछ भ्रातियो पर विचार करना आवश्यक है।

भरतमुनि ने रौद्ररस का आश्रय राक्षस आदि को प्रमुख रूप से बताया है। इस पर प्रश्न उठाया गया है—"रौद्ररस राक्षस-दानवादि मे होता है (यह जो कहा है) सो क्या अन्यों मे नही होता ?" भरतमुनि स्वय उत्तर देते है कि अन्यो में भी रौद्र-रस होता है। किन्तु यहाँ विशेष रूप से (राक्षस आदि के ही) अधिकार का ग्रहण किया जाता है। क्योकि वे स्वभाव से ही क्रोधी होते है (इसलिए मुख्य रूप से उन्ही का अधिकार है)। क्यो ? क्योकि वे अनेक बाहुओ वाले, अनेक मुख वाले, काँपते हुए, फैले हुए, और पीले केशो से युक्त, लाल-लाल चढी हुई आँखो वाले और भयकर काले रग के होते है। और वे वाचिक या आगिक आदि जो व्यापार स्वाभाविक रूप से भी आरभ करते है, उनका वह सब व्यापार रौद्र ही होता है। (यहाँ तक कि) वे प्राय शृङ्गार का सेवन भी बलात्कार से ही करते है। उनकी चाटुकारी (सेवा, खुशामद) करने वाले जो मनुष्य होते है, उनमें भी सग्राम या सम्प्रहार आदि के कारण रौद्र रस मानना चाहिए।[1]

आश्चर्य है कि आचार्यों को राक्षसो के क्रोध मे रौद्र रस की अनुभूति कैसे मान्य हुई ! बलात्कार करने वाले, भयकर आकृति-प्रकृति के राक्षसो के वाचिक या आंगिक व्यापार रौद्र नही, बीभत्स ही कहे जा सकते है और उनके अनुचित क्रोध से हमारा साधारणीकरण या तादात्म्य नही हो सकता, बल्कि वे ही हमारी घृणा के आलम्बन होगे। क्या अशोक वाटिका मे सीता पर क्रुद्ध होने वाला रावण रौद्ररस की अनुभूति कराता है ? उसका वह प्रचण्ड, भयकर रूप बीभत्स रस या भयानक रस का ही विषय हो सकता है। अतः आचार्यो का यह रस-निरूपण दोषपूर्ण ही है। केवल काव्यगत सामग्री के आधार पर निर्णय करने के कारण ही यह दोष पैदा हुआ है।

अभिनवगुप्त आचार्य ने भी अपनी टीका मे यही प्रश्न उठाया है, किन्तु आश्चर्य की ही बात है कि वे भी इसका गलत समाधान प्रकट करते है। प्रश्न उठाया गया है कि "उस प्रकार के राक्षस आदि को देखने पर सामाजिको को क्रोधात्मक कैसे होता

---

१. अस्त्यन्येषामपि रौद्रो रसः, किन्त्वधिकारोऽत्र गृह्यते। ते हि स्वभावत एव रौद्राः। कस्मात् बहुबाहवो, बहुमुखाः प्रोद्धत-विकीर्ण-पिगल शिरोजाः, रक्तोद्वृत्तविलोचनाः, भीमासितरूपिणश्चैव। यच्च किंचित् समारभन्ते स्वभावचेष्टितं वागङ्गादिक तत्सर्वं रौद्रमेवैषाम्। शृङ्गारश्च तैः प्रायशः प्रसभं सेव्यते। तेषा चाटुकारिणो ये पुरुषास्तेषामपि सग्राम-सम्प्रहारकृतो रौद्रोरसोऽनुमन्तव्य। —नाट्यशास्त्र, षष्ठोऽध्याय. (हिन्दी अभिनव भारती पृ० ५८७)।

है ?" इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि "हृदय का तादात्म्य (सवाद) ही आस्वाद है। क्रोध मे (मुख्य रूप से) तामस प्रकृति वाले सामाजिको का ही तादात्म्य होता है। इसलिए दानव आदि के समान तन्मय होकर वे अन्याय-कारी-विषयक क्रोध का आस्वादन करते हैं, इसलिए इससे कोई दोष नही होता है।[1]

बड़ी विचित्र बात है कि आचार्य रौद्र रस की अनुभूति तामस प्रकृति मे मान बैठे! रसानुभूति सत्त्वोद्रेक से ही होती है, फिर रसानुभूति की अवस्था मे नीच प्रकृति कहाँ रहती है ? क्या तामस वृत्तियो मे सामाजिक तन्मय हो सकता है ? रौद्ररस मे यदि अनुचित तमोगुणी क्रोध होगा, तो उसमे सामाजिक का तादात्म्य हो ही नही सकता। निश्चय ही अभिनवादि आचार्यों की ऐसी उक्तियाँ कि "रौद्र रस में तो तमोगुण की प्रधानता होने के कारण अनुचित और शास्त्रविरुद्ध बन्धादि भी हो सकता है"[2] उनकी रस-दृष्टि के दोष की ही परिचायक हैं।

अभिनवगुप्त ने इस उत्पाद्य-उत्पादक भाव का समर्थन रौद्र रस से करुण की सिद्धि मानकर करने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि रौद्र का फल बधबन्ध आदि होता है। (उसके बाद) उन्ही (वध-बधादि रूप उद्दीपन) विभावो वाला करुण रस अवश्य होता है जैसे वेणीसहार मे—

"आज ही प्रात काल हम दोनो अर्थात् मै (दुर्योधन) और दु शासन पिता (धृतराष्ट्र) तथा माता (गान्धारी) से मिलकर युद्धभूमि मे आए थे और नमस्कार करने पर उन्होने (माता-पिता ने) मेरे और दु शासन के सिर को (चिरायु की कामना के लिए) सूँघा था। उस बालक (दु.शासन) की शत्रु (भीम) के द्वारा (उसको मारकर और छाती का खून पीकर) वह दुर्दशा हो जाने के बाद मैं निर्लज्ज माता-पिता के सामने जाकर क्या उत्तर दूंगा।[3]

यहाँ अभिनवगुप्त ने 'वेणीसंहार' मे भीम के क्रोध से रौद्ररस मानते हुए भी उसके द्वारा वध को अनुचित-सा ठहराकर करुणरस की उत्पत्ति स्वीकार करने की भूल की है। रौद्र रस का आलम्बन (अर्थात् रौद्र रस के काव्यगत आश्रय का आलम्बन) जब हमारा भी आलम्बन बन गया, तो उसकी प्राण-हानि से हमारे मन मे शोक कैसे जागृत हो सकता है ? दु शासन के भाई-बधुओ को तो शोक की अनुभूति हो सकती है, किन्तु उससे हमारा तादात्म्य संभव नही है। रौद्ररस का आलम्बन करुण रस का आलम्बन हो ही नही सकता, क्योकि क्रोध जब होगा, दुष्ट के प्रति ही होगा। हाँ, आलम्बन-भेद होने से, परिस्थिति के बदल जाने से अवश्य करुण रस की अनुभूति सभव हो सकती है। पर उस सूरत मे रौद्र से करुण की उत्पत्ति वाली बात स्वत ही समाप्त हो जाती है। दु.शासन की मृत्यु पर दुर्योधन के शोक से हमारा तादात्म्य

१. हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५९१।
२. वही, पृ० ५९५।
३. हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५९१।

सम्भव नहीं। अत. दुर्योधन को रोते देखकर हमारे आँसू निकलना कठिन है। हाँ, यदि किसी का एकमात्र बेटा अपने बुरे आचरण के कारण, काव्यगत आश्रय के क्रोध से मारा जाता है, और उसकी मृत्यु पर उसका पिता अपनी असहाय दशा और ममता से विलाप करने लगता है, तो इस दशा मे अवश्य वह पिता हमारी करुणा का पात्र बन जाएगा। किन्तु इस स्थिति मे भी रौद्र से करुण की उत्पत्ति नही मानी जा सकती, बल्कि शोक स्थायीभाव आलम्बन-भेद से अपना स्वतत्र विकास प्रकट करता है। अत. आचार्यो ने रौद्ररस के स्वरूप-निरूपण मे भी भ्रांतिपूर्ण धारणा प्रकट की है। भरतमुनि का तद्विषयक श्लोक[1] उनकी रस-दृष्टि के सीमित और दोषपूर्ण होने का ही परिचायक है।

वीररस से अद्भुत रस की उत्पत्ति भरत के सूत्र मे कथित है, पर पता नही अभिनवगुप्त ने 'वीराद्भयानकोत्पत्ति.' का मत कहाँ से और कैसे प्राप्त कर लिया। इस दृष्टि से उनका भयानक रस का स्वरूपनिरूपण बिल्कुल दूषित है। वीररस से भयानक रस की उत्पत्ति को सिद्ध करने के लिए अभिनवगुप्त ने 'वेणीसहार' का ही यह उदाहरण दिया है कि 'कर्ण के पुत्र (वृषसेन) को (कर्ण के) सामने ही मार देने वाले अर्जुन से जगत् भयभीत हो रहा है।'[2] आश्चर्य है कि विद्वान् आचार्य सहृदय की अनुभूति का ध्यान किए बिना यहाँ भयानक रस की अनुभूति कैसे मान बैठे! वीर पुरुष से भयभीत होने वाले शत्रुओं का वर्णन सुनकर तो पाठक को हर्ष होगा, भयानुभूति नही। अत. पाठक या दर्शक मे स्थायीभाव भय के जाग्रत होने का यहाँ प्रश्न ही नही उठता। वास्तव मे शकुक का यह कथन कि भयानक रस की उत्पत्ति मे वीर रस के स्थायीभाव उत्साह का कोई व्यापार नही दीख पडता है' पर्याप्त सत्यता लिए हुए है। पर अभिनवगुप्त ने कवि या पाठक का विचार छोड़कर व्यर्थ ही इसका खण्डन करते हुए कहा है—युद्धवीरे च पराजयजनित: प्रतापापरपर्याय शत्रुहृदयदाहदायी तद्वनितादिषु भयानक एव जीवितम्।

यथा—

स पातु वो यस्य हतावशेषा-
स्तत्तुल्यवर्णाञ्जनरञ्जितेषु।
लावण्ययुक्तेष्वपि वित्रसन्ति
दैत्याः स्वकान्तानयनोत्पलेषु॥

नियमेन तु भवतीति वक्तव्यम्।[3]

---

१ शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु कीर्तित.।
रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेय करुणो रस.॥—नाट्यशास्त्र ६/३२

२ हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५२३।

३. हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५२४ (प्रथम संस्करण)।

शत्रु की स्त्रियो मे तथा शत्रुओं मे भय उत्पन्न होने से भयानक रस की सिद्धि कदापि नही मानी जा सकती। उपर्युक्त उदाहरण मे विष्णु के आतक से डरे हुए दैत्य अपनी स्त्रियो के अजनयुक्त नील कमल-नेत्रो को देखकर, उनके सदृश श्याम-वर्ण श्री कृष्ण का स्मरण कर, उन नेत्रो से भी भयभीत हो उठते है। यहाँ स्पष्ट ही भगवान् कृष्ण का जयघोष कवि को अभीष्ट है, अतः पाठक या दर्शक मे भय स्थायी-भाव के बोध का प्रश्न ही नही उठता। आचार्यो की यह भ्रान्ति वर्तमान काल तक चली आ रही है। डा० सुधीन्द्र ने भी शत्रुपक्ष अर्थात् प्रतिनायक पक्ष के भयभीत होने मे ही भयानक रस की अवस्थिति मानने की भूल की है। उन्होने भयानक रस का निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया है—

जरा देर मे हुई शत्रु-सेना शिथिलित सी,
पीछे वह हट चली युद्ध से हो विचलित सी।
घबराहट सब ओर पड गई उसमे भारी,
तितर-बितर तत्काल वह वहाँ गई निहारी।
आर्यों को काल समान ही देखा उसने भीति से।
आतकपूर्ण वह हो गई भारतीय रण-नीति से॥[1]

क्या प्रस्तुत प्रकरण मे कवि ने भय का भावन किया है ? निश्चय ही उत्तर 'न' मे होगा। ऐसे स्थलो पर भयानक रस की सामग्री नही मानी जा सकती। इसी प्रकार बाबू गुलाब राय आदि अन्य विद्वानों ने भी भयानक रस के ऐसे ही भ्रातिपूर्ण उदाहरण दिए है।[2]

रसो की इस उत्पाद्य-उत्पादक धारणा को अभिनवगुप्त ने चार भागो मे बाँट कर स्पष्ट किया है—(१) तदाभास रूप से, अर्थात् रसो के अनौचित्यपूर्ण वर्णन से हास्य रस की उत्पत्ति। (२) दूसरे प्रकार का उत्पत्ति-हेतुत्व फल के अनन्तर दूसरे रस का आवश्यक रूप से उत्पन्न होना बताया गया है, और उसका उदाहरण रौद्र के फल बध-बंध आदि से करुणोत्पत्ति, वीर से भयानकोत्पत्ति बताये गए है। इस मत का हम खण्डन कर चुके है। (३) तृतीय प्रकार का उत्पत्ति- हेतुत्व है एक रस का दूसरे रस के फलरूप मे प्राप्त होना, जैसे वीर से अद्भुत। (४) चौथे प्रकार का हेतु है एक रस का समान विभाव वाले दूसरे रस की प्रतीति कराना, जैसे बीभत्स के आलम्बनो

---

१. डा० सुधीन्द्र · हिन्दी कविता मे युगान्तर (प्रथम संस्करण), पृ० ४७१।

२. देखिए 'नवरस' (लेखक बाबू गुलाब राय एम० ए०) पृ० ४८८—४८९ पर लकादहन के—
'पौन पूत आगि को लगाय 'भगवंत कवि'
लगत न घाव काहू तुपक न तीर को।
लका लागि बरन जरन रनिवास लाग्यो,
व्याकुल ह्वै असुर धरै न रनधीर को।'' आदि उदाहरण

से भयानक रस की सिद्धि। परन्तु अभिनवगुप्त ने इसका जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह त्रुटिपूर्ण ही है। 'वेणी संहार' का यह उदाहरण प्रस्तुत किया गया है—

सस्तम्भ्यन्तां निहतदु:शासनपीतशेष शोणितस्नपित बीभत्सवृकोदर-
दर्शनवैक्लव्य स्खलितप्रहरणानि रणाद्विद्रवन्ति बलानि।" इति॥

अर्थात् "मारे हुए दुःशासन के (छाती के रक्त को पीकर) पीने से बचे हुए रक्त को शरीर मे मल लेने से भयकर दिखाई देने वाले भीम को देखकर घबराहट के मारे जिनके अस्त्र-शस्त्र गिरे जा रहे है, इस प्रकार की रण-भूमि से भागती हुई सेनाओं को रोको।"

शत्रु का रुधिर पीने वाले भीम को बीभत्स रस का विषय बताने की परम्परा आज तक चली आ रही है। डा० प्रतिपाल सिह ने अपने शोध-प्रबंध मे 'कृष्णायन' से बीभत्स रस का यही उदाहरण प्रस्तुत किया है—'स्थायी भाव घृणा है। आँतो का हार पहिनना, रुधिर पीना आलम्बन है। भीम का बीभत्स रूप देखिये—

"करि सिर छिन्न कृपाण-प्रहारा, तीक्ष्ण नखन अरि-वक्ष-विदारा।
गरजि हृष्ट शार्दूल समाना, पियेउ उष्ण शोणित-प्रणवाना।
अट्टहास उठि कीन्ह भयंकर, रक्त-सिक्त बीभत्स वृकोदर"।[1]

शत्रु के रक्त से स्नान करने वाला भीम क्या सचमुच बीभत्स रस का आलम्बन माना जा सकता है ? हमारा निश्चित मत है कि दर्शक या पाठक के मन मे भीम के प्रति घृणा का भाव यहाँ उत्पन्न नही हो सकता, अत. पहले तो इसे केवल रुधिर-दर्शन से ही बीभत्स रस का विषय नहीं माना जा सकता, भीम का रूप रक्त-लेपन से चाहे बाह्य रूप से कुरूप या बीभत्स हो गया हो, किन्तु उसकी अन्तर्प्रकृति बीभत्स की अनुभूति नही करा सकती। दूसरे, उससे डरकर भागती हुई शत्रु-सेना के भय से पाठक मे भय का सचार बिल्कुल भी सभव नही है। अत. आचार्यों के ये उदाहरण दोषपूर्ण हैं। बीभत्स और भयानक दोनो की विभाव-समानता और सह-अस्तित्व के उदाहरण हमने आगे दिए हैं। किसी क्रूर अत्याचारी के क्रूरकर्म से भय और घृणा दोनों की उत्पत्ति संभव है। काव्यगत आश्रय की ही दृष्टि से विचार करने के कारण आचार्यों की रसानुभूति मे ये भ्रांतियाँ आई है।

शकुक ने शृङ्गार रस से भी अद्‌भुत रस की सिद्धि स्वीकार कर ली और अपने मत की पुष्टि के लिए सागरिका कुमारी के अद्‌भुत सौन्दर्य का उदाहरण प्रस्तुत किया। शंकुक ने तो भूल की ही थी, अभिनवगुप्त आचार्य भी जिस प्रकार शकुक के मत का खण्डन करते हैं, उससे प्रमाणित होता है कि उनके सामने भी कवि या सहृदय की अनुभूति का विचार नहीं रहा। शंकुक द्वारा प्रस्तुत किया गया उदाहरण 'रत्नावली' का यह श्लोक है—

---

१. बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य (डा० प्रतिपाल सिह) प्रथम सं०, पृ० २४५।

"वह कम-काण्ड-ताण्डव-विकास
वेदी पर हिंसा-हास-रास,
लोलुप-रसना का लोल-लास,
तुम देखो ऋग्, यजु और साम।
ओ क्षणभगुर भव, राम राम।"[१]

इन पंक्तियों में ससार के हिंसापूर्ण कर्म-काण्ड यज्ञादि के प्रति गौतम की घृणा ही व्यंजित हुई है। किन्तु शारदातनय की कल्पना का आधार यह मानसिक घृणा कदापि नही मानी जा सकती।

आचार्यों की स्थूल दृष्टि—

रस-निरूपण मे हमारे प्राचीन आचार्यों की दृष्टि स्थूल ही मानी जायगी। उन्होंने रस के मनोवैज्ञानिक रूप पर स्थूलता का इतना आवरण चढ़ा दिया था कि रस का मनोवैज्ञानिक स्वरूप बहुत-कुछ आच्छादित होने लगता है। उदाहरण के लिए पहले शृङ्गार को ही लीजिए। शृङ्गार रस का जितना विस्तृत विवेचन प्राचीन आचार्यों ने किया है, उतना किसी भी रस का नही। परन्तु शृङ्गार मे भी उनकी दृष्टि कितनी स्थूल थी, यह मम्मट के शृङ्गार-प्रतिपादन से ही स्पष्ट हो जाता है। शृगार के सभोग और विप्रलम्भ दो भेद बताते हुए वे संभोग के सम्बन्ध मे जो विश्लेषण प्रस्तुत करते है, वह सब का सब उनकी स्थूल दृष्टि का ही परिचायक है। उसमे मानसिक मनोवैज्ञानिक रूप बिलकुल दब गया है। उनका कथन है—'तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ। सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्राद्य परस्परावलोकनालिंगनाधरपान-परिचुम्बनाद्यनन्तत्वाद् परिच्छेद्य एक एव गण्यते।[२]

मम्मट आदि आचार्यों द्वारा सयोग के स्थान पर सम्भोग-कथन ही शृङ्गार के इस पक्ष की बाह्य स्थूलता का परिचायक है। उपर्युक्त पंक्तियो मे नायिका और नायक के परस्पर अवलोकन, आलिंगन, अधरपान, परिचुम्बन आदि बाह्य व्यापारो को ही मम्मट संयोग के विभिन्न रूप बताते हैं। शृङ्गार का स्थायी भाव रति या प्रेम है। उस के मानसिक पक्ष का इसमे अभाव-सा ही है। आगे 'नायिका द्वारा आरब्ध' तथा 'नायक द्वारा आरब्ध' सयोग शृगार के जो उदाहरण दिये गए है, वे सब स्थूल काम-क्रीड़ाओ से ही सम्बन्ध रखते है। नायिका द्वारा आरंभ किए गए सम्भोग के उदाहरण-स्वरूप अमरुक का 'शून्यं वासगृह विलोक्य' वाला प्रसिद्ध श्लोक प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार नायक द्वारा आरम्भ किये गये सम्भोग शृगार का यह उदाहरण दिया गया है—

---

१. यशोधरा (सं० २०१०), पृ० २०।

२. मम्मट : काव्यप्रकाश (चतुर्थ उल्लास) हिन्दी अनुवादसहित, साहित्य सम्मेलन, द्वितीय सस्करण, पृ० ६६।

'त्वं मुग्धाक्षि विनैव कंचुलिकया धत्से मनोहारिणी
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासस्पृशि ।
शय्योपान्त निविष्ट सस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यात. शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ॥३१॥[1]

अर्थात्—(नायिका के निर्भर आलिंगन में विघ्नस्वरूप चोली को नायिका के शरीर पर से उतार डालने के लिए प्रवृत्त नायक अपनी नायिका से कहता है) हे सुन्दर नेत्रो वाली प्रिये ! तेरे शरीर की मनोहारिणी शोभा तो चोली के बिना पहने भी बनी रहती है। (अतएव तू इसे उतार कर फेक दे)। जब प्रियतम ने इतना कह कर नायिका की चोली के बन्धनों को खोलने के लिए अपने हाथों से छुआ, तब नायिका के विकसित नेत्रों को देख, प्रसन्न हो, सेज के समीप बैठी मुस्कराती हुई सखियाँ वहाँ से झूठी बाते बनाती हुई धीरे-धीरे खिसक गई ।'

सयोग मे तो सभोग की स्थूल भावना इन्हे रुचिकर हुई ही, विप्रलम्भ में भी स्थूलता का परिचय मिलता है। विरह पक्ष कितना मानसिक पक्ष है। पर आचार्यों की स्थूल दृष्टि सूक्ष्म आत्मिक प्रेम का भली प्रकार अवलोकन नहीं कर सकी। उनके शृङ्गार-विवेचन मे सूक्ष्म प्रेम की अपेक्षा कामोत्तेजना का आधार अधिक है। वियोग पक्ष का मम्मट द्वारा प्रस्तुत किया निम्न उदाहरण देखिये—

"अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुहृद
यो मा नेच्छति नागतश्च हहहा कोऽयं विधे. प्रक्रमः ।
इत्यल्पेतरकल्पनाकवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे
बाला वृत्तविवर्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रां निशि ॥३३॥

अर्थात्—(नायक के यथासमय उपस्थित न होने पर विरहोत्कण्ठिता नायिका के वर्णन मे कवि कहता है—) नायिका अपने मन मे विचार करके कहती है कि यह तो हो नही सकता कि वह (नायक) किसी दूसरी नायिका के घर चला जाय। न तो उसका कोई ऐसा मित्र ही है कि जिसके (अतिशय प्रेम के) कारण वह मुझे न चाहे। परन्तु वह यथासमय आया भी नही। हाय ! हाय ! यह विधाता की कैसी चाल है ? उक्त प्रकार की अनेक कल्पनाओं से व्याप्तचित्त नायिका अपने शयनागार मे सेज पर करवटें पलटती हुई रात्रि मे नींद नही लेने पाती।

मम्मट आचार्य के वीर, भयानक, बीभत्स आदि के उदाहरण भी उनकी विषयगत दृष्टि के ही परिचायक है। इसी प्रकार भाव-शान्ति, भावोदय, भावसन्धि तथा भाव-सबलता के उदाहरण (श्लोक नं० ५०, ५१, ५२, ५३ आदि) भी सर्वथा स्थूल प्रवृत्ति के परिचायक हैं। भावशान्ति का उदाहरण यह दिया गया है—

---

१. द्रे० वही पृ० ६६-६७ ।

तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनयुग प्रश्लेषमुद्राङ्कितं
किं वक्षश्चरणानतिव्यतिकरव्याजेन गोपाय्यते ।
इत्युक्ते क्व तदित्युदीर्य सहसा तत्सम्प्रमाष्टुं मया
साश्लिष्टा रभसेन तत्सुख वशात्तन्व्यापि तद्विस्मृतम् ॥५०॥

अर्थात् (कोई धृष्ट नायक अपने मित्र से अपनी खण्डिता नायिका के क्रोध तथा क्रोध-शान्ति का वर्णन करता हुआ कहता है— 'जब उस (नायिका) ने कहा [illegible]नी (मेरी सौत) के घने चन्दन से लिप्त दोनो स्तनो के गाढालिंगन-चिन्ह से युक्त अपने वक्ष स्थल को मेरे चरणों पर प्रणाम करने के बहाने से क्यो छिपाते हो ? तभी वह कहाँ है ? ऐसा पूछकर मैंने सहसा उस चिन्ह के मिटाने के लिए उसके शरीर का गाढ़ालिंगन कर लिया और वह कृशांगी भी मेरे शरीरालिंगन के सुख मे उस (उलाहने) को भूल गई ।[1]

इस प्रकार के स्थूल शृंगार के उदाहरणो का आधार प्राकृत और संस्कृत का मुक्तक काव्य (गाथासप्तशती, आर्या सप्तशती, अमरुक शतक आदि) ही कहा जा सकता है, जिसमें शृंगार के शारीरिक बाह्य पक्ष की प्रधानता है, मानसिक रूप कम है और उदात्तता तो बहुत कम । इन लक्षण-ग्रन्थो के आधार पर अपनी कविता रचने वाले हमारे रीति काल के कवियो का शृंगार-चित्रण स्थूल और बाह्यपक्ष-प्रधान क्यों न होता ? हम आगे देखेंगे कि इसी वस्तुगत स्थूल दृष्टि के कारण आचार्यो द्वारा बीभत्स रस का सही स्वरूप-निरूपण नही हो सका है । हमारी रस-पद्धति जितनी मनोवैज्ञानिक है, आचार्यो की बहुत-सी व्याख्याएँ उतनी ही अमनोवैज्ञानिक हो गई हैं ।

शृङ्गार रस ही हमारे आचार्यो के समक्ष नानाभेदोपभेदो के रूप में प्रकट हुआ है, अन्य रसो का तो उन्होने चलता-सा ही वर्णन किया है । देवरति, पुत्ररति आदि को मम्मट आदि ने केवल भाव की श्रेणी मे ही गिना है । दाम्पत्य रति को ही रस-रूप मे शृङ्गार रस की संज्ञा दी है । इन आचार्यों का यह मत भी मनोवैज्ञानिक सिद्ध नही होता । वात्सल्य रति, देवरति, सख्यरति आदि मे भी उतनी ही तन्मयता, उदात्तता, स्थायित्व और विस्तार सम्भव है, जितना शृङ्गार मे । वास्तव में शृङ्गार की ही ये इतनी व्यापक कल्पना कर बैठे कि अन्य रसो की विस्तृत विवेचना करने का इन्हे अवकाश ही नही रहा । शृङ्गार रस का विस्तृत वर्णन करने के उपरान्त बाकी रसों की संक्षिप्त-सी गणना करके इन्होने काम चला लिया । अन्य रसो को जीवन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे ये नही देख सके । हम तो कहेंगे कि शृङ्गार का भी उदात्त रस के रूप मे अवलोकन हमारे आचार्य नही कर सके । प्रेमी अपने प्रिय के लिए असीम त्याग कर सकता है, साहसपूर्वक जान पर खेल जाता है, प्रिय की भावना

---

१. वही (काव्यप्रकाश), पृ० ७८ ।

चराचर सृष्टि मे अनुभव करता है, आदि उदात्त भावनाएँ उनके उदाहरणो मे है ही नही। उनका शृङ्गार प्रिया-प्रेमी का, बल्कि कहना चाहिए नायक-नायिका का ऐकान्तिक काम-व्यापार या प्रेम-व्यापार है, जो जीवन और जगत की भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे विकसित नही होता।

रसो में प्रधान कौन और अप्रधान कौन ?—इस विषय मे भी आचार्यों में ऐसी भ्रान्तियाँ पाई जाती हैं। अभिनवगुप्त ने पुरुषार्थ-सम्बद्धता के दृष्टिकोण से रसा ति की प्रधानता का विचार किया है—'तत्र पुरुषार्थनिष्ठा. काश्चित्संविद एव प्र '। किन्तु आश्चर्य है कि अभिनवगुप्त ने केवल रति, क्रोध, उत्साह और निर्वेद—इन चारो की रसानुभूति को ही इस दृष्टि से प्रधान माना है। उनका कथन है कि हासादि (हास, शोक, भय, जुगुप्सा और विस्मय) का तो विशेष रूप से सर्वसाधारण लोगों मे पाए जाने वाले विभावो के द्वारा उपरंजकत्व होता है, इसलिए उनका प्राधान्य नही माना जाता है। इसीलिए उत्तम प्रकृति (के रामादि सदृश उच्च कोटि के नायकादि) में हास आदि अधिक नही (वर्णित) होते है। और नीच-सदृश सभी (नायकादि विशेष रूप से) हँसते है, (कुछ अत्यधिक) शोक करते है, (कभी डरते है) कभी दूसरे की निन्दा करते है, और थोडा सुख प्राप्त करने के कारण (दूसरों के अधिक सुख-वैभव आदि को देखकर) विस्मित होते है। रति आदि के अग-रूप में तो इनकी पुरुषार्थ के प्रति उपयोगिता भी हो सकती है।[1]

कहने की आवश्यकता नही कि आचार्य अभिनवगुप्त का यह मत सर्वथा अमान्य है। रसानुभूति के रूप मे ये हास, जुगुप्सा आदि भी पूर्ण उदात्तता लिए होते है, और पुरुषार्थ की दृष्टि से इनका वही महत्त्व है, जो रति आदि अन्य रसों का। इन्हे रति के आश्रित मानकर आचार्य ने अपनी सीमित दृष्टि का ही परिचय दिया है।

इस प्रकार आचार्यों की रस-दृष्टि मे कही-कही दोष पाया जाता है। रस के मानसिक उदात्त रूप की स्पष्ट प्रतिष्ठा हमारे आचार्य नहीं कर सके थे। सहृदयगत मानसिक अनुभूति का ध्यान छोडकर कई स्थानों पर वे लौकिक विषयगत अनुभूति को ही रस-प्रक्रिया समझ बैठे। इसी से उनकी रस-मीमासा बीभत्स रस के सम्बन्ध मे पूर्णतः तथा रौद्र, भयानक, शृङ्गार आदि के सम्बन्ध मे अशत. दोषयुक्त हो गई है।

---

१. 'हासादीना तु सातिशयं सकललोकसुलभ विभावतयोपरंजकत्वमिति न प्राधान्यम्। अतएवानुत्तमप्रकृतिषु बाहुल्येन हासादयो भवन्ति। पामरप्रायः सर्वोऽपि हसति, शोचति, बिभेति, परनिन्दामाद्रियते। अल्पसुख भागित्वेन च सर्वत्र विस्मयते।
रत्याद्यङ्गतया तु पुमर्थोपयोगित्वमपि स्यादेषाम्। —हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ४७९।

(ख) आचार्यों का बीभत्स-रस-निरूपण

भरत मुनि ने "जुगुप्सा (घृणा) रूप स्थायी भावात्मक रस को बीभत्स रस बताया है। और अहृद्य, अप्रिय, अपवित्र एवं अनिष्ट के देखने, सुनने और उद्वेजन (अर्थात् शरीर के हिलाने) आदि रूप विभावों से उसकी उत्पत्ति[1] बताई है।

"समस्त अंगों के सकोचन, मुख के अवयवों के सिकोड़ने, उल्लेखन, थूकने (निष्ठीवन) और उद्वेजन (अर्थात् शरीर धुनने) आदि अनुभावों द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए। अपस्मार (मृगी), जी मिचलाना, वमनादि-रूप आवेग, मूर्च्छा, रोग, मरण आदि उसके व्यभिचारी भाव होते है।[2]

भरत का उक्त लक्षण तथा भरत द्वारा उद्धृत वशपरम्परागत दो आर्याएँ बीभत्स रस के वस्तुगत स्थूल रूप तक ही सीमित प्रतीत नही होतीं। रस सिद्धान्त भरत से प्राचीन है—यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। भरत की सूत्र-शैली एकदम सिद्धान्त-निर्माण की द्योतक नही मानी जा सकती।[3] इससे पूर्व रस-सिद्धान्त

---

१. अथ बीभत्सो नाम जुगुप्सास्थायिभावात्मकः। स चाहृद्याप्रियाचोष्यानिष्ट श्रवणदर्शनोद्वेजन परिकीर्तिनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। —हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ६०२।

२. तस्य च सर्वांगसहार-मुखविकूणनोल्लेखन-निष्ठीवनोद्वेजनादिभिरनुभावैरभिनय· प्रयोक्तव्य·। भावाश्चास्यापस्मारोद्वेगावेग-मोहव्याधिमरणादयः। —वही, पृ० ६०२।

3. That the rasa-doctrine was older than Bharata is apparent from Bharata's own citation of several verses. . in support of or in supplement to his own statements; . . Some system of rasa, however, undeveloped or even a Rasa School particularly in connection with the drama must have been in existence in his time ."

—"*History Of Sanskrit Poetics*" *by S. K. De Vol. II 1925, P. 21-22.*

का प्रतिपादन, उसकी व्याख्या, अंगप्रत्यगो का विवेचन अवश्य हो चुका होगा। मेरा अनुमान है कि भरत के पूर्व बीभत्स रस के सम्बन्ध में केवल वस्तुगत स्थूल दृष्टिकोण नहीं रहा होगा। भरत के बाद के व्याख्याकारो ने ही बीभत्स रस के उदाहरण देने मे उसे बिल्कुल स्थूल वस्तुगत बना दिया। स्वयं भरत मुनि ने अहृद्य, अप्रिय, अपवित्र एवं अनिष्ट के देखने-सुनने की ही बात की है, इससे उनका अभिप्राय केवल स्थूल वस्तुओ से ही नही माना जा सकता। बाद के व्याख्याकारो ने 'अहृद्य, अप्रिय, अपवित्र वस्तुओं' कहकर व्याख्या की है। अभिनवगुप्त अपनी व्याख्या मे स्पष्ट कहते हैं—हृद्य होने पर भी कोई वस्तु किसी के लिए स्वभाव से ही अत्यन्त अप्रिय (अग्राह्य) होती है, जैसे ब्राह्मणों के लिए लहसुन। (लक्षण मे दिए हुए) अप्रिय अर्थात् (वात, पित्त, कफ-रूप) धातुओं के दोष से (अप्रिय लगने वाली वस्तु), जैसे कफ़ के रोगी के लिए दूध (कफ़वर्धक होने से अप्रिय होता है)। अचोष्य अर्थात् स्वरूप से दूषित न होने पर भी मल आदि से युक्त। अनिष्ट अर्थात् जिसका निरन्तर भोग करने से (और भोग करने की) इच्छा नही रही है।[1]

अभिनवगुप्त की उक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि वस्तुगत विभावो तक ही सीमित रही है। भरत द्वारा उद्धृत दो प्राचीन आर्या छन्द ये है—

अनभिमतदर्शनेन च गन्ध-रस-स्पर्श-शब्ददोषैश्च।
उद्वेजनैश्च बहुभिर्वीभत्सरसः समुद्भवति ॥
मुख-नेत्रविकूणनया नासाप्रच्छादनावनमितास्यैः।
अव्यक्त पादपतनैर्बीभत्स रसः सम्यगभिनेयः ॥

अर्थात् 'अनभिमत के देखने से, गध-रस-स्पर्श और शब्द के दोषो से और नाना प्रकार के उद्वेगजनक अर्थो (व्याकुलताओ) से बीभत्स रस की उत्पत्ति होती है। मुख और नेत्रों के टेढ़े करने से, नाक के दबाने से, सिर झुका लेने से, अव्यक्त पाद-पतन से बीभत्स रस का भली प्रकार से अभिनय करना चाहिए।'

इन प्राचीन आर्या छन्दो, भरत के लक्षण-निरूपण तथा बाद के आचार्यो के लक्षणो-उदाहरणो से स्पष्ट आभासित होता है कि आचार्यों की दृष्टि क्रमशः अधिकाधिक स्थूल और वस्तुगत होती गई। ऐसा लगता है कि आचार्यो के सामने दुर्गन्धयुक्त वस्तुएँ, गदे स्थल, श्मशान आदि के दृश्य ही बीभत्स रस के आलम्बन-रूप मे मुख्यत. रहे होगे। घृणा के मानसिक रूप का अनुभव वे शायद नहीं कर सके थे। माँस-मज्जा-रुधिर, दुर्गन्ध आदि को ही बीभत्स का उदाहरण बनाने की एक रूढ परम्परा ही चल पडी। यही कारण है कि इनके लक्षणो से अधिकतर वस्तुगत ध्वनि ही निकलती है।

---

१. हृद्यमपि किञ्चित् कस्यचित् निसर्गतोऽप्रियं लशुनमिव द्विजानाम्। अप्रियं धात्वादि दोषात यथा श्लेष्मोपहतस्य क्षीरम्। अचोष्य स्वरूपेणादुष्टमपि मलाद्युपहितम्। अनिष्टं यत्रानिश भुक्तत्वेनेच्छा निवृत्ता। —हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ६०२।

फिर भी मानसिक घृणा का सांकेतिक उल्लेख अनजाने ही कहीं-कहीं अवश्य हो गया है। अभिनवगुप्त की उक्त व्याख्या तो उनके सर्वथा स्थूल वस्तुगत दृष्टिकोण की ही परिचायक है, पर अन्यत्र उन्होंने बीभत्स रस के मानसिक आधार का भी सकेत किया है। उनका कथन है—'अनय-अविनयादेरन्यायकारिण. समानं कालादेरपूर्ववस्तुनश्च सर्वान् प्रति उत्साह-क्रोध-भय-जुगुप्सा-विस्मयहेतुत्वेन साधारणविभावत्वात्।'[1]

अर्थात् 'अन्यायकारी की अनीति और दुष्टता आदि सब के प्रति उत्साह, क्रोध, भय, घृणा और विस्मय का हेतु होती है, इसलिए विभावो के साधारण होने से (ये सब रस स्थायीभावात्मक है)।' स्पष्ट है कि यहाँ अभिनवगुप्त ने अन्यायियो और अत्याचारियो के घृणित पापाचार से भी घृणोत्पत्ति की बात स्वीकार की है। इसी प्रकार अभिनवगुप्त ने कापालिकों के कपाल-धारण, मद्यसेवन आदि को भी जुगुप्सा का कारण बताया है।[2]

पहले भी कहा जा चुका है कि आचार्यो का बीभत्स रस-निरूपण ही दोषयुक्त नही है, अपितु उनकी रस-दृष्टि मे यत्र-तत्र अन्य रसो के प्रसग में भी दोष पाया जाता है। रौद्र, भयानक आदि के सम्बन्ध मे भी उनकी व्याख्याएँ और धारणाएँ भ्रांतिरहित नही है। भरत मुनि ने जो रसों के तीन-तीन भेद किये हैं, वे भी निर्दोष नही माने जा सकते। बीभत्स रस का भेद-निरूपण भरत मुनि ने निम्न श्लोक मे किया है—

> बीभत्स क्षोभण शुद्ध उद्वेगी स्याद् द्वितीयक ।
> विष्ठा कृमिभिरुद्वेगी क्षोभणो रुधिरादिजः ।।४–५६।।[3]

अर्थात् 'बीभत्स रस क्षोभण (शुद्ध) और उद्वेगी (अशुद्ध) दो प्रकार का होता है। उनमे से विष्ठाकृमि आदि से उत्पन्न उद्वेगी (अशुद्ध) और रुधिर आदि से उत्पन्न क्षोभण (शुद्ध) कहलाता है।"

भरत मुनि के इस कथन की व्याख्या अभिनवगुप्त आचार्य ने इस प्रकार की है—"रुधिर या आँतो आदि के देखने से जो बीभत्स रस उत्पन्न होता है, वह क्षुब्ध करने वाला होने से 'क्षोभण' और शुद्ध कहलाता है। और जो विष्ठा आदि के देखने से उत्पन्न होता है, वह उद्वेगकारक, हृदय को विचलित करने वाला होता है, इसलिए अशुद्ध विभाव से उत्पन्न होने के कारण वह अशुद्ध है।[4]

---

१. हिन्दी अभिनवभारती. (भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर), पृ० ५७०।

२. 'तथाहि महाव्रते कपालादिधारण-मधु-भार्यादि सम्मदादिविस्तारसकेपादिकर्मीकृतिर्हि धर्मे जुगुप्साहेतुत्वेनैव।' —वही, पृ० ६२८।

३. वही, पृ० ६०७।

४. "रुधिरान्त्रादिदर्शनाद्यो बीभत्सः स क्षोभणत्वाच्छुद्ध'। यस्तु विष्ठादिभ्यः स उद्वेगी। हृदय चालयति। सोऽशुद्ध अशुद्धविभावकत्वात्।" वही, पृ० ६०७।

उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट है कि आचार्यो का बीभत्स रस-दर्शन केवल रुधिर आदि विभावो तक ही सीमित रहा। भरत मुनि के लक्षण मे फिर भी कुछ व्यापकता की गुन्जाइश थी, किन्तु उनका यह विभाजन उनके भी सीमित दृष्टिकोण को प्रकट करता है। वास्तव मे इन्होने घ्राण के आधार पर ग्लानि उत्पन्न करने वाली वस्तुओ को ही बीभत्स रस का विभाव मान लिया। घृणा के मानसिक पक्ष को ये छू नही सके। इसी से इनका बीभत्स रस-निरूपण और रस-विभाजन सीमित एवं त्रुटिपूर्ण है। बीभत्स रस के भेदो पर हम आगे विस्तार से प्रकाश डालेंगे, यहाँ यही दिखाना अभीष्ट है कि प्राचीन विद्वानो के बीभत्स-सम्बन्धी विभाव और विचार अत्यन्त सीमित एव दोषपूर्ण रहे है।

अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतोत ने शुद्ध बीभत्स का स्वरूप बताते हुए कहा है कि बीभत्स रस ससार का संचालन करने वाले राग आदि का विरोधी होने से मोक्ष का साधक होता है, वह शुद्ध बीभत्स रस कहलाता है। भट्टतोत ने ही सम्भवत: सर्वप्रथम शान्तरस के वैराग्य की सिद्धि का हेतु बताकर बीभत्स रस को भी मोक्ष का साधन सिद्ध किया। योग-दर्शन के अनुसार "शौच" से अपना शरीर भी घृणित लगने लगता है। बीभत्स रस से यह ग्लानि सिद्ध होने के कारण उसे मोक्ष-साधन मे उपयोगी माना गया है और इस प्रकार अभिनवगुप्त ने बीभत्स रस के तीन भेद—शुद्ध, क्षोभण और उद्वेगी—स्वीकार किये हैं। किन्तु कहा है कि मोक्षोपयोगी शुद्ध बीभत्स रस दुर्लभ होने से न्यूनता का ही सूचक है।[1]

भट्टतोत ने मानसिक जुगुप्सा पर कुछ विचार किया अवश्य, पर उसका आधार भी उन्होने स्थूल देहादि का धर्म ही माना। उनके विचार से शुद्ध बीभत्स वह है जिसकी ग्लानि क्षोभकारी भी न हो, जैसे संसार के राग-द्वेष, मोह, शरीर की अनित्यता, क्षणभगुरता तथा मल-मूत्र-रूप अपवित्रता, रमणी के स्तन-जघनादि। इससे मानसिक घृणा का कुछ स्वरूप-बोध हुआ, किन्तु भट्ट तोत ने अपने इस कथन द्वारा बीभत्स को शान्ताश्रयी बना दिया। आगे बीभत्स की स्वतन्त्र सत्ता को इसी से खतरा-सा पैदा हो गया। अस्तु, घृणा के स्वतन्त्र मानसिक रूप की स्पष्ट कल्पना और प्रतिष्ठा आचार्य नहीं कर सके।

आकर्षण और विकर्षण, रुचि और अरुचि तथा प्रेम और घृणा मानव की मूल प्रवृत्तियाँ है। दृश्यमान् जगत की जो वस्तुएँ और जो प्राणी हमारे सम्पर्क मे आते है, उनके प्रति हमारा राग पैदा होता है अर्थात् हमे वे अच्छे लगते है या हमे उनसे घृणा होती है अर्थात् वे हमे बुरे लगते है। प्रेम या राग से हम किसी वस्तु या प्राणी के प्रति आकृष्ट होते है, उसमे गुण ढूँढते है, उसकी प्रशसा करते हैं, उसे अपनाने का—पाने का—प्रयत्न करते है, एडी-चोटी का जोर लगाते हैं और न मिलने

---

१. वही, पृ० ६०८।

पर व्याकुल होते है। इसके विपरीत, घृणा के कारण हम किसी व्यक्ति या वस्तु से दूर हटते हैं, उसे देखने पर खीझते हैं, उसमें दोष ढूढते हैं, निन्दा करते है, उसे दूर रखने का प्रयत्न करते है, धिक्कारते है, फटकारते है, और यहाँ तक कि उसके विनाश से प्रसन्न होते है। मानव-जीवन-सरसी में आकर्षण-विकर्षण, राग-विराग अथवा प्रेम-घृणा की ये दो विरोधी तथापि समजसित तरगे बराबर चलती रहती हैं।

छोटा-सा बच्चा भी किन्ही वस्तुओ पर चाह की दृष्टि डालता है तो किन्ही से स्वत ही घृणा करने लगता है। अत किन्ही बातो में रुचि और किन्ही मे अरुचि मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। हमारी सामाजिक, नैतिक या धार्मिक धारणाओ तथा आदर्शो के अनुकूल आचरण करने वाले व्यक्ति हमे अच्छे लगते है, किन्तु उन आदर्शो को तोडने वाले, नीति-विरोधी, अत्याचारी-दुराचारी व्यक्ति हमारी घृणा के पात्र बनते है। वास्तव में प्रेम और घृणा की अनुभूतियाँ हमारे दैनदिन जीवन की सर्वप्रमुख अनुभूतियाँ है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको ने भी इन्हे सामान्य भावनाएँ बताया है।[1] प्रेम की तरह घृणा या जुगुप्सा की भावना भी अत्यन्त प्रबल भाव-वृत्ति है। घृणा मे वह शक्ति है कि जिससे जीवन की दिशा ही बदल जाती है। ससार का 'माया-जाल, इसमे व्याप्त धूर्तता, आडम्बर, झूठ-फरेब, व्यभिचार-अनाचार, स्वार्थ, उत्कोच आदि बुराइयां घृणा को ही जगाती है और इससे बहुत बार व्यक्ति का जीवन-क्रम ही बदल जाता है। एक तरह से शांत रस का आधार भी—केवल सचारी भाव नहीं— संसार से घृणा होना ही है। प्राचीन आचार्यो ने इसे 'स्थायी भाव'

---

1. "We have the names love, liking, affection, attachment, denoting those sentiments that draw one towards their object, generally in virtue of the tender emotion with its protective impulse which is their principal constituent, and we have the names hate, dislike and aversion, for those that lead us to shrink from their objects, those whose attitude or tendency is one of aversion, owing to the fear or disgust that is the dominant element in their composition. The two names love and hate, and the weaker but otherwise synonymous terms liking and disliking, affection and avertion, are very general, each stands for a large class of sentiments of varied, though similar, composition; the character common to the one class being the fundamental tendency to seek the object and to find pleasure in its presence, while that of the other class is the tendency to avoid the object and to be pained by its presence."

—An Introduction To Social Psychology, P 138 (28th Edition 1946) by Willium Mcdougall.

माना, तो आधुनिक मनोविज्ञान-शास्त्री भी घृणा को स्थायी भाव एवं मानव की मूल भाव-वृत्ति मानते है।

किन्तु घृणा भाव और बीभत्स रस का इतना प्राबल्य और महत्त्व होते हुए भी, आश्चर्य है कि प्राचीन आचार्यो ने बीभत्स रस पर कुछ विचार नहीं किया। शृङ्गार रस के सागोपाग विवेचन और विश्लेषण मे उन्होने जितना अपनी प्रतिभा को लगाया है, उसका शताश भी बीभत्स रस को नही मिला। शृङ्गारेतर सब रसो का अत्यल्प विवेचन ही आचार्यो ने किया है। बीभत्स रस का तो न वे स्वरूप ही ठीक प्रकार निरूपित कर सके और न लक्षण और उदाहरण ही सही प्रस्तुत कर पाये। उनके द्वारा निरूपित लक्षण और उदाहरण अत्यन्त भ्रातिपूर्ण हैं। उन लक्षणो और उदाहरणो से बीभत्स रस की कोई स्वतंत्र सत्ता रस-रूप मे ठहरती ही नही। एक श्लोक या आर्या मे बीभत्स रस अथवा जुगुप्सा का लक्षण और दूसरे मे उदाहरण देने के सिवा उन्होने इस पर कुछ भी विचार नही किया। प्राय. सब आचार्यो का 'विभावानुभाव-सचारी'-सम्बन्धी लक्षण-निरूपण भरत-अनुसार ही है—उन्ही शब्दो मे नपा-तुला। नाट्यशास्त्र के ही आधार पर साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ की निम्न पक्तियाँ ही आज तक बीभत्स रस का स्वरूप या लक्षण बताने में प्रयुक्त होती रही हैं—

जुगुप्सास्थायीभावस्तु बीभत्सः कथ्यते रसः।
नीलवर्णोमहाकालदैवतोऽयमुदाहृतः ॥२३९॥
दुर्गंधमासरुधिरमेदास्यालम्बन मतम्।
तत्रैव कृमिपाताद्यमुद्दीपनमुदाहृतम् ॥२४०॥
निष्ठीवनास्यवलननेत्रसंकोचनादय।
अनुभावास्तत्र मतास्तथा स्युर्व्यभिचारिण. ॥२४१॥
मोहोऽपस्मार आवेगो व्याधिश्च मरणादय।[1]

अर्थात् बीभत्स रस उसे कहते है जिसका स्थायी भाव जुगुप्सा है, वर्ण नील तथा जिसके देवता महाकाल है। इसके आलम्बन दुर्गंधमय मांस, रक्त, मेद (चर्बी) हे। उनमे कीडे पडने आदि को इसका उद्दीपन विभाव माना जाता है। निष्ठीवन (थूकना), आस्यवलन (मुँह फेरना), नेत्रसकोच (आँखें मूँदना) आदि-आदि इसके अनुभाव है और मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि तथा मरण आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं।

बीभत्स रस की प्राय. यही व्याख्या आज तक विद्वान् करते आ रहे है। बहुत-से आधुनिक हिन्दी समीक्षको और रस-व्याख्याताओ ने भी इसी प्राचीन परम्परा का अन्ध-अनुकरण किया है। रीतिकाल के लक्षण-ग्रन्थों मे ही नहीं, आधुनिक युग के

---

१. हिन्दी साहित्यदर्पण (अनु० डा० सत्यव्रत सिंह), प्रथम सस्करण, पृ० २६०-६१।

'रसकलश' (अयोध्यासिंह उपाध्याय), 'साहित्यालोचन' (बाबू श्यामसुन्दरदास), 'नवरस' (बाबू गुलाबराय), 'काव्यदर्पण' (रामदहिन मिश्र) आदि ग्रन्थो में भी बीभत्स रस की यही व्याख्या प्राय. इन्ही शब्दो मे की गई है। बीभत्स रस के सब उदाहरण युद्ध-भूमि अथवा श्मशान से जुटाये गए है। रक्त, मास-मज्जा आदि मे ही बीभत्स रस ढूँढा गया है, और आज तक वही ढूँढा जाता है। अभी-अभी प्रकाशित एक पुस्तक[1] देखने मे आई, जिसमे लेखक महोदय ने हिन्दी साहित्य मे विविधरसो के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हुए बीभत्स रस के केवल वही उदाहरण ढूँढ-ढूँढ कर निकाले हैं, जिनमे रक्त-मास-मज्जा आदि का ही उल्लेख हुआ है। जहाँ तक मेरे अध्ययन मे आया है, किसी भी विद्वान् ने इस रस का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अब तक अध्ययन नहीं किया, और न ही साहित्य मे इसके महत्त्वपूर्ण स्थान को अवलोकित किया है।

रस प्रवृत्त्यात्मक होता है, अर्थात् रस-युक्त वर्णन पढने, सुनने या देखने मे हमारी बार-बार प्रवृत्ति होती है। प्रश्न उठता है कि क्या हम रक्त-मास-मज्जा आदि दुर्गन्धयुक्त वस्तुओ को देखने के लिए प्रेक्षा-गृह मे जाना पसन्द करेगे? खेद है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे रस-सिद्ध आचार्य ने भी बीभत्स रस का अवलोकन युद्धभूमि अथवा श्मशान में पड़े हुए शवो, कटे हुए अंगों आदि में ही किया है। जायसी के 'पद्मावत' का अध्ययन करते हुए उन्होने भी युद्धभूमि मे मृत शरीरो को नोचने वाले गीधो-गीदडो आदि के मासभक्षण मे ही बीभत्स रस का उदाहरण ढूँढा है। आश्चर्य है कि राजा कुभलनेर और उसकी कुटनी तथा अलाउद्दीन के घृणित कृत्यो और चरित्रो मे उन्हे बीभत्स रस का अनुभव नही हुआ! यही बात बीभत्स रस पर विचार करने वाले हिन्दी के अन्य आलोचको के बारे मे कही जा सकती है।

एक वीर यदि अत्याचारी शत्रुओं को युद्धभूमि मे मीठी नींद सुला देता है और उन दुष्टो के शवो पर गीध और कुत्ते झपटते हैं, तो इसमे बीभत्स रस की क्या बात है? वास्तव मे 'भावो के मानसिक विषय स्थूल विषयो से सर्वथा स्वतन्त्र होते है। निर्लज्जता की कथा कितनी ही सुरीली तान मे सुनाई जाय, घृणा उत्पन्न ही करेगी। कैसा ही गन्दा और कुरूप आदमी परोपकार करे, उसे देख श्रद्धा उत्पन्न हुए बिना न रहेगी।' अत्याचारी शत्रुओ के शवों पर गीधादि के झपटने से भी वीरभाव अथवा रौद्र की ही पुष्टि होगी, न कि बीभत्स रस की। वास्तव मे जुगुप्सा के मानसिक पक्ष का अवलोकन अब तक हुआ ही नही। कुत्ते-गीदड आदि के मास खाने मे घृणा की क्या बात रही, जब मनुष्य स्वय मासाहारी है?

अस्तु, बीभत्स रस के विषय मे यही स्थूल वस्तुगत दृष्टि रहने के कारण उसके

---

१ काव्य-विवेचन : लेखक डा० विपिन बिहारी त्रिवेदी तथा डा० उषा गुप्ता। जनवरी सन् १९६१ मे प्रकाशित।

सही स्वरूप, लक्षण और उदाहरणों पर समुचित विचार नहीं हुआ है। शास्त्र-ग्रन्थों में प्रस्तुत बीभत्स रस के प्रायः सभी उदाहरणों को परखने से लगता है कि बीभत्स रस रस की नहीं, भाव की ही योग्यता रखता है। 'मालती माधव' (भवभूति) के पाँचवें अंग का जो उदाहरण[1] विश्वनाथ आचार्य ने अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है और जिसका अनुकरण हिन्दी-आलोचकों ने किया है, उसमें घृणा भाव भाव-कोटि का ही है। माधव की ग्लानि ही यहाँ व्यक्त हुई है। मानसिक घृणा का स्वतन्त्र आलम्बनत्व इसमें सिद्ध नहीं होता। मानसिक भाव-भूमि के बिना ये मांस-रक्तादि के स्थूल दृश्य अपनी काव्योपयोगिता ही नहीं रखते। इसी प्रकार 'सत्यहरिश्चन्द्र' का श्मशान-वर्णन भी, जो प्रायः बीभत्स रस के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है, करुण रस का ही पोषक है। 'वैराग्य शतक' (भर्तृहरि) के बीभत्स के उदाहरण संसार से वैराग्य या शांत रस की ही सृष्टि करते हैं। अतः इनमें स्वतन्त्र बीभत्स रस के स्थान पर घृणा-भाव की ही स्थिति मानी जा सकती है। ऐसे उदाहरणों से बीभत्स रस की स्वतन्त्र सत्ता प्रतीत ही नहीं होती। इसीलिए कुछ विद्वानों ने बीभत्स रस को रस मानने में आपत्ति प्रकट की है, कुछ ने इसके अस्तित्व पर सन्दिग्ध दृष्टि डाली है तथा उपेक्षा तो इसकी आज दिन तक रही है। रस वस्तुतः एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, न कि केवल शारीरिक स्थूल उपलक्षण। केवल घ्राण आदि के ऐन्द्रिक व्यापार से बीभत्स रस की सिद्धि नहीं मानी जा सकती। अगले खण्ड में हम मनोवैज्ञानिक-मानसिक आधार पर बीभत्स रस का विस्तारपूर्वक शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

---

१. 'उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयव सुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करंका-
दंकस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति॥'

—हिन्दी साहित्य दर्पण, पृ० २६' ।

अर्थात् 'एक महादरिद्र प्रेत अपनी जाँघों पर मुर्दे को लिटाये उसकी हड्डियों में चमड़ी उधेड़ रहा है, उसके कंधे, चूतड़, पीठ, पिंडली आदि-आदि में चिपके, बुरी तरह दुर्गन्ध करने वाले, फूले-सड़े मांस को खाता जा रहा है, इस डर से कि कहीं कोई दूसरा प्रेत न आ धमके, चारों ओर आँखें फाड़-फाड़ कर देख रहा है, दाँत किटकिटा रहा है और अभी तो उसने ऐसा किया कि क्या कहा जाय! कहीं-कहीं हड्डियों की जोड़ में धँसे मांस को भी बड़ी प्रसन्नता से खाता दीख रहा है।'

द्वितीय खण्ड

बीभत्स रस का शास्त्रीय विवेचन

(क) रसांग-विवेचन :

अध्याय १

बीभत्स रस का स्थायी भाव-निरूपण

बीभत्स रस का स्थायी भाव-निरूपण

(क) स्थायी भाव—सामान्य विवेचन
(ख) घृणा स्थायी भाव का स्वरूप-निरूपण
(ग) स्थायी भाव घृणा प्रेम के ही समकक्ष भाव-वृत्ति
(घ) घृणा के भेद

१ | बीभत्स रस का स्थायी भाव-निरूपण

(क) स्थायीभाव—सामान्य विवेचन

रस का आधार 'स्थायीभाव' है, जो सहृदयो मे वासना या सस्कार-रूप से विद्यमान रहता है । हमारे प्राचीन आचार्यो ने काव्यगत स्थायीभाव का लक्षण देते हुए कहा है—'स्थायी भाव उस भाव को कहते है, जो किसी भी अनुकूल अथवा प्रतिकूल (विरोधी-अविरोधी) भाव के अत सचरण से तिरोहित नही होता अर्थात् दबता नही । यह भाव अन्त तक अवस्थित रहने वाला भाव है और इसी मे रस के अकुरण अर्थात् उद्भेद की मूल शक्ति निहित रहती है । इसे अन्य भाव वैसे ही रह-रह कर प्रकाशित और परिपुष्ट किया करते है, जैसे माला के फूल या मोती गुम्फन-सूत्र को प्रकाशित और परिपुष्ट किया करते है ।[1]

स्थायीभाव के सम्बन्ध में विद्वानो के जो कथन हैं, वे इस प्रकार गिनाये जा सकते है—(१) स्थायीभाव वासना-रूप है, यह जन्म से ही प्राणियो में विद्यमान रहता है, अत. सस्कार-रूप है । कोई प्राणी इस चित्तवृत्ति से शून्य नहीं होता ।[2]

---

१. अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमकः ।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः ॥१७४॥
यदुक्तम्—
'स्रक्सूत्रवृत्त्या भावानामन्येषामनुगामकः ।
न तिरोधीयते स्थायी तैरसौ पुष्यते परम् ॥' इति
—हि० साहित्यदर्पण (चौखम्बा), पृ० २२६

२. 'जात एव हि जन्तुरियतीभि· संविद्भि· परीतो भवति ।'
'नहि एतच्चित्तवृत्ति वासनाशून्यः प्राणी भवति ।'
—अभिनवगुप्तः अभिनवभारती, पृ० २८२ ।

(२) स्थायीभाव प्रधान प्रतिष्ठित भाव है—जैसे मनुष्यों में नृपति तथा शिष्यों मे गुरु की प्रतिष्ठा होती है।[१]

(३) यह विरोधी-अविरोधी किसी भाव के भी अत. संचरण से दबता नही।

(४) ये रसत्व को प्राप्त होते है—आस्वाद (रसास्वाद) के अकुरण की क्षमता रखते है। आस्वाद्यता इनका अनिवार्य गुण है—'रसनात् रसत्वमेषा।'

(५) अन्य भाव इन्हे पुष्ट करने के लिए सहायक रूप मे आते है। ये अन्य भावों को अपने में इस प्रकार घुला-मिला लेते है, जैसे सिधु भिन्न-भिन्न सरिताओ के जल को अपने मे मिला कर उसे लोना बना देता है।[२]

(६) ये चिरकाल तक चित्त मे अवस्थित रहते है और इसी से काव्य मे आप्रबन्ध इनकी स्थिति रहती है।[३]

स्थायी भाव की कसौटी क्या हो ? वास्तव मे यह एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि स्थायीभाव जो रस-रूप मे परिणत होने की क्षमता रखता हो, किस-किस भाव को माना जाय। उनकी सख्या प्राचीन आचार्यों के अनुसार नौ ही मानी जाय, या वात्सल्य-स्नेह को मिलाकर दस अथवा भक्तिरस को अलग माना जाय तो ग्यारह—कहाँ तक ? इस सम्बन्ध मे आचार्यो ने जो उपर्युक्त लक्षण दिए है, क्या वे पर्याप्त है, पूर्ण हैं और उनके आधार पर या स्थायीभाव के पूर्ण लक्षणो के आधार पर कितने भाव स्थायीभाव की कोटि में माने जा सकते है ? क्या आचार्यो का 'जुगुप्सा' उस लक्षण पर ठीक उतरता है ? बीभत्स रस का स्थायीभाव क्या है ? इन प्रश्नो पर विचार करके अन्तिम निर्णय पर पहुँचने से पहले पाश्चात्य मनोविज्ञान की दृष्टि से भी मानव की स्थायी वृत्तियो और भावो पर विचार कर लेना आवश्यक है। फिर हम स्थायीभाव की वास्तविक कसौटी का निर्णय करके, उस पर अपने बीभत्स रस के स्थायीभाव जुगुप्सा के स्वरूप की परख करेगे।

शैंड आदि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको ने मानवीय भावों और मूल प्रवृत्तियो पर विचार करते हुए भाव के दो भेद किए है—१ प्राथमिक (Primary) और दूसरे समिश्र (Complex)। शैंड ने सहज प्रवृत्ति की इकाई को प्राथमिक भाव (Primary Sentiment) कहा है, और भिन्न-भिन्न सहजप्रवृत्तियो के योग से जो मिश्रित भाव बनते हैं, उन्हे समिश्र भाव (Complex Sentiments) बताया है।

---

१. यथानराणानृपति शिष्याणा च यथा गुरू।
एव हि सर्व भावाना भाव स्थायी महानिह॥ नाट्यशास्त्र, ७।८।

२. 'आत्मभावं नयत्यन्यान् स: स्थायी लवणाकर.।' धनंजय: दशरूपक ४।३४।

३. 'चिर चित्तेऽवितिष्ठन्ते सबन्ध्यन्तेऽनुबन्धिभि'।
रसत्वं ये प्रपद्यन्ते प्रसिद्धा: स्थायिनोऽत्र ते॥' भोजराज. सरस्वती कण्ठाभरण ५।१६।
तत्र आप्रबधं स्थिरत्वादमीषां भावानां स्थायित्वम्। पंडितराज रसगंगाधर।

पाश्चात्य मूल वृत्ति या सहज प्रवृत्ति का उदात्तरूप ही हमारे स्थायीभाव के निकट ठहरता है। मैक्डूगल ने मनोवेगो (Emotions) को ही सहज वृत्तियाँ (Instincts) कहा है। किन्तु हम समझते है कि मैक्डूगल का यह कथन उसी दृष्टि से सत्य है, जिस दृष्टि से हम कहते है कि स्थायीभाव ही रस है। अर्थात् सहज वृत्ति स्थायीभाव की तरह एक लुप्त (Unstirred) अवस्था है और मनोवेग रस की तरह उद्बुद्ध या परिपुष्ट (Stirred) दशा।

हमारे मानसिक सस्थान की तीन प्रकार की बोधदशाएँ या अनुभव होते हैं—१ बुद्धि या ज्ञान से चालित बोध-मूलक अनुभव, २. हृदय से सम्बन्धित भावात्मक अनुभव, और ३ शारीरिक क्रिया द्वारा चालित सकल्पात्मक या प्रेरणात्मक अनुभव। इस बोध-चक्र को ज्ञान, इच्छा और क्रिया भी कहा जा सकता है। हमारे स्थायी भावो तथा पाश्चात्य मनोविज्ञान की स्थायी प्रवृत्तियो या सहज वृत्तियो Instincts मे यह त्रिविध बोध-पक्ष अनिवार्य रूप से रहता है, अर्थात् सहजप्रवृत्तियाँ या (Instincts) ज्ञानमूलक, भावमूलक और क्रियामूलक अनुभव को कहते है। प्रत्येक सहज-वृत्ति के साथ कुछ स्थायी भावनाएँ सम्बद्ध रहती है, जिन्हे Sentiments (सहचर भावनाएँ) कहते है। इन सहचर भावनाओं या स्थायी भावनाओ से अनेक मनोवेगो (Emotions) का सम्बन्ध रहता है। इन सहचर भावनाओं या Sentiments को भावमूलक या भावप्रधान चित्तवृत्तियाँ भी कह सकते है, क्योकि इनमे त्रिविध बोधपक्ष मे से भावपक्ष की प्रधानता रहती है। ध्यान रहे कि ये पाश्चात्य मनोविज्ञान के Sentiments भी हमारे 'स्थायी भाव' नही है। वास्तव मे इन Sentiments मे से जिन-जिन का उदात्त सम्प्रेषणीय व्यापक रूप सम्भव है, वे ही अपने उदात्त रूप मे हमारे 'स्थायी भाव' है। लोभ, ईर्ष्या आदि (Sentiments) इसी अभाव से हमारे स्थायी भाव नही है। क्रोधादि का भी उदात्त रूप ही स्थायी भाव है।

सहज वृत्तियाँ निम्न १४ है—

१ Instinct of Flight or Escape · अर्थात् बचने की प्रवृत्ति या पलायन।
सहचर भावना—भय।
शारीरिक चिन्ह—हाथ-पाँव काँपना, धडकन, भागना आदि।

२. The Instinct of Pugnacity or Combat · युद्ध प्रवृत्ति या संहार प्रवृत्ति।
सहचर भावना—क्रोध।
शारीरिक प्रकाशन—भौह चढाना, आँखे लाल होना, होठ चबाना, शस्त्र उठाना आदि।

३ पालन-वृत्ति या रक्षण (The Parental Instinct)।
सहचर भावना—वात्सल्य, स्नेह, अनुकम्पा, करुणा।

४. जुगुप्सा या घृणा (The Instinct of Repulsion)।
सहचर भावना—घृणा, वैराग्य।

ारीरिक अभिव्यक्ति—नाक-भौं सिकोडना, जी मचलना, मुँह मोड़ना, f
फटकारना आदि ।
दैन्य, प्रार्थना (Appeal)
शरणागति, अधीनता (The Instinct of Self-abasement
mission) ।
सहचर भावना--विवशता, निराश्रयता, हीन भावना (Inferiority co
शारीरिक अभिव्यक्ति—दीनता-प्रकाशन, पाँव पडना, लजाना आदि
काम-प्रवृत्ति (Pairing) ।
सहचर भावना—कामातुरता ।
शारीरिक चिन्ह– रोमांच, आलिंगन, चुम्बन आदि ।
जिज्ञासा, उत्सुकता (The Instinct of Curiosity) ।
सहचर भावना—कौतूहल, विस्मय ।
शारीरिक चिन्ह—चकित होना, खोज करना, आँखे फाड़ना आदि ।
अहभाव, अहमन्यता (The Instinct of Self-assertion) ।
भावना—प्रभुत्व-कामना, गर्व, आत्मश्रेष्ठता का भाव (Superior
plex) । शारीरिकरूप—अकडना, छाती तानना, दूसरो का तिरस्का
सघवृत्ति या सामाजिक-वृत्ति (The Gregarious Instinct) ।
भावना—आत्मीयता, प्रेम, करुणा, दया आदि ।
शारीरिक प्रवृत्ति—सहवास-प्राप्ति, सहायता करना आदि ।
भोजनादि का उपार्जन (Food-seeking) ।
सचय या लोभ (Acquisition) ।
भावना—लोभ, अधिकार पाने की कामना (Appropriation) ।
शारीरिक प्रकाशन—प्राप्ति के लिए प्रयत्न, खोज आदि ।
नव-निर्माण (Construction) ।
भावना—तदनुकूल उत्साह, लगन आदि भाव और कर्म में लगन
प्रवृत्ति ।
हास्य (Laughter) ।
भावना—विनोद-प्रियता, प्रसन्नता ।
शारीरिक ज्ञापन—हँसी, कल-नाद आदि ।

एक तरह से इन सबका फ्रायड की काम-प्रवृत्ति, एडलर की प्र
जुग की आत्मरक्षा की प्रमुख प्रवृत्तियों मे अन्तर्भाव हो जाता है ।
छठी वस्तुतः एक ही प्रवृत्ति के दो रूप है । इसी प्रकार ११वी और
और १२वीं मे समानता है । यदि व्यापक रूप मे काम-प्रवृत्ति को
ालन-वृत्ति, अहंभावना संघ-वृत्ति उपार्जन-वृत्ति आदि का उसमे

जाता है। प्रभुत्वकामना और आत्मरक्षण का प्रसार तो सब मे और भी स्पष्ट है। आत्मरक्षण या Self-assertion के लिए ही हम मे बचने की प्रवृत्ति होती है, प्रभुत्व-कामना से ही हम युद्ध मे प्रवृत्त होते है, प्रभुत्व के ही कारण दूसरो से घृणा करते है या दूसरो का तिरस्कार करने लगते है। इसी के सहारे दूसरो की पालना करते है, जिज्ञासा दिखाते हैं, गर्व करते है, सचय करते हैं और काम मे प्रवृत्त होते है। दैन्य या हीनता की प्रवृत्ति अवश्य प्रभुत्वकामना के विरुद्ध दिखाई देती है, पर एडलर ने वास्तव मे इसी को मूल मान कर इसकी पूर्ति के हेतु प्रभुत्व-कामना को स्वीकार किया है।

हमारे प्राचीन आचार्यों ने इन मानवीय सहज प्रवृत्तियो मे से उन्ही की सहचर भावना को स्थायी भाव माना है जिनका उदात्त रूप मे सम्प्रेषण सम्भव है। इन सहज प्रवृत्तियो के आधार पर प्राचीन आचार्यों के स्थायी भावो की सगति पूरी तरह बिठलाई जा सकती है

१. बचने की प्रवृत्ति से भय स्थायी भाव—भयानक रस।

२ युद्ध-प्रवृत्ति से युद्धोत्साह, क्रोध—युद्ध-वीर और रौद्र रस।

३ पालन-रक्षण-वृत्ति से वात्सल्य-रति, रतिव्यापक, शोक, घृणा, कर्मोत्साह आदि। पुत्र-पालन-रक्षण मे वात्सल्य, प्रिय-पालन-रक्षण मे दाम्पत्य, सख्य रति, भ्रातृ-प्रेम, देश-प्रेम आदि; दीन-हीन-रक्षण मे करुण और वीर तथा समाज एव सामाजिक सत्प्रवृत्तियो के रक्षणार्थ अत्याचारियो, पापियों, पाप तथा सामाजिक एव वैयक्तिक कुरीतियो और हीनताओं के प्रति घृणा मे बीभत्स आदि रसों की उद्भूति।

४. जुगुप्सा तथा विरक्ति से घृणा, निर्वेद—वीभत्स और शान्त रस (सामारिक प्रपचों से घृणा ही शान्त की जननी है)।

५-६. दैन्य, प्रार्थना, अधीनता आदि से भगवत्प्रेम और श्रद्धा—भक्ति-रस।

७. काम-प्रवृत्ति से रति—शृङ्गार-रस।

८. जिज्ञासा, उत्सुकता से विस्मय—अद्भुत रस तथा भगवत्जिज्ञासा और भगवान की अपार लीलाओ के प्रति आश्चर्य से भक्ति रस की उद्भूति भी सम्भव है।

९, १३. अहम्न्यता, प्रभुत्व-कामना तथा नव-निर्माण आदि से क्रोध, कर्मोत्साह, अत रौद्र रस और वीररस।

१०. सघ-प्रवृत्ति (Social Tendency) से रतिव्यापक, शोक, घृणा आदि। अत रक्षण-प्रवृत्ति की तरह शृङ्गार, प्रेम, वात्सल्य, बीभत्स और करुणादि रस।

११. भोजनोपार्जन की प्रवृत्ति जीव की भौतिक क्षुधा-पूर्ति से सम्बन्ध रखती है। पशु के लिए जो भक्ष्यान्वेषण है, वही मानव के लिए धनोपार्जन बन गई है। इसका भावगत सम्बन्ध नही है। अत. इससे किसी स्थायी भाव की सीधी सम्भावना नही हो सकती। वैसे भी यह प्रवृत्ति स्वतन्त्र प्रतीत नही होती। इसका स्वतन्त्र रूप शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति-मात्र है। वास्तव में आत्म-

रक्षा की उपर्युक्त प्रवृत्ति के ही अन्तर्गत इसे भी सम्मिलित किया जा सकता है।

इसी प्रकार लोभ-सचय की भावना का न तो कोई उदात्त रूप ही सामने आता है, और न ही व्यापक रूप मे इसका सम्प्रेषण ही सम्भव है। हम आगे स्थायी भाव की कसौटी निर्धारित करते हुए बतायेंगे कि उदात्त रूप के अभाव मे कोई भाव स्थायी भाव की सज्ञा नही पा सकता। उदात्त वृत्तियो का ही साधारणीकरण सम्भव होता है। अत लोभ-सचय की भावना स्थायी भाव के अन्तर्गत नही आ सकती। हम काव्यगत अर्थात् रसगत स्थायी भाव के लिए दो शर्तें अनिवार्य मानते है--(१) भाव का उदात्त स्पृहणीय रूप मे सम्भव होना, जिससे कि सामाजिक का साधारणीकरण हो सके। हम क्रोध के भी उसी रूप को स्थायी भाव की सज्ञा देंगे, जो उदात्त रूप मे प्रकट होगा, अर्थात् अत्याचारियों या वास्तविक अपराधियो के प्रति प्रकट होगा। इसी प्रकार घृणा भी काव्यगत स्थायी भाव इसीलिए माना जाता है कि इसका अनुभव उदात्त भाव के रूपमे सम्भव है। पापियो, अत्याचारियों के प्रति घृणा 'घृणा' का उदात्त रूप ही है। धर्म-भेद या अन्य सकुचित साम्प्रदायिक कारणो से मानव की मानव के प्रति घृणा स्पृहणीय नही होती। अत काव्य मे वह रस-दशा को प्राप्त कर ही नही सकती। इसके विपरीत लोभ, ईर्ष्या आदि का उदात्त स्पृहणीय रूप सभव नही है। आचार्य शुक्ल ने जिस जन्मभूमि के प्रति लोभ की बात अपने 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबन्ध मे चलाई है,[1] वह वास्तव मे प्रेम भाव ही है। अत वे भाव ही स्थायी भाव माने जा सकते है, जो सहृदय-मात्र के लिए स्पृहणीय उदात्त हो। ऐसे भाव ही आस्वाद्यता की शर्त पूरी कर सकते है। स्थायीभाव बनने की दूसरी शर्त यह है कि वह विभावादि से पुष्ट होकर तीव्रतम या सबल रूप मे स्थायित्व को प्राप्त हो सके, और जीवन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में अनुभूति का विषय बन सके। इसके बिना उसमे व्यापकता नही आ सकती। लोभ का भाव इस दृष्टि से भी असमर्थ है। अतः लोभ की प्रवृत्ति भी काव्यगत स्थायी भाव नही मानी जा सकती।

∴ हास्य से हास। अत हास्य रस।

उपर्युक्त विवेचन से हमने देखा कि पाश्चात्य विद्वानो ने भी घृणा को मानव ूल या सहज प्रवृत्ति और स्थायी मनोवेग के रूप मे स्वीकार किया है। उसका न्ध जुगुप्सा, समाज-प्रियता, आत्मरक्षा और समाज-रक्षा की एकाधिक सहज- त्तियो से सिद्ध होता है। अतः घृणा या जुगुप्सा स्थायी भाव अपने मे पूर्ण औ ेक मे सक्षम है।

---

[1] देखिए 'चिन्तामणि' भाग १ पृ० ७६-७८।

दूसरे हमने देखा कि ८ मनोवैज्ञानिकों की जिन सहज प्रवृत्तिया म र स्वाभवत है वे सब हमारे स्थायी भाव हैं। लोभ की प्रवृत्ति को स्थायीभाव न मानने में स्थायी भाव की जो कसौटी निर्धारित की गई है, उसको और स्पष्ट करे। जैसा कि ऊपर कहा गया है, किसी भाव के काव्यगत या रसगत स्थायीभाव बनने की कसौटी यह है—

१. भाव का सहृदय-मात्र के लिए स्पृहणीय हो सकना, अर्थात् भाव ऐसे उदात्त रूप मे प्रकट हो सके, जो सब को वाछित हो, ग्राह्य हो, सब की अनुभूति का विषय बन सके। ईर्ष्या स्पृहणीय नही, स्पर्द्धा हो सकती है। इसी प्रकार लोभ ग्राह्य नही, प्रेम ग्राह्य है। आचार्यों ने जो ३३ सचारी गिनाये है, उनमे से जड़ता, अपस्मार, आलस्य, उन्माद, व्याधि, असूया, चिन्ता आदि कई भाव अपने स्वतन्त्र रूप मे स्पृहणीय नही हो सकते। अतः उनके रसास्वादरूप स्थायी भाव बनने का प्रश्न ही नही उठता।

रसरूप मे परिणत हो सकने का—स्थायित्व—का गुण किसी भाव मे तभी माना जायगा, जबकि उसमे आस्वाद्यता होगी, अर्थात् हृदय की मुक्तदशा (स्वार्थ-सम्बन्धों से रहित अवस्था) मे उसकी अनुभूति आनन्दमय होगी तभी वह स्थायी-भाव कहलायगा। वास्तव मे जो भाव स्पृहणीय होगा, वही आस्वाद्य होगा। आस्वाद्य न होने के कारण ही लोभ-जैसे प्रबल भाव को स्थायी नही माना गया है। इसका आस्वाद्य रूप प्रेम (रति) ही स्थायी भाव माना जाता है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको ने यद्यपि शोक और उत्साह को मूल भाव नहीं बताया तो भी आस्वाद्य होने के कारण ही इन्हे हमारे यहाँ स्थायी भाव स्वीकृत किया गया है। अत आस्वाद्यत्व या स्पृहणीय प्रेषणीयता या उदात्त रूप मे सर्वग्राह्य अनुभूति स्थायीभाव की अनिवार्य कसौटी हे। आस्वाद्य होने वाले भाव मे अनुभव-गम्यता भी होगी और धर्मार्थोपयोगिता या उदात्तता भी स्वत ही सिद्ध होगी। कामातुरता मे उदात्तता के अभाव से ही, आचार्यों ने शृङ्गार रस का स्थायी भाव कामातुरता को नही, रति (प्रेम) को बताया है।

२. स्थायी भाव की दूसरी आवश्यक कसौटी है उसका व्यापक रूप से उत्कटता से प्रकट हो सकना। विभावादि की अनेक तरगों से पुष्ट होकर जो भाव हृदय पर उत्कट प्रभाव उत्पन्न करे, जो मानव की प्रवृत्ति-निवृत्ति को जगाने मे समर्थ हो, वही स्थायी भाव की कोटि मे गिना जा सकता है। जिस भाव के स्वतत्र विषय पाठक या सामाजिक के सामने व्यापक रूप मे प्रस्तुत हो सके, वही भाव स्थायी भाव की सज्ञा पा सकता है।

अब प्रश्न उठता है कि आचार्यों द्वारा प्रवर्तित स्थायी भावो के अतिरिक्त क्या कोई अन्य भाव स्थायी भाव या रस-दशा को प्राप्त नही कर सकता। इस सम्बन्ध मे डा० राकेश गुप्त ने कहा है कि यदि संचारी भी विभावादि से पुष्ट होकर प्रस्तुत हो, तो

रस-दशा को प्राप्त हो सकते है।[1] परन्तु हम देखते है. इन सचारी भावो का प्रेषण सहृदय-मात्र मे स्वतंत्र रूप मे होना असम्भव ही है। जैसे, हर्ष का कोई विशिष्ट रूप ही नही, कोई प्रेषण का स्वतन्त्र आधार और तीव्र रूप नही। यही बात मद, जड़ता, उन्माद, मोह आदि के बारे मे कही जा सकती है।

इस सारी भ्रान्ति का कारण हमारे स्थायी भावों और मनोविज्ञानियों के सेंटिमेंट या Permanent Emotions को एक मानना है। पर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको के सेंटिमेंट हमारे स्थायी भाव नही है। सेंटिमेंट के दो रूप होते हैं—उदात्त (प्रेषणीय) और हेय (अग्राह्य)। जैसे, क्रोध का उदात्त और ग्राह्य रूप होगा—अत्याचारियो और दुष्टो के प्रति क्रोध। क्रोध के इसी रूप का सम्प्रेषण सम्भव है। क्रोध का दूसरा रूप हेय भी होता है, जैसे कई बार हम मामूली-मामूली बातो पर क्रोध करने लगते है। इस प्रकार का क्रोध हेय है, अवांछनीय और अग्राह्य है। इसका काव्यगत साधारणीकरण सम्भव नही है। अतः पहला क्रोध ही रसरूपता को प्राप्त होने वाला स्थायी भाव क्रोध माना जा सकता है। दूसरे, कुछ सेंटिमेंट ऐसे है, जिनका उदात्त रूप होता ही नही, जैसे ईर्ष्या। अत न प्रत्येक सेंटिमेंट स्थायी भाव है, और न उसका हेयरूप। वस्तुत वे सेंटिमेंट ही स्थायी भाव कहे गए है या कहे जा सकते है, जो अपने उदात्त रूप मे सब की अनुभूति बनकर प्रकट हो सकते है। पाश्चात्य मनोविज्ञानियो ने 'इमोशन' और सेंटिमेंट आदि पर जीवन-तथ्यो की दृष्टि से विचार किया है, जबकि हमारे आचार्यों ने काव्यानुभूति की दृष्टि से ही स्थायी भाव बताये है। अत पाश्चात्य सेंटिमेंट भी स्थायी भाव नही।

फ्रायड आदि मनोविज्ञानियो ने मानव-मन के चेतन, अवचेतन और अर्द्ध-चेतन ये तीन भेद बतलाये हैं। फ्रायड ने अवचेतन मन की प्रबलता का उद्घाटन किया। उनके अनुसार मानव-मन का $\frac{3}{4}$ अवचेतन है और यही अवचेतन हमारे अधिकाश क्रिया-कलापो का प्रेरक होता है। फ्रायड ने इस अवचेतन की सारी शक्तियो का मूलाधार मानव की दमित काम-वासना को बताया। यह सामाजिक और नैतिक प्रतिबन्धों के कारण अवचेतन मे दमित कुण्ठा बन जाती है, जो निष्कासन का अवसर ढूँढती रहती है। कभी-कभी इसका उदात्तीकरण भी हो जाता है—जैसे देश-प्रेम, भगवद्-प्रेम आदि के रूप मे। साहित्य और कला इसके उदात्त रूप मे निष्कासन के ही मार्ग है। अत फ्रायड के कथन से भी प्रमाणित हुआ कि साहित्य मे कवि की उदात्त अनुभूतियाँ ही प्रकट होती है। फ्रायड के शिष्य जुंग ने अवचेतन की प्रवृत्तियो को व्यापक रूप दिया और उन्हे व्यक्ति-जीवन से ही नही, बल्कि समूह जीवन से सम्बद्ध किया। उनके सामूहिक अवचेतन मे युग-युग की मानवीय अनुभूतियो के सस्कार-बद्ध होने की धारणा पाई जाती है। मनोविज्ञानियों का

1. Psychological Studies In Rasa, First Edition, p. 164.

कथन है कि इन दमित प्रवृत्तियों या भावनाओं के दबाने से काम नहीं चलेगा, क्योंकि दबने से ये गेंद की तरह अधिक उछलने—अधिक आवेग के साथ निकलने—का अवसर ढूँढती है। इन्हे मूल रूपों मे निकलने देने की बजाय, इनका उदात्तीकरण करना और उदात्त रूप मे निकलने देना ही मानवता के लिए श्रेय की बात है। अत मनोविज्ञानियो के मत मे भी ये बाते स्पष्टत प्रकट हुई है—१. साहित्य मे मूल भाव या मूल प्रवृत्तियाँ उदात्त रूप मे ही प्रकट होती है, २. इनका उदात्त रूप मे निष्कासन ही मानवता के कल्याण का साधन है। ३. काव्य या साहित्य मे कवि या लेखक की अनुभूतियाँ ही उदात्त होती है, सब पात्रों के सब भाव उदात्त नही होते।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ होगा कि घृणा सैटिमेंट भी स्थायीभाव नही है, उसका वही रूप स्थायीभाव है जो उदात्त रूप मे काव्य मे प्रकट होता है, क्योंकि कवि या लेखक की अनुभूतियाँ उदात्त रूप में ही प्रकट होती है। कवि की दमित घृणा भावना का ही उदात्तीकरण उसकी रचनाओं मे बीभत्स रस होता है।

अत. प्रमाणित हुआ कि भावों के सामान्यत. दो रूप होते है १. लौकिक तुच्छभाव या वैयक्तिक सकुचित भाव, २. उदात्त भाव। ये दूसरे प्रकार के भाव ही कवि की मार्मिक अनुभूति का विषय बनते है। भावों के इस भेद को ही हृदयगम न करने से 'रस तथा रस-प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' करने वाले डा० राकेश गुप्त ने स्थायी भाव-विवेचन मे भी भ्रांति फैलाई है। जैसा कि कहा जा चुका है, स्थायीभाव से अभिप्राय केवल उस भाव से नही, जो देर तक रहता है, अपितु उस भाव से है, जो साहित्यिक रचनाओं में इस रूप मे चित्रित होता है कि सब की हृदयानुभूति का विषय बन जाता है और सब अपने रागद्वेष से ऊपर उठकर उसका भावन करते है। 'उत्साह' का ही उदाहरण लीजिए। एक व्यक्ति अपने मित्र के आगमन पर उसके स्वागत मे उत्साह दिखाता है, उसका यह उत्साह स्थायी भाव नही कहा जा सकता क्योंकि इस भाव में सहृदय-मात्र के हृदय को तरंगित या उद्वेलित करने की क्षमता नही है, यह केवल भाव या सचारी भाव ही है। जो व्यक्ति दीन-हीन व्यक्तियों को दान-दक्षिणा-सहायता देने या उनका सेवा-सत्कार करने मे उत्साह दिखायगा, उसी का उत्साह स्थायीभाव उत्साह कहा जा सकता है। स्थायीभाव से यदि देर तक मन में रहने वाले भाव से अभिप्राय लें, तो क्रोध की अपेक्षा बैर को ही अधिक स्थायी कहा जायगा जबकि आचार्यों ने बैर को भाव मे ही नहीं गिना। वास्तव मे आचार्यों का वर्गीकरण सहृदयानुभूति के आधार पर ही है। बैर का प्रेषण सम्भव ही नही है, अत बैर को नही लिया गया। डा० राकेश गुप्त ने सचारी भाव और स्थायी भाव के इस भेद को समझने की कोशिश ही नही की। उनकी समस्त आलोचना साहित्य-परिधि से बाहर की वस्तु जान पड़ती है, जबकि हमारे आचार्यों ने रस-सिद्धान्त की मनोवैज्ञानिक प्रतिष्ठा साहित्यानुभूति या रसानुभूति के आधार पर की है। यही कारण है कि डा० राकेश गुप्त के मत बहुत भ्रान्तिपूर्ण बनकर रह गए

है। उनका यह कथन[1] कि स्थायी-भावों का सम्बन्ध पाठक (आश्रय) से नहीं है, काव्यगत पात्र से है, रस-सिद्धान्त के कितना विरुद्ध है! साहित्यानुभूति के मनोविज्ञान से कितना दूर है!!

आश्चर्य है कि स्थायी भाव के सम्बन्ध मे यह उपपत्ति विद्वान् लेखक ने कैसे कर दी! क्रोध स्थायीभाव और क्रोध सचारी मे जो अन्तर है, उसको न समझकर, साधारणीकरण के सिद्धान्त का बिलकुल ध्यान न कर, न-जाने क्यों ऐसी भ्रात धारणा प्रकट की गई है। रावण जब सीता पर क्रोध करता है, तो उसका क्रोध भाव तो अवश्य काव्यगत पात्र का भाव कहा जायगा, और यहाँ क्योंकि कवि रावण के साथ क्रोध का आश्रय नहीं बनता, बल्कि रावण ही कवि की घृणा का पात्र है, इसलिए पाठक को क्रोध की अनुभूति न होकर, रावण के प्रति घृणा की अनुभूति होगी। काव्यगत किसी पात्र का क्रोध भाव ही होगा, स्थायी भाव नहीं। किन्तु यदि वह भाव ऐसा है, जो प्रत्येक पाठक का भाव होने लायक है, और तीव्र है, तब वह पाठक या कवि का स्थायीभाव भी कहलाएगा। पात्र का भाव लौकिक ही होता है। काव्यगत स्थायीभाव सब की सात्त्विक अनुभूति का विषय बनता है, जिसमे अलौकिक रसानुभूति कराने की क्षमता होती है। अतः साहित्याचार्यों द्वारा परिगणित स्थायी भाव सहृदय पाठक के ही होते हैं, पात्र के नहीं। काव्यगत पात्र सुख-दुख, ईर्ष्या, ग्लानि, शोक आदि लौकिक भावो का ही अनुभव करता है, जबकि पाठक सर्वानुभूति-योग्य अलौकिक (अपने-पराये की भावना से मुक्त होकर) भाव या स्थायी भाव के रूप मे ही अनुभव करता है।

डा० राकेश गुप्त ने भावो का स्थायी-सचारी का भेद अस्वीकार किया है। आचार्यों की स्थायीभाव-सम्बन्धी इस धारणा या परिभाषा का कि स्थायीभाव किसी प्रकार के विरोधी या अविरोधी भाव से दबता नहीं, खण्डन करते हुए डा० राकेश गुप्त ने कहा है—

"The first essential character of a 'Sthayibhava' is said to be this that it cannot be eclipsed by anyother 'Bhava' This position is

1. ". .. It is, however, necessary to point out that we cannot attribute the 'Sthayibhavas' to the perceiver of a poetic phenomenon, .. .If we come across the picturesque description of an angry person, the feeling of anger, or the 'Sthayibhava Krodha', as a scholar of the Sanskrit poetics would put it, suggested therein would directly pertain to the depicted character and not to us. Even when a perceiver is able to experience the depicted emotion the suggested feeling or 'Sthayibhava' remains related with the poetical character and not with the perceiver, for it is essentially the poetical character and the perceiver in respect of whom the emotion has been depicted." . ... *P. Studies In Rasa P. 130.*

obviously ridiculous. There is no such inherent miraculous power in any 'Bhava' by the dint of which it can irremovably exist in a mind."

अर्थात् 'स्थायी भाव की किसी भाव से न दबने की बात हास्यास्पद ही है। किसी भाव मे ऐसी जादू की शक्ति नही है।' इस सम्बन्ध मे एक उदाहरण देते हुए वे कहते है—

"A millionaire engaged in an amorous pastime with a wanton suddenly hears the news that he has lost his fortunes and has been reduced to a beggar. The feeling of sexual love, which has been classed permanent, immediately vanishes, and the poor unfortunate creature sets himself to painful meditation (chinta)."[1]

अर्थात् 'रति-आनन्द मे मग्न कोई करोड़पति जब यह खबर पाता है कि उसकी समस्त धन-सम्पत्ति नष्ट हो गई है और वह कगाल हो गया है तो स्थायी भाव कही जाने वाली रति एकदम समाप्त हो जायेगी और वह चितामग्न ही होगा।' कहने की आवश्यकता नही कि डा० राकेश गुप्त ने आचार्यों के मन्तव्य को गलत समझकर, व्यर्थ ही उनकी आलोचना की है। स्थायीभाव का स्थायित्व अन्यभाव के उपस्थित होने पर, उसी विभाव और उसी आश्रय मे देखना है, न कि अन्य विभाव से। माता यशोदा के वात्सल्य भाव का आलम्बन बालक कृष्ण है। कृष्ण साँझ होने पर देर तक घर वापिस नही लौटता; माता चिंतित होती है। यहाँ चिंता का भाव सचारी रूप मे माता के वात्सल्य प्रेम को पुष्ट ही करता है, उसे दबाता नही। अतः स्थायीभाव उसी भाव को बताया गया है, जिसमे एक ही विभाव या उसी विभाव से सम्बन्धित अन्य विभावो के कारण अन्य भावों का आगमन भी उसे स्थायी रखता है, दबाता नही। हम ऊपर कह चुके है कि आचार्यों का भाव-निरूपण साहित्य के अन्तर्गत रसानुभूति की दृष्टि से ही मनोवैज्ञानिक सिद्ध होता है, उसे साहित्य से बाहर की मन स्थितियो पर घटाने से भ्रांति ही पैदा होगी। ऐसी ही भ्रांति का शिकार डा० राकेश गुप्त हुए हैं। यही कारण है कि आचार्यों ने भावो के स्थायित्व और संचारीत्व का जो भेद जिस प्रेषणीयता के आधार पर निरूपित किया है, उस साहित्यिक प्रेषणीयता या साधारणीकरण का ध्यान बिल्कुल छोड़कर डा० राकेश गुप्त आचार्यों की विवेचना अमनोवैज्ञानिक बताते-बताते स्वय अमनोवैज्ञानिक हो गए है। उनका कथन है—

"I for myself do not know if there can be a more absurd statement than to say that a man cannot feel envy ('Asuya') and pride ('Garva') as long as he can feel disgust ('Gharana') and wonder ('Vismya'), or that joy ('Harsha') cannot be felt as long as mirth ('Hasa') can be felt. What rational man can have the audacity to deny that hours, nay days and sometimes even months and years,

१. वही, पृ० २६३।

are spent in anxiety (Chinta). Even such 'Sancharibhavas' as are not 'Bhavas' at all cannot be shown to be fleeting in nature. Sleep ('Nidra') and intoxication ('Mada') last for hours, sickness ('Vyadhi') and insanity ('Unmada') may last for days or months, and death ('Marana') lasts for ever."[१]

अर्थात् 'यह मानना कितना वाहियात है कि एक व्यक्ति असूया या गर्व का उतनी देर तक अनुभव नहीं कर सकता जितनी देर घृणा या विस्मय का अनुभव कर सकता है, या यह कहना कि हर्ष उतनी देर तक अनुभूति का विषय नहीं बनता जितनी देर तक हास। चिन्ता का भाव घण्टों नहीं, दिनों, बल्कि वर्षों तक रहता है। निद्रादि संचारी भी जो भाव तक नहीं है, बहुत देर तक रहते हैं। निद्रा और मद घण्टों तक रहते हैं, व्याधि और उन्माद कई दिनों और कई महीनों तक विद्यमान रहते हैं और मृत्यु तो चिर-स्थायी है ही।'

डा० साहब की विवेचना को क्या कहें! आचार्यों की धारणा को ridiculous (हास्यास्पद) कहने वाले डा० राकेश गुप्त स्वयं अपनी विवेचना को हास्यास्पद बना बैठे हैं। आचार्यों ने यह स्थायी-संचारी का वर्गीकरण कवि या सहृदय पाठक की अनुभूति के आधार पर किया है, जबकि डा० गुप्त उसे पात्रगत मानकर अपनी आलोचना को सदोष बना बैठे हैं। किसी पात्र की असूया या ईर्ष्या से पाठक की अनुभूति का कहाँ तक और कितनी देर तक सम्बन्ध है, यदि इस बात पर वे विचार करते, तो आचार्यों की धारणा को absurd कहने का साहस न करते। ठीक है, लौकिक दृष्टि में ईर्ष्या का भाव पर्याप्त स्थायित्व रखता है, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से वह कितना स्थायी है, यह देखना ही उसकी साहित्यगत स्थायी अवस्था या संचारी दशा का निर्णय कर सकता है। काव्यगत शोक स्थायी की अनुभूति तो पाठक या कवि को स्थायी रूप से हो सकती है, किन्तु चिन्ता भाव का स्थायी सम्प्रेषण सम्भव नहीं है। देव जाति के संहार पर मनु चिन्तित अवस्था में हिमगिरि के उत्तुंग शृंग पर बैठे हैं, किन्तु क्या हम भी उनके साथ चिन्ता भाव का अनुभव करते हैं? हमें तो शोकानुभूति ही होती है। इसी प्रकार 'हर्ष' भाव में भी काव्यगत प्रेषणीयता की शक्ति कम है। उसका प्रेषणीय रूप स्वतन्त्र हो ही नहीं सकता। अतः काव्य की दृष्टि से आचार्यों का भाव-निरूपण सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। इसकी परिधि साहित्य है। ये स्थायी भाव साहित्य के ही स्थायीभाव हैं और संचारी भी साहित्य के ही संचारी हैं। जीवन के सम्पूर्ण अनुभूतिचक्र के आधार पर यह वर्गीकरण मानना भूल है। पाठक की अनुभूति के आधार पर वर्गीकरण होने के कारण ही तो आचार्यों ने यह भी स्वीकार किया कि रति आदि स्थायी भाव भी संचारी रूप में प्रकट हो सकते हैं।[२]

---

१. वही, पृ० १६३।

२. "रत्यादयोऽप्यनियते रसे स्युर्व्यभिचारिणः।" हि० साहित्यदर्पण, पृ० २०५।

बल्कि आचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है कि कभी-कभी संचारी भाव भी प्रबल हो जाता है। उस समय उसकी स्थिति राजा के उस नौकर जैसी होती है, जो अपने विवाह में दुल्हा होता है और राजा केवल विवाह में सम्मिलित होने वाला।[1] जैसे, रति स्थायी भाव में कहीं-कहीं असूया का भाव प्रबल हो सकता है। किन्तु यह ध्यान रहे कि संचारी कितना ही सबल या प्रबल क्यों न हो जाय, वह स्थायीभाव के आधार को मिटा नहीं सकता। इस विचार से, खेद है कि डा० राकेश गुप्त संचारी-स्थायी का विभाजन ही अस्वीकार कर देते हैं :

"But when the Bhavas of the one class can be both superior and sub-ordinate to those of the other, there is little justification in calling some permanent and the rest transitory."[२]

स्थायी भावों के रस-रूप में परिणत होने की बात को डा० राकेश गुप्त ने संचारी भावों पर भी लागू करना चाहा है। वे कहते हैं कि एक संचारी भी विभावादि से पुष्ट होकर रस की दशा प्राप्त कर सकता है—

"But a 'Bhava' of the transitory class when supported by the 'Vibhavas' etc., makes a genuine emotion, and hence again there cannot be the least propriety in saying that only some 'Bhavas' are fit to develop into 'Rasa' while the others are not."

संचारी भावों के चित्रण से भी रसोद्रेक होता है, यह तो सिद्ध बात है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने भी इसे माना है। पर वह रस संचारी भाव का स्वतन्त्र रस नहीं होता। रसानुभूति के सम्बन्ध में यह माना गया है कि विभावादि में से किसी एक का चित्रण भी रसोद्बोध की क्षमता रखता है। ऐसी अवस्था में रस-सामग्री के अन्य अवयवों का आक्षेप कर लिया जाता है। इसी आशय से यदि यह कहा जाय कि संचारियों का चित्रण भी रसवत् होता है, तो ठीक है। पर डा० राकेश गुप्त ने जो बात कही है, उसका अभिप्राय यह है कि जिन्हें आचार्यों ने संचारी भाव कहा है वे भी विभावादि से पुष्ट होकर स्वतन्त्र रस-रूप में अभिव्यक्त हो सकते हैं और इस प्रकार केवल नौ रस मानने की बजाय, ३३ या और भी अधिक, सब भाव रस बन सकते हैं। पर इन संचारियों में आस्वाद्यता के गुण का अभाव है। जिस किसी का सम्प्रेषण सम्भव भी है, वे अपने स्वतन्त्र विभावादि नहीं रखते। अतः डा० राकेश गुप्त की उपर्युक्त बात से भी हम सहमत नहीं हो सकते। डा० राकेश गुप्त ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि भावों का यह निराधार वर्गीकरण दो हजार वर्ष से कैसे वंश-परम्परागत मान्य रहा है—

---

१ मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन। ते भावशान्त्यादय। अंगित्वं राजानुगत विवाह-प्रवृत्त-भृत्यवत्। —मम्मट काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, सू० ४९।

2 P. Studies In Rasa, P. 164.

"It is strange how this classification of 'Bhavas' inaugurated by 'Bharata' or perhaps by even a more ancient author, has been admitted for over a score of centuries by the literary scholars of this country inspite of its being based on such false grounds. In the whole range of 'Sanskrat' and Hindi poetics there seems to have been only one critic, viz. Rudrata who had the courage to stand against the great authority of Bharata and to declare that even the 'Sanchari Bhavas' make as good Rasas as do the Sthayins. But his view was entirely disregarded by the succeeding generations of the literary critics." pp. 165-166. . . "So a Bhava from the list of the Sancharies, if developed fully, makes a genuine emotion and hence is nothing different from Rasa"—p. 167

रस के मूलाधार भाव या स्थायीभाव की जो कसौटी हम ऊपर निर्धारित कर चुके है, उस पर सचारियो मे से कोई भी नहीं ठहरता। डा० राकेश गुप्त कोई उदाहरण अपने मत की पुष्टि मे प्रस्तुत नही कर सके, इसी मे उनका कथन अमान्य हो जाता है। उनके इस साहसपूर्ण कथन के युक्तियुक्त खण्डन का और प्रयास हम आगे करेगे, पहले उनकी एक और भ्रात धारणा का खण्डन आवश्यक है। उनका कथन है कि क्रोध, भय, घृणा और विस्मय स्थायी भाव कैसे कहे जा सकते है जबकि ये किसी रचना में प्रधान या अगीरूप मे प्रकट हो ही नही सकते।[1]

इस सम्बन्ध में पहले तो यह बात है कि रति, शोक आदि स्थायी भावो की काव्य या काव्य-रचनाओ मे प्रधानता है, इससे यह अभिप्राय नही है कि सब-के-सब स्थायी भाव काव्यो मे प्रमुख रूप से आ सकते है। यह ठीक है कि क्रोध, भयादि के अगी-रूप मे बहुत कम रचनाएँ लिखी गई हैं, भय शायद ही किसी प्रबन्ध मे प्रधान रूप से आया हो, पर यह निश्चित है कि काव्य-रचनाओ मे रहेगे प्रमुख स्थायीभाव ही। भयादि एकाध स्थायीभाव की प्रसार-परिधि चाहे शोकादि से कम हो, पर वह निश्चित रूप से किसी संचारी से व्यापक होगी, प्रबल भी होगी। दूसरे, यह कहना भी युक्तिसगत नही कि क्रोधादि की प्रमुखता पर कोई काव्य रचा ही नही जा सकता। 'वेणीसहार' मे क्रोध की प्रधानता स्पष्ट है, अत: उसका अगीरस रौद्ररस है। घृणा के सम्बन्ध मे तो हम यह आक्षेप एक क्षण भी मानने को तैयार नही। हम सैकडों आधुनिक रचनाएँ उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत कर सकते हैं और आगे हमने

1. The feelings of Anger ('Krodha'), Fear ('Bhaya'), Disgust ('Ghrana') and wonder ('Vismaya'), though classed permanent by them (Acharyas), can never attain the status of a Sthayibhava, for evidently none of them can be the predominent feeling of a whole work." (P. 165)

की है—जिनमे बीभत्स रस की प्रधानता है। प्रेमचन्द के सेवासदन, उग्र के शराबी' आदि उपन्यासो मे यही रस अगी है। अत डा० राकेश गुप्त की उपर्युक्त धारणा भ्रम-पूर्ण है, अमान्य है।

अब सचारियो के रस-रूप ग्रहण करने की बात लेते है। वास्तव मे जैसा कि कह आये है, डा० राकेश गुप्त ने साधारणीकरण-सिद्धान्त की दृष्टि से इस समस्या पर विचार नहीं किया। यदि वे सहृदय की सात्त्विक अनुभूति की दृष्टि से विचार करते तो उन्हे क्षण भर मे ही स्पष्ट हो जाता कि संचारियों में स्वतन्त्र रस-रूप मे परिणत होने की शक्ति नही है। इस सम्बन्ध मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन उल्लेखनीय है—"आधुनिक मनोविज्ञानियो ने क्रोध, भय, आनन्द और शोक को मूल भाव कहा है। इनमे से साहित्य के 'भावो' की गिनती मे आनन्द को छोड और सब आ गए है। शोक के रखे जाने और आनन्द के न रखे जाने का कारण क्या है? इस का एक मात्र उत्तर यही हो सकता है कि 'रस-विधान' की दृष्टि से ऐसा किया गया है। साहित्यिको का सारा भाव-निरूपण रस के विचार से किया गया है। आश्रय के जिस भाव की व्यंजना से श्रोता या दर्शक के चित्त मे भी आलम्बन के प्रति वही भाव साधारण्याभिमान से उपस्थित हो सकता है उसी को रस का प्रवर्त्तक मान कर आचार्यों ने प्रधान भाव की कोटि मे रखा है। इस बात को अच्छी तरह ध्यान मे रखना चाहिए। ...... किसी के आनन्दोत्सव मे उन्ही का हृदय पूर्णयोग देता है जिनसे उसका लगाव या प्रेम होता है, पर किसी के शोक मे योग देने के लिए मनुष्य मात्र का हृदय प्रकृति द्वारा विवश है। इसी से आनन्द को रस के प्रधान प्रवर्त्तक भावों में स्थान न देकर आचार्यों ने 'हर्ष' को केवल सचारी रूप मे रखा है। इस युक्तिपूर्ण विधान से उनकी सूक्ष्मदर्शिता का पता चलता है। यही कारण ईर्ष्या को भी प्रधान भावो मे स्थान न देने का है। यद्यपि ईर्ष्या विषयोन्मुख होने के कारण मनोविज्ञान की दृष्टि से भाव (स्थायी Sentiment) ही है, पर आश्रय किसी व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या व्यजित करके श्रोता या दर्शक को भी उक्त व्यक्ति के प्रति रस-रूप मे ईर्ष्या का अनुभव नही करा सकता।" (रस मीमांसा पृ० १९७) ......"अत जो भाव ऐसे है जिन्हे किसी पात्र को प्रकट करते देख या सुनकर दर्शक या श्रोता भी उन्ही भावों का-सा अनुभव कर सकते है, वे तो प्रधान भावो मे रखे गए हैं, शेष भाव और मन के वेग सचारियो मे डाले गए है। जैसे, किसी आलम्बन के प्रति आश्रय को शोक या क्रोध प्रकट करते देख उस आलम्बन के मर्मस्पर्शी स्वरूप और 'भाव' की विशद व्यंजना के बल से श्रोता या दर्शक को उक्त दोनों भावो का रस-रूप में परिणत अनुभव होता है, अतः वे प्रधान भावों की श्रेणी मे रखे गए, पर आश्रय को किसी बात की शंका, किसी से ईर्ष्या, किसी पर गर्व, किसी से लज्जा प्रकट करते देख श्रोता या दर्शक को भी शका, ईर्ष्या, गर्व, लज्जा आदि का अनुभव न होगा, दूसरे भाव का हो तो हो। इसी से ये भाव प्रधान न माने जाकर सचारी माने गए है। पर इससे

यह मतलब नहीं कि ये भाव सदा प्रधान भावों के द्वारा प्रवर्तित होकर अनुचर के रूप में ही आया करते है, स्वतन्त्र रूप में आते ही नहीं। ये स्वतन्त्र रूप में अपने निज के अनुभावों के सहित भी आते है पर पूर्ण रस की अवस्था को नहीं प्राप्त होते ...... साराश यह कि प्रधान (प्रचलित प्रयोग के अनुसार स्थायी) भाव वही कहा जा सकता है, जो रस की अवस्था तक पहुँचे।" (रस-मीमासा, पृ० २०२-२०३)

"... "प्रधान भावों की गिनती मे वे ही भाव रखे गए है जिनके आलम्बन 'सामान्य' हो सकते है। शेष भाव या मनोवेग सचारियों की श्रेणी मे डाले गए है क्योंकि उनमे से किसी-किसी के स्वतन्त्र विषय होगे भी तो भी श्रोता या दर्शक का ध्यान उनकी ओर प्रवृत्त नहीं रहेगा।"[१]

"सचारियो मे कुछ तो ऐसे है, जिनके विषय होते ही नही, केवल कारण होते है जैसे सब शारीरिक अवस्थाएँ, मद, जड़ता, मोह, उन्माद और ग्लानि ये मानसिक अवस्थाएँ और आवेग नामक वेग। मान-वर्ग के तीनों भावो (गर्व, लज्जा और असूया) को छोड़कर और सब सचारियो के या तो प्रधान भाव के आलम्बन ही विषय होते है अथवा उनसे (आलम्बनो से) सम्बन्ध रखने वाली वस्तुएँ। इस प्रकार कही-कही आलम्बन के (स्थायीभाव के आलम्बन के) रूप, गुण, चेष्टा आदि के कारण ही सचारियों के विषय होते है। जिसके प्रति रति भाव है, उसकी मुस्कान देखकर या उससे वचन सुनकर भी हर्ष होता है और उसकी कोई वस्तु देखकर भी ... "[२]

कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी के कथन से हम सहमत है। ग्लानि के शुद्ध मानसिक रूप (आत्मग्लानि) को अवश्य हम शोकादि के साथ स्थायी भावो मे स्थान देते हैं, और उसे जुगुप्सा या घृणा का ही रूप मानते है। उसके आंगिक शिथिलता के रूढ रूप को हम ग्लानि नही मानते। शास्त्रकारो ने बीभत्स रस के उदाहरण-स्वरूप जिस वस्तुगत ग्लानि को जुगुप्सा मानकर स्थायीभाव कहा है, उसे हम सचारी ही मानते है। आगे घृणा के वास्तविक स्वरूप का निरूपण करते हुए हम अपने मत को अच्छी तरह स्पष्ट और पुष्ट करेंगे।

ईर्ष्या या असूया का भाव सहृदय मे प्रेषणीय नहीं है। शुक्ल जी ने गर्व, लज्जा, असूया इन भावो को स्वतन्त्र विषय-युक्त भाव बताया है। किन्तु "स्वतन्त्र विषय रखने पर भी ये आलम्बन-प्रधान नही हैं। इनके विषय आलम्बन-पद प्राप्त नहीं होते। आलम्बन वही विषय कहा जा सकता है जिसके प्रत्यय का बोध प्रधान होकर बना रहे। अत आलम्बन, प्रधान भावों के ही विषय को कह सकते है। गर्व, लज्जा के सम्बन्ध मे यह बात ध्यान देने की है कि उनमे कारण विषयगत नही होता, आश्रय-

---

१. रस मीमांसा (द्वितीय संस्करण), पृ० २०५।

२. वही, पृ० २१२।

गत होता है। इसीसे पाश्चात्य मनोविज्ञानियो ने गर्व को ममत्व (Self love) के अन्तर्गत रखा है, जो उनकी व्यवस्था के अनुसार स्थायी भाव है। हमारी प्रस्तावित व्यवस्था के अनुसार गर्व या अभिमान शील-दशा को ही प्राप्त पाया जाता है। ऐसा शायद ही होता हो कि कोई किसी एक ही व्यक्ति से समय-समय पर शेखी किया करता हो।[१]

यहाँ गर्व की भावना पर विचार करना आवश्यक है। उसके कुछ उदाहरण मेरे सामने है। उर्दू के प्रसिद्ध कवि गालिब के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि उनमे स्वाभिमान या गर्व की भावना इतनी अधिक थी कि एक बार उन्होने अपनी खुददारी की खातिर सरकारी नौकरी से इनकार कर दिया था। सन् १८४२ की बात है, दिल्ली कॉलेज मे फारसी के प्रोफेसर की नियुक्ति के लिए गालिब को बुलाया गया। मिर्जा गालिब पालकी मे सवार होकर सेक्रेटरी मि० टामसन की कोठी पर पहुँचे और अपने आने की सूचना दी। साहब ने तुरन्त बुला लिया, मगर मिर्जा पालकी से उतर कर इसी इन्तजार मे ठहरे रहे कि सेक्रेटरी साहब लेने आएँगे। मगर साहब न लेने आए और न वापसी मे पालकी तक छोडने आए। गालिब ने इसे स्वाभिमान के विरुद्ध जानकर नौकरी से जवाब दे दिया। अब प्रश्न है कि क्या इस प्रकार की स्वाभिमान की भावना या गर्व-अवस्था रस-दशा मे नही गिनी जा सकती ? क्या यह केवल 'शील-दशा' है ? श्री पृथ्वीनाथ शर्मा की कहानी 'उदय-अस्त' का एक उदाहरण और लीजिए। इस कथा मे कलाकार के स्वाभिमान का भव्य चित्रण हुआ है। कलाकार कमलेश्वर बीमारी और दरिद्रता की अत्यन्त दारुण अवस्था मे मृत्यु-शय्या पर पड़ा है। फिर भी वह अपनी कला के प्रशसक या किसी अन्य व्यक्ति से सहायता-स्वरूप रुपये स्वीकार न करके, इच्छा न होते हुए भी, अपने प्राणो से भी प्रिय दो चित्रो को बेचने पर विवश होता है। कलाकार का यह स्वाभिमान क्या रसदशा की कोटि मे नही आता ? यह गर्व या स्वाभिमान आत्मरति का ही रूप है। इसका आलम्बन बनता है कोई ऐसा विषय या प्रसग, जिसमें हमारी दूसरों के सामने हेठी होने की सम्भावना हो, जैसे गालिब के मन मे यह विचार कि लाट साहब ने हमारा आवश्यक स्वागत नही किया, क्या हमे वह अपना नौकर समझने की भूल मे है ? पालकी तक छोड़ने न आना उद्दीपन का कार्य करता है। हम किसी के गुलाम नही, लाट होगा, अपने घर का, हम अपने राजा आप है। ऐसी नौकरी पर लानत है, जो दूसरो की नजर मे हमे हेठा बना दे। अतः गालिब नौकरी से जवाब दे देते है। ये अनुभाव भी स्पष्ट है। सचारी के रूप मे ग्लानि, मति, सदेह, शोक, चिन्ता, हर्ष आदि आ सकते है। अतः स्वाभिमान या गर्व का यह रूप रसदशा का ही द्योतक है।

---

१. रस मीमांसा, पृ० २०७-२०८।

गर्व का दूसरा रूप—गुरु का गर्व अपने शिष्य के प्रति, पिता का अपने पुत्र के प्रति आदि—भी होता है। गर्व की ये अवस्थाएँ होती तो रसदशा कोटि की ही है, पर इन्हे स्वतन्त्र माने अथवा किसी अन्य स्थायीभाव मे इनका अन्तर्भाव माने, यह बात विचारणीय है। हमारा मत है कि स्वाभिमान की जिस अनुभूति का उल्लेख हमने किया है, उसका अन्तर्भाव वीर रस मे हो जाता है। उसे वीर रस का अग मानना अधिक उपयुक्त है। गालिब बडे साहसपूर्ण गर्व को प्रकट करते हुए नौकरी स्वीकार करने से जवाब दे देते है। इसी प्रकार श्री इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास संन्यासी की नायिका शान्ति नायक नन्दकिशोर के पास से चली जाती है। उसके स्वाभिमान को ठेस पहुँचती है और वह धीरतापूर्वक स्वावलम्बन का मार्ग अपनाती है। उसका स्वाभिमानिनी का रूप बडा स्पष्ट है। वह जो रुपये बलदेव से उधार लेती है, उन्हे ब्याज-सहित लौटा देती है। बलदेव का स्वाभिमान या गर्व भी 'सन्यासी' मे पूर्ण अनुभूति का विषय बनकर आया है। बलदेव नन्दकिशोर के रुपये वापिस कर देता है। अपनी बुरी अवस्था मे भी वह किसी की दया का पात्र नहीं बनना चाहता। प्रश्न यही है कि ऐसे प्रसंगो मे इन स्वाभिमानी पात्रों को वीर रस का आश्रय कहा जाय, या गर्व अथवा स्वाभिमान का स्वतन्त्र विषय। वीर रस का स्थायीभाव हम साहसपूर्ण उत्साह मानते है, कोरा उत्साह नही। उपर्युक्त पात्रो की गर्व या स्वाभिमान-भावना यद्यपि स्वतत्र-सी प्रतीत होती है, क्योकि वही स्पष्ट सामने आती है, किन्तु उनका स्वाभिमान उनकी वीर मनस्वी आत्मा का ही द्योतक है, जो उन्हे वीर सिद्ध करता है। अत उक्त स्वाभिमान को वीर रस के अन्तर्गत मानना ही उचित रहेगा। इसमे आलम्बन है अपने अपमान का विचार। गर्व का उपर्युक्त दूसरा रूप रति या स्नेह के अन्तर्गत माना जायगा। अत गर्व भी स्वतन्त्र स्थायी भाव नही माना जा सकता।

अब लज्जा को लीजिए। जैनियों के 'अनुयोगद्वारसूत्र' में नौ काव्यरसों की गणना की गई है और भयानक के स्थान पर 'व्रीडनक' रस का उल्लेख हुआ है—

वीरोसिंगारो अब्भुओ अ रोद्दो अ होइ बोद्धव्वो।
वेलणओ बीभच्छो हासो कलुणो पसतो अ ॥[1]

'व्रीडनक' लज्जोत्पादक रस बताया गया है। "व्रीडयति लज्जामुत्पादयति लज्जनीय वस्तुदर्शनादिप्रभवोमनोऽव्यलीकतादिस्वरूपो व्रीडनक: ।"

इसका लक्षण यह दिया गया है—

विनयोपचारगुह्यगुरुदारमर्यादाव्यतिक्रमोत्पन्न ।
व्रीडनको नाम रसो लज्जाशकाकरणलिंग ॥

इसका उदाहरण गुरुजनो के सामने लजाती हुई वधू का दिया गया है। प्रश्न

1. The Number Of Rasas (V. Raghvan), पृ० १४० पर उद्धृत।

है कि क्या गुरुजनों के आगे लजाती हुई वधू के लज्जा भाव (bashfulness) को रसकोटि में माना जा सकता है ? हम कई बार अपने मुँह पर अपनी प्रशंसा सुनकर लजा-से जाते हैं। क्या इस अनुभूति का चित्रण रसपूर्ण नहीं ? रस नहीं ? व्रीडा शृंगार मे संचारी ही होती है, पर स्वतन्त्र रूप मे अपनी प्रशसा सुनने के कारण विनय से, या मानसिक वृत्तिगत सकोच मे व्रीडा अवश्य ही रस-दशा प्राप्त करती है। एक उदाहरण देखिए। 'संन्यासी' (इलाचन्द्र जोशी) मे नायक नन्दकिशोर की भाभी उससे पूछती है कि गुच्छी की तरकारी कैसी लगी—जयती ने उसके लिए खास तौर से बनाई है। नन्दकिशोर कहता है—'अच्छी ही बनी है, पर सबसे अच्छा मुझे जिमी-कन्द का अचार लगा है। वह किसने बनाया है ?' नन्दकिशोर जानता था कि उसके भैया जिमीकन्द का अचार बहुत पसन्द करते है, और उसकी भाभी उसे खास तौर से तैयार करती है। बात समझ कर उसकी भाभी ने लज्जा-मधुर हास के साथ कहा—"चलो, तुम्हे सदा हसी ही सूझती है।" नन्दकिशोर गम्भीर होकर बोला—"नही भाभी, मै सच कहता हूँ, अचार बहुत अच्छा बना है।"

"अच्छा, अच्छा, ये बाते फिर होगी, पहले खाना तो खा लो। अभी तक केवल दो ही पराठे खा सके हो ? अचार और लाऊँ ? कचनार की कली का अचार इंजीनियर साहब के यहाँ से आया है, बहुत अच्छा बना है। मैं लाती हूँ।" कहकर भाभी जी चली गई। स्पष्ट ही उन्हे अपने सामने अपनी प्रशसा सुनते हुए संकोच का अनुभव हुआ था।"[1]

इस उदाहरण मे लज्जा अवश्य ही रसत्व को प्राप्त हुई है। पर सच तो यह है कि संचारियों से पुष्ट व्यापक स्थायी दशा 'लज्जा' भाव में संभव ही नहीं है। जीवन की ऐसी परिस्थितियाँ, जिनमे व्रीडा का दूर तक योग हो, दिखाई नही देतीं। यह क्षणिक वृत्ति ही है। एक वधू या नारी गुरु-समाज मे लज्जा का अनुभव करती है, पर उसकी इस अनुभूति से जीवन की और-और परिस्थितियाँ उत्पन्न नहीं होती, इससे स्थायी रस का रूप यह नहीं ले सकती। अत. व्रीड़ा सरस तो होती है, पर रस नही मानी जा सकती। इसकी अनुभूति भाव कोटि की है। स्थायी भाव-जैसी व्यापकता और आस्वाद्यता इसमे नही।

डा० राकेश गुप्त ही नही, हमारे आचार्यो मे भी रुद्रट और भोजराज ने सचारियों के रस-दशा प्राप्त करने की बात कही है। भोजराज ने रसो के १२ रूप तो बिल्कुल स्पष्ट बताये। उसके बताये हुए तीन अतिरिक्त रस ये है—१. 'मति' सचारी को स्थायी मानकर, उसके आधार पर उदात्त रस, २. गर्व के आधार पर उद्धत और ३ स्नेह पर आधारित प्रेयान रस। इनके अतिरिक्त 'सरस्वती कंठाभरण'

---

१. इलाचन्द्र जोशी: संन्यासी (पंचम संस्करण), पृ० ३४८।

मे हर्ष से आनन्द रस तथा सब विभावो संचारियो आदि मे विलास अनुराग संगम स्वातन्त्र्य आदि कई रस बनाये गए हैं।

लौल्य की तरह ही एक और रस 'कार्पण्य' की कल्पना भी हुई। भानुदत्त ने अपनी 'रसतरंगिणी' मे इसका स्थायी भाव 'स्पृहा' बताया है। यह भी एक वृत्ति है, जो सात्त्विक संचरण नहीं कर सकती। अपने सात्त्विक रूप मे यह संचारी बनकर ही आ सकती है। हर्ष की तरह इसका भी स्थायी भाव का विशिष्ट स्वरूप नहीं बैठता।

रस-विवेचन मे मनोविज्ञान के स्थान पर धर्म के घुस आने से भी भारी भ्रान्ति फैली है। करुणरस के जो तीन भेद भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के छटे अध्याय मे बताए है—१ धर्म-नाश से उत्पन्न, २ अर्थ-नाश से, ३. सामान्य शोक—किसी आत्मीय बन्धु के निधन आदि से, और इनके सम्बन्ध मे जो यह कहा गया है कि प्रथम उत्तम पुरुषो मे, द्वितीय मध्यम पुरुषों मे और तीसरे प्रकार की करुणा अधम पुरुषों में जगती है, यह सर्वथा अमनोवैज्ञानिक है। क्या माता शैव्या का अपने पुत्र रोहिताश्व के निधन पर रोना उसे अधम सिद्ध करता है? यदि यह बात पाठक की दृष्टि से कही गई हो, तो और भी अनुचित है, क्योंकि करुण रसानुभूति हर अवस्था मे उत्तम आश्रय में ही होगी। इसी प्रकार जैनधर्माश्रय 'अनुयोगद्वारसूत्र' ग्रथ मे वीर रस के अन्तर्गत दानवीर और तपवीर को ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। इस ग्रंथ और उसके टीकाकार माल-धारी हेमचन्द्र ने रसो को दो भागो मे बाँटा है—१. वे रस जिनमें छल, कपट, झूठ, हत्या आदि पाप-कर्म होते है, २ वे जो इनसे शुद्ध होते है। युद्ध वीर मे परोपघात का पाप रहता है, अत. दानवीर और तपवीर ही सर्वश्रेष्ठ है।

इस दृष्टि से हमारा बीभत्स रस पहली कोटि मे आता है। पर क्या वह श्रेष्ठ नही? हमने आगे सिद्ध किया है कि इन छल-प्रपच इत्यादि मे भी शक्ति है—आत्मा को सबल बनाने की शक्ति। अत समूचे रस-सिद्धान्त के पुन: परीक्षण की आवश्यकता है। रस के सम्बन्ध मे खूब ऊहापोह चला है। और जैसाकि अभिनवगुप्त ने भी अपनी 'लोचन' मे संकेत किया है, बहुत लोगो ने भ्रान्तिपूर्ण धारणाएँ प्रचारित की है। किसी ने विभाव को ही रस माना, किसी ने स्थायीभाव को ही रस कहा, तो किसी ने केवल अनुभाव को रस बताया, दूसरो ने इन सब के संयोग को आदि।[१] निस्सदेह रसत्व तो सात्त्विक भावो मे भी है, क्योंकि रस-प्रक्रिया मे रस का प्रत्येक अवयव रसत्व को प्राप्त होता है, और जैसे रस-पाक मे प्रत्येक संयोजक द्रव्य का स्वाद प्रतीत होता है, उसी प्रकार रस-प्रक्रिया मे भी रस के आश्रय के सब विभावादि रसत्व को प्राप्त होते है, पर वे स्वतन्त्र रस नहीं कहे जा सकते, वे स्वतन्त्र रस नही बनाते।

शुक्ल जी ने संचारियो मे पाँच को ऐसे बताया है, जो किसी प्रधान या स्थायी

---

१. अन्येतु शुद्धं विभावम्, अपरे शुद्धमनुभावं, केचित्तु स्थायीमात्रम्, इतरे व्यभिचारिणम्, अन्ये तत्संयोगिनम्, एके अनुकार्यं, केचनं सकलमेव समुदायं रसमाहुरित्यलं बहुना।

भाव के अवयव भी हुआ करते हैं वे हैं अमर्ष त्रास विषाद उग्रता और जड़ता त्रास भय का, विषाद शोक का, जड़ता आश्चर्य का तथा अमर्ष और उग्रता क्रोध के अवयव है।[1] हम समझते है कि ग्लानि भी जुगुप्सा का ही अवयव है—उसी का एक रूप है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ कि सचारियो मे स्थायी भाव—ऐसा स्थायी भाव जो रस-दशा को प्राप्त होकर अपने को स्वतन्त्र रस सिद्ध करे—बनने की योग्यता नही है। अत प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रवर्तित नौ स्थायी भाव उनकी सूक्ष्म रस-दृष्टि के परिचायक है। हाँ, रति के विविध रूपों को स्वतन्त्र मानकर, वात्सल्य रस, भक्ति रस, सख्य रस, देश प्रेम आदि अलग अलग रस भी माने जा सकते है।

(ख) घृणा स्थायी भाव का स्वरूप-निरूपण

वस्तुगत ग्लानि स्थायी भाव नही, सचारी ही है। स्थायी भाव-सम्बन्धी उपर्युक्त कसौटी के निर्धारण के पश्चात् हम जुगुप्सा या घृणा स्थायी भाव के स्वरूप पर विचार करेगे। जैसा कि आरम्भ मे ही कहा जा चुका है कि हमारे प्राचीन आचार्यो ने जुगुप्सा के स्वरूप को केवल वस्तुगत ग्लानि के रूप मे ही समझा है। वस्तुगत ग्लानि का सम्बन्ध शारीरिक अनुभूति तक ही सीमित रहता है। जैसे, मास-मज्जा-रुधिर को देखकर घ्राण आदि इन्द्रियाँ विकल हो जाती है। किसी वैष्णव को लहसुन-मास आदि खाना तो दूर, देखने-मात्र से मतली होने लगती है। खाना खाते हुए यदि हमारे सामने म्यूनिसिपैल्टी की गन्दे की मोटर आ जाय, तो उसकी बदबू से इन्द्रिय-विकलता का अनुभव करते हुए हम खाना छोडने को तैयार हो जाते है। इसी प्रकार किसी मैले-कुचैले गन्दे कुत्ते या किसी व्यक्ति के स्पर्श से हम शारीरिक विकलता का अनुभव करते हुए उससे दूर हटने का प्रयत्न करते है। वस्तुगत जुगुप्सा के इस रूप को मैक्डूगल महोदय ने दो भागो मे बाँटा है—एक जुगुप्सा का रूप वह है जिसमे हम घृणित वस्तु की बदबू या बुरा स्वाद होने से मौखिक (रसना, घ्राण आदि) ग्लानि के कारण दूर करते हैं, दूसरी वह जिसमे ग्लानि त्वचा के कारण पैदा होती है और हम गन्दी-भौडी वस्तुओ के स्पर्श से बचते है।[2]

जैसा कि पहले सकेत किया जा चुका है कि घ्राण, नेत्र आदि पर आधारित यह ग्लानि भले ही मनोविज्ञानियो द्वारा मानव की सहज या मूल प्रवृत्ति मानी गई हो, पर हमारे स्थायी भाव की कसौटी पर पूरी न उतरने के कारण हम इसे काव्यगत स्थायी भाव नही मान सकते। वास्तव मे हमारे आचार्यों के स्थायी भाव-निरूपण और पाश्चात्य मनोविज्ञानियो के स्थायी या मूल प्रवृत्तियो के निरूपण मे जो मत-भेद है, उसका कारण दोनो का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण और भिन्न-भिन्न उद्देश्य है। हमारे

---

१. रस मीमांसा, पृ० २३४।

2. An Introduction To Social Psychology. P. 48.

आचार्यों का समस्त भाव-निरूपण रसानुभूति की दृष्टि से हुआ है, जबकि पाश्चात्य विद्वानों ने मानव मन के अध्ययन को ही अपना उद्देश्य रखा है। इसी से शोक, उत्साह आदि भाव मनोविज्ञानियों के स्थायी या मूल प्रवृत्तियाँ न होते हुए भी रस की दृष्टि से स्थायीभाव है, और अधीनता, हीनता, गर्व, प्रभुत्वकामना, अहमन्यता आदि मूल प्रवृत्तियाँ काव्यगत स्थायी भाव नही बन सकती। उपर्युक्त वस्तुगत ग्लानि मे स्थायीभाव के प्रथम अनिवार्य गुण का ही अभाव है। अर्थात् यह ग्लानि सहृदय की स्पृहणीय अनुभूति हो ही नही सकती। इसमे आस्वाद्यता का नितान्त अभाव है। जैसे सड़ी-गली-बदबूदार वस्तुओं को हम प्रत्यक्ष देखना या सूँघना नही चाहते, वैसे ही काव्य मे उनका वस्तुगत स्थूल चित्रण पढ़ना या देखना पसन्द नही कर सकते।

काव्यानन्द लौकिक अनुभूति नहीं है। रसास्वादन हम हृदय की मुक्त दशा मे अर्थात् लौकिक दुःख-सुख की भावना से परे होकर करते है। वस्तुगत ग्लानि का अनुभव शारीरिक होने से लौकिक ही माना जा सकता है। केवल इन्द्रिय विकलता की यह दशा रस-दशा मानी ही नही जा सकती। अतः वस्तुगत ग्लानि, ईर्ष्या, लोभ आदि की भाँति स्पृहणीय या प्रेषणीय न होने के कारण स्थायी भाव-संज्ञा नही पा सकती। यह उदात्त अनुभूति के रूप मे प्रकट नही हो सकती।

मानसिक घृणा ही स्थायी भाव : वस्तुगत ग्लानि या जुगुप्सा तभी रसदशा को प्राप्त हो सकती है, जब कि यह केवल वस्तुगत या शारीरिक स्थूल वृत्ति न रह कर मानसिक घृणा से सम्बद्ध हो जाती है। जैसे, किसी स्थान पर पड़े हुए कीचड, बदबू या विष्ठा आदि को देखने या काव्य मे पढ़ने से कोई रसानुभूति नही होगी। यदि इस बदबू में कोई पागल व्यक्ति अपने पागलपन से घुस जाता है और कीचड आदि से बुरी तरह सन जाता है, तो यह विषय भी वस्तुगत ग्लानि का विषय ही रहेगा। यदि हमारे मन मे पागल व्यक्ति के प्रति सहानुभूति का भाव जगा, तो करुणानुभूति भी हो सकती है, पर यह मानसिक घृणा का विषय नही बन सकती। अब यदि कोई व्यभिचारी आचारणहीन व्यक्ति शराब के नशे मे गुच हुआ, होश न रहने के कारण, उस कीचड़ मे फँस जाता है, तो उसका कीचड से लत-पथ रूप मानसिक घृणा का विषय कहा जायगा, क्योकि उस व्यक्ति के दुराचरण के कारण वह हमारी मानसिक घृणा का पात्र बन जाता है। कीचड मे धँस जाने से विष्ठा आदि से भरा उसका रूप-स्वरूप शारीरिक ग्लानि भी पैदा करेगा, और यह वस्तुगत या शारीरिक ग्लानि सचारी रूप मे मानसिक घृणा को उत्तेजित करेगी। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति मैले-कुचैले कपडे पहने हो, तो उसके प्रति अधिक-से-अधिक शारीरिक ग्लानि ही उत्पन्न होगी। अब यदि हमे पता लगा कि वह व्यक्ति परले दर्जे का कंजूस है, लाखो रुपया जमीन मे गाडे रखता है, खाने-पहनने मे एक धेला भी नही लगाता, तो वह हमारी मानसिक घृणा का पात्र बन जायगा। उसका इस रूप में चित्रण ही रसानु-

भूति का विषय होगा। अत मानसिक जुगुप्सा या घृणा ही बीभत्स रस का स्थायी-भाव माना जा सकता है, शारीरिक या वस्तुगत स्थूल जुगुप्सा या ग्लानि नही।

बीभत्स रस के सम्बन्ध मे आरम्भ से अब तक भ्रान्त धारणाओ के कारण ही हमारे अनेक विद्वान् ग्लानि भाव और मानसिक घृणा के स्थायीभाव मे भेद नही समझ सके। संस्कृत-हिन्दी के अनेक आलोचको की भ्रांतियों के हजारो उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते है। एक आधुनिक आलोचक प्रो० शिवकुमार मिश्र ने वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यास 'मृगनयनी' मे रस-परिपाक पर विचार करते हुए कहा है—'बीभत्स रस की सुन्दर झाँकी हमे महमूद बघर्रा के प्रसग मे मिलती है। उसका दानवो के समान कलेवा करना आदि प्रसग बीभत्स रस की अवतारणा करते है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—"हा ! हा !! हा !!! हा !!! बघर्रा हँसा। हँसी के साथ ही केले के अधचबाये टुकडे फिककर दूर जा पडे। दरबारियों को वह हँसी ऐसी जान पडी जैसे धरती फट गई हो। जासूस बगले झाँकने लगे।'- -इस वर्णन मे बीभत्स रस के साथ ही साथ भयानक रस की भी सुन्दर झाँकी हमें मिलती है।"[1]

कहने की आवश्यकता नही कि यहाँ न बीभत्स रस का प्रसग है न भयानक रस का। यहाँ न तो बघर्रा ही हमारी घृणा का पात्र बनता है, और न बघर्रा से भयभीत होने वाले उसके दरबारी या जासूस हमे भयानक रस की अनुभूति कराते है। उनके भय से हमारा कोई वास्ता ही नही है। इतना अधिक और इस प्रकार खाने वाले बघर्रा के प्रति हल्की-सी अरुचि या अधचबाये टुकड़ो के फिकने से शारीरिक ग्लानि चाहे हमारे मन मे पैदा हो, तीव्र मानसिक घृणा नही जगती। उससे भयभीत तो कौन होगा ? वह वस्तुत हमारी हँसी का ही आलम्बन बनता है। अत यहाँ जुगुप्सा यदि थोड़ी-बहुत है, तो केवल ग्लानि भाव के रूप मे ही है, स्थायी भाव मानसिक जुगुप्सा के रूप में नही। यदि बघर्रा का चारित्रिक रूप अत्याचारी, विनाशी, व्यभिचारी आदि रूप मे प्रकट होता, तो अवश्य वह हमारी मानसिक घृणा का आलम्बन बनता। अत: बीभत्स-रस-सम्बन्धी परम्परागत स्थूल धारणा के प्रभाव से ही यहाँ आलोचना की त्रुटि पैदा हुई है। सम्भवत प्रो० मिश्र भी मास-मज्जा आदि घृणित पदार्थों को ही बीभत्स रस के उदाहरण के लिए 'मृगनयनी' मे ढूंढते रहे और उनके स्थान पर बघर्रा के कलेऊ-प्रसग को पाकर उसे ही बीभत्स रस मान लिया। इसी कारण 'मृगनयनी' मे सिकन्दर लोधी आदि के घृणित कृत्यों मे उन्हे बीभत्स रस अनुभव नहीं हुआ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रस-सिद्धान्त के बड़े मर्मज्ञ और समर्थक थे। यद्यपि उन्होने भी बीभत्स रस के सम्बन्ध मे परम्परागत दृष्टिकोण को ही मानने की भूल की है, जैसे, बीभत्स रस को उन्होंने भी युद्धवीर का अग मानकर उसके उदाहरण युद्ध-

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा और उनकी मृगनयनी (प्रो०शिवकुमार मिश्र), पृ० १७६।

भूमि मे ही दृढे है, बीभत्स रस के स्वरूप की नवीन मनोवैज्ञानिक प्रतिष्ठा करने का प्रयास उन्होने भी नही दिखाया, तथापि वे साहित्य मे बीभत्स रस के स्वरूप से भली-भाँति परिचित थे. इस बात का प्रमाण उनके 'रसात्मक बोध के विविध रूप' नामक निबन्ध की इन पक्तियो से मिलता है—'किसी सडी-गली दुर्गन्धयुक्त वस्तु के प्रत्यक्ष सामने आने पर हमारी सवेदना का जो क्षोभपूर्ण सकोच होगा वह तो स्थूल होगा पर किसी ऐसे घृणित आचरण वाले के प्रति जिसे देखते ही लोक-रुचि के विधान या आकुलता की भावना हमारे मन मे होगी, हमारी जुगुप्सा रसमयी होगी।'[१]

शुक्ल जी के इस कथन से प्रमाणित होता है कि वस्तुगत ग्लानि में उन्हें भी रसानुभूति प्रतीत नही हुई। वस्तुगत ग्लानि को उन्होने यहाँ स्पष्ट रूप से लौकिक अनुभूति माना है, जो व्यक्तिबद्ध दशा मे ही सम्भव होती है। हृदय की मुक्त दशा मे सम्भव न होने के कारण यह दुखात्मक ही कही जा सकती है, आनन्दात्मक नहीं।

स्थायी भाव विषयीगत होता है, विषयगत नहीं हमारे प्राचीन आचार्यों ने रस-सिद्धान्त को एक दृढ मनोवैज्ञानिक भाव-भूमि पर अधिष्ठित किया था। पर बीभत्स रस के सक्षिप्त निरूपण मे आचार्यो की दृष्टि इतनी वस्तुपरक या विषयगत हो गई कि उन्होने इसकी व्याख्या अत्यन्त स्थूल ढग से की है। रसको विषयगत मानना और विषयगत मानकर ही उसकी व्याख्या करना सस्कृत आचार्यो की मुख्य त्रुटि है। भट्ट लोल्लट और शकुक की रस-प्रक्रिया-सम्बन्धी व्याख्या से स्पष्ट है कि वे रस को विषयगत ही मानते थे। विषयीगत रस-मीमासा सर्व प्रथम भट्टनायक ने ही प्रस्तुत की। उसी ने रस-निष्पत्ति मे सामाजिक को सर्वाधिक महत्व दिया। वस्तुत रसानुभूति की समस्या कवि या सामाजिक की दृष्टि से ही सुलझ सकती है। स्थूल विषयगत दृष्टि के ही कारण आचार्यो ने मल-मास-रक्त-वसा-चर्म आदि घृणित समझे जाने वाले पदार्थो के दृश्यो को ही बीभत्सरस मान लिया, सामाजिक की दृष्टि से उसका विश्लेषण नही किया। रस-दृष्टि सामाजिक या पाठवगत ही होनी चाहिए। अँग्रेजी विद्वान् आई० ए० रिचर्ड्स ने भी काव्यगत अनुभूतियो से अभिप्राय पाठक की अनुभूतियाँ ही माना है।[२]

मानसिक घृणा का विकास ज्ञान-बोध से होता है : जुगुप्सा के जो दो रूप—१ स्थूल जुगुप्सा या ग्लानि तथा, २ मानसिक घृणा—ऊपर स्पष्ट किए है,

---

१ रस मीमासा, पृ० २७४।

२. "By the phrase—emotional element in literature, then, we will understand the power of literature to awaken emotion in us, who read emotional element in literature means the emotion of the reader

I A Richards

इन में प्रथम जुगुप्सा ही जन्मजात कही जा सकती है। बालक में मानसिक जुगुप्सा या घृणा का विकास ज्ञान-बोध के साथ ही सम्भव होता है। करुणा की तरह मानसिक घृणा भी समझ-बूझ आने पर, ऊँच-नीच, अपने-पराये, सुख-दुःख, नीति-धर्म, पाप-पुण्य के ज्ञान से ही सम्बन्ध रखती है। दुर्गन्ध-युक्त सड़े-गले आहार से जो विशेष प्रकार का क्षोभ घ्राणेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय में होता है, उसकी अनुभूति जो कभी-कभी वमनेच्छा या मतली के रूप में होती है—घृणा की प्रवृत्ति का मूल है। आगे चलकर अन्तःकरण में प्रत्यय या भावना का विधान हो जाने पर ऐसे पदार्थों के दर्शन और स्पर्श तथा श्रवण-मात्र से भी घृणा जाग्रत होने लगी। इस प्रकार क्रमशः जुगुप्सा के 'भाव' का विधान हुआ। भाव-योजना के सहारे मनुष्य गंदे और मैले कुचैले लोगों से नहीं, बल्कि मलिन अन्तःकरण वाले पापियों से घृणा करने लगा।[1] ग्लानि या स्थूल जुगुप्सा मूल प्रवृत्ति है, संदेह नहीं, पर पाठक को रसानुभूति कराने की क्षमता न होने के कारण, उसे स्थायीभाव नहीं माना जा सकता। उपर्युक्त विवेचन से यह भी सिद्ध हुआ कि स्थायी भाव घृणा (मानसिक घृणा) का आचार-तत्त्व या नीति से घनिष्ट सम्बन्ध है। हम पाप-पुण्य, अच्छाई-बुराई का निर्णय आचार-तत्त्व या नीति के ही आधार पर करते हैं। अतः काव्यगत घृणानुभूति या बीभत्स रस का नैतिक आधार अत्यन्त प्रबल है। हम आगे बीभत्स रस की समाजोपयोगिता और उदात्तता पर विस्तार-पूर्वक विचार करेंगे, यहाँ यही बताना अभीष्ट है कि शारीरिक ग्लानि में नैतिक उदात्तता का अभाव होने से वह स्थायी भाव की कोटि में नहीं आ सकती। मानसिक घृणा में ही उदात्तता होती है।

स्थायी भाव का सम्बन्ध हृदय-धर्म से है, देह-धर्म से नहीं—प्राचीन नाट्यकारों ने रंगमंच पर स्थूल विषयों को दिखाने की जो वर्जना की हुई थी, उसका अभिप्राय भी यही था कि भोजन, चुम्बन, आलिंगन आदि स्थूल शारीरिक विषयों में कला का विशेष उत्कर्ष सिद्ध नहीं होता। साहित्य-कला तो सोलह आने हृदय-धर्म की वस्तु है। यह तो कोई नहीं कह सकता कि नाट्यशास्त्रकारों को खाने-पीने या रति-सुख से घृणा थी। देह-धर्म के अनुसार इन वस्तुओं के प्रति स्वाभाविक आकर्षण तो रहेगा ही, पर वैसी घटनाएँ और वैसे आकर्षण कला का विषय नहीं हो सकते। इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि मांस-मज्जा, लहू, कृमि, सड़ाँध आदि देह-धर्म के विकर्षण के विषय तो रहेंगे ही, पर इन स्थूल शारीरिक विषयों को हृदय-धर्म से विशेष सम्बन्ध न होने के कारण रस का विषय नहीं माना जा सकता।

वस्तुगत ग्लानि सापेक्षिक अनुभूति है : रक्त-मांस-मज्जा आदि के देखने-मात्र से सब को ग्लानि उत्पन्न होना अनिवार्य नहीं है। एक वैष्णव को रक्त-मांस के देखने से ग्लानि हो सकती है, किन्तु एक मांसाहारी को ग्लानि होना सम्भव नहीं है। यदि

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'रस मीमांसा' पृ० १६२ (द्वितीय संस्करण सं० २०११)।

एक सर्जन रक्त-मास, पीप आदि को देखकर ही वमन करने लगे तो वह सर्जन कहाँ रहेगा ? इस सम्बन्ध मे काका कालेलकर के विचार उद्धरणीय हैं—जो आदमी युद्ध करते जाय, उसमें खून, मास और शरीर के छिन्न-भिन्न अवयवो को देखने की आदत तो होनी ही चाहिए। शल्य-क्रिया करने वाले डाक्टरो मे भी इस शक्ति का होना आवश्यक है। समझ मे नही आता कि खून की धार को देखकर कुछ लोगो को चक्कर क्यों आ जाता है ? खुद मुझे मास कटता देख या शल्य-क्रिया देखते समय किसी किस्म की बेचैनी महसूस नही होती।[१]

यद्यपि दुर्गन्धपूर्ण जघन्य पदार्थों के दर्शन से ग्लानि उत्पन्न होना स्वाभाविक है, पर काका साहब के उपर्युक्त कथन से मास-रुधिर में ही बीभत्स रस ढूढने वालो का खण्डन स्पष्ट है।

श्री बेचन शर्मा 'उग्र' के 'महात्मा ईसा' नामक नाटक से एक और तथ्य का उद्घाटन करने वाला उदाहरण प्रस्तुत करते है। रक्त, पीप आदि मे ही बीभत्स रस देखने वालों को ईसा द्वारा कोढ़ियों के उपचार-कार्य का प्रसग पढना चाहिए। एक कोढ़ी महात्मा ईसा के सम्मुख अपना कष्ट प्रकट करता हुआ कहता है— भैया ! जान पड़ता है, इस ओर पीव बह रही है। वहाँ तक मेरा हाथ नही पहुँच रहा है। बगल वाले घाव मे भी कीडे पड़ गए है ! आह ! हाय ! (रोने लगता है)

ईसा—अरे भाई ! तुम रोते क्यो हो ? चुपचाप पडे रहो। मै तुम्हारा रक्त, पीव पोंछ देता हूँ न ! (अपने कुरते से उसकी पीप पोछ और दवा लगाकर) कहो ! अभी कीडे कष्ट देते है ?[२]

सहृदय देखे कि इस प्रसग का बीभत्स रस से दूर का भी सम्बन्ध नही है। यहाँ पीप, कीडे (कृमि) 'उद्वेगी जुगुप्सा' नही जगाते, बल्कि इन (कृमि, पीव) से ग्रस्त प्राणी भी हमारी सहानुभूति और करुणा का आलम्बन बनता है। यदि कृमि, पीव, रक्त आदि से सर्वत्र घृणा ही उत्पन्न होती, तो डाक्टर या चिकित्सक बीमारो और अपाहिजो को अपने पास तक फटकने न देते। अतः रक्त-मास, पीव, कृमि आदि अपने मे सर्वत्र घृणा पैदा नहीं कर सकते।

स्थूल विषयो में तीव्रता भी उतनी नही होती जितनी मानसिक विषयो मे होती है। किन्तु जब-कही स्थूल विषयो का सम्बन्ध मानसिक विषयों से हो जाता है, तो घृणा मे तीव्रता आ जाती है। महात्मा ईसा नाटक में ही एलाजार अपनी स्वार्थी, खुशामदी तथा पेटू वृत्ति के कारण हमारी घृणा का आलम्बन बना हुआ है। इसके साथ ही जब वह चूहे को चबा जाने की बात सुनाता है, तो यह स्थूल

---

१. काका साहब कालेलकर : 'जीवन साहित्य' निबन्धसंग्रह का 'रसमीमासा' लेख।

२ महात्मा ईसा द्वितीय अक पृ ९९ १००

जुगुप्सा का स्थूल विषय भी मार्मिक बन जाता है। पेट के लिए कोई भी कुकर्म करने वाला एलाजार सुनाता है—एक चूहा मेरी थाली मे मुँह डालकर खाने लगा। ···मैंने क्या समझा, कोई मछली गलती से थाली के बाहर गिर गई है। बस, यह विचार आते ही झपट कर मैंने उसे पकड़ ही तो लिया और बिना किसी प्रकार का विलम्ब किए उसका आधा हिस्सा मुँह मे डाल कर काटना चाहा। ···ज्यों ही मेरे दाँत उसकी पीठ पर पड़े, वह चीख उठा और उसी मुख-मन्दिर मे ही लगा प्रार्थना करने। मगर, खाने की जल्दी मे फिर भी मैं उसे चूहा न समझ सका।[1]

अभी मानव-जाति ने चूहे-बिल्ली खाना शुरू नही किया है, अत. इनको भोज्य बनाना ग्लानिकारक ही है। कच्चा चबाना तो पैशाचिक कार्य ही है। मानव जाति के सास्कृतिक विकास (?) मे यदि कभी चूहे-बिल्ली को खा जाना, कच्चा भी चबा जाना सम्भव हुआ, तब इस प्रकार के स्थूल विषयो से भी वैसे ही ग्लानि पैदा नही होगी, जैसे आज अपनी मेज़ पर ही किसी को मास खाते देखकर हम घिन नही करते।

ये स्थूल तथा मानसिक विषय परिस्थिति एव प्रवृत्ति के परिवर्तित रूपों के अनुसार भिन्न-भिन्न भावों का विषय बनते है। यदि कोई भूख से दम तोडता हुआ मनुष्य चूहे या बिल्ली को भून कर खाने से अपनी जान बचाता है, तो उसका यह कार्य हमारे लिए ग्लानि भी उत्पन्न नही करेगा, क्योंकि मानव के प्राण हमें अधिक प्रिय है।

बीभत्सता और बीभत्स रस विद्वानों को काव्य में जहाँ-कही मास-रक्त-मज्जा, कबंध आदि का वर्णन मिला है, वही वीभत्स रस का उदाहरण मानने की उन्होने भूल की है। वास्तव मे ऐसे प्रसगो पर या तो ग्लानि भी पैदा ही नही होती, और यदि कही पैदा होती भी है, तो वह सचारी भाव के रूप मे ही आती है—कही वीर का सचारी बनकर, कही शातरस के सचारी-रूप मे।

वास्तव मे विद्वानो ने बीभत्सता को ही बीभत्सरस मानने की भूल की है। कोई दृश्य बीभत्स हो सकता है, अर्थात् बुरा-भद्दा या सड़ाधयुक्त हो सकता है, पर यह आवश्यक नही कि वह बीभत्सरस की अनुभूति कराये। रक्त और मांस मे ही बीभत्सता, बल्कि बीभत्सरस—बताने की प्रवृत्ति से प्रभावित होकर ही डा० रामकुमार वर्मा ने प्रेम-काव्य में रस पर विचार करते हुए कहा है—प्रेम-काव्य के वियोग श्रृंगार में कही-कही बीभत्स चित्रावली के भी दर्शन हो जाते है। इसका कारण सम्भवतः यह हो कि मसनवी की प्रेम-पद्धति मे विरह-वर्णन कोमल न होकर भीषण हुआ करता है। मांस और रक्त का वर्णन तो विरह-वर्णन मे अवश्य ही रहता है। हिन्दू दृष्टिकोण मे श्रृंगार रस के स्थायीभाव रति से मास और रक्त की भावना का सामजस्य हो ही नही

---

१ वही, द्वितीय अक, नवम् दृश्य, पृ० ११७।

सकता। अतः शास्त्रीय दृष्टिकोण से प्रेम-काव्य में रस-दोष आ जाता है। शत्रु और मित्र रस समान रूप से साथ प्रस्तुत किये जाते है।"[1]

सूफी वियोग-वर्णन में रक्त-मांस में बीभत्सरस कैसे प्रकट हो गया, यह बहुत सोचने पर भी हमारी समझ में नही आ सका। बीभत्सता तक ही बात रहती, तो भी था, बीभत्सरस की बात करना सर्वथा अयुक्त है। एक और विद्वान्द्वय की भ्रांति देखिए "प्रेम की पीर वाले सूफी संत सयोग और वियोग के चित्रण मे परम दक्ष थे, परन्तु यह अभिप्राय कदापि नही कि वे अन्य रसो की योजना मे असमर्थ न थे। युद्ध की भीषणता के बीच भारतीय कवि-परम्परा गिद्ध, शृगाल, कौए आदि के रूप मे जुगुप्सात्मक योजनाये करने की अभ्यस्त है और ये दृश्य प्रासगिक होने के कारण स्वाभाविक लगते है। जायसी का चित्रण देखिए—

आनन्द ब्याह करहिं मस खावा। अब भख जनम-जनम कह पावा॥
चौसठ जोगिन खप्पर पूरा। बिग जबुक घर बाजहि तूरा॥
गिद्ध चील सब मडप छावहिं। काग कलोल करहि औ गावहिं॥[2]

सहृदय विद्वान् देखे कि ऐसे प्रसगो मे बीभत्स रस की क्या अनुभूति हुई ? हमे तो यहा रस नाम की कोई वस्तु दिखाई नही देती। इस वर्णन को पढकर हमे तो स्थूल शारीरिक ग्लानि का भी अनुभव नही होता। न जाने इतिवृत्तात्मक वर्णन की यह परम्परा काव्य मे क्यों चल पडी। वस्तुत यह उसी प्रकार सार्थक अथवा निरर्थक है, जैसे प्रबन्ध काव्यो मे वस्तुवर्णन की अन्य शुष्क पद्धति, जैसे, घोडो की जातियो के नाम गिनाना, पेडो की गिनती करना या विवाह-बारात के शुष्क वर्णन।

एक और उदाहरण देकर हम यह प्रसग समाप्त करेगे। बाबू गुलाबराय ने अपनी पुस्तक 'नवरस' मे वर्षा ऋतु की महिमा का गान किया है। वर्षा ऋतु मे सब रसो के आयोजन को स्वीकार करते हुए वे वर्षा के कीच, कूडा-कर्कट आदि में बीभत्स रस का अनुभव करते है।[3] बीभत्सरस का यह प्रतिपादन कितना हास्यास्पद हो गया है, देखिए। उनका कथन है, इस विश्ववैचित्र्य मे पाप-पुण्य, दिन-रात, भले-बुरे सभी को स्थान है। पावस-ऋतु मे जहाँ अन्य रसों की सामग्री का अभाव नही, वर्षा मे प्राकृतिक शोभा के साथ कूड़ा-करकट, दुर्गन्धित-पंकाकीर्ण मार्ग, सड़े-गले पदार्थ एव विशूचिकादि रोग, सब बीभत्स रस के उत्तेजक है। विशूचिकादि रोग भी इसी ऋतु मे होते हैं। बेनि कवि का लखनऊ की कीच का हास्य एव बीभत्समय वर्णन देखिए—

---

१. डा० रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (द्वितीय संस्करण १९५७ ई०), पृ० ४५५।

२ डा० विपिनबिहारी त्रिवेदी तथा डा० उषा गुप्त : काव्य विवेचन (जनवरी १९६१), पृ० १५५-१५६।

३ देखिये नवरस (द्वितीय १९३४) पृ० ३३६

गडि जात बाजी औ गयन्द गन अड़ि जात
सुतुर अकडि जात मुसकिल गऊ की।
दावन उठाय पाय धोखे जो धरत होत
आप गरकाय रहिजात पाग मऊ की॥
'बेनी' कवि कहै देखि थरथर कापे गात
रथन के पथ ना विपद बरदऊ की।
वार-बार कहत पुकार करतार तो सो,
मीच है कबूल, पै न कीच लखनऊ की॥

आश्चर्य है कि विद्वान् लेखक परम्परा के धोखे मे आकर कितनी भ्रातिपूर्ण बात कह गए! कीचादि मे बीभत्स रस की अनुभूति इन्होंने कैसे प्राप्त कर ली! ऐसा कीचादि का दृश्य 'बीभत्स' या 'बीभत्समय' तो हो सकता है, पर इससे बीभत्स रस की अनुभूति बताना सर्वथा अनुचित है।

ग्लानि या घृणा संचारी को स्थायी भाव मानने की भ्राति. विद्वानो द्वारा स्थूल शारीरिक ग्लानि या केवल रक्त-मास को ही बीभत्स रस का विषय मान लेने की उपर्युक्त भ्राति के अतिरिक्त दूसरी भ्राति घृणा सचारी को ही बीभत्स रस बताना है। केवल बीभत्स के ही नही, यह भ्राति अन्य रसों के प्रकाशन में भी पाई जाती है। सचारी भाव स्थायी भाव की ही पुष्टि के हेतु आते है। बहुत-से विद्वान् सचारी भाव को ही रस-दशा मे स्थायी भाव गिनाने लगते है। डा० बरसाने लाल चतुर्वेदी ने भी अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी साहित्य मे हास्यरस' में हास्यरस के उदाहरण जुटाने के मोह मे सचारी भावगत हास्य को ही रसदशा के हास्य का उदाहरण मान लिया है। जायसी के 'पद्मावत' से रत्नसेन-पद्मावती के प्रथम-मिलन का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए वे कहते है—'जायसी के पद्मावती-रत्नसेन के प्रथम-मिलन (मधुचन्द्र) प्रसग में हास्य की अच्छी योजना हुई है। रत्नसेन की मिन्नते सुनकर पद्मावती कह उठती है[1]—

'ओ हटि दूर जोग तेरी चेरी। आवै बास कुरकुटा केरी॥
हौ रानी तू जोगी भिखारी। जोगिहि भोगिहि कौन चिन्हारी॥

इस सम्बन्ध मे हमारा नम्र निवेदन है कि उपर्युक्त प्रसंग मे वास्तविक रससृष्टि शृगार की ही हुई है। दम्पति का हास-परिहास केवल सचारी भाव के रूप मे ही यहाँ प्रकट हुआ है। वह अपने मे स्वतन्त्र नही है। अत: यह हास्य रस का उदाहरण नही माना जा सकता। इसी प्रकार साकेत मे उर्मिला-लक्ष्मण के सयोग-अन्तर्गत जो हास-परिहास है, वह भी शृगार रस के संचारी-रूप मे ही प्रकट हुआ है, स्वतंत्र हास्य-रस के रूप मे नही। अत ऐसे प्रसगों को हास्य रस के उदाहरण बताना उचित नही।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, कतिपय विद्वानो ने बीभत्स रस के बहुत-

---

१ डा० चतुर्वेदी हिन्दी साहित्य में हास्य रस पृ० ६७

मे उदाहरण ऐसे दिए है, जो वास्तव मे शात रस अथवा वीर या रौद्र रस के उदाहरण हैं, और घृणा सचारी भाव को ही प्रकट करते है। बीभत्स रस को युद्धभूमि या श्मशान अथवा कचन-कामिनी से ही सम्बद्ध करने के कारण उसका स्वतन्त्र रूप लुप्त-सा ही रह गया है। कई विद्वानों ने 'वीर रस के ख्यातनामा कवि भूषण का बीभत्स रस-सम्बन्धी छन्द'[1] यह प्रस्तुत किया है—

भूप सिवराज कोप करि रन मडल मैं,
　　खग गहि कूद्यो चकता के दरबारे मैं।
काटे भट विकट रु गजन के सु ँड काटे,
　　पाटे उर भूमि काटे दुवन सितारे मैं॥
भूषण भनत चैन उपजै सिवा के चित्त
　　चौसठ नचाई जबै रेवा के किनारे मैं।
आतन की तात बाजी ख्याल की मृदग बाजी,
　　खोपरी की ताल पशुपाल के अखारे मैं॥

यहाँ बीभत्स रस की अनुभूति कौन सहृदय करेगा? यह स्पष्ट रूप से वीर रस या रौद्र रस का प्रसग है। बीभत्स रस को केवल युद्धभूमि के लहू, मास, हड्डियो से ही सम्बद्ध रखने की प्रवृत्ति बहुत-से अधुनातम समीक्षकों में भी ज्यों-की-त्यों दिखाई देती है। बीभत्स रस को वीर रस का सहायक ही मानकर उसकी अवस्थिति का अवलोकन करने वालोंमे डा० गोबिन्दराम शर्मा का भी उल्लेख किया जा सकता है। आपने अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य' मे बीभत्स रस का अवलोकन इसी दृष्टि से किया है। जहाँ युद्ध-वर्णन है, युद्ध-भूमि में लहू, मांस-मज्जा, रुड-मुण्ड का दृश्य है, वही वे बीभत्स रस बताते गए हैं और सर्वत्र उसे वीर रस के सहायक-रूप मे आया मानते रहे है। जिन काव्यों मे उक्त युद्ध-दृश्य नही मिले है, वहाँ बीभत्स रस उन्हे प्रतीत ही नहीं हुआ। जहाँ मास-मज्जा आदि नही है, उन महाकाव्यो से बीभत्स रस के उदाहरण ही नही दिए गए।

"पृथ्वीराजरासो" का महाकाव्यत्व-विवेचन प्रस्तुत करते हुए उन्होने रस-व्यजना की दृष्टि से जब विचार किया है, तो कहा है—'पृथ्वीराज रासो' एक युद्ध-प्रधान महाकाव्य है। इसलिए वीररस की इस मे प्रधानता है।.......वीररस के साथ-साथ रौद्र और बीभत्स रस को भी सहायक रसो के रूप मे स्थान मिला है। युद्ध-वर्णनों मे वीररस के साथ रौद्र और बीभत्स का अच्छा समिश्रण पाया जाता है। युद्ध-भूमि मे भूत-प्रेतों का रुधिर पीना, गीधों का चिल्लाना, कबधों से रुधिर का बहना आदि दृश्यो के वर्णन मे बीभत्स की अभिव्यजना पाई जाती है।[2]

---

१. डा० विपिनबिहारी त्रिवेदी तथा डा० उषा गुप्त : काव्य विवेचन, पृ० १५८।

२ डा० गोबिन्दराम शर्मा हिन्दी के आधुनिक　　(प्रथम　　) पृ० ७१

खेद है कि बीभत्स रस के प्रति स्वतन्त्र दृष्टिकोण का अभाव प्राय: सभी विचारकों में रहा है। साकेत में भी रस-भाव-व्यजना पर विचार करते हुए विद्वान् लेखक ने यही भूल की है। उनका कथन है—'साकेत मे युद्धो का वर्णन परोक्ष रूप से हुआ है, फिर भी उसमे पर्याप्त सजीवता वर्तमान है। ऐसे स्थलों पर वीररस के सहायक के रूप मे रौद्र और बीभत्स का निर्वाह भी अच्छा हुआ है। बीभत्स रस की छटा ऐसी पक्तियों मे दिखाई देती है—

"दल-बादल भिड गये, धरा धँस चली धमक से,
भड़क उठा क्षय कड़क तडक से, चमक दमक से।
रणभेरी की गमक, सुभट नट-से फिरते थे।
ताल-ताल पर रुण्ड-मुण्ड उठते गिरते थे।
... .आदि ॥"

'साकेत के युद्ध-वर्णन मे ओजभरे शब्दो की ध्वनि भी वीर, रौद्र तथा बीभत्स रस के वेग को तीव्रता प्रदान करती है।[1]

उपर्युक्त पक्तियो मे बीभत्स रस बताना हास्यास्पद नही तो और क्या है? क्या रुण्ड-मुण्डो का गिरना, वक्ष-कध आदि का छिन्न-भिन्न होना जुगुप्सा उत्पन्न करता है? मजे की बात यह है कि इस जुगुप्सा या बीभत्स रस को वीर रस का सहायक बताया गया है। जब इस दृश्य से अरुचि उत्पन्न हो गई, तो वीररस-परिपाक मे सहायता कैसे मिली? इसे परम्परा का अन्धानुकरण नही तो और क्या कहा जाय? वास्तव मे युद्ध के इस भीषण रूप से तो वीरता की भावना ही तीव्र होती है। नर-रुण्ड-मुण्डो को गिरते देख कर भी वीरो मे उत्तेजना आती है। यदि कोई वीर इस दृश्य को देख कर अरुचि प्रकट करने लगे, युद्ध से मुँह मोडने लगे, तो उसकी वीरता की हत्या ही न हो जायगी? इसी प्रकार यदि सामाजिक के मन मे यह भावना जगी कि ओह! बहुत बुरा हुआ, इन्हें इस तरह मार-काट नही करनी चाहिए। इनका यह कार्य बडा घृणित है, तो पाठक या दर्शक की वीर-अनुभूति ही कहाँ रह जायगी? जो पाठक वीरो की वीरता से आनन्दित हो रहा है, उसके मन में घृणा का भाव जगेगा तो किसके प्रति? यदि यह कहा जाय कि युद्ध का यह दृश्य अपने मे अरुचिकर है, तो भी मानते नही बनता। वीरता की अनुभूति और वीर-भाव-प्रदर्शन मे शत्रु-पक्ष का सहार अवश्यभावी है, और वाछित भी। वीर तो स्वपक्ष की हानि की भी परवाह नही किया करता। अत. ऐसे उद्धरणो में बीभत्स रस मानना आलोचना की एक बडी त्रुटि है। यहाँ बीभत्स रस किसी प्रकार नहीं माना जा सकता। इस त्रुटि का एक-मात्र कारण वही परम्परागत धारणा है, कि जहाँ-कही रुण्ड-मुण्ड, रुधिर आदि का वर्णन देखो, वही बीभत्स रस कह डालो। यदि कही दो व्यक्ति क्रोध से

---

१ वही पृ० २२० २२१

अन्धे होकर, अकारण ही, या किसी तुच्छ बात के कारण एक-दूसरे का सिर फोड़ने लगे, तो वहाँ तो उनके प्रति निन्दा या तिरस्कार अथवा घृणा का भाव जगेगा, किन्तु जब वीर लक्ष्मण सेनासहित शत्रुओं में घुस कर नर-संहार करता है, और उभय पक्ष मतवाले होकर मारने-काटने लगते हैं, तो तिरस्कार का भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः यहाँ वीर और रौद्र रस का प्रसंग मानना ही युक्तियुक्त है, बीभत्स का नहीं।

इस प्रसंग में अहिंसावादी नीति के समर्थक काका साहब कालेलकर के विचार प्रस्तुत करना आवश्यक है। उनका कथन है—'शत्रु के मर जाने के बाद उसकी देह को लात मारना, उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े करना, उसके आश्रितों को सताना, उनकी स्त्रियों को अपना बनाना, यह एक आर्यवीर के लिए शोभा देने वाला नहीं है। वीर पुरुषों ने यह देख लिया था कि इस तरह के बर्ताव से मरे हुए शत्रु का अपमान नहीं होता, बल्कि अपने वीरत्व को ही बट्टा लगता है। सिर्फ हिम्मत और सरफरोशी वीररस नहीं है, और शत्रु का बेरहमी से अंग-भंग करने में, उसके आश्रितों की बेइज्जती करने में वैर-वृत्ति की तृप्ति भले ही हो, लेकिन उसमें न शूरता है, न वीरता, फिर आर्यता कहाँ से होगी?" ····"जो आदमी युद्ध करने जाय, उसमें खून-मांस और शरीर के छिन्न-भिन्न अवयवों को देखने की आदत तो होनी ही चाहिए। ···· ··समझ में नहीं आता कि खून की धार को देख कर कुछ लोगों को चक्कर क्यों आ जाता है? खुद मुझे मांस कटता देख या शल्य-क्रिया देखते समय किसी किस्म की बेचैनी महसूस नहीं होती। फिर भी जब मैं वीररस के वर्णन के सिलसिले में रण-नदी के वर्णन पढ़ता हूँ तब उसमें से बगैर जुगुप्सा के दूसरा भाव पैदा नहीं होता। यह तो मैं समझ ही नहीं सकता कि खून के कीचड़ और उसमें उतराते हुए नर-मुण्डों के वर्णन से वीर रस को किस तरह पोषण मिलता है। युद्ध में जो प्रसंग अनिवार्य है, उनमें से मनुष्य भले ही गुजरे, लेकिन जुगुप्सा पैदा करने वाले प्रसंगों का रसपूर्ण वर्णन करके उसी में आनन्द मानने वाले लोगों की वृत्ति को विकृत ही कहना चाहिए। मनुष्य को खम्भे से बाँधकर, उस पर कोलतार का अभिषेक कराके उसे जला देने वाले और उसकी प्राणान्तक चीखें सुनकर सन्तुष्ट होने वाले बादशाह नीरो की बिरादरी में हम अपना शुमार क्यों करायें?"[१]

शत्रु के मृतक शरीरों, कबन्धों, रुण्डादि में शोणित की नदी दिखाना, तथा पिशाचों द्वारा रक्तपान आदि के वर्णन वीर रस के पोषक माने जायें या नहीं, काका साहब के उपर्युक्त कथन ने हमें इस पर पुनः विचार करने के लिए बाध्य कर दिया है। पर उनके कथन से अनजाने ही जो एक बात सिद्ध हुई है, पहले उस पर प्रकाश डालना आवश्यक है। उन्होंने अपने उपर्युक्त कथन से स्पष्ट स्वीकार किया है कि क्रूर

---

१ काका साहब कालेलकर जीवन साहित्य संग्रह के रस समीक्षा लेख से उधृत

कर्मों के प्रति जुगुप्सा का भाव जगता है, और वह जुगुप्सा खूनादि के देखने से उत्पन्न होने वाली ग्लानि नही है, बल्कि मानसिक जुगुप्सा है, नफरत है । इस प्रकार उन्होने एक तरह से स्थूल शारीरिक ग्लानि का खण्डन करके, मानसिक जुगुप्सा का पक्ष ही बीभत्स रस मे स्वीकार किया है । रही पहली बात, उसके सम्बन्ध मे हमारा नम्र निवेदन है कि क्रूर कर्मों के प्रति तो घृणा अवश्य जगेगी, परन्तु यदि शत्रु अत्याचारी, दुष्ट, अनाचारी और अधर्मी है, तो उसकी यह अन्तिम परिणति अर्थात् स्वाभाविक मार-काट (क्रूर कर्म नही) वीर या रौद्र रस की पोषक ही सिद्ध होगी । हाँ, यदि कलिंग पर अशोक की विजय का वर्णन है और निरीह प्राणियो का अकारण वध और रक्तपात हुआ है, तो ऐसे प्रसगो मे शोणित-कीच का वर्णन बीभत्स रस का विषय अवश्य होगा, क्योकि मानवता का यह पाशविक संहार हमारी घृणा और जुगुप्सा को ही जगायेगा । वास्तव मे यह सब कवि की अनुभूति पर निर्भर करता है, यदि वह वीरकर्म को गौरव देना चाहता है, तो मार-काट से वीररस का पोषण अवश्य होगा । यदि उसकी प्रतिक्रिया विपरीत हुई, तो पाठक भी वैसा ही अनुभव करेगा । सामान्य रूप से जो युद्ध के दृश्य प्रकट किये जाते है, उनमे शोणित आदि का वर्णन, कबन्धो का नाचना आदि वीर या रौद्र का पोषक ही प्रतीत होता है । वह इतना क्रूर कर्म नहीं बनता कि वीर रस के स्थान पर वीर या वीरकर्म के प्रति ही घृणा जगाये ।

अब हम अपनी मूल बात पर आते है । यह तो सिद्ध हुआ कि ऐसे प्रसग बीभत्स रस का विषय तभी बन सकते है जबकि उनमे वीरकर्म, वीरता या आर्यता का कर्म न रह कर, क्रूर कर्म बन गया हो । अन्यथा उनसे वीर या रौद्र रस की ही पुष्टि होती है । तो प्रश्न उठता है कि इस पोषण मे जुगुप्सा सचारी कैसे और कहाँ हुआ ? वास्तव मे जुगुप्सा सचारी शत्रुओ के ही आलम्बनत्व से सिद्ध होगा । अत्याचारी और दुष्ट शत्रुओ के प्रति जो घृणा या जुगुप्सा का भाव हमारे मन में था, वही उनकी इस अन्तिम परिणति पर हमे परितुष्टि प्रदान करता हुआ वीररस का पोषण करता है । अत इस प्रकार घृणा सचारी का समावेश ऐसे प्रसगो मे रहता है । स्पष्ट है कि इस घृणा संचारी को स्थायीभाव नही माना जा सकता और इस प्रकार ऐसे प्रसगो मे बीभत्स रस की स्वतन्त्र सिद्धि मान्य नही हो सकती ।

यही बात शान्तरस के प्रसग मे कही जा सकती है । सत काव्य पर रस की दृष्टि से विचार करते हुए डा० रामकुमार वर्मा कहते है—"कुछ स्थानो पर बीभत्स रस भी है । जहाँ सुन्दरदास स्त्री के शरीर का बीभत्स वर्णन करते है, वहाँ जुगुप्सा प्रधान हो जाती है । 'कंचन और कामिनी' शीर्षक अग मे अनेक स्थानो पर बीभत्सता है ।[1]

स्पष्ट है कि यहाँ डा० रामकुमार वर्मा ने शान्त के सहायक घृणा भाव को

---

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ४ ४ ४२५ (द्वितीय सस्करण)

ही बीभत्स रस मान लिया है। ऐसे बहुत से उदाहरण, जो आचार्यों ने बीभत्स रस के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किए है, वस्तुत शान्त रस के ही उदाहरण है। उनमे घृणा भाव सचारी भाव बन कर ही आया है। पद्माकर के निम्न छन्द मे जुगुप्सा सचारी ही है, अत उसे बीभत्स रस का उदाहरण नही माना जा सकता—

> आवत गलानि जौ बखान करौ ज्यादा वह
>
> मादा-मल-मूत औ मज्जा की सलीती है।
>
> कहै पद्माकर जरा तो जागि भीजी तब,
>
> छीजी दिन-रैन जैस रैनु ही की भीति है।
>
> सीतापति राम मैं सनेह यदि पूरो कियौ,
>
> तौ-तौ दिव्य देह जग-जातना मौ जीती है।
>
> रीनी राम-नाम नैं रही जो बिना काम वह,
>
> खारिज खराब हाल खाल की खलीती है ॥

यहाँ सचारी-रूप मे भी शारीरिक जुगुप्सा अर्थात् ग्लानि ही प्रकट हुई है। यदि यहा देवता-विषयक रति या शान्तरस का उल्लेख न भी होता तो भी मानसिक घृणा के अभाव मे बीभत्स रस की अनुभूति मान्य न होती। अत घृणा संचारी भाव भी बीभत्स रस का स्वतन्त्र विषय नही माना जा सकता।

आत्मग्लानि घृणा का ही रूप ' शुक्ल जी ने अपने निबन्ध 'लज्जा या ग्लानि' मे ग्लानि पर विचार करते हुए केवल 'आत्मग्लानि' को ही ध्यान मे रखा है। ग्लानि के इस मानसिक रूप को मै बीभत्स रस का ही विषय मानता हूँ। आत्मग्लानि आत्म-निन्दा का ही रूप है, जिसमे मनुष्य अपने कुकृत्य पर पश्चात्ताप करता है, अपने कुकृत्य से घृणा करता है। शुक्ल जी का भी कथन है—ग्लानि (आत्मग्लानि) अन्त करण की शुद्धि का एक विधान है, इससे उसके उद्‌गार मे अपने दोष-अपराध, तुच्छता, बुराई इत्यादि का लोग दुख से या सुख से कथन भी करते है—उसमें दुराव या छिपाव की प्रवृत्ति नही रहती। ''हम बुरे है' जब तक हम यह न समझेंगे, तब तक अच्छे नही हो सकते।'[1] 'उत्तमकोटि के मनुष्यो को अपने दुष्कर्म पर ग्लानि होती है और मध्यम कोटि के मनुष्यो को अपने दुष्कर्म के किसी कडुए फल पर।'[2] आत्म-ग्लानि के रूप मे घृणा का प्रसार काव्य मे प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है। व्यक्ति-चरित्रों में परिवर्तन के अनेक उदाहरण इसी का परिणाम होते है। यही नही, आत्म-ग्लानि और आत्मभर्त्सना के रूप मे यहाँ तक बीभत्स रस देखा जाता है कि आश्रय अपने कृत्य के प्रति घृणा से भरकर आत्मघात तक कर लेता है। लोक-लाज भी इस प्रकार के आत्मघात मे कारण होती है, पर स्वग्लानि मे अपने ऊपर या अपने

---

१ चिन्तामणि (भाग १) पृ० ५८-५९।

२ वही पृ० ६२

कृत्य पर घृणा जगना शुद्ध बीभत्स रस का ही विषय है। अत आत्मग्लानि के भाव को मानसिक घृणा—स्थायीभाव घृणा—मानना ही उचित है।

क्या भरत की आत्म-ग्लानि बीभत्स रस का विषय है ? : इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है। जैसा कि कहा जा चुका है, बीभत्स रस का स्थायीभाव कहलाने वाली आत्मग्लानि वही होगी, जहाँ काव्यगत आश्रय अपने दुष्कर्म पर पश्चात्ताप करेगा। क्योंकि उसे अपने दुष्कर्म पर पश्चात्ताप करते देखकर ही हम उसकी तद्गत अनुभूति प्राप्त कर सकेंगे। भरत की आत्मग्लानि रति स्थायीभाव के सचारी रूप मे ही प्रकट हुई है, क्योंकि भरत अपने भ्रातृप्रेम के कारण ही अपने को धिक्कारता है। फिर पाठक या सहृदय जानता है कि उसने कोई पाप-कर्म नही किया। अत वह (भरत) या उसका कार्य पाठक की घृणा का आलम्बन बनते ही नही। जब भरत अपने को फटकारता है, तो उससे उसका भ्रातृ-प्रेम ही पुष्ट होता है। अत: भरत की आत्म-ग्लानि बीभत्स रस का विषय नही मानी जा सकती। हाँ, आलम्बन-भेद से भरत की ग्लानि अवश्य बीभत्स रस का विषय मानी जा सकती है, अर्थात् अपनी माता के कुकृत्य पर भरत ग्लानि या घृणा का जो अनुभव करता है, वह अवश्य बीभत्स रस का स्थायीभाव होने से बीभत्स रस की अनुभूति कराता है। पर 'साकेत' मे यह बात भी सिद्ध नही होती, क्योंकि साकेतकार ने कैकेयी के घृणित कार्य को वात्सल्य का पुट देकर घृणित नही रहने दिया। पाठक के सामने कैकेयी को घृणित पात्र के रूप मे प्रकट करना साकेतकार को अभीष्ट नही है।

आत्मग्लानि के रूप मे घृणा स्थायीभाव से बीभत्स रस के अनेक उदाहरण हमने आगे प्रकट किये है। यहाँ एक उदाहरण पर्याप्त होगा। श्री धर्मवीर भारती की 'हरिनाकुस और उसका बेटा' कहानी मे चौधरी जल्लाद पहले अपने घृणित पेशे मे ही मग्न है। उसका निष्ठुर जल्लाद का रूप घृणोत्पादक है। वह अपनी मरती हुई पत्नी की भी कोई परवाह नही करता। सहानुभूति और करुणा का प्रत्येक कण उसकी आँखो से सूख चुका है। अपने पुत्र के प्रति भी वह निष्ठुरता का व्यवहार करता है, उसे कुतिया का बच्चा कहता है। वह अपने पुत्र को भी पहले जल्लाद बनते ही देखना चाहता है। किन्तु एक बार एक निरपराध सुन्दर युवक को फाँसी पर लटकाने से उसके मन मे हलचल होती है। उस युवक की 'बेले की पाखुरी जैसी आँखें उसकी आँखो के आगे नाचने लगती है।' वह अपने पेशे से कुछ घृणा करने लगता है। एक दिन जब उसका बेटा बिसुआ जल्लाद बनने की तैयारी मे सुअरी के बच्चे को लटकाना चाहता है, तो चौधरी के मन पर एकदम प्रतिक्रिया होती है। बिस्सू कहता है—

"मै इसे लटकाने जा रहा हूं, रस्सी से।'

चौधरी नही समझा—'क्यों ?"

क्यों ? अब बनूगा तेरी तरह और क्यों ?"

चौधरी पर एकदम प्रभाव पड़ता है। वह बिस्सू से कहता है—"जा, जेलर से कह आ कि कल से काका नौकरी नहीं करेगा—जा जल्दी।"

"बिसुआ आँसू पोंछता हुआ चल दिया। चौधरी क्षण भर उसे जाते हुए देखता रहा, फिर न जाने किसे ऊपर देखकर बोला—'देखो, मेरा पाप मेरे बच्चे को न लगे, नहीं तो समझ लेना—हरिनाकुस से पाला पड़ा है।"

'और गमछे से खुरदरे गालों पर बहता हुआ आँसू पोंछ कर बरोसी की आग कुरेदने लगा।' इस प्रकार उसके मन में अपने पेशे के प्रति घृणा जगी और उसने उसे छोड़ दिया।

आत्मग्लानि और सरकारी नौकरी के प्रति घृणा का एक और उदाहरण सुभद्रा कुमारी चौहान की 'पापी-पेट' कहानी से देखिए। ब्रिटिश पुलिस-शाही के लाठी-चार्ज से निरीह और बेकसूर तथा मासूम युवकों को मरते देखकर एक सिपाही आत्मग्लानि की अग्नि में जलता है और नौकरी से त्याग-पत्र दे देता है। अपने देश के युवकों पर सिपाही लाठियाँ बरसाते हैं। रामखिलावन की लाठी से भी एक युवक दम तोड़ देता है। पुलिस लाइन में पहुँचकर सिपाही लाठी-चार्ज की चर्चा करने लगे। सभी को लाठी-चार्ज करने—निहत्थे निरपराध व्यक्तियों पर हाथ चलाने का अफसोस हो रहा था। रामखिलावन ने अपनी कोठरी में जाकर अन्दर से दरवाजा लगा लिया और लाठी को चूल्हे में जला दिया। उसकी लाठी की मार से एक सुकुमार बालक की खोपड़ी फट गई थी। उसने मन में कहा, 'बेचारे निहत्थे और निरपराधों को कुत्तों की तरह लाठी मारना! राम! राम! यह हत्या! किसके लिए? पेट के लिए? इस पापी पेट को तो जानवर भी भर लेता है। फिर आदमी होकर इतना पाप क्यों करे? इस बीस रुपल्ली के लिए यह कसाईपन? न, अब तो यह न हो सकेगा। जिस परमात्मा ने पेट दिया है, वह अन्न भी देगा। लानत है ऐसी नौकरी पर! और दूसरे दिन वह नौकरी से इस्तीफा देकर अपने देश को चला गया।

सहृदयों को बताने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ बीभत्स रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। शृंगार के अन्तर्गत हम कहते हैं कि प्रिय से सम्बन्धित सब वस्तुएँ भी प्रिय हो जाती हैं। इसी प्रकार बीभत्स में हम कह सकते हैं कि घृणा के आलम्बन से सम्बन्धित वस्तुएँ भी घृणित प्रतीत होने लगती हैं। रामखिलावन का अपनी लाठी को जला देना सम्बन्ध-भावना का कितना उत्तम उदाहरण है!

शुक्ल जी की घृणा-सम्बन्धी परिभाषा : शुक्ल जी ने अपने निबन्ध में घृणा की परिभाषा देते हुए कहा है—"सृष्टि-विस्तार से अभ्यस्त होने पर प्राणियों को कुछ विषय रुचिकर और कुछ अरुचिकर प्रतीत होने लगते हैं। इन अरुचिकर विषयों के उपस्थित होने पर अपने ज्ञानपथ से इन्हें दूर रखने की प्रेरणा करने वाला जो दुःख होता है उसे घृणा कहते हैं।"[1]

१ चिंतामणि पृ० ९७

शुक्ल जी की उपर्युक्त परिभाषा से सहमत होना कठिन है। यह परिभाषा हमारे घृणा स्थायी भाव की कदापि नहीं हो सकती। विषय से अरुचि तो स्थूल ग्लानि (वस्तुगत शारीरिक ग्लानि) मे भी होती है और विरक्ति या निर्वेद मे भी। स्थूल ग्लानि वाली बात का निराकरण तो शुक्ल जी की आगे की ही पंक्तियों से हो जाता है, जिनमे वे घृणा के विषयो को दो भागो मे बाँटते है—१. स्थूल, २ मानसिक। "स्थूल विषय आँख, कान और नाक इन्ही तीन इन्द्रियो मे सम्बन्ध रखते है। हम चिपटी नाक और मोटे ओठ मे सुसज्जित चेहरे को देख दृष्टि फेरते है। खरस्वन-खुर्राट की तान सुनकर कान मे उँगली डालते हैं और म्युनिसपेलिटी की मैला-गाडी सामने आने पर नाक पर रूमाल रखते है। ' '' 'मानसिक विषयो की घृणा मन मे कुछ अपनी ही क्रिया से आरोपित और कुछ शिक्षा द्वारा प्राप्त आदर्शों के प्रतिकूल विषयो की उपस्थिति से उत्पन्न होती है। भावो के मानसिक विषय स्थूल विषयो से सर्वथा स्वतत्र होते है। निर्लज्जता की कथा कितनी ही सुरीली तान मे सुनाई जाय, घृणा उत्पन्न ही करेगी। कैसा ही गदा आदमी परोपकार करे, उसे देख श्रद्धा उत्पन्न हुए बिना न रहेगी।"[१]

शुक्ल जी की उपर्युक्त पक्तियो मे स्थूल ग्लानि मे मानसिक घृणा का अन्तर स्पष्ट हुआ है, सदेह नही और 'आदर्शों के प्रतिकूल विषयों की उपस्थिति से उत्पन्न' मानकर शुक्ल जी ने निर्वेद से घृणा के अन्तर का भी आभास दिया है, तो भी इसका अधिक स्पष्टीकरण अपेक्षित है।

निर्वेद और घृणा निर्वेद और घृणा दोनो मे ही विषय से अरुचि होती है और विषय से दूर रहने की प्रवृत्ति रहती है। भरत मुनि ने निर्वेद का सचारी रूप मे ही निरूपण किया है। उनका कथन है—

'तत्र निर्वेदो नाम दारिद्रय व्याध्यवमानाधिक्षेपाक्रुष्टक्रोधताडन-
इष्टजनवियोगतत्त्वज्ञानादिभः विभावै उत्पद्यते'

अर्थात् दरिद्रता, व्याधि, अपमान आदि सासारिक असफलताओ और प्रिय के वियोग या तत्त्वज्ञानादि विभावों से निर्वेद उत्पन्न होता है। बाद के आचार्यों ने तत्त्व-ज्ञान से उत्पन्न निर्वेद को शातरस का स्थायीभाव माना। सांसारिक असफलताओ—असफल प्रेम, धननाश आदि मे उत्पन्न विरक्ति तभी शान्त रस का विषय होगी, जबकि मन सासारिकता से हटकर, तत्त्वज्ञान के द्वारा, आध्यात्मिक सिद्धि मे लगने को उन्मुख हो। अत निर्वेद स्थायीभाव में दो बाते आवश्यक है—१. सासारिक एषणाओ से निवृत्ति या विरक्ति, २. अध्यात्मोन्मुखी शान्त प्रवृत्ति। इस स्थायीभाव निर्वेद से हमारे स्थायीभाव घृणा का भेद स्पष्ट है। सचारी निर्वेद मे वस्तु या विषय से केवल विरक्ति होती है, अध्यात्म-भावना का जगना अनिवार्य नही। फिर घृणा मे इसका

---

१ चिंतामणि पृ ९७

क्या भेद हुआ ? वस्तुत निर्वेद या विरक्ति अरुचि का ही रूप है। निर्वेद-जन्य अरुचि विशिष्ट होती है, जबकि घृणा की अरुचि सामान्य होती है। अर्थात् विरक्ति विशिष्ट व्यक्ति को विशेष परिस्थिति के कारण होती है, जबकि घृणा सब को सामान्य रूप से स्वत ही होती है। निर्वेद संचारी मे वस्तु के प्रति उपेक्षा का भाव ही प्रकट होता है। एक वियोगिनी बाला व्यजन-पदार्थों के प्रति अरुचि या विरक्ति प्रकट करती है—इसका कारण किसी अन्य भाव का प्रबल होना है। अत विरक्ति का पूर्वपक्ष या आधार कोई अन्य भाव होता है, जबकि घृणा अपने मे स्वतन्त्र है। विरक्ति का पूर्व-पक्ष आसक्ति है, जबकि घृणा का पूर्वपक्ष घृणा ही है। ध्यान रहे, यहाँ 'घृणा के पूर्व-पक्ष' से हमारा अभिप्राय घृणा स्थायी भाव के पूर्वपक्ष से है। अर्थात् जब हम कहते है कि अमुक व्यक्ति को अमुक वस्तु या विषय से विरक्ति हो गई है, तो इसका अर्थ है कि पहले वह वस्तु रुचिकर थी या यो कहे कि पूर्वासक्ति से विरक्ति हो गई। जिन वस्तुओ या विषयो से विरक्ति होती है, वे अपने में बुरे नही होते। उनमे नैतिक दोष नही होते। पर घृणा का आलम्बन सदा सबके लिए घृणा उत्पन्न करने वाला ही होता है। विरक्ति का विषय आसक्ति का विषय भी हो सकता है, जैसे खाद्य-पदार्थों के प्रति अरुचि विशेष कारण से हुई, खाद्य-पदार्थ वैसे घृणा की वस्तु नही हैं। एक व्यक्ति व्यभिचारी है, वेश्यालयों मे जाता है तथा मद्यपान करता है। उसकी आसक्ति वेश्यागमन मे होती है। परन्तु बाद मे यदि वह किसी कारण उधर विरक्ति दिखाने लगता है, उसे अपने इस कार्य से घृणा हो जाती है, तो इस अवस्था में भी वह आसक्ति से घृणा की ओर आया। किन्तु उसकी पूर्वासक्ति भी हमारे (पाठक के) लिए घृणा का ही विषय थी। अत. हम पहले भी घृणा का अनुभव कर रहे थे, अब उसके प्रत्यावर्तन से हमे सतोष मिला और उस व्यक्ति की घृणा ने हमारे घृणा-भाव को और भी पुष्ट कर दिया।

इसके विपरीत एक नायिका अपने सयोगकाल में साज-सज्जा, व्यजन-पदार्थ आदि में पूर्ण रुचि रखती है, तब उसकी इस रुचि से हमारा तादात्म्य ही होता है। वियोग मे जब वह इन विषयो से विरक्ति दिखाती है तो उसकी विरक्ति से भी तादात्म्य होता है। अत विरक्ति के आलम्बन का पूर्वपक्ष अपने मे घृण्य नही, जबकि घृणा का आलम्बन अपने पूर्वपक्ष मे भी घृण्य होता है। विरक्ति या निर्वेद, सचारी होने के कारण, किसी अन्य भाव की सापेक्षता रखता है, घृणा अपने में ही आप कारण और कार्य है। अत घृणा का आलम्बन सदा सबके लिए जघन्य होता है, पर निर्वेद का आलम्बन किसी भाव-परिस्थिति के ही कारण अरुचि का विषय बनता है।

एक देशभक्त या विरक्त सन्यासी के सम्मुख यदि उसका पिता घर का काम करने या पैसा कमाने का प्रस्ताव रखता है, तो उसे पिता की ऐसी बातो से घृणा हो सकती है, क्योंकि वह इन सासारिक बातों को तुच्छ समझते हुए त्यागना चाहता है पर अनुभूति की दृष्टि से पाठक या सामाजिक को इसमें निर्वेद या विरक्ति सचारी

की ही अनुभूति होगी, घृणा की नहीं। पर यदि उसका पिता अर्थ-परायण या अर्थ-पिशाच है, लोभी है, ससार के माया-प्रपच और छल-कपट को ही सब-कुछ समझता है धर्म-कर्म या राष्ट्रीय कर्त्तव्य का विरोध करता है, तो उसके प्रति पाठक की घृणा जगेगी। अतः घृणा और निर्वेद या विरक्ति का निर्णय करने के लिए हमे यह देखना होगा कि आलम्बन अपने स्वतन्त्र रूप मे भी घृणा का विषय है या नही। यदि वह घृणा का विषय नहीहै, तो विरक्ति या निर्वेद की स्थिति मानी जायगी, अन्यथा घृणा की।

दूसरी बात यह है कि यदि वही घृणा की अवस्थिति स्वतन्त्र आलम्बन मे न होकर किसी अन्य स्थायीभाव के आश्रय हो तो वहाँ घृणा सचारी भाव होगा। निर्वेद संचारी मे घृणा-जैसी तीव्रता नही होती। आगे हम घृणा के जो अनेक भेद—क्रोधयुक्त घृणा, भययुक्त घृणा, आवेशयुक्त, हास्यमिश्रित, व्यंग्ययुक्त घृणा आदि—प्रकट करेंगे, उनमे शुद्ध घृणा का रूप ही निर्वेद से कुछ मिलता है, पर उसमे भी उपर्युक्त भेद अवश्य विद्यमान रहेगा।

कुछ विद्वानो ने जुगुप्सा का अर्थ निर्वेद-जैसा ही किया है, और इसी लिए शान्त रस का अन्तर्भाव भी बीभत्स रस मे ही करने की चेष्टा की है। डा० राघवन ने भी जुगुप्सा की कुछ ऐसी ही व्याख्या की है—

"There is a saying that for those who would have this world, there is no scope for the other Only he who discards all mundane things can walk to salvation. For this, he must cultivate the feeling of disgust or loathsomeness towards the things of this world. This is the Bhava of Jugupsa. Some hold this to be most important in Santa and propose it for the place of Sthayin (स्थायी) 'जुगुप्सेति केचित्' Abhi. Bha Gaek. Edn , 1, P 262 Nirveda is very closely allied to this jugupsa."[1]

अर्थात् 'कहा जाता है कि ऐहिक आसक्ति से परलोक सिद्ध नहीं होता। जो सांसारिक वस्तुओ का त्याग करते है, केवल वे ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए सासारिक वस्तुओ के प्रति ग्लानि होना आवश्यक है, यही जुगुप्सा भाव है। कुछ लोग इसे शान्त रस मे आवश्यक मान कर उसका स्थायी भाव ही बताते है। निर्वेद इस जुगुप्सा से निकट सम्बन्ध रखता है।'

यह व्याख्या केवल शान्त रस के सचारी भाव जुगुप्सा की ही मानी जा सकती है, जुगुप्सा सामान्य की नहीं, स्थायी भाव जुगुप्सा की तो कदापि नही। ऐसी स्थिति मे भी, जैसा कि पहले निवेदन कर चुके है, जुगुप्सा (घृणा) वही होगी, जहाँ आलम्बन जघन्य होगा, अन्यथा विरक्ति सचारी भाव ही मानना युक्तियुक्त होगा। उदाहरणार्थ—जब पिता द्वारा आयोजित विलास-भवन मे राग-रंग से थकी हुई अर्द्ध-नग्न अवस्था

1 Dr V Raghvan The Number Of Rasas (First Edition). P. 78

मे ऊँघती हुई नर्तकियो को गौतम देखता है, तो उसके मन मे जो ग्लानि उत्पन्न होती है, वह घृणा सचारी का रूप है, क्योकि यहाँ नैतिक अनुबन्ध से विषय घृणोत्पादक है। किन्तु जब वह मैथिलीशरण गुप्त के शब्दो मे 'क्षणभगुर भव' को 'राम-राम' करके, अतिम नमस्कार करके 'महाभिनिष्क्रमण' करता है, तब उसकी हृदय-अवस्था विरक्ति की ही मानी जायगी।

उपर्युक्त विवेचन मे निष्कर्ष निकला कि घृणा के आलम्बन मे नैतिक अनौचित्य या नैतिक पतन का होना आवश्यक है। हम अपने नैतिक आदर्शों के प्रतिकूल जिस वस्तु या विषय को पाते है, उसके प्रति हमारी विरक्ति नही, घृणा जगती है। अत घृणा और निर्वेद मे अन्तर का मुख्य आधार यही नैतिक अनुबन्ध है। इससे स्पष्ट हुआ कि घृणा का नैतिक आधार अत्यन्त पुष्ट है। आगे हम सिद्ध करेगे कि बीभत्स रस हमारी नैतिक भावनाओ को पुष्ट करने वाला एक उदात्त रस है। बीभत्स रस का वास्तविक स्वरूप इसी उदात्त घृणा स्थायीभाव पर आधारित है।

भट्ट तोत ने भी बीभत्स के तीन भेदो—क्षोभण, शुद्ध और उद्वेगी में शुद्ध जुगुप्सा का लक्षण सासारिक सुखो से घृणा बताया है। इस शुद्ध जुगुप्सा के उदाहरण-स्वरूप वैराग्य की ऐसी कविताएँ प्रस्तुत की गई है, जिनमे कचन-कामिनी आदि की निन्दा है। जैसा कि कह चुके हैं, यह स्वरूप शुद्ध जुगुप्सा का नही माना जा सकता। यह विरक्ति या वैराग्य का भाव ही है। शुद्ध से यह अभिप्राय कि 'Just as Nirveda which is born of Tattva Jnana becomes Mangala, Jugupsa for worldly objects becomes Sudha'"[1] अर्थात् जैसे तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद मंगल होता है, वैसे ही सासारिक वस्तुओ के प्रति जुगुप्सा शुद्ध होती है—भी विद्वानो ने गलत ही लिया है। वास्तव मे शुद्ध जुगुप्सा या घृणा से यही अभिप्राय लेना चाहिए कि घृणा का यह रूप विशुद्ध घृणा का है। इसमे भय, क्रोध आदि किसी अन्य भाव की प्रबलता नही होती। अत. शुद्ध जुगुप्सा के सम्बन्ध में आचार्यो मे भ्रान्ति ही रही है। शुद्ध से शुभ का अर्थ लेना व्यर्थ ही है, क्योकि घृणा स्थायी भाव तो हर अवस्था मे शुभ ही होता है।

बीभत्स और शान्त अलग-अलग रस है। बीभत्स का स्थायी भाव मानसिक जुगुप्सा अर्थात् हमारे नैतिक आदर्शो के विपरीत विषय से उत्पन्न होने वाली मानसिक घृणा है, तो शान्त का स्थायी भाव निर्वेद बताया जाता है, जो सासारिक विषयो से विरक्ति और तत्त्वज्ञान से उत्पन्न मन शान्ति का द्योतक है। शान्त रस जुगुप्सात्मक नही है। सासारिक विरक्ति उत्पन्न कराने मे कही-कही जुगुप्सा (स्थूल ग्लानि व मानसिक घृणा दोनो) शान्त रस का व्यभिचारी भाव अवश्य हो सकती है। उसमे

1. Dr V. Raghvan Number of Rasas. P. 78.

उसकी प्रधानता भी आभासित हो सकती है।[1] वास्तव मे हम शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद या वैराग्य को मानने के पक्ष मे नही है। हम इसका स्थायीभाव शम को ही मानते है। शान्त रस के आश्रय में केवल वैराग्य या विरक्ति का होना पर्याप्त नही है। यदि किसी व्यक्ति की सासारिक विषयो के प्रति घृणा का ही काव्य मे प्रदर्शन होगा, तो यह विषय बीभत्स रस का विषय ही कहा जा सकता है, शान्त रस का नही। इस वैराग्य या विरक्ति को ही सब-कुछ मान लेने के कारण कुछ आचार्यो की यह धारणा बनी होगी कि 'जुगुप्सा ही शान्तरस का स्थायी भाव है।'[2]

शान्तरस के स्वरूप पर हम विस्तारपूर्वक अपने विचार तो कही अन्यत्र ही प्रस्तुत करेगे, यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि शम (मन शान्ति-सन्तोष) ही इसका स्थायीभाव मानना चाहिए और वैराग्य या विरक्ति के साथ यदि यह मन शान्ति चित्रित नही है, तो शान्त रस का स्वरूप खड़ा ही नही होगा।

'कामायनी' मे मनु सारस्वत प्रदेश मे मूर्छित अवस्था मे सचेत होने के पश्चात् जब श्रद्धा-इड़ा के पास से भाग जाते है, तो उनका यह भागना आत्महीनता-जन्य होने के कारण या हार और अपमान के दु ख की अवस्था मे होने के कारण, शमयुक्त निर्वेद का विषय नही माना जा सकता। वास्तव मे जब फिर श्रद्धा मनु को वन मे खोज लेती है और उसकी भेद-बुद्धि—अपने-पराये की भावना—नष्ट करा देती है, उसे जब शिव का साक्षात्कार कराती है और मनु समरसता या अभेद-भावना की भूमि मे अवस्थित होकर शान्ति-लाभ करते हुए पुकार उठते है—

यह क्या ! श्रद्धे ! बस तू ले चल,
उन चरणो तक, दे निज सम्बल , ।[3]

तभी वे शान्त रस के वास्तविक आश्रय सिद्ध होते है। अत शान्त रस के लिए केवल वैराग्य ही काफी नही है, अपितु मन शान्ति आवश्यक है। इसी से हम सब प्रकार की मन. शान्ति को शान्त रस का विषय मानते है, न कि केवल तत्त्वज्ञान-जन्य सासारिक वैराग्य को। इससे शान्त रस का स्वरूप पर्याप्त व्यापक दिखाई देगा। और बीभत्स रस से उसके स्वरूप-भेद की भ्रान्ति भी न रहेगी।

---

१. 'यथा च रौद्रे ओश्रयम् यथा च करुणवीरभयानकाद्भुतेषु निर्वेदधृतित्रास-हर्षा- व्यभिचारिणोऽपि प्राधान्येनावभासन्ते तथा शान्ते जुगुप्साद्याः सर्वथैव राग-प्रतिपक्षत्वात।'

—अभिनवगुप्त: हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४३३

२. अभिनव गुप्त द्वारा उल्लिखित शात रस के स्थायी भाव के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न लोगो के मत—"उत्साह एवास्य स्थायीत्यन्ये। जुगुप्सेति केचित् ।"

—हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४३३

३ कामायनी पृ० २१७ (चौथा)

स्थायी दशा : शुक्ल जी ने भावों की स्थायी दशा पर विचार करते हुए कहा है कि 'प्रत्येक भाव स्थायी दशा को प्राप्त हो सकता है, पर सब की स्थायी दशा समान रूप से परिस्फुट नही होती। इससे कुछ के लिए तो निर्दिष्ट शब्द है, कुछ के लिए नही। नीचे भावो के सामने उनकी स्थायी दशाएँ दी जाती है—

भाव	**स्थायी दशा**
राग	रति
हास	×
आश्चर्य	×
शोक	सताप
क्रोध	वैर
भय	आशका
जुगुप्सा	विरति

'इन मे रति, वैर और विरति तो पूर्णतया परिस्फुट है। उनके अस्तित्व में किसी प्रकार का सन्देह नही किया जा सकता। शोक और भय की स्थायी दशाओं के लिए जो शब्द रखे गये है, सम्भव हो वे ठीक न हो, पर उन दशाओं का अस्तित्व अस्वीकार नही किया जा सकता।'[1]

शुक्ल जी ने यहाँ शृगारादि सात रसो के स्थायी भावो की स्थायी दशा पर विचार किया है। शान्त के स्थायी निर्वेद और वीर के स्थायी उत्साह को न जाने क्यो छोड दिया है। हम उनके इस स्थायी-दशा-निरूपण से सहमत होते हुए शान्त और उत्साह की स्थायी दशाओ को इस में और जोड़ना चाहेंगे। शान्त के निर्वेद की स्थायी दशा हम शान्ति मानते है और उत्साह की साहस। जैसा कि कहा जा चुका है, शान्त के निर्वेद मे शम और वीर के उत्साह मे साहस सम्मिलित रहते ही है। इनकी स्थायी दशा क्रमशः शान्ति और साहस मानी जा सकती है। यहाँ यह ध्यान रहे कि इस स्थायी दशा का सम्बन्ध काव्यगत आश्रय से ही है, पाठक तो तादात्म्य की अवस्था मे भी स्थायी भाव की ही अनुभूति पाएगा।

हम भी जुगुप्सा या घृणा की स्थायी दशा प्रेम की स्थायी दशा रति के ठीक उलट विरति को स्वीकार करते है। ऊपर घृणा की सद्यः अनुभूति का वैराग्य या विरक्ति की अनुभूति से जो भेद बताया है, इससे हमारे कथन मे विरोध मानना भूल होगी। वास्तव मे स्थायी दशा मे अनुभूति की तीव्रता के स्थान पर विस्तार या व्यापकता रहती है, अत घृणा की अनुभूति-दशा और स्थायी दशा मे यह भेद रहेगा ही। जिस प्रकार प्रेम का उलट घृणा है, उसी प्रकार रति की उलट विरति है।

---

१. रस मीमांसा, पृ० १७७-१७८।

घृणा की परिभाषा : उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ कि नैतिक भावना या नैतिक आदर्शों की प्रतिकूलता ही मानसिक घृणा का आधार है। इसी से शुक्ल जी की परिभाषा में संशोधन करते हुए हम कह सकते हैं कि सृष्टि-विस्तार से अभ्यस्त होने पर प्राणियों को अपने नैतिक आदर्शों के अनुकूल विषय रुचिकर होने लगते हैं, और नैतिकता के प्रतिकूल विषय अरुचिकर प्रतीत होने लगते हैं। इन अरुचिकर अनैतिक विषयों के उपस्थित होने पर, अपने ज्ञानपथ से इन्हे दूर रखने की प्रेरणा करने वाला जो भाव होता है, उसे घृणा कहते हैं।

घृणा और क्रोध . भय की तरह क्रोध का आलम्बन भी घृणा का आलम्बन बन सकता है। जहाँ क्रोध का कारण नैतिक बुराई होती है, वहाँ क्रोध और घृणा में आलम्बन की बिल्कुल समानता हो जाती है। फिर इन दोनों भावों में अन्तर क्या है? शुक्ल जी आदि विद्वानों ने तो यही अन्तर बताया है कि क्रोधी अपने आलम्बन को हानि पहुँचाने में प्रवृत्त होता है, जबकि घृणा में उतना उद्वेग नहीं होता और घृणा का आश्रय अपने आलम्बन से दूर हटना चाहता है, उसे हानि पहुँचाना नहीं चाहता। परन्तु क्रोधयुक्त या क्षोभयुक्त घृणा में भी आलम्बन को हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति रहती है। शुक्ल जी ने यह विचार केवल शुद्ध घृणा की दृष्टि से ही व्यक्त किया है। प्रश्न है कि जहाँ क्रोधमिश्रित घृणा हो, वहाँ क्रोध और घृणा में से किसे माना जाय? दोनों में कौन प्रधान है, इस बात का निर्णय कैसे हो? सामाजिक रूढ़ियों, परम्परागत अंधविश्वासों, समाज-शोषी पद्धतियों के प्रति घृणा से भरकर कौन उन्हें समाप्त करना या समाप्त होते देखना नहीं चाहेगा? वास्तव में इन दोनों में अन्तर उद्धतता की दृष्टि से ही मान्य हो सकता है। यदि हम किसी की चटनी बनाने, मारने-पीटने तथा कटु वचन कहने में उद्धत हो उठते हैं, तो यह क्रोध की स्थिति है, यदि मार-काट आदि उद्धत व्यापारों में सद्य प्रवृत्ति होने की बजाय, लानत, फटकार आदि के रूप में ही अपनी क्षोभपूर्ण प्रतिक्रिया व्यंजित करते हैं तो घृणा का ही प्रकाशन करते हैं। रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध वैर या द्वेषरूप में अपनी काल-परिधि बनाए रखता है, पर वैर या द्वेष का प्रत्यक्ष रूप जब क्रोधमय प्रचण्डता लिए हुए होगा, उद्धत-रूप में होगा, तभी वह रौद्र रस के अन्तर्गत मान्य होगा। विरोध या द्वेष की भावना घृणा के आश्रय में भी हो सकती है। पाश्चात्य विद्वानों का भी यही मत है। शैंड का कथन है—

"When anger is deliberate, develops hate."

अर्थात् जब क्रोध आवेशरहित होता है तो घृणा विकसित होती है। इसी प्रकार एंजिल ने कहा है—

"We are angry at the open insult and perhaps moved to enduring hatred by the obnoxious and unscrupulous enemy."

अर्थात् प्रत्यक्ष अपमान से हम क्रुद्ध होते हैं और सम्भवत. कुत्सित और निर्लज्ज शत्रु के प्रति घृणा का भाव अपनाने को प्रस्तुत होते हैं।

शुक्ल जी का भी कथन है कि 'कहीं-कहीं घृणा क्रोध का शांत रूपान्तर मात्र प्रतीत होती है। साधारण लोग जिन बातों पर क्रोध करते देखे जाते हैं, साधु लोग उन से घृणा-मात्र करके, और यदि साधुता ने बहुत जोर किया तो उदासीन होकर रह जाते हैं। दुर्जनों की गाली सुन कर साधारण लोग क्रोध करते हैं, पर साधु लोग उपेक्षा ही करके संतोष कर लेते हैं। जो क्रोध एक बार उत्पन्न होकर सामान्य लोगों में वैर के रूप में टिक जाता है, वही क्रोध साधु लोगों में घृणा के रूप में टिकता है।'[1] यद्यपि हम समझते हैं कि शुक्ल जी का यह कथन एक प्रकार की व्यंग्योक्ति है, अन्यथा अन्यायी और अत्याचारी के प्रति क्रोध न करने को साधुता मानना उनके ही क्षात्र-धर्म के सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ता है, तो भी इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि क्रोध का उद्वेग शांत होने पर आलम्बन के प्रति घृणा ही रह जाती है।

जब कोई व्यक्ति किसी शैतान के अत्याचार का बदला लेने के लिए अवसर की तलाश में रहता है, अपने पक्ष को प्रबल करने के लिए कुछ शक्तिशाली व्यक्तियों को साथ मिलाता है, अथवा उसे नीति से मरवाने की कोशिश करता है, और इस सारे आयोजन में उसका वैर उग्र रूप प्रकट करता है, तो यह क्रोध या रौद्ररस का ही विषय होगा। किन्तु यदि एक देशभक्त या समाज-सुधारक किन्हीं सामाजिक कुप्रथाओं का विरोध करता है, तो उसका यह वैर-विरोध घृणा का ही द्योतक होगा। एक पिता अपने पुत्र के दुश्चरित्र होने पर क्रुद्ध होता है, उसे मारता है और मार-पीट कर घर से निकाल देता है। उसका यह कार्य क्रोध के आश्रय ही हुआ। अब पुत्र के चले जाने पर यदि वह लोगों से बात करता हुआ कहे कि 'ऐसे निर्लज्ज, दुराचारी, नीच पुत्र की मुझे आवश्यकता नहीं, इससे तो मैं निःसंतान ही अच्छा', तो इन शब्दों में उसकी घृणा ही व्यक्त हुई मानी जायगी। किन्तु इसके स्थान पर यदि वह इस प्रकार आवेश से भर कर बात करे—"आकर देखे मेरे सामने, गर्दन ही न उतार दूँ तो क्या! कुल को कालिख लगाने वाले कलंकी की हड्डी-पसली तोड़ दूंगा। चाहे जहन्नुम में जाय। पर यहाँ कदम रखा तो टाँगें चीर दूँगा।" तो उसके इस कथन से क्रोध का प्रकाशन ही माना जायगा।

इस प्रकार घृणा के आलम्बन के प्रति घृणा-भाव की ही प्रधानता रहती है, जबकि क्रोध के आलम्बन के प्रति आवेशयुक्त प्रतिकार या हानि पहुँचाने के रूप में क्रोध की प्रमुखता रहती है। क्रोध के आवेश में घृणा भी हो सकती है, पर वह गौण रहती है। इसी प्रकार क्षोभयुक्त घृणा में भी क्रोध या क्षोभ घृणा के ही आश्रय रहता है और सद्य प्रवृत्ति उद्धतता की नहीं होती, फटकार देने की होती है।

घृणा और भय : यद्यपि 'घृणा और भय की प्रवृत्ति एक-सी है, दोनों अपने-अपने विषयों से दूर होने की प्रेरणा करते हैं,' तथापि दोनों में अन्तर स्पष्ट है। भय

---

१ चिन्तामणि (प्रथम भाग) पृ० ९९।

के आलम्बन के समक्ष हम अपने को असमर्थ पाते है। हम भयोत्पादक वस्तु को अपने से शक्तिशाली स्वीकार करते है, जबकि घृणा के आलम्बन के समक्ष हम अपने को उससे अधिक सबल या कम-से-कम उत्तम अवश्य समझते हैं। घृणा की स्थिति में हमारा प्रभुत्व छाया रहता है, जबकि भय मे वह दब जाता है। बाबू गुलाबराय जी के शब्दो में 'भयानक तथा घिनौनी चीज दोनों ही असाधारण है। अन्तर बस इतना ही है कि भयानक वस्तु के साथ उसकी निन्दनीय नीचता का भाव लगा हुआ है। घृणास्पद पदार्थ से, उसको निंद्य और नीच समझ कर, अलग होने या हटने की इच्छा होती है। भयानक वस्तु के आगे से हम अपनी शक्ति-हीनता देख कर भागते है।'[1]

इस प्रसग मे बाबू जी की एक भ्रांति का निराकरण आवश्यक है। बाबू गुलाबराय का कथन है—'रौद्र मे एक प्रकार का सुख होता है, क्योकि उसमें शत्रु पर विजय पाकर उसका प्रतिकार करने की आशा रहती है। वीभत्स और भयानक इन दोनों मे चित्त की रुचि मिट जाती है।'' भीति का भाव जुगुप्सा से तीव्र है। क्रोध और भय में मनुष्य की शक्तियाँ केन्द्रस्थ हो जाती है और मनुष्य अपने में अलौकिक बल का अनुभव करने लगता है। बहुत से लोग इसी अपूर्व बल का अनुभव करने के लिए भयोत्पादक स्थानो मे जाते है। उन लोगो को भयानक स्थानो मे एक प्रकार का आनन्द आता है। भय की स्थिति में शरीर-रक्षा के अर्थ हमारे शरीर की शक्ति का भण्डार खुल जाता है और सब कार्य कुछ काल के लिए स्थगित हो जाते है और रुधिर-सचालनादि की क्रियाएँ जोकि शक्ति से सम्बन्ध रखती है, तीव्र हो जाती हैं। भय और क्रोध के आवेग में लोग शक्ति से बाहर काम कर जाते हैं। वीभत्स में शक्तियो का विस्तार नहीं होता वरन् संकुचन होता है। वीभत्स मे भयानक की बराबर तीव्रता नही।'[2]

पहले भी निवेदन किया जा चुका है कि रसानुभूति की सब अवस्थाएँ आनन्दात्मक होती है, अत किसी मे सुख मानना और किसी के सम्बन्ध मे रुचि के मिट जाने की बात करना व्यर्थ ही है। सभी रस प्रवृत्त्यात्मक होते है, अतः भयानक और वीभत्स में रुचि मिट जाने की बात भ्रांतिपूर्ण ही है। विद्वान् लेखक के उपर्युक्त कथन मे दूसरी आपत्ति है भय को जुगुप्सा से तीव्र मानने में। वास्तव में भय की लौकिक अनुभूति मे तो अवश्य हमारी इन्द्रिय-शक्ति केन्द्रस्थ होकर अनुभूति को तीव्र करती है, रुधिर सचालनादि की क्रियाएँ तीव्र हो जाती है, पर काव्यगत अनुभूति घृणा से तीव्र नही मानी जा सकती। यदि ऐसी लौकिक ऐन्द्रिक प्रतिक्रिया होने लगे तो नाट्य-दर्शक क्रोध के आलम्बन को मारता और भय से भागता ही दिखाई दे। अत. भय की काव्यगत अनुभूति घृणा से तीव्र नही मानी जा सकती। बल्कि वीभत्स में भयानक की

---

१. बाबू गुलाबराय : नवरस, पृ० ४६४।

२ वही पृ० ४६४

अपेक्षा अधिक व्यापकता और अधिक तीव्रता होती है। जीवन की अनेकानेक परि-स्थितियों का जो सम्बन्ध बीभत्स रस से है, वह भयानक से नहीं।

वस्तुतः बाबू जी ने लौकिक भाव और काव्यगत भावानुभूति को यहाँ एक ही मानने की भूल की है। बीभत्स के सम्बन्ध मे उनका दृष्टिकोण यहा स्थूल ग्लानि वाला वस्तुगत ही रहा है। उनका यह कथन देखिए—'श्मशान आदि के वर्णनो मे बीभत्स और भयानक मे थोडा ही भेद रह जाता है। दुर्बल-हृदय पुरुष के लिए वही भयानक हो जाता है, जो कि हृष्ट-पुष्ट निर्भय पुरुष के लिए बीभत्स होगा। भयानक मे भयावह वस्तु से भागकर आत्मरक्षा की जाती है और बीभत्स मे वस्तु को अपने से हटा कर या हटवा कर आत्मरक्षा की जाती है। जो वस्तु हटाई नही जा सकती, उससे स्वय भागने का यत्न किया जाता है, किन्तु बीभत्स में घृणित वस्तु घृणा करने वाले से नीच समझी जाती है। बीभत्स मे भी भयानक की भाँति आत्मरक्षा का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। जिन पदार्थो से घृणा की जाती है वह प्रायः शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होते है।'

"भयानक में यद्यपि आत्मभाव का ह्रास हो जाता है तथापि उसमे मनुष्य की शक्तियाँ केन्द्रस्थ हो जाती है, और मनुष्य अपने मे एक अपूर्व शक्ति का अनुभव करने लगता है। जो लोग भयवश भागते हैं, वह अपनी शक्ति से अधिक काम कर बैठते है। क्रोध, वीर और भयानक मे शक्ति का सचार होने लगता है। बीभत्स पदार्थों के सामने एक प्रकार से शक्ति का ह्रास हो जाता है। आजकल के मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि सुन्दर पदार्थों के अवलोकन से उदर के रस, जोकि भोजनादि का पाचन करते है, अधिक उत्पन्न होते है और भयानक तथा बीभत्स पदार्थों के सामने एव क्रोध और शोक के आवेग मे यह रस न्यूनता से उत्पन्न होते हैं।"[१]

कहने की आवश्यकता नही कि बाबू जी की यह विवेचना लौकिक भाव से ही सम्बन्ध रखती है, स्थायीभाव या रस से नही। बीभत्स रस के बारे मे भी उनका दृष्टिकोण स्पष्टतः वस्तुगत ही है। बीभत्स वस्तु की लौकिक अनुभूति तो अवश्य शरीर-विज्ञान की दृष्टि से स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डाल सकती है, पर बीभत्स रसानुभूति या मानसिक घृणानुभूति के बारे मे यह नही कहा जा सकता। बीभत्स रसानुभूति को असुन्दर मानना आलोचना की त्रुटि ही है। आगे हमने सिद्ध किया है कि बीभत्स रस के बीभत्स आलम्बनो से भी सौन्दर्यानुभूति ही होती है। यह एक ऐसा विरोधाभास है जो लौकिक दृष्टि के स्थान पर साहित्यिक दृष्टि से —रस-दृष्टि से—समझने पर ही स्पष्ट होता है। इस उद्धरण के आरम्भ में बाबू जी ने भरत के अनुसार बीभत्स रस को वीरभावाश्रयी बताया है। उनका कथन है कि भयानक की अनुभूति मे कायरता या डर की बात रहती है, बीभत्स की अनुभूति में वीरता या निर्भयता की। किन्तु बाद मे वे रस-क्षेत्र

---

१ नवरस पृ० ८०१ ८०२

को छोड़कर लौकिक भावों की दृष्टि से ही विचार प्रकट करने लगे हैं। लौकिक भाव या वस्तुगत ग्लानि को ही बीभत्स रस मान लेने के कारण, बीभत्स में शक्ति के ह्रास की बात उन्होंने कही है, जो सर्वथा अनुचित है।

घृणा और उदासीनता घृणा और उदासीनता का अन्तर स्पष्ट है। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, शुक्लजी के शब्दों को दोहरा देना काफी होगा—"जिस वस्तु में हमें घृणा है, हम चाहते तथा आकुल रहते हैं कि वह बात न हो, पर जिस बात में हम उदासीन हैं, उसके विषय में हमें परवा नहीं रहती, वह चाहे हो, चाहे न हो।"[1]

(ग) घृणा प्रेम के समकक्ष भाव-वृत्ति है :

आचार्य रामदहिन मिश्र ने अपने ग्रन्थ 'काव्यदर्पण' में लिखा है—"मानस-शास्त्र की दृष्टि से रति, अमर्ष, शोक, हास, भक्ति, वात्सल्य, भय, विस्मय और शम ये नौ स्थायी भाव हैं जो रसत्व को प्राप्त होते हैं। क्रोध और जुगुप्सा व्यभिचारी भाव के ही योग्य है।"[2]

न जाने कहाँ से मिश्र जी मानस-शास्त्र की बात निकाल लाए, जबकि तथ्य यह है कि जुगुप्सा और ग्लानि को प्रायः सब पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने मूल प्रवृत्ति और स्थायी भाव बनाया है। मानस-शास्त्रियों ने भावों का विश्लेषण हमारे आचार्यों की तरह रस की दृष्टि से किया ही नहीं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हमारा स्थायीभाव पाश्चात्य 'सेंटिमेंट' के उदात्त प्रेषणीय रूप से मिलता-जुलता है। मैक्डूगल आदि सब पाश्चात्य विद्वानों ने जुगुप्सा या ग्लानि (Repulsion or Disgust) को मूल-प्रवृत्ति और घृणा (Hatred) को Sentiment स्वीकार किया है। कुछ विद्वानों ने घृणा को भी मूल भाव ही बताया है।[3] वास्तव में घृणा का भाव प्रेम या रति के बिल्कुल समकक्ष का भाव है। उसमें प्रेम जितनी तीव्रता है, सम्भवतः उतनी ही व्यापकता है। उसमें अन्य-अन्य भावों को अपने में सम्मिलित कर लेने की तथा विभावपक्ष की उतनी ही व्यापकता और उदात्तता है, जितनी प्रेम में। जिस प्रकार प्रेम के अनेक पारस्परिक आलम्बन होते हैं—भाई-भाई का प्रेम, माता-पुत्र का प्रेम, पिता-पुत्र का प्रेम, पति-पत्नी का प्रेम, मित्र-मित्र का, प्रकृति-प्रेम, देश-प्रेम,

---

१. चिन्तामणि (प्रथम भाग), पृ० १०६।

२. आचार्य रामदहिन मिश्र : काव्यदर्पण (प्रथम संस्करण), पृ० २३२।

3. "Descartes, for example, recognized only six primary emotions or passions, as he termed them, namely, admiration, love, hatred desire, joy and sadness ; and he wrote, "All the others are comp osed of some out of these six and derived from them."

An Introduction To Social Psychology P 104

तथा यहाँ तक कि मानव-मानव का प्रेम अनेक रूपो मे प्रकट होता है, उसी प्रकार घृणा-पात्रों की भी कोई इयत्ता नही· व्यक्ति-चरित्र के प्रति घृणा, व्यभिचार, भ्रष्टाचार, सामाजिक रूढियो, धार्मिक पाखण्ड तथा अन्य अनेक प्रकार के नैतिक पतन और पापकर्मो के प्रति घृणा उत्पन्न होती है। यहाँ तक कि कभी-कभी समस्त समाज और समस्त जगत से घृणा प्रकट हो जाती है। मानव-जीवन या स्वीय-जीवन से घृणा भी प्रकट होती है। आगे घृणा के अनेक रूप और उनके-अनेक उदाहरण हमने प्रस्तुत किये हैं। अत· यदि प्रेम या रति स्थायी भाव है तो घृणा भी निश्चय ही स्थायीभाव है, यदि प्रेम मूल-प्रवृत्ति है, तो घृणा भी मूल-प्रवृत्ति है। यदि प्रेम मिश्रभाव है, तो घृणा भी मिश्रभाव है, यदि प्रेम तीव्र और व्यापक भाव-वृत्ति है, तो घृणा भी कम तीव्र और कम व्यापक नही; यदि प्रेम उदात्त है, तो घृणा भी निश्चित रूप से उदात्त भाव-वृत्ति है, यदि प्रेम-भावना मे सब भाव और चित्तवृत्तियाँ समाहित हो सकती है, तो घृणा मे भी सब को समाविष्ट कर लेने की क्षमता है। मैक्डूगल ने प्रेम और घृणा को विशिष्ट प्रतिनिधि सेन्टीमेट बताया है—'The typical sentiments are love and hate.' उन्होने शैंड का समर्थन करते हुए दोनो भावों की समान व्यापकता और प्रबलता को स्वीकार किया है—

"It must be noted that the sentiment of love and hate comprise many of the same emotional dispositions , but the situation of the objeet of the sentiment that evoke the same emotions are very different and in the main of opposite character in the two cases. Thus, as Shand points out, when a man has acquired the sentiments of love for a person or other object, he is apt to experience tender emotion in its presence, fear or anxiety when it is in danger, anger when it is threatened, sorrow when it is lost, joy when the object prospers or is restored to him, gratitude towards him who does good to it, and so on; and when he hates a person, he experiences fear or anger or both on his approach, joy when that other is injured, anger when he receives favours.

"It is going too far to say, as Shand does, that with inversion of the circumstances of the object all the emotions called forth by the loved object are repeated in relation to the hated object , . . . It is clear, nevertheless, that the objects of these two very different sentiments may arouse many of the same emotions, and that the two sentiments comprise emotional dispositions that are in part identical, or, in other words, that some of the emotional dispositions or central nuclei of the instincts, are members of sentiments of both kinds."[1]

1 An Introduction To Soc al Psychology PP 105 107

अर्थात् 'ध्यान रहे कि प्रेम और घृणा के दोनो भावों मे बहुत-सी समान सवेदनाएँ होती है। किन्तु उन समान सवेदनाओ को जाग्रत करने वाली परिस्थितियाँ दोनो में बिलकुल भिन्न होती है—दोनो अवस्थाओ मे बिलकुल उलट कोटि की होती है। जैसे कि शैंड महोदय ने भी कहा है—जब एक व्यक्ति किसी प्राणी अथवा किसी वस्तु के प्रति प्रेम का भाव अपनाता है, तो उस आलम्बन की उपस्थिति में वह कोमल भावनाओ को प्रकट करेगा: जब वह खतरे मे होगी तो चिन्ता या भय से भर जायगा। यदि कोई उस आलम्बन को आँखे दिखाता है, तो वह डराने वाले के प्रति क्रुद्ध होगा। जब वह वस्तु खो जायगी तो दुख का अनुभव करेगा, उसके उन्नति करने या उसे मिलने से उसे हर्ष होगा, जो व्यक्ति उसकी भलाई चाहेगा, वह उसका कृतज्ञ होगा आदि-आदि। और इसी प्रकार जब वह किसी प्राणी से घृणा करता है, तो उसकी निकटता से भय या क्रोध अथवा दोनो का अनुभव करेगा, उसे हानि पहुँचने पर हर्षित होगा, उसे प्रोत्साहन दिये जाने पर क्रुद्ध होगा।

'शैंड के अनुसार यहाँ तक कहा जा सकता है कि आलम्बन की परिस्थितियो के उलट होने से प्रेम-पात्र के सम्बन्ध मे जितने भाव प्रकट होते हैं, वे सब घृणा-पात्र से सम्बन्धित हो जाते है। अत स्पष्ट है कि इन दो विरोधी भावो के आलम्बन बहुत-से समान भावों को उत्पन्न करते हैं, और दोनो की भाव-सवेदनाएँ मिलती-जुलती हो सकती है तथा दोनो में संचारी भाव समान हो सकते हैं।'

मैक्डूगल ने जुगुप्सा या ग्लानि (Repulsion or disgust) को मूल भाव-वृत्ति बताया है। साथ ही उनका कथन है कि हम इन मूलभावो को विशुद्ध अमिश्रित रूप मे शायद ही कभी अनुभव करते हों। हमारी भावानुभूति की दशा सामान्यत एकाधिक भाववृत्तियों के तीव्र होने से बनती हैं। अत हमारी अधिकतर भावानुभूतियाँ मिश्रित भावों से ही सम्बन्धित होती है।[1] अत मैक्डूगल ने घृणा को क्रोध, भय और जुगुप्सा के मेल से मिश्रित भाव बताया है—

"In a similar way the word 'hate' is commonly applied to a complex emotion compounded of anger and fear and disgust, as well as to the sentiment which comprises the dispositions to these emotions as its most essential constituents."[2]

---

1. "We seldom experience the primary emotions ... in the pure or unmixed forms in which they are commonly manifested by the animals Our emotional states commonly arise from the simultaneous excitement of two or more of the instinctive dispositions and the majority of the names currently used to denote our various omotions are the names of such mixed, secondary, or complex omotions" —An I Social Psychology, P. 10
2 Same, P 106

प्रश्न है कि क्या घृणा मिश्र-भाव है ? निस्सन्देह घृणा प्रेम के समान मिश्र भाव है। अर्थात् जिस प्रकार प्रेम में पालन या रक्षणप्रवृत्ति, कोमल भावनाएँ, काम-प्रवृत्ति, प्रभुत्व-भावना आदि सब सम्मिलित है, उसी प्रकार घृणा में बचने की प्रवृत्ति भय, युद्ध-प्रवृत्ति या संहार प्रवृत्ति, जुगुप्सा या ग्लानि, प्रभुत्वकामना आदि भावनायें सम्मिलित हैं। किन्तु भाव का यह रासायनिक मिश्रण अपने संयोजक द्रव्यों को बिलकुल घुलाए-मिलाए हुए है। विशुद्ध घृणा में ये सब वृत्तियाँ गौण रूप में दबी रहती हैं।

(घ) घृणा के भेद :

हमने पहले भी कहा है कि प्राचीन आचार्यों ने घृणा के तीन भेद किए हैं—शुद्ध, क्षोभण और उद्वेगी। भरत मुनि ने प्रायः सभी रसों के तीन-तीन भेद किए हैं। बीभत्स-सम्बन्धी भरत की पंक्तियाँ ये हैं—

> बीभत्सः क्षोभणः शुद्ध उद्वेगी स्यात् तृतीयकः।
> विष्ठाकृमिभिरुद्वेगी क्षोभणो रुधिरादिजः॥

जैसाकि पहले दिखाया जा चुका है, अभिनवगुप्त आदि कुछ विद्वान् भरत-द्वारा दो भेद बताए मानते हैं और 'स्यात् तृतीयकः' के स्थान पर 'स्यात् द्वितीयकः' कुछ प्रतिलिपियों में भी मिलता है। ये विद्वान् प्रथम पंक्ति के 'शुद्ध' शब्द को क्षोभण का विशेषण मानते हैं। परन्तु भरत की प्रवृत्ति ३ भेद करने की ही दीखती है। किस प्रकार आचार्यों ने जुगुप्सा से केवल ग्लानि का अभिप्राय लेकर इनकी रुधिर, मांस, विष्ठा आदि के रूप में व्याख्या की है, यह भी पहले बताया जा चुका है। मुझे ऐसा लगता है कि भरत के पूर्व अवश्य घृणा का मानसिक स्वरूप रस-शास्त्रियों के सम्मुख रहा होगा, क्योंकि शुद्ध, क्षोभण और उद्वेगी के रूप में वर्गीकरण मानसिक घृणा का जितना उचित प्रतीत होता है, उतना स्थूल ग्लानि का नहीं। वास्तव में शुद्ध घृणा से अभि-प्राय घृणा के खालिस रूप से लेना चाहिए, जिसमें क्षोभ, भय, क्रोध, आवेश, उद्वेग, व्यंग्य आदि का पुट न हो, जैसे, यदि किसी व्यभिचारी का ऐसा चित्रण हो कि वह वेश्यागमन करता है, शराब और ऐश-विलास में अपने धन का नाश कर रहा है, अत्यन्त आलसी और निकम्मा है, बाप-दादा की कमाई पर भोग-विलास में मुग्ध रहता है, इत्यादि, तो ऐसे घृणा-पात्र के प्रति हमें केवल घृणा की अनुभूति होगी, उसमें किसी प्रकार का क्षोभ, क्रोध या आवेश उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं। अपना घर फूँक कर अपने पाँव पर कोई कुल्हाड़ा लगाता है, लगाया करे, हमें क्या। हमें क्षुब्ध, भयभीत या चिंतित होने की आवश्यकता नहीं, हम केवल उससे, उसके आचरण से घृणा करेंगे। यह शुद्ध मानसिक घृणा हुई।

क्षोभण या क्षोभज घृणा को क्षोभयुक्त घृणा कहना चाहिए। यदि उक्त शराबी व्यभिचारी अपने अनैतिक कार्य में इतना बढ़ जाए कि जिससे किसी की

सीधी हानि या अपमान का दृश्य हमारे सम्मुख उपस्थित हो, तो हमारे मन मे क्षोभ पैदा होगा, जैसे, यदि वह किसी भोली-भाली लडकी को फुसलाकर फँसा लेता है और बलात्कार द्वारा अपनी पाशविक भावना को तृप्त करता है, तो हमारी घृणा भी क्षोभकारी हो जायगी। यह क्षोभयुक्त घृणा हुई। यदि वह युवती उस लम्पट के दुष्टतापूर्ण व्यवहार मे उत्तेजित होकर आवेश मे उसे सुनाती हुई निकल जाती है तो हमारी घृणा आवेशयुक्त होगी। आवेश मे क्रोध अस्फुट-सा रहता है, भावावेश उभरा हुआ प्रतीत होता है। 'शेखर' मे एक उदाहरण लीजिए। शेखर जेल मे है, वहाँ एक राजनीतिक कैदी बाबा मदन सिंह उसे कहता है—शेखर, सुना है कि वहाँ (चटगाँव मे) सैनिक मन-मानी कर रहे है, गाँव के लोगों को पीट-पीट कर सलामी कराई जाती है, स्त्रियो पर बलात्कार किया जाता है, औ' ··· और······· ·। एकाएक बाबा (मदन सिंह) का गला रुँध गया, वे कुछ बोल नही सके, आवेश मे खडे हो गए·· ···[1]

यहाँ घृणा का क्षोभकारी रूप आवेश से भरा हुआ है, अत आवेशयुक्त घृणा का उदाहरण माना जा सकता है। जहाँ घृणा मे प्रत्यक्ष प्रतिकार की भावना रहती है, वहाँ क्रोध का स्पष्ट रूप प्रकट होता है, उसे क्रोधयुक्त या क्रोधमिश्रित घृणा कहते है। वास्तव मे क्षोभयुक्त घृणा और आवेशयुक्त घृणा भी क्रोधयुक्त घृणा के ही रूप है जिन मे दुख का भाव अधिक रहता है, क्रोध का कम। क्रोधयुक्त घृणा मे क्रोध की प्रचण्डता रहती है।

आदि कवि का आदि श्लोक शोक का नही, घृणा का उदाहरण आदि कवि वाल्मीकि का निम्न श्लोक आज तक विद्वानो द्वारा शोक या करुणा का उदाहरण माना जाता है—

'मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगम' शाश्वती: समा।
यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधी: काममोहितम्॥'

अर्थात् 'रे व्याध, तुझे अनन्तकाल तक कभी भी ससार मे प्रतिष्ठा न मिले, तूने काममोहित क्रौंच पक्षी के जोडे मे से एक के वध का जघन्य कार्य किया है।' इस श्लोक को करुण रस का उदाहरण मानना भ्रांति ही है। वास्तव मे इस श्लोक मे कवि द्वारा व्याध की भर्त्सना ही व्यंजित हुई है, यहाँ आलम्बन व्याध है। करुण रस का उदाहरण तभी होता, यदि आदि कवि की दृष्टि क्रौंचवध पर केन्द्रित होती। अत यद्यपि करुणा भी साथ मे है, पर श्लोकगत अभिव्यक्ति घृणा की हुई है। यदि कोई यह समझे कि करुणा ही भर्त्सना का आधार है। इसलिए करुण रस माना गया है, तो भी ठीक नही। प्रश्न उठता है कि यदि व्याध का तीर क्रौंच पक्षी को न लगता, निशाना चूक जाता, और पक्षी का वध न होता, तो क्या ऋषि की अनुभूति न

---

१ शेखर (अज्ञेय) दूसरा भाग पृ० ८४।

जगती ? क्या उस सूरत में श्लोक न फूटता ? क्या करुणा के कारण ही श्लोक फूट निकला है ? हमारा निश्चित मत है कि क्रौंचवध के अभाव मे, करुणा न जगने पर भी, सहृदय कवि की फटकार अवश्य ही व्यंजित होती । व्याध को निशाना लगाते देखना, वध का जघन्य कार्य करते देखना, कार्य का उपक्रम देखना ही घृणा व्यजित करने के लिए पर्याप्त अवसर था । अतः कवि की यह फटकार अवश्य ही श्लोक बन कर फूट निकलती । हा, अवश्य फूट निकलती, क्योंकि निश्चय ही कवि सहृदय है, और उनकी दृष्टि में पक्षी को मारना भी बुरा है और मारने का प्रयत्न करना भी जघन्य है । अतः कारुणिक परिणाम के अभाव मे ऋषि का घृणा भाव ही व्यजित होता । ऋषि ने इस श्लोक मे व्याध को अभिशप्त किया है । अतः यहाँ उनकी घृणा क्षोभयुक्त है । क्रोध का उग्र रूप उसमे नही, क्योंकि ऋषि ने क्षुब्ध होकर ही शाप दिया है ।

क्षोभयुक्त घृणा मे भी घृणा-पात्र का अनिष्ट वांछित होता है और यह विशुद्ध घृणा की तरह आश्रय को आलम्बन के प्रति भाव-निरपेक्ष (अनिष्ट निरपेक्ष) नही रखती । यह ठीक है कि विशुद्ध घृणा-पात्र का वैसा नाश वांछित नहीं होता, जैसा क्रोध का आश्रय अपने आलम्बन का चाहता है, तो भी क्षोभयुक्त या क्रोधयुक्त घृणा मे घृणा-पात्र का अमगल भी अवश्य काम्य होता है, कम-से-कम उसका विद्रूप और कुरूप असह्य होता है ।

शुक्ल जी ने घृणा के सम्बन्ध मे कहा है—'अरुचिकर और प्रतिकूल विषयो के उपस्थिति-काल मे इन्द्रिय या मन का व्यापार अच्छा नही लगता, इससे या तो प्राणी ऐसे विषयों को दूर करना चाहता है, अथवा अपने इन्द्रिय या मन के व्यापार को बन्द करना । इसके अतिरिक्त वह और कुछ नही करना चाहता ।'

शुक्ल जी का यह कथन यदि लागू होता है तो केवल आवेग-रहित शुद्ध घृणा पर, उत्कट घृणा या क्षोभयुक्त, क्रोधयुक्त, करुणा-युक्त आदि घृणा के भिन्न-भिन्न रूपो पर नही । वास्तव मे यह उक्ति स्थूल ग्लानि या विरक्ति पर ही अक्षरश सही घटती है । घृणा की उत्कट अवस्था मे भी क्षोभ उत्पन्न होता है और सहारात्मक प्रवृत्ति भी सम्भव है । शुक्ल जी ने क्रोध और घृणा में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि क्रोधी अपने आलम्बन को हानि पहुँचाने में प्रवृत्त होता है, जबकि घृणा मे उतना उद्वेग नही होता और घृणा के विषय की हानि करने में तुरन्त बिना कुछ और विचार किए प्रवृत्त नही होता । हम अत्याचारी पर क्रोध और व्यभिचारी से घृणा करते है ।[1] शुक्ल जी ने घृणा को 'उद्वेगरहित' शांत भाव कहा है । जिसमें क्रियोत्पादिनी शक्ति नही है । घृणा निवृत्ति का मार्ग दिखाती है और क्रोध प्रवृत्ति का । घृणा

१. चिन्तामणि (प्रथम भाग), पृ० ६८ ।

विषय से दूर ले जाने वाली है, और क्रोध हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर विषय के पास ले जाने वाली ।[1]

वस्तुत: शुक्ल जी के सम्मुख घृणा का केवल विरक्ति-प्रधान रूप ही रहा है, तभी तो उन्होंने घृणा को शांत भाव या क्रियाशून्य भाव बताने की भूल की है। शुक्ल जी ने घृणा के आत्मगत रूप पर विचार ही नही किया, जिसमें व्यक्ति अपने कुकृत्य के प्रति घृणा से भरकर अपना जीवन-क्रम ही बदल देता है, कर्म के नये-नये अध्याय खोलता है और इतना उद्वेग से भर जाता है कि आत्मघात तक करने को प्रवृत्त हो सकता है । अत: घृणा अपने शुद्ध रूप मे अर्थात् आवेश-आवेग-क्रोध-क्षोभ-हीन रूप में भले ही उद्वेगहीन शांत भाव कही जाय, पर वह निवृत्तिमूलक क्रियाशून्य तो है ही नहीं। इसमे भी आवेश है, आवेग है, तीव्रता और उत्कटता है, उतनी ही जितनी प्रेम मे, जितनी शोक और क्रोध मे । सब स्थायी भाव और रस प्रवृत्त्यात्मक तथा प्रवृत्ति-मूलक होते है, अत: स्थायी भाव घृणा भी प्रवृत्तिमूलक है, निवृत्तिमूलक नही। घृणा विषय से दूर ही रखती हो ऐसी बात भी मानी नही जा सकती। शुक्ल जी ने कहा है—यदि हमे किसी आदमी से खालिस घृणा-मात्र है हम उससे दूर रहेगे, हमें इसकी जरूरत न होगी कि हम उसके पास जाकर कहे कि 'हमें तुमसे घृणा है ।" जब क्रोध, करुणा या हितकामना आदि का कुछ मेल रहेगा तभी हम अपनी घृणा प्रकट करने को आकुल होगे । हमे जिस पर क्रोध-मिश्रित घृणा होगी, उसी के सामने हम अपनी घृणा प्रकट करके उसे दुःख पहुँचाना चाहेगे, क्योंकि दुख पहुँचाने की प्रवृत्ति क्रोध की है, घृणा की नहीं। इसी प्रकार जिसके कार्यों से हमें घृणा उत्पन्न होगी यदि उस पर कुछ दया या उसके हित की कुछ चिन्ता होगी, तभी हम उसे उन कार्यों से विरत करने के अभिप्राय से उस पर अपनी घृणा प्रकट करने जायेंगे। पर इन दोनों अवस्थाओ मे यह भी हो सकता है कि जिस पर हम घृणा प्रकट करें, वह हम से बुरा मान जाय ।[2]

हमारा नम्र निवेदन है कि हम शुद्ध या खालिस घृणा को भी प्रकट करने के लिए आकुल हो सकते है, व्यभिचारी में भी अत्याचारी का कुछ अंश अवश्य रहता है, अत: उस के प्रति शुद्ध घृणा भी कुछ आवेशपूर्ण हो सकती है । सामाजिक कुरीतियो तथा रूढ़ परम्पराओ के प्रति घृणा अपना कर हम निष्क्रिय या निश्चेष्ट अथवा मूक नही रह सकते ।

क्रोध-मिश्रित घृणा के प्रसगो मे कई बार यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है, कि घृणा का भाव प्रमुख एव प्रबल है अथवा क्रोध का । अज्ञेय जी की 'विपथगा' कहानी से उदाहरण लीजिए। इसमे देश की स्वतन्त्रता के लिए क्रांति

---

१. वही, पृ० ९९ ।
२ वही पृ० १०४

कारी दल की एक सदस्या विपथगा अपनी कहानी सुनाती है, जिससे पुलिस या जेल के अफसरों के प्रति उत्कट घृणा जगती है। पुलिस उस क्रान्तिकारी दल के नेता माइकेल क्रेम्स्की को पकड लेती है, किन्तु पुलिस को यह पता नही होता कि यही दल का प्रधान है। विपथगा एक साधारण गँवार स्त्री के वेश मे माइकेल की बहन बन कर पुलिस विभाग के दफ्तर मे आती है। जनरल कोलिंग और कर्नल गोरोवस्की पहले तो उसे डाँटते है, फिर थोड़ी देर बाद जनरल कोलिंग आँख से गोरोवस्की को इशारा करता है, कुछ काना-फूसी होती है। गोरोवस्की विपथगा को अलग ले जाकर कहता है—देखो, अभी सब कुछ हमारे हाथ मे है, पर कल के बाद नहीं होगा। उसे उसे अदालत में ले जाना होगा फिर······। जनरल साहब तुम्हारे भाई पर दया करने को तैयार है······एक शर्त पर।" विपथगा उत्सुकता से पूछती है—"क्या ?"

"उसने, उस नर-पिशाच ने मेरे पास जाकर कहा, मेरिया, तुम अपूर्व सुन्दरी हो, तुम्हारे लिए अपने भाई को छुडा लेना साधारण-सी बात है।······' मुझ पर मानो बिजली गिरी। क्षण भर मुझे इस शर्त का पूरा अभिप्राय भी न समझ आया। मेरा मुख लाल हो गया। मैंने कहा—पापी ! कुत्ते ! और तीव्र गति से बाहर निकल गई। किन्तु पीछे उसकी हँसी और ये शब्द सुनाई पडे—"कल शाम तक प्रतीक्षा है उसके बाद······।[१] विपथगा के इस कथन से घृणित प्रस्ताव करने वाले कर्नल और जनरल दोनो के प्रति उत्कट घृणा हमारे मन मे उत्पन्न होती है। विपथगा के क्रोध ने उसे क्षोभयुक्त या क्रोध-मिश्रित बना दिया है। यहाँ क्रोध का भाव प्रमुख नही माना जा सकता। घृणा ही प्रधान है। यद्यपि विपथगा का मुँह क्रोध से ही लाल होता है और वह घृणा-मिश्रित क्रोध के आवेश मे ही उन्हे "पापी ! कुत्ते !" कहती है, पर पाठक के मन मे उन के प्रति क्षोभयुक्त घृणा ही जगती है।

विपथगा अपने देश की खातिर, हर कीमत पर अपने नेता को छुड़ाना चाहती है। देशभक्ति से प्रेरित होकर, वह घृणित प्रस्ताव को भी स्वीकार करने को प्रस्तुत होती है। वह अगले दिन कर्नल के पास गई और कहा कि साहब को कहला भेजे कि मुझे उनकी शर्त मंजूर है। वह उस समय वर्दी उतारकर रख रहा था। बोला, "तुम यही ठहरो। मै टेलीफोन पर कहे देता हूँ।" वह कोने मे टेलीफोन पर बात करने लगा। उसकी पीठ मेरी ओर थी, मुझे यकायक कुछ सूझा······"मैंने म्यान से उसकी तलवार निकाल ली—दबे पाँव जाकर तलवार उसकी पीठ मे भोंक दी। उसने आह तक न की।"

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पैदा होता है कि इस प्रसग मे घृणा की प्रधानता माने या क्रोध की ? क्या विपथगा का प्रचण्ड कार्य क्रोध या रौद्र का विषय नही है ? इसमे सन्देह का विषय नही कि विपथगा का उग्र या प्रचण्ड कार्य उसके घृणा-मिश्रित क्रोध

---

१ 'विपथगा' कहानी संग्रह (अज्ञेय) की 'विपथगा' कहानी

का ही द्योतक है और दर्शक या पाठक की भी क्रोध और घृणा दोनों भावों की तुष्टि इस प्रसंग में होती है तथा शुक्ल जी आदि विचारकों के इस मन्तव्य से भी कि हम घृणित वस्तु को समाप्त नहीं करते, उससे दूर हटते हैं—यह प्रसंग घृणा का कम, क्रोध का ही मुख्य ठहरता है, पर विचारपूर्वक देखें तो इस उग्रता की धुरि क्रोध-मिश्रित घृणा ही दिखाई देगी। बाल्मीकि के शाप की तरह यहाँ भी घृणा-पात्र अवाञ्छित है। विपथगा ने हत्या घृणा और क्रोध की मिश्रित प्रेरणा से की है, पर पाठक के मन में क्रोध की अपेक्षा घृणा की ही अनुभूति थी। क्रोध के विकास और प्रदर्शन का विशेष अवसर ही यहाँ नहीं आया। अतः पाठक के क्रोध और घृणा दोनों की तुष्टि होते हुए भी सीधा सम्बन्ध घृणा से ही है। अतः रौद्र की अपेक्षा यह प्रसंग बीभत्स रस का ही माना जायगा।

किसी भाव की प्रेरणा से कई बार घृणित कार्य करना तथा घृणा-पात्र के भी पास जाना पड़ता है। विपथगा देशभक्ति की प्रेरणा से यही करती है। वह ११ बजे जनरल कोल्पिग की शर्त पूरी करने जाती है, अपने नेता को छुड़ाने की कीमत चुकाने जाती है। मूल्य चुकाने के बाद, जनरल की भी वह हत्या कर देती है और फिर आत्मग्लानि के कारण आत्मघात कर लेती है। उसने अपना स्त्रीत्व देकर माइकेल को छुड़ाया—घृणित-से-घृणित स्थिति को सहा,पर बदला चुका लिया। इस प्रकार इस कहानी में बीभत्सरस का पूर्ण परिपाक हुआ है। जीवन की ऐसी ही अनेक परिस्थितियों से बीभत्स रस का सम्बन्ध होता है, रुधिर, मांस, विष्ठा आदि से नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से घृणा के जिन भेदों का स्वरूप प्रकट किया है, वे ही वास्तव में शुद्ध घृणा, आवेशयुक्त घृणा, क्षोभयुक्त घृणा और क्रोध-मिश्रित घृणा के वास्तविक रूप हैं। पिछले तीनों भेदों में क्रोध की चाशनी क्रमशः अधिक रहती है। आवेशयुक्त घृणा में भय का पुट होने से उसका स्वरूप कुछ भिन्न होगा। ऐसी स्थिति में घृणा का आश्रय क्रोध की बजाय, भय के पुट से भावावेश प्रकट करेगा, उसका कंठावरोध हो जायगा, आदि। भरत आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा कथित उद्वेगी जुगुप्सा से क्रोध-मिश्रित घृणा का ही अभिप्राय लेना चाहिए।

इन उपर्युक्त पाँच भेदों के अतिरिक्त घृणा के और भी कई रूप साहित्य में प्राप्त होते हैं। आत्मग्लानि के रूप में मानसिक घृणा का उल्लेख हो चुका है। भय-मिश्रित घृणा, हास्य-व्यंग्ययुक्त घृणा, हितकामनापूर्ण घृणा आदि घृणा के और भी कई रूप हैं। भय-मिश्रित घृणा में आलम्बन से भय भी कुछ रहता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि मैक्डूगल ने घृणा को मिश्रित भाव माना है—अर्थात् क्रोध भय और विरक्ति का मिश्रित रूप। हमने घृणा को इनका मिश्रित रसायन तो माना है, पर सब स्थानों पर क्रोध और भय के भावों का स्फुट होना नहीं माना जा सकता। क्रौंच पक्षी के वधिक वाले उदाहरण में भय का मिश्रण नहीं है, आदिकवि

का क्षोभ ही शाप देने मे व्यक्त हुआ है। हा, विरक्ति या अरुचि घृणा मे अनिवार्य रूप से रहेगी ही, चाहे दूर हटने का प्रत्यक्ष विधान न हो।

प्राचीन आचार्यों ने भी कहा है कि वीभत्स और भयानक के विभाव समान हो सकते है। घृणित वस्तु मे डर भी लग सकता है। उसके सामने आने की आशका भयमिश्रित घृणा का ही रूप प्रकट करेगी। भय-मिश्रित घृणा का एक उदाहरण पडित इलाचन्द्र जोशी के 'पर्दे की रानी' नामक उपन्यास से देखिए। इस उपन्यास मे इन्द्रमोहन हमारी तीव्र घृणा का पात्र बनता है। वह निरजना को चकमा देकर एक होटल मे ले जाता है। वहाँ वह उससे जो व्यवहार करता है, उससे उसके प्रति उत्कट घृणा उत्पन्न होती है। शराब की गध के मारे निरंजना का दिमाग भिन्नाने लगता है। वह उसे तुरन्त वापिस चलने को कहती है, पर वह तो अपनी वासना की अग्नि से जल रहा था। अत निरंजना की इज्जत पर हाथ डालना चाहता है। धोखे से दरवाजा बन्द कर लेता है। वह उसे गुण्डा, कामी! कहकर फटकारती है, दुत्कारती है। वहाँ से निकल जाना चाहती है। जब इन्द्रमोहन जबरदस्ती हाथ बढ़ाता है, तो वह उसका नाक-मुँह अपने नाखूनों मे खरोंच डालती है, बडी कठिनाई से उसके पजे से निकलती है। घृणा स्थायी मे मति सचारी का बहुत सुन्दर उदाहरण इस प्रसंग में मिलता है। उस घृणित पापी से छुटकारा पाने के लिए निरजना उसे अपने हाथ से खूब शराब पिलाती है और उसे खूब गुच करके अपने को बचा कर निकलना चाहती है। जब इन्द्रमोहन पिस्तौल निकालता है, तो वह भयभीत हो जाती है, किन्तु बड़ी युक्ति से पिस्तौल अपने कब्जे मे करके उसे फटकारती है। उसके फटकारने मे क्रोध की प्रधानता नही है, प्रधानता घृणा की ही है, उसमे क्रोध का मिश्रण अवश्य है। इस प्रकार इस प्रसग मे वीभत्स रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। वह होटल से भागकर अपने घर आ जाती है। गुरु जी के सम्मुख उसकी इन्द्रमोहन के प्रति भय-मिश्रित घृणा ही व्यजित हुई है। जब इन्द्रमोहन होटल-काण्ड के बाद आधी रात को फिर निरजना के घर आ धमकता है, तो उसे देखकर 'निरंजना की ठीक वही दशा हुई जिस प्रकार एक बडे जहरीले बिच्छू को जमीन पर रेंगते देखकर भय और घृणा के कारण रोमांच हो आता है।'

इन्द्रमोहन निरंजना से मिलना चाहता है, पर वह उसकी शक्ल भी देखना नही चाहती। हडबडी मे इन्द्रमोहन गुरु जी पर गोली चला देता है, वे बुरी तरह घायल होते हैं। निरजना इस घृणा और भय के दृश्य को देख भी नही सकती—अपनी आँखें दोनो हाथों से मूद लेती है। इस घृणा और भय के साथ क्रोध भी स्फुट होता है। वह चिल्लाती है—"खून! खून! इस हत्यारे ने गुरु जी का खून कर डाला। सुखदेया! महाराज! जल्दी आओ, पुलिस को बुलाओ। इस नीच दुष्कर्मी को अभी फाँसी पर लटकवाओ। इसके हाथ-पाँव बाँध डालो, कही भागने न पाये।"[1]

१- इलाचन्द्र जोशी : पर्दे की रानी पृ० २०८।

इन पंक्तियों मे क्रोध, भय, आवेश आदि से युक्त घृणा के मिश्रित भाव का पूर्ण प्रकाशन हुआ है। इन्द्रमोहन स्वयं आलम्बन है। उसका गोली चला देना उद्दीपन का कार्य करता है, आँखे मूँदना, चिल्लाना, फटकारना, गाली देना आदि अनुभाव भी स्पष्ट है। उसे पकड़वाना, बाँधने को कहना भी घृणित वस्तु को दूर करने, समाप्त करने का ही द्योतक है, पास रखने का नही। क्रोध, भय, उद्वेग आदि सचारी भी स्पष्ट है। इस प्रकार बीभत्स रस का पूर्ण परिपाक हुआ है।

घृणा के पात्र को गालियों का शिकार होना पड़ता है। गालियों से उसकी खूब खबर ली जाती है। गालियाँ क्रोधोत्तेजित होकर भी दी जाती है, और क्षोभ या क्रोधमिश्रित घृणा मे भी। यहाँ तक कि भय-मिश्रित घृणा मे भी गालियाँ दी जाती है। पर घृणा की गालियो मे क्रोध की गालियो की अपेक्षा उद्वेग कम रहता है। उपर्युक्त काण्ड को देखकर निरंजना के नौकर-चाकर भी स्तम्भित रह जाते है। सुखदइया एक कोने में खड़ी इन्द्रमोहन को बुरी तरह से गालियाँ दे रही थी। उसकी ये गलियाँ निश्चय ही घृणा-जन्य हैं, क्रोध की गालियाँ नही हैं।

घृणा का जो आलम्बन हमारी दया, करुणा या सहानुभूति का भी पात्र बन जाता है, उसको फटकारने, दुत्कारने मे समझाने का, उसे सुमार्ग पर लाने का दृष्टिकोण रहने के कारण, उसके प्रति हमारी हितकामनायुक्त घृणा ही व्यक्त होती है। घृणा पाप से होनी चाहिए और पापी के प्रति दया, क्षमा या करुणा का भाव—महात्मा ईसा, महात्मा टालस्टाय और महात्मा गांधी आदि महापुरुषो के इस दृष्टिकोण के आश्रय इसी प्रकार की घृणा व्यंजित हो सकती है।

'उग्र' जी के 'महात्मा ईसा' नाटक में जब ईसा अपने विपक्षियो की दुर्बलताओ पर भी शोक प्रकट करते हैं और उनके प्रति दया का भाव रखते है, तो प्रश्न उठता है कि उन कुकर्मियो के प्रति घृणा और तज्जन्य बीभत्स रस की स्थिति कैसे मानी जाय? एक नागरिक महात्मा ईसा से प्रश्न भी करता है—'सब पर दया रख कर हम विपक्षी का प्रतिवाद कैसे करेंगे ?'

ईसा का उत्तर है—प्रतिवाद हो कुकर्मो का, न कि कुकर्मी का—एक जीव के नाते सभी सदैव दया के पात्र है। ·········मरने के समय भी हमे अपने विपक्षियो पर शोक रहेगा और उनकी स्थिति पर दया।[1]

मानवप्रेम की इतनी उदार वृत्ति के आश्रय मे कुकर्मियो या पापियो के प्रति दया या क्षमा का भाव होते हुए भी उनके कुकर्मो से घृणा अवश्य उत्पन्न होगी। अतः ऐसी स्थिति में भी आलम्बन घृणा का ही विद्यमान रहेगा। सामाजिक के मन मे कुकर्मी भी घृणा के पात्र रह सकते हैं, क्योंकि कुकर्मों का सीधा सम्बन्ध कुकर्मियों के साथ होने के कारण, हम उन्हें बचा नहीं सकते। हाँ, उनकी बुरी अवस्था पर करुणा

१. महात्मा ईसा (बेचन शर्मा 'उग्र') द्वितीय अंक, दशम दृश्य, पृ० १२४-१२५।

और दया का भाव घृणा में सम्मिलित हो जायगा। हम पुकारेंगे, ओह! मानव का इतना पतन हो सकता है! भगवान्! इन्हें बचाओ।

ईसा के जीवन-चरित में हम पढ़ते ही हैं—ईसा को क्रास पर लटका दिया जाता है। मानवता का सच्चा हितैषी रोमन-शासकों, सामन्तों और पुरोहितों के कुचक्र में महान यातनाओं का शिकार होता है। उसके पाँवों और हाथों में कीलें गाड़ दी जाती हैं—काँटों का ताज सर पर पहनाया जाता है। रक्त की धाराएँ सर से लेकर सारे शरीर को एक बीभत्स रूप (बीभत्स रस नहीं, ग्लानिकारक भी नहीं) प्रदान करती हैं। ध्यान रहे, यह रक्तप्लावित शरीर बीभत्स रस का आलम्बन नहीं, बीभत्स दृश्य है, क्योंकि मानवता का ऐसा कुरूप करने वालों के प्रति घृणा जाग्रत होती है। करुण रस अर्थात् शोक स्थायी भी यहाँ स्पष्ट है। साथ ही अत्याचारियों के प्रति घृणा-क्षोभ, करुणा और दया से मिश्रित घृणा—की भावना भी जाग्रत होती है। ईसा के मुख से जब हम फिर भी ये शब्द सुनते हैं—'हे प्रभु! इन लोगों को क्षमा करना, क्योंकि ये नहीं जानते हैं कि हम क्या कर रहे हैं।' तो उन दुष्टों के लिए भी, भूत-दया के कारण, क्षमा-प्रार्थना सुन कर हमारे मन में विद्वेषपूर्ण प्रति-हिंसात्मक या क्रोधयुक्त घृणा के स्थान पर दया-मिश्रित घृणा ही उत्पन्न होगी। यह निश्चित है कि ईसा के ये शब्द भी उन पापियों के प्रति हमारी घृणा को रोक नहीं सकते। हाँ, घृणा का भाव बदल अवश्य देते हैं। दयामिश्रित या हितकामनायुक्त घृणा-नुभूति का यहाँ सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत हुआ है।

ऐसे प्रसंगों में घृणा और शोक का सुन्दर सह-अस्तित्व रहता है। एक आल-बन करुणा का होता है, तो दूसरा घृणा का। प्रश्न हो सकता है कि करुणा और बीभत्स में से यहाँ प्रबल कौन-सा है? यदि हम सारी घटनाओं का विश्लेषण करें तो हमें विदित होगा कि अत्याचारियों के षड्यन्त्रों, उनके पापाचारों और अनाचारों के प्रति घृणा की भावना हमारे मन में पहले से ही उत्पन्न होती आ रही है, किन्तु मानवता के शोकपूर्ण अवसाद के रूप से करुणा भावना भी यहाँ सहचर रही है। यहाँ अन्त में आकर दोनों की चरम परिणति होती है। बीभत्स और करुणा का साथ-साथ सुन्दर सह-अस्तित्व साहित्य में सामान्य अनुभूति की बात है। आदिकवि की आदि अनुभूति में भी दोनों का सह-अस्तित्व द्रष्टव्य है। सम्भवतः अन्य कोई दो रस इस प्रकार भिन्न-भिन्न आलम्बनों के द्वारा एक साथ इतना पुष्ट और सह-उत्कर्ष प्राप्त नहीं करते।

शुक्ल जी का कथन है कि 'घृणा का उद्देश्य जिसके हृदय में वह उत्पन्न होती है, उसी की क्रियाओं को निर्धारित करना है, जिसके प्रति उत्पन्न होती है, उस पर किसी तरह का प्रभाव डालना नहीं।'[1] जैसा कि निवेदन कर चुके हैं कि क्रोध-मिश्रित

---

१. चिन्तामणि (प्रथम भाग), पृ० १०४।

और हितकामनायुक्त घृणा पर यह बात लागू नही हाती। हम घृणित व्यक्ति को समझा-बुझाकर, फटकार कर सीधे रास्ते पर लाने या घृणित कार्य को छुड़वाने अथवा कुकर्म से पाश्चात्ताप करवाने को भी आकुल हो सकते है। उसे या उसकी बुराई को समाप्त करने की चेष्टा भी करते है। अत. यह नही माना जा सकता कि हमारी घृणा घृणा-पात्र पर किसी तरह का प्रभाव नही डालती। एक ओर शुक्ल जी घृणा को प्रेष्य मनोविकार बताते है। उनके अनुसार 'प्रेष्य वे है जो एक के हृदय में पहले के प्रति उत्पन्न होकर दूसरे के हृदय में भी पहले के प्रति उत्पन्न हो सकते है, जैसे क्रोध, घृणा, प्रेम इत्यादि।'[1] दूसरी ओर वे कहते है कि घृणा घृणा-पात्र पर कोई प्रभाव नही डालती। यह तो ठीक है कि घृणा का आश्रय यह नही चाहता कि वह भी घृणा-पात्र की घृणा का आलम्बन बने। पर वह यह तो चाहता ही है घृणित वस्तु हमारे सामने से हट जाए, हमारे ही नही, इसका अस्तित्व किसी के सामने न रहे। काश! कि यह बुरी न रहे। बुराई भलाई मे बदल जाए।' और इस इच्छा मे ही घृणा-पात्र को प्रभावित करने का उद्देश्य स्पष्ट है। अत घृणा-पात्र परोक्ष या प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ेगा ही।

प्रेष्य मनोविकार होने के कारण 'घृणा के बदले मे घृणा, क्रोध या वैर होता है।' अत. शुक्ल जी का कथन है कि 'घृणाको समझबूझ के साथ अपनाना चाहिए।' कहने की जरूरत नही कि हम यहाँ जिस स्थायीभाव घृणा का विवेचन कर रहे है, वह भली प्रकार समझी-बूझी सात्त्विक घृणा ही है, जो रसत्व को प्राप्त होती है, वह लौकिक घृणा नही, व्यक्तिगत राग-द्वेष से परे वह मानव-मात्र की अनुभूति का विषय होती है। वह ऐसे ही आलम्बनो के प्रति उत्पन्न होती है जो सहृदय-मात्र के आलम्बन बन जाते है। अत काव्यगत स्थायीभाव घृणा के सम्बन्ध मे ऐसी शका पैदा ही नही होती।

घृणा और व्यंग्य : आज तक विद्वान् व्यंग्य को हास्यरस मे ही गिनते रहे है, किन्तु हम समझते है कि व्यंग्य का आधार भी घृणा ही है। व्यंग्य का ऐसा रूप जिसमे हास्य के स्थान पर घृणा ही ध्वनित होती है, बीभत्स रस का ही विषय माना जाना चाहिए। श्री० ए० निकाल (A. Nicol) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'An Introduction To Dramatic Theory' मे स्वीकार किया है कि—

"Satire can be so bitter that it ceases to be laughable in the very least. Satire falls heavily"

अर्थात् व्यंग्य इतना तीखा हो सकता है कि जरा हँसी पैदा न करे, व्यंग्य भारी चोट करता है।' इस प्रकार के कटुतापूर्ण व्यंग्य को भी विद्वानों ने हास्य रस मे ही प्रकट किया है। खेद की बात है कि अब तक उसकी घृणापूर्ण प्रतिक्रिया के कारण

---

१ वही पृ० १२

उसे बीभत्स रस या घृणा के अन्तर्गत रखने का दृष्टिकोण प्रस्तुत नही किया गया। प्रो० जगदीश पाण्डेय ने भी स्वीकार किया है कि 'व्यंग्य के लिए यथार्थ ही यथेष्ट विषय है। पर जहाँ यथार्थ के फेर मे पड़कर लोग रक्तारप व्यौरो को जुटाने मे ही ऐतिहासिक साधुता का पाण्डित्य-प्रदर्शन करने मे ही रह जाते है, वहाँ आलम्बनो को हम परिचित पाकर निंद्य तो समझ लेते है, पर हँस नही पाते।'[१]

किन्तु इतना स्वीकार करते हुए भी उन्होंने ऐसे व्यग्य को हास्यरस की परिधि से निकाल कर बीभत्सरस मे रखने का साहस नही दिखाया। वास्तव में उपहास-पूर्ण तीव्र निन्दा या उपहास-शून्य ऐसी निन्दा ही बीभत्स रस का विषय होगी, जो हँसी के स्थान पर घृणा ही जगाती है। रीतिकालीन 'भडौवो' मे कजूस आश्रयदाताओ के प्रति उपहासपूर्ण निन्दा हास्य को ही उत्पन्न करती है, अतः वहाँ बीभत्स रस नही माना जा सकता। बिहारी के निम्न दोहे मे हल्की निन्दा हँसी ही जगाती है, घृणा नही—

करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि।
रे गधी, मति अध, तू अतर दिखावत काहि॥

किन्तु जब मैथिलीशरण गुप्त अपनी 'भारत-भारती' मे मन्दिर के लुच्चे, दुरा-चारी पुजारियो की पोप-लीला पर फबती कसते हुए कहते है—

अब मन्दिरो मे रामजनियो के बिना चलता नही,
अश्लील गीतो के बिना वह भक्ति फल फलता नही।
वे चीरहरणादिक वहाँ प्रत्यक्ष लीला-जाल है,
भक्त स्त्रियाँ है गोपियाँ, गोस्वामी ही गोपाल है।[२]

तो यहाँ हास्य या उपहास के रूप मे ही हल्की निन्दा नही मानी जा सकती, बल्कि तीव्र मानसिक घृणा जगती है। अत जहाँ पहला उदाहरण हास्य के अन्तर्गत है, वहाँ दूसरा बीभत्स रस की परिधि मे आता है।

'कामेडी'-लेखक भी बीभत्स-लेखक की भाँति, बुराइयो की दुनिया मे विचरण करता है, जीवन के ढोंगो, प्रपचो, अत्याचारो और अनाचारो को देखता है, दिखाता है, उन्हे निरावरण करता है, फिर भी वह निरपेक्ष होकर, कलात्मक ढग से, विनोद के भाव से या विनोदपूर्ण निन्दा के भाव से दुनिया का चित्र खीचता है; इसके विपरीत, बीभत्स या घृणा का चित्रण करने वाला कवि या लेखक विनोद अथवा परिहास से आगे घृणा से भरकर, घृणा उत्पन्न करने के भाव से ही दुनिया का चित्र प्रस्तुत करता है। अतः जिस व्यग्य में विनोद का भाव गौण हो, और घृणा का प्रमुख, उसे हम हास्य रस के स्थान पर बीभत्स रस मे ही परिगणित करेगे।

---

१ प्रो० जगदीश पाण्डेय : हास्य के सिद्धान्त (प्रथम संस्करण), पृ० १०२।

२ मैथिलीशरण गुप्त भारत भारती (एकादश सस्करण) पृ० १ ८

आधुनिक मनोविज्ञान-शास्त्रियो के अनुसार भी परिहास और व्यग्य के मूल मे उपचेतन मे दबी घृणा की भावना ही काम करती है। हम किसी से घृणा करते है। सामाजिक शिष्टाचार, सभ्यता या भय के कारण हम उसके प्रति घृणा का खुल्लम-खुल्ला प्रदर्शन नही कर सकते। वह घृणा का भाव उपचेतन मे दबा रहता है। उपहास, व्यग्य आदि मे वह सुन्दर वेष धारण करके निकल आता है। जैसे, गरीब का खून चूसने वाले किसी सूदखोर की कलम गिर जाने पर, उसकी आसामी या कोई व्यक्ति कहे—'सेठ जी, आपकी छुरी गिर गई।' किसी ढोंगी-कपटी दुष्ट को 'गुरु घटाल' कहना, किसी अनाडी-नकलची या ढोंगी को 'उस्ताद'-कहना आदि सब दबी हुई घृणा के ही परिचायक है। इस प्रकार व्यग्य का मूल भी घृणा मे ही दिखाई देता है।

हास्य मे जब आलम्बन के प्रति सहानुभूति या अनुराग की भावना रहती है, तो वह शुद्ध हास्य माना जाता है। जब हास्य मे कटुता आ जाती है, तो वह व्यग्य कहलाता है। व्यंग्य मे भी जब हास्यास्पद से छेड-छाड का ही भाव रहता है, उसे हानि पहुँचाने या समाप्त करने का भाव नही रहता, तभी वह हास्यरस का व्यग्य कहलायगा। जहाँ हास्यास्पद के प्रति कटुतापूर्ण घृणा की भावना जगती है, वहाँ व्यग्य बीभत्स रस में सम्मिलित होगा।

व्यग्य का मूल रूप नकलो के रूप मे था, जो दिल्लगी या रँगरेलियो के लिए भी प्रस्तुत की जाती थी, और सामाजिक कुरीतियों या वैयक्तिक बुराइयों पर व्यग्य के रूप मे भी प्रकट होती थी। यूनानी लेखक 'होरेस' ने समाज की कुरीतियों पर अच्छा व्यंग्य किया है और उसके द्वारा सामाजिक घृणा को ही जगाया है। उर्दू मे 'हिजो' का प्रयोग व्यग्य के लिए ही होता है। अरब मे 'हजो' के लिए आवश्यक था कि (१) 'हजो' केवल ऐसी वस्तुओ या मनुष्यो के प्रति ही होनी चाहिए जो घृणित और तिरस्कार-योग्य हो, (२) वह यथार्थ एव स्वाभाविक होनी चाहिए तथा (३) पूर्वजो या पूज्य-पुरुषों के प्रति कदापि न होनी चाहिए। अतिम दो नियम 'हजो' के औचित्य से ही सम्बन्ध रखते है। अतः पहला नियम ही 'हजो' का वास्तविक आधार है, जो हमारी घृणा से ही सम्बन्धित है। इस लक्षण के अनुसार 'हजो' बीभत्स रस से सम्बन्धित मानी जा सकती है।

मेरीडिथ का भी कथन है—"If you detect the ridicule and your kindliness is chilled by it, you are slipping into the grasp of satire"[1]

अर्थात् यदि आप हास्यास्पद के प्रति दयालुता का भाव छोड देते है, तो आपका हास्य व्यग्य की कोटि में आएगा'। व्यग्यकार (Satirist) को उन्होने समाज-सुधारक (Social-reformer) कहा है—

1 Mer d·th - Idea Of Comedy P 79

"Satirist is a moral agent, often a social scavenger working on a storage of bile."[१]

व्यंग्य-मिश्रित घृणा अतः जब आलम्बन के प्रति तिरस्कार या भर्त्सना, निन्दा या उपेक्षा का भाव तीव्र होता है, रंजन या आनन्द का भाव छिपा रहता है, तो वह व्यंग्य हास्य रस की परिधि मे नही लिया जाना चाहिए। ऐसा व्यंग्य व्यंग्य-मिश्रित घृणा कहलाएगा और बीभत्स रस का विषय होगा। यह भी घृणा का उसी प्रकार एक रूप है, जैसे क्रोधमिश्रित घृणा, भयमिश्रित घृणा, आवेशयुक्त घृणा आदि।

हास्य-मिश्रित घृणा . व्यंग्य-मिश्रित घृणा में हास्य अस्फुट या अर्द्ध-स्फुट रहता है, किन्तु साहित्य मे घृणा के ऐसे उदाहरण भी प्रचुरता से मिलते हैं, जहाँ घृणा मे हास्य की भी खूब छटा रहती है। घृणा के आलम्बन को दूर करने या उससे दूर होने के सिद्धान्त के आश्रय उससे हास्य-व्यग्य करना एक ऐसा विरोधाभास है जिसकी कल्पना हमारे आचार्य नहीं कर सके। प्रेमचन्द के 'सेवासदन' की नायिका सुमन परिस्थितियो की मारी दालमण्डी के एक कोठे पर जा बैठती है। किन्तु शीघ्र ही उसे अपने पेशे से नफरत हो जाती है। वह अपने ग्राहको से घृणा करने लगती है। अब वह इस पेशे को, इस कोठे को खैरबाद करके सुधारक विट्ठलदास जी के साथ जाने वाली है। जाते समय उसे चुहल सूझती है। वह अपने आशिको—अबुलवफा, सेठ चिम्मनलाल, पण्डित दीनानाथ आदि की खूब खबर लेती है। अबुलवफा की दाढी मे जानबूझकर, सिगरेट लगाने के बहाने, आग लगा देती है। मियाँ की दाढ़ी झुलस गई। हजरत जरा खफा हुए। सुमन सुनाती है—नारायण, नारायण ! जरा-सी दाढी पर इतना जामे के बाहर हो गये ! मान लीजिए मैंने जान कर ही दाढी जला दी तो ? आप मेरी आत्मा को, मेरे हृदय को रोज जलाते है, क्या उनका मूल्य आपकी दाढी से भी कम है ? मिया आशिक बनना मुँह का नेवाला नही है। जाइए अपने घर की राह लीजिए, अब कभी यहाँ न आइएगा। मुझे ऐसे छिछोरे आदमियो की जरूरत नही है।[२]

कहने की आवश्यकता नही कि यहाँ हास्य खूब स्फुट है और घृणा का सचारी बनकर आया है, वह घृणा स्थायी भाव को तुष्ट या पुष्ट करने मे सहायक हुआ है। इसी प्रकार सेठ चिम्मनलाल की खबर ली जाती है। वे तीन टाँग की कुर्सी से धडाम गिरते है। पण्डित दीनानाथ वार्निश से पुत जाते है। ये सब उदाहरण हास्यमिश्रित घृणा के है। यदि कोई हमारे कथन पर सदेह करता हुआ कहे कि यहाँ घृणा-मिश्रित हास्य रस क्यो न कहा जाए, तो हम निवेदन करेंगे कि सारे प्रसग को

---

१. Same, P. 82.

२ सेवासदन पृ० ६२ (दिसम्बर १९६० सस्करण)

पढकर स्थायीभाव के रूप मे घृणा की ही स्थिति सिद्ध होती है। सुमन को अपने पेशे से तीव्र घृणा हो जाती है। "क्या मुझे फिर यहाँ प्रातःकाल से संध्या तक मीरासियों और धाडियो की चापलूसियाँ सुननी पडेगी। फिर पाप-रजोलिप्त पुतलियो का आदर-सम्मान करना पडेगा?"…उसके यहाँ सारे दिन मीरासियो का जमघट रहता था। वह अपने दुराचार, छल और क्षुद्रता की कथाएँ बडे गर्व से कहते। उनमें कोई चतुर गिरहकट था, कोई धूर्त ताश खेलने वाला, कोई टपके की विद्या मे निपुण, कोई दीवार फाँदने के फन का उस्ताद और सबके-सब अपने दुःसाहस और दुर्बलता पर फूले हुए। पडौस की रमणियाँ भी नित्य आती थी, रगी, बनी-ठनी, दीपक के समान जगमगाती हुई। किन्तु यह स्वर्ण-पात्र थे—हलाहल से भरे हुए पात्र—उनमे कितना छिछोरापन था! कितना छल! कितनी कुवासना! वह अपनी निर्लज्जता और कुकर्मों के वृत्तान्त कितने मजे ले लेकर कहती।…शहर में जो लोग सच्चरित्र थे उन्हें यहाँ खूब गालियाँ दी जाती थी, उनकी खूब हँसी उडाई जाती थी, बुद्धू गौखा आदि की उपाधियाँ दी जाती थी। दिन-रात सारे शहर की चोरी और डाके, हत्या और व्यभिचार, गर्भपात और विश्वासघात की घटनाओ की चर्चा रहती।[१]

सुमन को इस वातावरण से तीव्र घृणा हो जाती है। वह अपने उद्धार के विचार से ही प्रसन्न हो उठती है। बडी उत्सुकता के साथ वह बिट्ठलदास जी की प्रतीक्षा करती है। "दोपहर को धाडियो का गोल आ पहुँचा। सुमन ने उन्हे भी बहाना करके टाला। उसे अब उनकी सूरत से घृणा होती थी। सेठ बलभद्रदास के यहाँ से नागपुरी सतरे की टोकरी आई, उसे सुमन ने तुरन्त लौटा दिया। चिम्मनलाल ने चार बजे अपनी फिटिन सुमन के सैर करने को भेजी, उसने उसे भी लौटा दिया।"[२]

सम्बन्ध-भावना: कृष्ण की जिस मुरली, गायो-बछडो, मक्खन और पाती आदि मे शृंगार और वात्सल्य-प्रेम मे शुक्ल जी जैसे सहृदय आलोचक, सम्बन्ध-भावना के कारण, आनन्द-विभोर हुए है, उससे कम आनन्द घृणा की इन सम्बन्ध-भावना मे नही है। सहृदयों को इसमे भी उतना ही रस मिलता है। अतः जिस प्रकार प्रेम-पक्ष मे प्रिय से सम्बन्धित वस्तुएँ भी सम्बन्ध-भावना के कारण प्रिय लगने लगती है, उसी प्रकार घृणा या बीभत्स रस मे भी घृणा-पात्र से सम्बन्धित वस्तुएँ घृण्य हो जाती है। इसका कैसा उत्तम उदाहरण ऊपर की पंक्तियों मे प्रकट हुआ है।

इस उपन्यास में, जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है, प्रमुख रस बीभत्स

---

१. वही, पृ० ७८-७९।
2 वही पृ० ९१।

रस ही है। घृणा का प्रसार आद्योपात पाया जाता है। समाज के भिन्न-भिन्न घृणित रूपो का पर्दाफाश हुआ है। हिन्दू समाज की बुराइयों को लेखक ने उभार-उभार कर प्रकट किया है। समूची हिन्दू जाति को फटकारती हुई सुमन विट्ठलदास जी से कहती है—"तो जब आपकी हिन्दू जाति इतनी हृदय-शून्य है तो मैं उसकी मर्यादा पालने के लिए क्यो कष्ट भोगू, क्यो जान दू ? जब आप मुझे अपनाने के लिए जाति को प्रेरित नही कर सकते, जब जाति आप ही लज्जाहीन है, तो मेरा क्या दोष है ?"

अत घृणा की उपर्युक्त मानसिक अवस्था मे ही सुमन अपने तथाकथित आशिको का उल्लू बनाती है, उनकी हँसी उड़ाती है और उन्हे और भी अधिक घृणा का पात्र सिद्ध करती है। सारांश यह कि उपर्युक्त उदाहरण हास्यमिश्रित घृणा का ही है, घृणा-मिश्रित हास्य का नही। अत. उक्त प्रसग बीभत्स रस का है, हास्यरस का नहीं। हास्य सचारी ही मानना चाहिए।

श्री बरसाने लाल चतुर्वेदी ने यद्यपि हास्य-व्यग्य के इस रूप को हास्य-रस से अलग करके बीभत्स रस मे स्वीकार करने का कोई दृष्टिकोण अपने शोध-प्रबन्ध मे प्रस्तुत नही किया, फिर भी उन्हे यह अवश्य मानना पडा है कि कभी-कभी व्यंग्य की कठोरता उसे हास्य की सीमा से बाहर कर देती है। उनका कथन है—'आलम्बन के प्रति तिरस्कार उपेक्षा या भर्त्सना की भावना लेकर बढने वाला हास्य व्यग्य कहलाता है। व्यग्य इसीलिए विशेषतः सामाजिक कुरीतियो, व्यवहारो या रूढियुक्त परम्पराओ को हेय तथा हास्यास्पद रूप मे रखने की चेष्टा करता है। व्यग्य के लिए तीन बातें आवश्यक है—१ निन्दा, २ सामाजिक हित, ३. वर्तमान या जीवित लक्ष्य की सीमा। व्यग्य मे हास्य इतना कठोर हो जाता है कि कभी-कभी वह हास्य की सीमा से बाहर निकल जाता है।"[१]

फिर भी उन्होने अपने थीसिस मे व्यग्य के ऐसे उदाहरण हास्य-रस में ही गिनाये है, जिनमे या तो हास्य का सर्वथा अभाव है और व्यग्य घृणा ही जगाता है या हास्य-व्यंग्य का कुछ पुट होते हुए भी घृणा की प्रधानता है। एक उदाहरण देखिए—भारतेन्दु जी के 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन मे चित्रगुप्त ढोंगी पुजारियो का लेखा-जोखा यमराज के सम्मुख प्रस्तुत करता हुआ कहता है—'महाराज, ये गुरु लोग है इनके चरित्र कुछ न पूछिए। केवल दम्भार्थ इनका तिलक-मुद्रा और केवल ठगने के अर्थ इनकी पूजा, कभी भक्ति से मूर्ति को दण्डवत् न किया होगा। पर मन्दिर मे जो स्त्रियाँ आईं, उनको सर्वदा तकते रहे। महाराज, इन्होने अनेको को कृतार्थ किया है और इस समय तो कहेंगे, मै श्री रामचन्द्र जी का दास हूँ, श्री कृष्ण जी का दास हूँ, पर जब स्त्री सामने आती है तो उससे कहेंगे—मैं राम

१- डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी : हिन्दी साहित्य मे हास्य रस (प्रथम सस्करण) पृ० ४२।

तुम जानकी, मैं कृष्ण तुम गोपी और स्त्रियाँ ऐसी मूर्ख कि फिर इन लोगों के पास जाती है।"

यह उद्धरण घृणोत्पादक ही है। इसमें हास्य विशेष स्फुट नहीं है। श्री बरसाने लाल चतुर्वेदी ने इसे हास्य रस के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है।[1] वस्तुत. इसमें घृणा का ही विकास हुआ है, हास्य-व्यंग्य स्फुट या अस्फुट रूप में जो भी है, वह भी घृणा का सहायक बन कर आया है। अत यह हास्य-व्यंग्य-मिश्रित घृणा का उदाहरण ही मानना चाहिए। इसी प्रकार भारतेन्दु-कालीन अन्य अनेक प्रहसनों मे धार्मिक पाखण्ड, मद्यपान, जूआ, वेश्यागमन, वर्ण-संस्कृति की विकृतियों, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, फेशन-परस्ती तथा अन्य सामाजिक बुराइयो व कुरीतियो का जो भंडा-फोड हुआ है, उसमे अनेक स्थलो पर हास्यरस के स्थान पर घृणा या हास्य-व्यंग्य-मिश्रित घृणा के उदाहरण पाए जाते है। उन्हे हास्य रस के अन्तर्गत गिनना भूल ही है।

आलम्बन की दृष्टि से मानसिक घृणा के तीन भेद माने जा सकते है— १ दुराचार या पाप के प्रति घृणा, २ पापी अथवा घृणित-व्यक्ति-चरित्रो के प्रति घृणा और ३. समाज अर्थात् सामाजिक-धार्मिक कुरीतियो, रूढियो. जैसे छुआ-छूत, नारी के प्रति दुर्व्यवहार, गरीबो का शोषण, ढोंग-पाखण्ड, धार्मिक अध-विश्वास, कट्टरता, धार्मिक वैमनस्य, स्वार्थपरता, रिश्वतखोरी, वेश्यावृत्ति, चकले पेशेवर भिखमगे, देशद्रोही आदि अनेक सामाजिक और सास्कृतिक समस्याओ के रूप मे घृणा का प्रकाशन होता है। इन सब के उदाहरण हमने आगे हिन्दी साहित्य—विशेष रूप से आधुनिक हिन्दी साहित्य से प्रकट किए है। अनेक प्रकार के नैतिक पतन के रूप मे पापो, पापियो तथा सामाजिक बुराइयों के प्रति घृणा उत्पन्न होती है। घृणा के विषयो की कोई इयत्ता नही है। भावानुभूति की दृष्टि से घृणा के शुद्ध घृणा, आवेशयुक्त घृणा, क्षोभयुक्त, क्रोधमिश्रित, भयमिश्रित, हितकामना या दयामिश्रित, आश्चर्ययुक्त, हास्य-व्यंग्य-मिश्रित तथा आत्मग्लानि-जन्य आदि अनेक रूपो को स्पष्ट किया जा चुका है। घृणा मे जिन-जिन सचारी भावो का प्रबल सचरण होता है, उन सबसे घृणा के भिन्न-भिन्न रूप प्रकट होते है।

ऊपर के विवेचन से यह भी स्पष्ट हुआ होगा कि सचारी भाव के रूप मे घृणा हास्यरस, शात रस, वीर रस, रौद्र और भयानक रस के अन्तर्गत प्रकट हो सकती है। श्रृंगार या प्रेम (रति के सब रूप), करुण और अद्भुत रस मे समान आलम्बनत्व सिद्ध न होने के कारण घृणा का सचारी रूप मे समावेश सम्भव नही है। जुगुप्सा के स्थूल ग्लानि-रूप को हमने केवल सचारी भाव माना है, उसमे स्थायीभाव बनने की योग्यता नही है। पाँचों इन्द्रियो से सम्बन्ध होने के कारण उसे ऐन्द्रिक

---

१. देखिए, हिन्दी साहित्य में हास्य रस, पृ० ८५।

जुगुप्सा भी कहा गया है। इसी आधार पर उसके पाँच भेद माने जा सकते है। घृणा के इन सब भेदोपभेदो की तालिका नीचे दी जाती है—
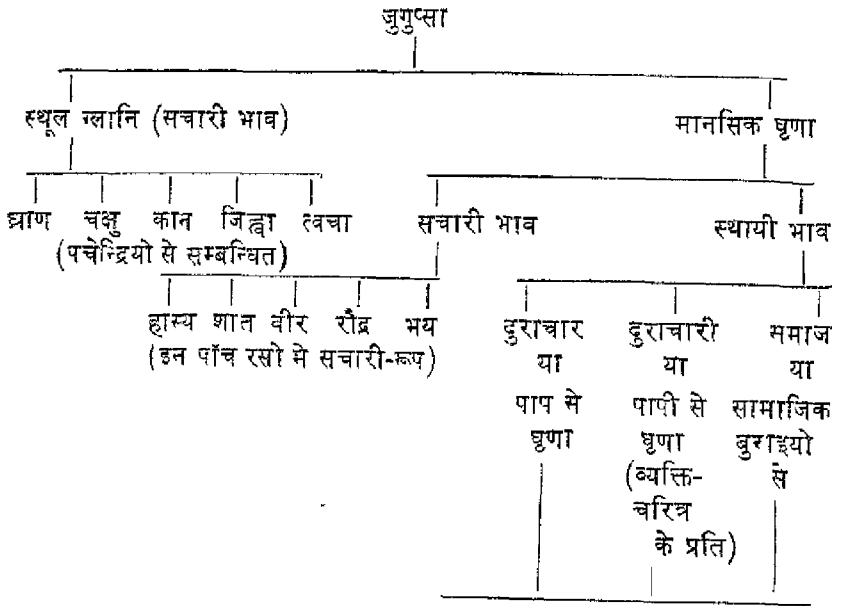
काम-वासना, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, नैतिक पतन, सामाजिक बुराइयाँ— छुआ-छूत, शोषण, वेश्यावृत्ति, रिश्वत आदि अनेक सामाजिक समस्याओं के रूप मे

शुद्ध घृणा	आवेश-युक्त	क्षोभ-युक्त	क्रोध-मिश्रित	भय-मिश्रित	आश्चर्य-युक्त	हास्य-मिश्रित	व्यग्य-मिश्रित	हित-कामना	आत्म-ग्लानि-दयायुक्त रूप मे
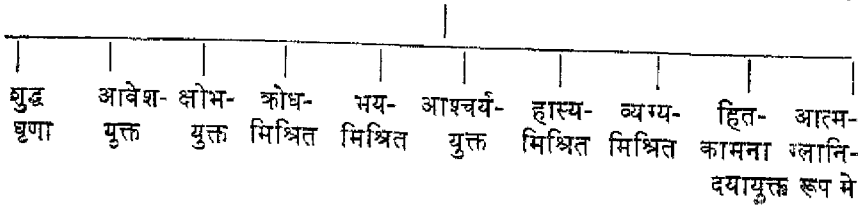
बीभत्स रस का शास्त्रीय निरूपण

रसांग-विवेचन : अध्याय २

विभाव-पक्ष

● विभाव-पक्ष

(क) विभाव-पक्ष . सामान्य विवेचन

(ख) बीभत्स रस का आलम्बनत्व

(ग) उद्दीपन-पक्ष

विभाव-पक्ष

●

व-पक्ष : सामान्य विवेचन

यी भाव को रसरूपता प्रदान करने में विभाव-पक्ष मूल कारण माना विभाव' क्या है, इसे बताते हुए साहित्यदर्पणकार ने कहा है कि 'लोक पदार्थ लौकिक रत्यादि भावो के उद्बोधक हुआ करते हैं, वे ही मे निविष्ट होने पर 'विभाव' कहे जाते है।'[1] अर्थात् लोक जीवन के हृदय मे रति, हास, शोकादि भावो के उद्बोधक जो सीतादि-रूप कारण व्य-नाट्य मे निविष्ट होने पर 'विभाव' कहे जाते है, क्योकि 'इन्ही के सामाजिको की रत्यादि वासना, रस-रूप मे अकुरित होने मे समर्थ बनायी

त मुनि ने 'विभाव शब्द को कारण, निमित्त, हेतु आदि का पर्याय बताया द्धान्त मे 'विभावन' ज्ञापन के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। इसी के द्वारा गिक तथा सात्त्विक अभिनय आदि ज्ञापित होते है।[3] तात्पर्य यह है कि , उन सब विषयों को आचार्यों ने विभाव कहा है जो स्थायी एव व्यभि-वृत्तियों को विशेष रूप से ज्ञापित कराने के कारण बनते है। यही नही,

---

बोधका लोके विभाव - काव्यनाट्ययोः।' —हिन्दी साहित्यदर्पण, पृ० १३५

न्ते आस्वादाकुरप्रादुर्भावयोग्या· क्रियन्ते सामाजिकरत्यादिभावा एभिः' इति विभावा —वही, पृ० १३६

कारण निमित्त हेतुरिति पर्यायाः। विभाव्यतेऽनेन वागंगसत्त्वाभिनया इति विभावः।
यथा विभावितं विज्ञातमित्यर्थान्तरम्।
बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागंगाभिनयाश्रयाः।
अनेन यस्मात् तेनायं विभाव इति संज्ञितः॥ —नाट्यशास्त्र ७।४

वासना रूप मे अति सूक्ष्मता से हृदय मे स्थित स्थायी भावादि को ये ही रस-योग्यता तक पहुँचाते है, अत ये रस के आधारभूत कारण है।[1]

विभाव के सम्बन्ध मे भी एक स्पष्टीकरण अपेक्षित है। विश्वनाथ आदि आचार्यों ने सब लौकिक विषयो को अर्थात् जिनसे लोक मे रत्यादि भावो का उद्बोध होता है, विभाव बताया है। इस सम्बन्ध मे भी हमारा नम्र निवेदन है कि भावो के सभी लौकिक विषय विभाव नही कहे जा सकते। लोक मे मास-मज्जादि से घृणा उत्पन्न होती है, किन्तु यह लौकिक विभाव बीभत्स रस का विभाव मानने मे हम असमर्थ है। इसी प्रकार किसी स्वभावत: क्रोधी व्यक्ति के क्रोध का लौकिक आलम्बन (कोई निरीह प्राणी) रौद्र रस का विभाव नही बन सकता, क्योंकि उसका साधारणीकरण सम्भव ही नही है। वस्तुत स्थायीभाव की ही तरह हमे यह मानना होगा कि वे ही लौकिक विषय काव्यगत या रसगत विभाव कहे जायेंगे, जो पाठक या दर्शक के मन मे स्थायीभाव जगा सके। अत विभाव स्थायीभाव अथवा उसके आश्रय सचारी के ही होते है। क्योंकि हमारे स्थायीभाव लौकिक भावो मे भिन्न उदात्त अनुभूतियाँ है, इसलिए उनके विभाव भी उदात्त ही होगे, अर्थात् वे उदात्त अनुभूतियो को जगाने मे कारणभूत होगे। विभावो का ऐसा रूप ही सहृदयो की सामान्य अनुभूति का विषय बन सकेगा। भट्टनायक-अभिनवगुप्तादि हमारे कुछ आचार्यों ने भी इसीलिए स्पष्ट शब्दों मे स्वीकार किया कि काव्य के विभाव अलौकिक होते है—अर्थात् लौकिक व्यवहार मे प्रमदा, उद्यान आदि के द्वारा लोग रति आदि स्थायीभाव के विषयाभ्यास मे निपुण होते हैं। काव्य और नाटको मे ये प्रमदादि कारण नही कहे जाते है, किन्तु प्रमदादि नामो का परित्याग करके वे अलौकिक विभावादि के नाम से पुकारे जाते है। ये विभावादि साधारण कर लिए जाने से 'ये मेरे ही है', 'मेरे शत्रु के है', 'उदासीन व्यक्ति के ही है' अथवा 'ये मेरे नही हैं', 'मेरे शत्रु के भी नही हैं', उदासीन व्यक्ति के भी नही हैं' इस प्रकार से नाना सम्बन्धो से विशिष्ट नही विदित होते। अत: सम्बन्ध-विशेष को छोड साधारण रूप से ज्ञानगोचर होते हैं।[2] अपने सामान्य गुणो से स्फुरित होने के कारण से ही ये रसो की निष्पत्ति करते है।[3]

---

१. 'वासनात्मयता स्थितं स्थायिनरसत्वेन भवन्त विभावयन्ति, आविर्भावनाविशेषेण प्रयोजयन्ति इत्यालम्बनोद्दीपनरूपा ललनोद्यानादयोविभावाः।'

—नाट्यदर्पण, तृतीय विवेक

२. लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववता काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिक विभावादि शब्दव्यवहार्यैर्ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते न ममैवैते न शत्रोरेवैनेन तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धविशेष स्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्त-इत्यादि।—अभिनव भारती, हिन्दी काव्यप्रकाश, पृ० ५९-६०।

३ 'पश्चरच सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते' इति धनजय दशरूपक चतुर्थप्रकाश

अत सिद्ध हुआ कि काव्य के विभाव लौकिक होते हुए भी एक तरह लौकिक नही कहे जा सकते । वही लौकिक विभाव काव्यगत रसानुभूति के कारण होते है, जो पाठक की उदात्त अनुभूतियों को जगाने की क्षमता रखते है, अर्थात् जो उदात्त है। हमारे आचार्यों ने साधारणीकरण-सिद्धान्त के आश्रय विभावो के सामान्य-रूप मे प्रकट होने की बात तो स्पष्ट की, पर उनका यह विवेचन विभाव के स्वरूप को अच्छी तरह स्पष्ट नही कर सका । वे स्पष्ट शब्दो मे यह नहीं कह सके कि उदात्त विभाव ही रस के विभाव बनते है । इस कथन से लौकिक-अलौकिक की भ्रान्ति का भी निराकरण हो जाता, और साथ ही काव्य में ऐसे विभावो का प्रवेश मान्य न रहता, जो सहृदय में उदात्त अनुभूतियाँ जगाने मे असमर्थ है । अत. स्थायीभाव की तरह, स्थायीभाव के उद्बोधक विभावादि भी उदात्त विषय है ।

किसी भाव की उत्तेजित अवस्था का विश्लेषण पाश्चात्य मनोविज्ञानियो ने भी किया है । इस सम्बन्ध मे श्री मैक्डूगल का कथन है कि सेंटिमेंट भावो का एक व्यवस्थित रूप मे उद्बोध है, जो किसी वस्तु के आलम्बनत्व पर केन्द्रित होता है। प्रत्येक सेंटिमेंट अपने उद्भव का पूरा इतिहास रखता है । यह धीरे-धीरे विकसित होकर अधिकाधिक जटिल और सशक्त होता है ।[1] शेंड महोदय ने भी भावो की उत्तेजना का आधार किसी-न-किसी आलम्बन को ही बताया है ।[2]

डा० राकेश गुप्त की विभाव-सम्बन्धी भ्रांति : रस-सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने वाले डा० राकेश गुप्त ने रस या भावानुभूति का आधार बाह्य वस्तु को न मानकर आश्रय की मन स्थिति को माना है । उनका यह विचार तो ठीक है । पर जब वे इस आधार पर रस-सिद्धान्त के 'विभाव' को अपूर्ण कहने लगते है, तब हमारा उनसे विरोध हो जाता है । वे विभाव मे अभिप्राय केवल बाह्य वस्तु लेकर विभावो से भावों की उत्पत्ति की बात अमान्य ठहराते हैं ।[3] वे इस सम्बन्ध मे दो

1. 'Sentiment is an organised system of emotional dispositions centred about the ideas of some object... .... .. Each sentiment has a life-history, like every other vital organisation. It is gradually built up, increasing in complexity and strength, and may continue to grow indefinitely'' —'A. I. Social Psychology. p. p. 137-140.
2. "Mr. Shand points out that our emotions, more strictly speaking our emotional dispositions, tend to become organised in systems about the various objects and classes of objects that excite them.' —An Introduction To Social Psychology, 28th Edn. Page 105.
3. "Thus the complete cause for the occurrence of an idea is made up of an objective situation plus a subjective disposition of the mind,....... ...... .The incompleteness of the Vibhavas as a cause

(शेष अगले पृष्ठ पर)

व्यक्तियों द्वारा एक सर्प के देखने का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते है कि आलम्बन-उद्दीपन समान होते हुए भी दोनो भिन्न-भिन्न अनुभूति पा सकते है। एक डर से भाग सकता है और दूसरा साहस करके उसे मारने को दौडता है। अतः उनके अनुसार विभावो से भावो की उत्पत्ति नही होती बल्कि वैयक्तिक मानसिक प्रवृत्ति (Subjective disposition of mind) ही भाव जगाती है। इस सम्बन्ध मे भी हमारा नम्र निवेदन है कि डा० राकेश गुप्त की भ्रान्ति का मूल कारण यह है कि लौकिक भाव को वह साहित्य के अलौकिक भाव से तथा लौकिक वस्तु को काव्य के आलम्बन से एक-रूप मानकर ही गड़बड पैदा करते है। 'विभाव' शब्द काव्य-शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है कि जिन वस्तुओं—आलम्बनो-उद्दीपनो—से कवि ने जो अनुभूति पाई है, वे उसी अनुभूति को पाठक मे जगाने का कारण होती है। अतः हमारे 'विभाव' निरपेक्ष बाह्य वस्तु या परिस्थितियाँ नही है। वे लौकिक नही होते, आस्वाद्य होते है। किसी विभाव के प्रति कवि का दृष्टिकोण तो रहेगा ही, और कवि के अनुसार पाठक भी अपनी मानसिक प्रवृत्ति (Subjective disposition of mind) बनायेगा। वस्तु स्वय मे कोई भाव उत्पन्न नहीं करती, इसे कौन नहीं जानता ? पर हमारे विभाव निरपेक्ष वस्तु नही है। कोई सुन्दर युवती तभी शृगार रस का आलम्बन कहलायगी, जब कवि उसे उस रूप मे दिखाना चाहेगा, उससे पूर्व वह एक प्राणीमात्र है। यदि सर्प का भयकर दिखाना कवि को अभिप्रेत है, तो वह सर्प प्रत्येक सहृदय के भय का आलम्बन बनेगा, यदि उसके आलम्बनत्व से कवि वीरता या साहस की भावना जगाना चाहता है तो प्रत्येक पाठक साहस या वीरता का अनुभव करेगा। यदि सब की अलग-अलग वैयक्तिक मानसिक स्थिति (Subjective disposition of mind) हो जाये, तो साहित्यिक रचनाओ मे रसास्वादन और साधारणीकरण की बात सब फिजूल ही हो जाय।

जब डा० राकेश गुप्त कहते है कि—

"A 'Vibhava' by itself cannot suggest a definite emotion" अर्थात् 'विभाव स्वय किसी भाव को नहीं जगा सकता', तब वह यह क्यों भूल जाते है कि उन्होंने यह शब्द (विभाव) साहित्याचार्यों से लिया है, मनोवैज्ञानिकों से नही, और कि विभाव से अभिप्राय कवि के विभाव से—अर्थात् कवि द्वारा अनुभूत और चित्रित विभाव या वस्तु से है, थोथे, कोरे वस्तु-पक्ष से नही है। साराश यह है कि हमारे आचार्यों द्वारा प्रतिपादित 'विभाव' मे मन स्थिति या मनःप्रवृत्ति—Mental disposition or idea of mind,—स्वत. सम्मिलित हैं।

(पिछले पृष्ठ का शेष)

for excitation of an emotion has been recognised even by the writers on poetics, for they have admitted that a Vibhava by itself cannot suggest a definite emotion".

Psycholog cal Studies In Rasas P 150

डा० राकेश गुप्त की विवेचना को त्रुटिपूर्ण बनाने वाली मूल बात उनकी इन पक्तियो मे दिखाई देती है, जिनमे वे रस की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहते है कि 'रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत 'रस' का अर्थ है काव्यानन्द और रस के अवयवो—विभाव-अनुभावादि—की दृष्टि से रस से अभिप्राय भाव ही है।'[1] स्पष्ट है कि यहाँ डा० राकेश गुप्त स्थायी भाव के स्थान पर भाव का ही रस-सामग्री से सम्बन्ध मान बैठे है, इसी से विभावादि का रूप भी उन्होने लौकिक मानने की भूल की है। स्थायी-सचारी के सम्बन्ध मे उनकी भ्रान्तियाँ भी इसी कारण से उत्पन्न हुई है।

हमारे आचार्यो ने विभाव के दो भेद किये है—(१) आलम्बन, (२) उद्दीपन। आलम्बन और उद्दीपन वस्तुत: परस्पर सम्बद्ध है, पृथक्-पृथक् नही। भाव को अकुरित करने वाले साधन आलम्बन कहे जाते है, और वह सब वातावरण—चाहे बाह्य हो, अथवा आन्तरिक—जो भाव को उत्तेजित या उद्दीप्त करता है, उद्दीपन कहलाता है।

(ख) बीभत्स रस का आलम्बनत्व :

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, विभाव की कसौटी यह है कि उसके द्वारा सब सहृदयों के मन में सामान्य रूप से उदात्त भावानुभूति जगनी और पुष्ट होनी चाहिए। इस दृष्टि से बीभत्स रस के प्राचीन आलम्बन आलम्बनत्व या विभावत्व की योग्यता रखते प्रतीक नही होते। मास-रक्त, विष्ठा आदि दुर्गन्धयुक्त वस्तुओ को आलम्बन मानने मे कई बाधायें हैं—(१) जैसे हम स्थायी-भाव की कसौटी उसकी आस्वाद्यता मानते है, उसी प्रकार विभावो या आलम्बन की कसौटी भी आस्वाद्यता अवश्य माननी चाहिए। काव्यगत आलम्बन वही वस्तु-सामग्री बन सकती है, जो हमारी प्रवृत्ति को तोष या आनन्द प्रदान करे। अर्थात् जिसे देखने, सुनने या पढने के लिए हम लालायित हो। हम आरम्भ मे भी कह चुके है कि रस प्रवृत्त्यात्मक होता है। अत. जिन वस्तुओ के प्रत्यक्षीकरण से हमे आनन्द नही मिलता, उन्हे हम काव्य का विभाव नही मान सकते। काव्य मे केवल स्थूल वस्तुओ को विभाव नही माना जा सकता क्योंकि जब तक कोई-न-कोई मानसिक भावना उनके प्रति प्रकट न होगी, तब तक वे हमारी अनुभूति का विषय नही बन सकते। हम रंगमंच पर या चलचित्र के पर्दे पर एक शेर को देखकर किसी प्रकार के भय का अनुभव नही करते। यदि खुले शेर को देख भयभीत होगे भी, तो यह भयानुभूति लौकिक होगी, इसका काव्यगत रस मे कोई सम्बन्ध नही होगा। ठीक इसी प्रकार मांस-रक्त आदि बीभत्स वस्तुओ

---

1 "While in the phrase 'Rasa-theory' Rasa means 'Poetic Relish,' with reference to its constituents (Vibhavas, Anubhavas etc) the term conveys the sense of Emotion."

Psychological Studies In Rasas P 107

को स्थूल रूप मे देखने से हमारा मन रम ही नही सकता। यदि ग्लानि होगी भी तो वह लौकिक अनुभूति अथवा भावानुभूति-मात्र होगी, जिसका रस से विशेष सम्बन्ध नही। शृङ्गार रस मे भी कामुकता या सुरति-युद्ध का स्थूल विषय रति (प्रेम) के अभाव मे रस का विषय कभी नही माना जा सकता।

हम काव्य मे वर्णित शोकपूर्ण विषय मे भी मन रमाते हैं, क्योंकि उससे हमारी प्रवृत्ति या भावना को तोष मिलता है। इसका यह अर्थ नही कि हम ससार मे दूसरो को दु खी देखना चाहते है, उनके दुखो मे आनन्द मनाते है, बल्कि हम जगत् मे ऐसा नही चाहते, इसी से काव्यगत शोकपूर्ण वर्णन पढ़ने से अभिभूत होते है, और आँसू निकाल कर—बार-बार आँसू निकाल कर—अपनी प्रवृत्ति को तुष्ट करते है। इसी प्रकार बीभत्स रस का आलम्बन ऐसा होना चाहिए, जिसके प्रति घृणा से भर-कर हम उसे बार-बार धिक्कारने-फटकारने को प्रवृत्त हो, और इस दुत्कार-फटकार मे हमे आनन्द प्राप्त हो। हम किसी सुन्दर दृश्य को देखकर रीझते है, किन्तु सडी-गली वस्तुओ को आँखो से दूर करना चाहते है। काव्य मे भी ऐसी वस्तुओ का स्थूल वर्णन आह्लादक प्रतीत नही होता। सडी-गली वस्तुओं के प्रति हमारी घृणात्मक प्रवृत्ति केवल घ्राणादि इन्द्रियो से ही सम्बन्ध रखती है, वह मानसिक घृणा नही बन पाती। अत यदि काव्य मे रुधिर, मास-मज्जादि का वर्णन हो, तो वह काव्यगत रस का आलम्बन नही माना जा सकता, क्योकि उसमे हमारी मानसिक प्रवृत्ति सम्भव नही है। जैसे हम सडी-गली वस्तु को देखने पर घिन करते है, वैसे ही काव्य मे उसके वर्णन को पढकर घिन करेगे। उसमे हमे स्थायी भाव मानसिक घृणा का अनुभव नही होगा। उसे पढ कर किसी को ग्लानि भले ही उत्पन्न हो जाय, पर उस ग्लानि (इन्द्रियज) से रसानुभूति का कोई वास्ता नही होगा। जैसे किसी दिल के कच्चे आदमी के सामने लहू-मास, पीवादि का वर्णन करें, तो उसका जी मितलाने लगता है, हो सकता है कि वह वमन करने लगे। अब देखिए उसकी यह ग्लानि लौकिक हुई कि नही ? इसमे आनन्दानुभूति की बात कहाँ रही ? अतः आनन्द या आस्वाद्यता के अभाव मे आचार्यो द्वारा प्रवर्तित आलम्बन बीभत्स रस के आलम्बन नही माने जा सकते।

दूसरी कसौटी सामान्यानुभूति की है। वे विभाव ही काव्यगत रस के विभाव मान जा सकते है, जो सब सहृदयो मे समान अनुभूति जगाये। जो सबके आलम्बन समान रूप से बन जाये, वे ही काव्यगत रस के आलम्बन होगे। ये रुधिर, मासादि सब के मन मे ग्लानि उत्पन्न करने की भी क्षमता नही रखते। बहुत-से कड़े दिल वाले लोगो को रुधिर-मासादि का वर्णन पढ कर कोई सम्वेदना उत्पन्न होना तो दूर रहा, किसी प्रकार का आवेग ही नही होता। पक्के वैष्णवो को अवश्य शारीरिक ग्लानि उत्पन्न हो सकती है, पर हम इस ग्लानि को स्थायीभाव मानते ही नहीं।

विभाव बनने की तीसरी शर्त यह है कि उसमे उदात्तता हो। अर्थात् उदात्त

अनुभूति को जगाने की क्षमता हो। 'उदात्त आलम्बन' से यह अभिप्राय नहीं कि आलम्बन अर्थात् व्यक्ति या वस्तु-विशेष महान् हो, बल्कि इससे यही अभिप्राय है कि वह हमारी महान् प्रवृत्तियों को जगाने वाली हो, उसे देखने, सुनने या पढने से हमारे मन पर जो प्रतिक्रिया हो, वह हमारे मन को सबल बनाए, हमारी सम्वेदनाओ को जगाये तथा हमारे रागो का परिष्कार करे। इन स्थूल वस्तुओं के वर्णन में कोई उदात्तता प्रतीत नही होती। अतः प्राचीन आचार्यो के आलम्बन अयोग्य और अपूर्ण ही मानने पडते है।

इन प्राचीन आलम्बनो को स्वीकार करने मे एक और कठिनाई यह है कि आज के युग मे हम जीवन की यथार्थता अर्थात् जीवन के यथार्थ रूप को ही अपनी अनुभूति का विषय बना सकते हैं। रक्त-मासादि का भक्षण करने वाले पिशाच और पिशाचिनियो का आज के जीवन मे अस्तित्व ही नही है। आज भी समाज मे पिशाच है—खून चूसने वाले पिशाच, मास नोचने वाले नीच है, पर निश्चय ही वे उन पुराने पिशाचो से भिन्न रूप मे अपना आलम्बनत्व सिद्ध करते है। ये शोषक-पिशाच वास्तविक मानसिक घृणा जगाते है, उनका आलम्बनत्व अधिक भावानुभूति का विषय बनता है। अत प्राचीन स्थूल आलम्बनो के स्थान पर इन मानसिक आलम्बनो को मान्यता मिलनी चाहिए। आधुनिक युग मे कुछ विचारको ने इस ओर सकेत भी किया है। इस सम्बन्ध में डा० सुधीन्द्र का कथन[1] उल्लेखनीय है—'सामाजिक भूमिका मे शास्त्रीय वीभत्स रस की व्यजना नही मिलती, क्योकि वह रस ही वीभत्स है। कदाचित् ऐसा प्रसग चित्रित करना मानव को रुचिकर नहीं होता। इस रस के सम्बन्ध मे मेरा मत यह है कि इसका भी आलम्बन बदलना चाहिए। अब तो जो वस्तु हमें घृणा उत्पन्न करे वही वीभत्स का आलम्बन होनी चाहिए, जैसे, वर्तमान पूजीवादी व्यवस्था वाले समाज मे यह घृणा शोषक-पीड़क, अन्यायी-अनाचारी के प्रति हो सकती है।

'इस कोटि मे इन पक्तियो का समावेश होगा—

अगर सभ्यता आज भरे को ही है भरना।
नही भूलकर कभी गरीबो का हित करना।
तो सौ-सौ धिक्कार सभ्यता को है ऐसी।
जीवमात्र को लाभ नही तो समता कैसी?

(वर्षा और निर्धन, केशवप्रसाद मिश्र)'[1]

अपनी सम्पूर्ण अध्ययन-परिधि मे हमें केवल एक ही विचारक ऐसा मिला है, जिसने बीभत्स रस के आलम्बन-परिवर्तन का सकेत किया है। यद्यपि डा० सुधीन्द्र भी प्राचीन आलम्बनों का स्पष्ट खण्डन नही कर सके, तो भी उनका उपर्युक्त कथन

---

१ डा० सुधीन्द्र - हिन्दी कविता मे युगान्तर (प्रथम सस्करण १९५०), पृ० ४७२-७३।

उनकी रस-मर्मज्ञता का परिचायक है। उन्होने परम्परागत शास्त्रीय बीभत्स रस को ही बीभत्स कह कर और उसके चित्रण को अरुचिकर मान कर अपनी सूक्ष्मदर्शिता का ही परिचय दिया है। हिन्दी के कुछ और विद्वानो ने भी यह स्वीकार किया है कि बीभत्स रस के और भी आलम्बन हो सकते है, जैसे किसी के दुष्टतापूर्ण कार्य आदि। बाबू गुलाबराय ने स्पष्ट शब्दों मे कहा है कि 'बीभत्स का उदाहरण होने के लिए यह आवश्यक नही है कि मदिरा, मास या रुधिर का ही वर्णन हो। जिस वस्तु से घृणा हो वही बीभत्स का विषय हो जाता है। यदि कोई निन्दनीय कार्य करे, तो उसका कार्य बीभत्स रस का उत्पादक होगा।'[1]

जहाँ इन विद्वानों ने दुराचारी और अनाचारी व्यक्तियों के कार्यो को बीभत्स रस का विषय मानकर अपनी रसज्ञता का परिचय दिया है, वहाँ परम्परागत आलम्बनो को मान्यता देकर अपनी रस-दृष्टि को निर्दोष नही रहने दिया। रसो पर शोध करने वाले डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित के तत्सम्बन्धी विचार देखिए—'बीभत्स का स्थायी भाव जुगुप्सा है, जो किसी अनभिमत, गर्हणीय अथवा उद्वेजक वस्तु को देखकर या सुनकर अथवा गन्ध, रस या स्पर्श-दोष के कारण उत्पन्न होती है। कही किसी ऐसी वस्तु को चखकर जो स्वाद मे विचित्र और तुरन्त त्यागने की इच्छा उत्पन्न करने वाली हो; अथवा कही ऐसी वस्तु का स्पर्श जो छूने मे गन्दी प्रतीत हो, जिससे चित्त विकृत होने लगे, ऐसे सब पदार्थ जुगुप्सा उत्पन्न कर सकते है और यह जुगुप्सा विभावादि से परिपुष्ट होकर बीभत्स रस के रूप में व्यक्त हो सकती है।'[2]

खेद है कि विद्वान् लेखक ने इन प्राचीन आलम्बनो के इन्द्रिय-रूप को ज्यो-का-त्यो स्वीकार करके परम्परा का पालन किया है। बाबू गुलाबराय की तरह आगे वे स्वीकार करते हैं कि 'जिन-जिन वस्तुओ से घृणा उत्पन्न होती है, वे सब बीभत्स के विभाव हैं। यहाँ तक कि किसी के दुष्टतापूर्ण कार्य भी विभाव का काम कर सकते हैं। किसी की शारीरिक-मानसिक कुरूपता को भी विभाव माना जा सकता है।' साराश यह कि आज तक प्राय सभी विद्वानों को प्राचीन स्थूल ऐन्द्रिक आलम्बन स्वीकार्य रहे है। उनसे बीभत्सरसानुभूति मे अनेक भ्रान्तियाँ प्रकट हुई है। आचार्य रामदहिन मिश्र ने भी प्राचीन वस्तुगत आलम्बन को उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है। पिशाच की बाला का 'मालती माधव' से अनुवादित-रूप मे यह उदाहरण प्रस्तुत किया गया है—

> आंती के तार के मंगल कंगन हाथ मैं बाँध पिशाच की बाला।
> कान मे आतन के झुमका पहिरे उर मै हियरान की माला।

---

१ बाबू गुलाब राय · नवरस पृ० ४६९

२ डा० दीक्षित रस-सिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण (प्रथम स०) पृ० ३७२

लोहू के कीचड से उबटे सब अंग बनाये सरूप कराला।
पीतम के संग हाड के गूदे की मय पिये खुपरीन के प्याला।[1]

उन्होंने इस उदाहरण को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि 'यहाँ पिशाच की बाला के वर्णन मे ही वीभत्स रस का संचार होता है।' वस्तुतः यह कथन रूढ़ि का ही द्योतक है। पिशाच की बाला को नायिका का रूप समझकर इसे शृंगार रस के आभास का उदाहरण क्यों नही माना जा सकता ? वस्तुतः बाह्य रूप से कोई कुरूप वस्तु तभी मानसिक घृणा का आलम्बन बनेगी, जबकि उसकी आन्तरिक कुरूपता भी प्रकट हुई हो।

बीभत्स रस का आलम्बन विस्तार : ऊपर के कथन से स्पष्ट हुआ कि आलम्बन के सम्बन्ध मे आचार्यों की दृष्टि सीमित ही रही। वास्तव मे वीभत्स रस के आलम्बनो की कोई इयत्ता नही। घृणित आचरण वाला कोई व्यक्ति, कोई भी घृणित कर्म अथवा घृणित सामाजिक धार्मिक रूढ परम्पराये या रीति-रिवाज आदि बीभत्स रस के आलम्बन हो सकते है। व्यक्ति की दृष्टि से जैसे देश-सेवक, राष्ट्रनायक, सुधारक, सदाचारी, परोपकारी आदि सद्गुणी व्यक्ति हमारी श्रद्धा, प्रेम अथवा भक्ति के भाजन बनते है, उसी प्रकार देश-द्रोही, दुराचारी, दुष्ट, लम्पट, झूठे, पाखण्डी, विलासी, वेश्यागामी, मानव-शोषक, पुरातनपन्थी, रिश्वतखोर, स्वार्थी, क्रोधी, व्यभिचारी आदि अनेक प्रकार के दुर्गुणी व्यक्ति हमारी घृणा के पात्र होते है। मुझे लगता है कि बीभत्स रस का आलम्बन-पक्ष शृंगार, करुण आदि किसी भी रस से कम व्यापक नही है, अधिक विस्तृत चाहे हो।

जीवन-परिस्थिति के साथ आलम्बन भी बदलते हैं : हास्य के आलम्बन पहले केवल भोजनभट ब्राह्मण, कजूस आदि कुछ सीमित ही थे, किन्तु आज उनके आलम्बनत्व की कोई सीमा नही मानी जाती। इसी प्रकार बीभत्स रस के प्राचीन रूढ आलम्बनों को ही लिए बैठे रहना जीवन और जगत् से आँखें मूदना ही है। जीवन की परिस्थितियों के अनुसार अनुभूतियो मे परिवर्तन उपस्थित होता है, और तदनुरूप परिभाषाएँ बदलती है, आलम्बन बदलते है। प्राचीन लेखकों के सम्मुख सामाजिक समस्याओं का विशेष दृष्टिकोण नही था, आज हमारे सामने अनेक सामाजिक कुरीतियाँ, गली-सडी रूढ परम्पराएँ और घृणित रीति-रिवाज तथा समस्याएँ उभर कर प्रकट हुई है। वे सब बीभत्स रस का आलम्बन बनती है। जीवन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियो और अनेक पहलुओ से बीभत्स रस का सम्बन्ध है। हमारे आचार्य वीभत्स रस का जीवन-व्यापी अनुभव नही कर पाये।

जिस प्रकार शृंगार के आलम्बन मे सुन्दरता, हास्य में असगति, करुण मे दयनीयता, वीर मे पुरुषार्थ का गुण रहता है, उसी प्रकार वीभत्स के आलम्बन मे

---

१ प० रामदहिन मिश्र काव्यदर्पण (प्रथम संस्करण) पृ० ६– पर उदाहृत।

कुरूपता और विद्रूपता अनिवार्य है। किन्तु कुरूपता से अभिप्राय केवल बाह्य शारीरिक या वस्तुगत कुरूपता से नही है, आन्तरिक अर्थात् चारित्रिक कुरूपता आवश्यक है।

आचार्य शुक्ल का कथन है कि 'घृणा के स्थूल विषय प्राय सब मनुष्यो के लिए समान होते हैं। .... घृणा और श्रद्धा के मानसिक विषय भी सभ्य जातियो के बीच प्राय सब हृदयो मे समान और निर्दिष्ट होते है। वेश्यागमन, जूआ, मद्यपान, स्वार्थपरता, कायरता, आलस्य, लम्पटता, पाखण्ड, अनधिकार चर्चा, मिथ्याभिमान आदि विषय उपस्थित होने पर प्राय: सब मनुष्य घृणा करने के लिए विवश है। ....'' घृणा के विषय म मतभेद का एक और कारण ग्राह्य और अग्राह्य होने के लिए विषय-मात्रा की अनियति है।'[1] निस्सदेह घृणा के विषय सब की समान अनुभूति के होते है, तो भी उनमें युग की बदलती हुई सवेदनाओं के कारण कुछ परिवर्तन होता ही है। कौन वस्तु बुरी है, उसका कितना और कैसा रूप निंद्य है, इस बात का निर्णय जब विवादास्पद हो जाता है, तो घृणा के दृष्टिकोण में अन्तर पड़ेगा ही। आलम्बन मे अन्तर के मुख्य दो कारण होते हैं—१ देश-काल का अन्तर यद्यपि घृणित कार्य सबके लिए घृणा का विषय होता है, तो भी देश-विशेष की अपनी परम्पराओ और सस्कारो के कारण अनुभूति की न्यूनता और आधिक्य मे कुछ अन्तर पड सकता है। समय-समय पर सामाजिक भावनाएँ बदलती रहती है, नीति और आचरण-सम्बन्धी नियमो मे भी परिवर्तन होता है। यही कारण है कि घृणा के आलम्बनों मे भी परिवर्तन होता है। पहले वर्ण-व्यवस्था स्पृहणीय रही होगी, किन्तु आज वर्ण-भेद को हम अच्छा नही मानते। जाति-पाँति के भेद-भाव और छुआ-छूत आज हमारी घृणा के आलम्बन है। क्रौच पक्षी के वध को देखते ही ऋषि वाल्मीकि ने एकदम व्याध को फटकारा और अभिशप्त कर डाला। उनकी घृणा व्याध के प्रति स्पष्ट रूप में व्यजित हुई है। रामायण-काल का यह भाव महाभारत-काल मे कुछ परिवर्तित-सा प्रतीत होता है। महाभारत के आदि पर्व मे महाराजा पाण्डु भी मृगया करते हुए अपने बाणों का निशाना काम-चेष्टारत हरिण और हरिणी को बनाते है, जिससे हरिणी तुरन्त मर जाती है। आहत हरिण, जो वास्तव मे कर्दम ऋषि थे, इस मृगया की निन्दा करते है। पर राजा पाण्डु मृगया को राजधर्म कहकर अपने कृत्य को न्यायोचित ठहराता है। आज का मानव पशु-पक्षी आदि सब को अपने लिए ही मानता है, अत हरिण हो या क्रौच किसी के बध को वह निंद्य नही समझता। अतः काल-क्रम से दृष्टि-भेद होने पर, युग की बदलती हुई धारणाओं और सवेदनाओ के साथ आलम्बनो मे भी अन्तर उत्पन्न हो जाता है।

१ चिन्तामणि प्रथम भाग पृ० १००-१०१

युग की बदलती हुई नैतिक धारणाओ के आधार पर ही पाप-पुण्य का निर्णय होता है। जो सती-प्रथा नारी के गौरव का प्रतीक मानी जाती थी, जिस पर्दे की प्रथा को नारी का एक-मात्र कवच समझा जाता था, वे सब आज हमारी घृणा की आलम्बन बनी हुई है। युग की बदलती हुई मानवतावादी दृष्टि के प्रभाव से हमने अपनी संवेदनाओं को पर्याप्त व्यापक बना लिया है। पहले एक चोर चोर ही समझा जाता था, उसका कार्य निंद्य था; वह समाज और न्याय की आँखो मे अपराधी था—दण्ड का पात्र था। किन्तु आज हम उसकी परिस्थितियों का भी अध्ययन करते है। यदि हम देखते है कि अपनी दरिद्रता, अपने भूख से तड़पते हुए बाल-बच्चो को देखकर विवशता के कारण उसे चोरी करने के लिए बाध्य होना पड़ा तो घृणा की अपेक्षा उसके प्रति सहानुभूति ही हमारे हृदय मे जगेगी। पहले एक वेश्या वेश्या ही थी—कलंकिनी, निंद्या, नारकीय-जीव। उसके प्रति घृणा ही जगती थी। उसे अपनाने की बात तो दूर, उसकी चर्चा से ही लोग नाक-भौ चढ़ाते थे। आज दृष्टिकोण बदला है, तो वेश्या के प्रति सहानुभूति जगती है। उसे अपनाने वाले युवक समादृत होते है। अब ऐसे समाज के प्रति घृणा भी जागृत की जाती है, जिसकी दूषित पद्धतियो से हमारी ललनाओं को कोठे सजाने पड़ते है। इस प्रकार सामाजिक और नैतिक मूल्यो में परिवर्तन होने पर घृणा के आलम्बनो मे भी भेद उत्पन्न होता है।

आलम्बन मे परिवर्तन का दूसरा कारण कवि का अपना निजी दृष्टिकोण होता है। वास्तव मे काव्यान्तर्गत आलम्बन की सिद्धि कवि के चित्रण पर ही निर्भर करती है। कवि जैसी अनुभूति स्वय प्राप्त करता है, वैसी ही पाठको में प्रेषित करेगा। अत. युग की बदलती हुई सवेदनाओ के कारण, कविकर्म सामयिक बनकर नही रह जाता, बल्कि कवि की अभीष्ट अनुभूति का समावेश होने के कारण उसकी रचना से पाठक भी वही अनुभूति ग्रहण करता है। यदि कवि रावण को पापी, दुराचारी, अत्याचारी के रूप में चित्रित करना चाहता है और उसके प्रति उसका हृदय घृणा के भाव से अभिभूत हुआ है, तो निश्चित ही पाठक भी वही भाव ग्रहण करेगा। यदि कवि ने रावण को एक विद्वान्, पण्डित, विचारशील और राष्ट्रनायक के रूप मे अनुभव किया है, जो सीता को उठाकर अपनी बहन के अपमान का बदला ही लेना चाहता है, तो पाठक के मन मे रावण के प्रति घृणा नही जग सकती। तुलसी के 'रामचरितमानस' मे रावण घृणा का पूर्ण आलम्बन बना हुआ है। स्वयंभूदेव के 'पउमचरिउ' मे उसके कृत्यो का स्वरूप इतना घृणोत्पादक नही, क्योकि कवि स्वयभूदेव ने रावण के अत्याचारों का विशेष चित्रण नही किया। श्री दीनानाथ दिनेश का नाटक 'रावण' यदि पढ़ा जाय, तो उससे रावण के प्रति श्रद्धा भले ही जगे घृणा का सवाल ही पैदा नहीं होता, क्योकि उसमें लेखक ने रावण को राष्ट्रनायक के रूप मे चित्रित किया है जो अपनी बहन का राम के द्वारा अपमानित होना राष्ट्रीय

अपमान समझता है। विभीषण को उक्त रचना मे राष्ट्रद्रोही के रूप मे चित्रित किया गया है। अत उसके प्रति घृणा जगती है। पर यह आलम्बन-विपर्यय भी एक सीमा तक ही होना चाहिए। जो लेखक इतिहास-पुराण-संस्कृति के विपरीत अपनी धारणाएँ प्रकट करना चाहते हैं, उन्हे लोक-संस्कारों का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। यदि कोई लेखक अपनी मौलिकता के मोह मे राम, कृष्ण, युधिष्ठिर आदि हमारे लोक-नायको को अकारण ही घृणा का आलम्बन बनाने लगे, तो उसका यह प्रयास हास्यास्पद ही होगा। जो लोक-विश्रुत व्यक्ति हमारे जन्मजात सस्कारों मे श्रद्धा के भाजन बन चुके है, उनके विरुद्ध घृणा जगाना व्यर्थ ही है।

श्री आनन्द कुमार के 'अंगराज' मे इतिहास-पुराण और परम्परा तथा संस्कृति के विरुद्ध कौरवों को सज्जन और पाण्डवों को दुर्जन-रूप मे चित्रित किया गया है। यह दृष्टि-परिवर्तन उचित नही माना जा सकता। भाव और रस मानसिक संस्कारो से ही सम्बन्ध रखते हैं। अत जिन पात्रो के सम्बन्ध मे हमारी पूर्वधारणाएँ श्रद्धा-भाजन के रूप में सस्कारबद्ध हो चुकी है, उनका यह परिवर्तित रूप हमारे सस्कारी मन को मान्य नहीं हो सकता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इतिहास के विरुद्ध भावना जगाने की ऐसी प्रवृत्ति का विरोध अपने 'इतिहास' में किया है। 'अंगराज' के कवि ने बडी विचित्रता के साथ पाण्डवों को असत् पक्ष के रूप मे चित्रित किया है। कवि के अनुसार युधिष्ठिर आदि पाण्डव वास्तव मे अपनी धूर्तता के बल पर धर्मात्मा बने हुए थे, उन्होने ही कौरवो के विरुद्ध षड्यन्त्र किया, और उनके विरुद्ध झूठा प्रचार किया। उन्होने स्वय ही लाक्षागृह में आग लगाई थी, और स्वय झूठा प्रचार किया था कि दुर्योधन ने शत्रुता के नाते हमे मारने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार पाण्डवो को छली-कपटी दुर्जन बनाया गया है—

कुरुशासन मे प्रबल हुआ था षड्यंत्री-समुदाय।
महीपाल धृतराष्ट्र अन्धताकारण था निरुपाय।
पांडुपुत्रगण उसे मानकर स्थानापन्न नरेश।
स्वय राजसत्ता पाने को उत्सुक थे सविशेष॥

× × ×

पाण्डु कुमारो को असह्य था दुर्योधन-उत्थान।
रहे कूट योजना बनाते नित वे पूर्व-समान॥

× × ×

प्रजाजनो से कहकर निज को पैतृक राज्य-विहीन।
अन्यायी कहकर कुरुपति को, निज को सज्जन दीन॥
दुर्योधन को दनुज स्वय को बता धर्म-अवतार।
धर्मराज ने किया लोक में राज्य विरुद्ध प्रचार
एक रात्रि को हुआ ~ सहसा

गुप्त वेश में भगा युधिष्ठिर लेकर निज परिवार ।।
कहा सभी ने हुए असंशय पांडुतनय निष्प्राण ।
यह राजा की नृशंसता का है प्रत्यक्ष प्रमाण ।।
इस घटना से पृथात्मजों का हुआ मनोरथ सिद्ध ।
जन समाज मे हुआ कौरवी अत्याचार प्रसिद्ध ।।[1]

इस प्रकार कवि ने इतिहास-पुराण और परम्परा के विरुद्ध कौरवो को सज्जन और पाण्डवो को दुर्जन-रूप मे चित्रित करने का प्रयास किया है, और दुर्योधनादि की अपेक्षा पाण्डवो के प्रति घृणा जगानी चाही है। हमारे सस्कारी मन को ग्राह्य न होने के कारण, ऐसे आलम्बन-परिवर्तन मे अनौचित्य-दोष आ जाने के कारण, रसानुभूति मे व्याघात ही उत्पन्न होता है।

जहाँ महाभारत और उस पर आधारित काव्यो मे दुर्योधन, दु शासन आदि दुष्ट पात्र हमारी घृणा के आलम्बन बनते है, द्रौपदी का चीरहरण करने वाले दु शासन-दुर्योधन आदि के प्रति हमारी तीव्र घृणा जगती है, वहाँ 'अगराज' के लेखक ने उलटा द्रौपदी और पाण्डवो के छल-कपट तथा अविनय की बात चलाकर उन्हें ही नीच-प्रकृति दिखाने का प्रयत्न किया है। भरी सभा मे जिस द्रौपदी का चीरहरण हुआ, कवि ने उसे ही उच्छृखल, कर्कशा और असभ्य दिखाया है—

दुश्शासन अवलोक कोपना का दुस्साहस घोर ।
बलपूर्वक ले चला उसे तब द्यूतसभा की ओर ।।
उस भामा ने किया प्रदर्शित दुर्दम चित्तोन्माद ।
आई वह अविराम सुनाती असहनीय दुर्वाद ।।

× × ×

हुई मर्मभेदी वाक्यो से वह पूर्वाधिक क्रुद्ध ।
नीच भाषिका रही बोलती सभ्य समाज-विरुद्ध ।।
हास्तिनेश तब आत्ममूर्ति से बोला वहाँ अभग्न ।
मौन न हो तो इसी सभा में इसे बना दो नग्न ।।[2]

इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने मौलिकता के मोह मे व्यर्थ ही इतिहास-पुराण-सस्कृति के विरुद्ध दुर्योधन का पक्ष लिया है। सम्भवत कर्ण को सत्यपक्ष का पथिक दिखाने के लिए, अपने नायक का गौरव रखने के लिए, ऐसा किया गया हो, पर यह कितना अनुचित है! कर्ण का नायकत्व बिना संस्कार बिगाडे भी, उसी प्रकार सिद्ध हो सकता था, जैसे महाभारत में कौरव-पक्ष लेने पर भी भीष्म और द्रोणाचार्य की सज्जनता स्वयसिद्ध है। 'अंगराज' मे आलम्बनत्व-विपर्यय का

१. श्री आनन्दकुमार : 'अंगराज' (प्रथम संस्करण), पृ० ६२-६४।
२ वही. पृ० ७६-७७।

यह प्रयास भी बहुत ही लचर है, मिथ्या-आरोपण स्थान-स्थान पर प्रतीत होता है। लेखक अपने प्रयास में सर्वथा असफल रहा है, यही कहना पड़ता है। अनेक प्रसगो मे पाण्डु-पक्ष को विकृत रूप में प्रकट किया गया है, और कौरवों की सज्जनता दिखाई गई है। पर कवि की यह मौलिकता स्थान-स्थान पर क्षीण प्रतीत होती है। वह पाण्डुपक्ष के प्रति घृणा तो जगा ही नही सका है, साथ ही कौरव-पक्ष का औदात्त्य भी विशेष अनुभूति का विषय नही बना सका। इससे प्रमाणित होता है कि ऐसे सस्कार-विरुद्ध प्रयास सफल नहीं हो सकते।

कवि ने काव्य की भूमिका मे पाण्डवो का सक्षिप्त परिचय देते हुए कहा है—पाण्डवो मे युधिष्ठिर सर्वप्रमुख था। महाभारत मे उसको लोग प्राय वही स्थान देते है, जो रामायण मे राम को। बाल-बुद्धिवाले खिलौने के हाथी को हाथी मान ले तो बुरा नही, लेकिन प्रौढ़ बुद्धिवालो को असली-नकली का विवेक करना ही चाहिए ''राम ने अपने भाई को अपना राज्य दे दिया था, युधिष्ठिर ने अपने भाई से उसी का राज्य छीन लिया—युधिष्ठिर ने निर्लज्जतापूर्वक अनुजवधू का सतीत्व-अपहरण कर लिया था। उस समय राम होते तो सम्भवत' युधिष्ठिर बालि की दशा को प्राप्त होता। ऐसा भ्रष्टाचार साधारण व्यक्ति द्वारा भी सह्य नही है। राम-युधिष्ठिर के प्रसग मे सीता-द्रौपदी का अन्तर भी ध्यान देने योग्य है।'' सीता के मुँह की ओर लक्ष्मण तक नही देख सकते थे, द्रौपदी पंचायती स्त्री थी।'''न वह किसी की धर्मपत्नी थी, न गृहिणी और न धर्मशीला। वह तो सजीव धर्मशाला थी।'''पाण्डवो का चरित्र आदि से अत तक धूर्ततापूर्ण है। लाक्षागृह-नामक क्रीडागृह से ये सप्रयोजन कपटवेष मे द्रुपद-नगर की ओर भगे थे। कहा जाता है कि उस गृह को दुर्योधन ने जलाया था और जलवाने के लिए ही उसे बनवाया भी था। यदि यह सत्य हो तो भी इतना तो निश्चित है कि पाण्डव लोग द्रुपदनगर जाने की योजना बना चुके थे और द्रौपदी-स्वयवर मे भाग लेना चाहते थे। उनका प्रयोजन सिद्ध हुआ। वनवास-काल में वे पुन. बहुरूपियों का आचरण करते मिलते है। इन्होंने वहाँ कूट-युद्ध का आश्रय लिया। धर्मराज स्वयं धोखे का नाम रखकर विराट को एक वर्ष तक मूर्ख बनाता रहा। दुर्योधन से पाँच ग्रामो के माँगने मे भी इनका छल था।'[1]

इस प्रकार कवि ने बात-बात मे पाण्डवो की दुर्बलता, असभ्यता, सयमहीनता, आचरणहीनता, कापुरुषता, छल-कपट-अधर्म आदि अनेक दुर्गुणो का निरूपण किया है। किन्तु उपर्युक्त पक्तियो को पढकर ही पाठक कविकी दुर्बल-तर्क-पद्धति का अनुमान लगा सकते है। उनका कथन ही पाण्डवो के प्रति उनके दुराग्रह को स्पष्ट कर रहा है। ये बातें कितनी आरोपित हैं, कितनी लचर हैं, यह बतलाने की आवश्यकता

१ सती (भूमिका) पृ० १६-२९

नहीं। अतः इस प्रकार का आलम्बन-विपर्यय या आलम्बन मे परिवर्तन सर्वथा अनुचित है।

पाप-पुण्य और घृणा का आलम्बन. जुआरी होते हुए भी युधिष्ठिर धर्मराज है, पाँचों पाण्डवों की पत्नी होते हुए भी द्रौपदी सती है। वास्तव मे पाप और पुण्य का निर्णय किसी एक रूढ़ नैतिक नियम पर नहीं हो सकता। कोई व्यक्ति सिगरेट पीता है या शराब पीता है, तो केवल इसी बात को लेकर हम उससे घृणा करने लगे, उसे दुर्जन मान बैठें और उसके अन्य कार्यों से आँखे मूद ले, तो यह हमारा सकुचित दृष्टिकोण ही होगा। यदि ऐसा व्यक्ति मानवीय-कल्याण-साधना मे प्रवृत्त है या देशभक्ति की बलिवेदी पर मर मिटता है, तो उसका सुरापानादि व्यक्तिगत दुर्गुण देश-भक्ति की मजुल भावना में घुल जाता है या छुप जाता है। हम उसकी आत्मा की महानता के प्रति नतमस्तक ही होगे। श्री हरिकृष्ण प्रेमी के 'छाया' नाटक मे माया या 'नसीम' नामक नारी अपना शरीर बेच कर भी एक कवि और उसके परिवार की मान-रक्षा करती है। कवि प्रकाश की पत्नी उसके सम्बन्ध मे कहती है—'इस औरत ने अपना शरीर बेचकर एक कवि के मान को, जीवन की और उसके परिवार की रक्षा की और एक मित्र ने क्या किया ?...अधकार का चश्मा लगाए हुए सभ्य पुरुषो, जरा अपनी आँखों का इलाज कराओ। जिन्हे आप पाप का पेड कहते है, उनमे भी पुण्य के फल लगते है।'[1]

तथाकथित पाप का यह पुण्य-रूप भी कितना स्पृहणीय है! 'अगराज' के रचयिता श्री आनन्दकुमार ने पाप-पुण्य के सम्बन्ध मे इस दृष्टिकोण की अवहेलना करके ही पाण्डवों और द्रौपदी को अधम बताने की भूल की है। इस सम्बन्ध में श्री इलाचन्द्र जोशी का कथन उल्लेखनीय है—'महाभारत से पता चलता है कि पराशर घोर व्यभिचारी थे, उनके पुत्र वेदव्यास पर-स्त्रीगामी थे, और धृतराष्ट्र तथा पाण्डु अपने बाप के लडके नहीं थे। वेदव्यास के वरेण्य पिता अंधकामुक थे। पाण्डव—हाँ, महाभारत के मुख्य नायक पाण्डव भी अपने पिता के पुत्र नहीं थे, यद्यपि इस तथ्य को कवि ने रूपक के छल से किसी अंश तक छिपाने की चेष्टा की है। और पाण्डवों की श्रद्धेय माता कुती कौमार्यावस्था मे ही एक पुत्र प्रसव कर चुकी थी।...इनसे यही पता चलता है कि या तो वह युग घोर बर्बर-युग था या ज्ञान की उन्नततम सीढी पर चढ चुका था। धन्य है उस कवि के साहस को, जिसने कोई बात नहीं छिपाई, क्योंकि वह विश्वात्मा के अन्तरतम केन्द्र मे पहुँच चुका था, और जिसने केन्द्र पकड लिया हो, उसे वृत्त की बाहिरी परिधि से क्या सरोकार!...किसी सहृदय किन्तु जटिल मानसिक-स्थिति-सम्पन्न जुआरी का चरित्र-चित्रण करने का साहस इस अनीति के युग में भी आपको नहीं होगा, क्योंकि धर्मात्मा आलोचक अथवा नीति-निष्ठ सम्पादकगण आपको

---

१. हरिकृष्ण प्रेमी : छाया (द्वितीय सस्करण), पृ० ७८।

संत्रस्त करेंगे, पर महाभारतकार का आत्मबल देखिए। वह एक ऐसे जुआरी को धर्मराज की पदवी देता है, जो अपनी स्त्री तक को हार गया! बात यह है कि उसका निष्कलुष हृदय बाह्य दोषों को न देखकर अपने चरितनायक की भीतरी प्रतिभा को परखता है।'[१]

अतः पाप-पुण्य के सम्बन्ध में किसी पूर्वधारणा से काम नहीं चलता। पाप में भी पुण्य के भव्य भवन-निर्माण की क्षमता है, और तथाकथित पुण्य भी अधम-से-अधम रूप धारण कर सकता है। चीटियों को आटा डालने वाला या गरीबों में दो-चार कम्बल बाँट देने वाला पूँजीपति, जो गरीबों के शोषण से—उनकी मेहनत की कमाई से अपना घर भरता है, पुण्यात्मा नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार सिगरेट पीने वाला या कभी शराब पीने या जूआ खेलने वाला व्यक्ति यदि परोपकारी है, जीवन के उच्च मूल्यों की साधना में प्रवृत्त होता है तो पापी या बुरा नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः अच्छाई या बुराई का निर्णय मानवता की व्यापक लाभ-हानि की दृष्टि से ही हो सकता है। वे ही कृत्य उच्चतम माने जायेंगे, जिनसे मानवता का अधिकाधिक भला हो, और वे कार्य ही अधमतम होंगे, जो मानवता को अधिकाधिक हानि पहुँचाएँ। अतः घृणा के आलम्बनत्व और उसकी तीव्रता या अपेक्षाकृत कम तीव्रता का निर्णय मानव-हित और मानव-हानि की दृष्टि से ही हो सकता है। जीवन के उच्च मूल्यों की रक्षा में हमें तुच्छ और छोटे मूल्य यदि छोड़ने भी पड़ें, तो कोई हानि नहीं। आत्मा की सबलता ही सबसे बड़ा पुण्य है। देश की सेवा में अपनी पाप की कमाई को लगा देने वाली वेश्या की आत्मा, गरीबों के शोषण से इकट्ठा किया हुआ धन मन्दिरों और भिखारियों में बाँटने वाले सेठ की आत्मा से कहीं अधिक सबल कही जा सकती है।

कानून और बुराई श्री चन्द्रकिशोर जैन के एकाकी 'कानून' में गोपीचन्द अपने पिता सेठ विलासराय से प्रश्न करता है—'जुर्म की भी क्या कोई कसौटी होती है, पिताजी ?'

सेठ—'हाँ, जुर्म की कसौटी होती है और वह है कानून। इससे सामाजिक जीवन का सुधार होता है।'

गोपीचन्द—'जी नहीं, न्याय एक ऐसा बोझिल रथ है, जिसके पहियों के नीचे एक बार कुचले जाने के बाद मनुष्य-जीवन की रीढ़ सदा के लिए टूट जाती है। वह उठकर कभी खड़ा नहीं हो सकता, उसे समाज में स्थान नहीं मिलता। आपकी दृष्टि में कानून और न्याय कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु हो सकती है, किन्तु मेरी राय में यह एक मकड़ी का जाला है, जिसमें निरीह और निर्बल प्राणी एक बार फँसकर कभी बाहिर नहीं निकलते, किन्तु एक साधन-सम्पन्न व्यक्ति के जाते ही इसके ताने-बाने स्वयं टूट

---

१ श्री इलाचन्द्र जोशी देखा परखा (प्रथम पृ० ६६

हर बिखर जाते है। चमनलाल निरीह और निर्बल प्राणी है, उसे क्षमा कर देना ही न्याय है, पिता जी !'

निश्चय ही अच्छाई और बुराई का सच्चा निर्णय कानून या न्याय द्वारा भी सम्भव नही है। कानून की आँखो मे एक चोर, चोर है, चाहे उसने कैसी ही विवशता-पूर्ण विकट स्थिति मे चोरी की हो। इस एकांकी में चमनलाल सेठ विलासराय का छोटा मुनीम है। उसकी बहन अपने पति के अमानुषीय अत्याचारो से पीडित है। उसका पति नशे मे गुन रहता है, व्यभिचारी है। वह अपनी पत्नी (चमनलाल की बहन रजनी) को पीटता है। बच्चो को भी क्रूरतापूर्वक मारता है। बहन की विपत्ति को देखकर चमनलाल सेठ जी के ३ रुपए के चेक को ३०० बनाकर बैंक से रुपया निकलवा लेता है, और अपनी बहन की सहायता करता है। इस निदारुण परिस्थिति मे चोरी करने वाला चमनलाल कानून की नजरो से बच नही सकता था। सेठ विलासराय उसे पुलिस के हवाले करते है। अदालत से उसे सजा होती है। सजा पाने के पश्चात् चमनलाल जहाँ-कही भी जाता है, वही उसे फटकार मिलती है। वह सजायाफ्ता जो है ! वह सुनाता है—'जेल से छूटने के बाद एक बार जयपुर मामाजी के यहाँ गया था। दो दिन भी उनके यहाँ अच्छी तरह न रह पाया था कि मामीजी बोली—तुम सब जानते हो चमनलाल ! लड़कियो के ब्याह की बातचीत चल रही है। तुम्हारे यहाँ रहने से उनका सम्बन्ध अच्छी जगह न हो सकेगा। लो, ये दस रुपये और यहाँ से चले जाओ'। मैंने धन्यवादपूर्वक उनके रुपये लौटा दिये और फिर किसी के यहाँ नही गया। अब मुझे मनुष्य से घृणा हो गई है। ''एक बैंक मे नौकरी मिली थी। दो मास भी नही हो पाये थे कि एक बाबू को मेरे अतीत इतिहास का पता चल गया। उसने मैनेजर से शिकायत कर दी और मैं निकाल दिया गया ''उसके बाद एक सेठ के यहाँ मुनीम हुआ। वहाँ तो सात दिन भी न रह पाया था कि भेद खुल गया। धक्के देकर निकाल दिया गया और तनखाह ज़ब्त।'

''······स्टेशन की बेंच पर पड़े-पड़े रुपयों मे भरी जेबो को आँखों के सामने गुजरते देखा, जिन पर अल्प प्रयास से ही मैं स्वामित्व प्राप्त कर सकता था, किन्तु मैंने घृणा से मुख फेर लिया। एक बार फिर निष्पाप जीवन व्यतीत करने की ठानी है।''

और वह कहने-सुनने से अपने पुराने सेठ के यहाँ लग जाता है। पर बुरा हो इस कानून या न्याय और इसके ठेकेदारो का, वे बेचारे को कहाँ टिकने देते थे ! कोतवाल वही आकर उसे पकड लेता है—

कोतवाल (चमनलाल से)—क्यो बे ! कहाँ था तीन दिन से ? कही तेरा पत भी है ?

सेठ—क्या किया है इसने कोतवाल साहब ?

कोतवाल तीन दिन से न जाने कहाँ लापता है और न कोतवाली

हाजरी देने ही आया है। इन दो रातों मे शहर मे आठ नकब लग चुके। यह सब इसी पाजी का काम है। (सिपाहियों से) बाँध लो इस बदजात को।'[1]

इस प्रकार लेखक ने हमारे आज के अन्धे कानून और उसके ठेकेदारो के प्रति घृणा उत्पन्न की है। न्याय और कानून का यह दूषित प्रयोग मनुष्य को मनुष्य भी रहने नही देता। उसके साथ अमानुषिक व्यवहार होता है। वह शराफत का जीवन भी बिता नही सकता। समाज और उसकी न्यायप्रियता उसे सम्मान का जीवन बिताने नही देते। अत. घृणा के आलम्बन अर्थात् बुराई की कसौटी सहृदय की अनुभूति ही है, न्याय या कानून नही। कानून की पकड़ जुर्म के बाह्य क्रियात्मक रूप तक ही होती है, वह मानस-मंथन नही कर सकता। अभियुक्त के मन में पैठे बिना उसके जुर्मों का सही पता नही लग सकता।

अमूर्त विभाव : काव्य मे आजकल अमूर्त विभावों की भी प्रचुरता के साथ प्रतिष्ठा हो रही है। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हुआ होगा कि बीभत्स का विभाव-पक्ष अमूर्त आलम्बनो से सम्बन्ध रखता है। जब आलम्बन पाप या बुराई होती है, तब तो विभाव-पक्ष पूर्णतया अमूर्त ही बन जाता है। पर इन अमूर्त विभावो के भी अनुभूति-रूप मूर्त अवश्य होंगे, अर्थात् आधार मूर्त ही होगा, तभी काव्यगत अनुभूति जगेगी।

(ग) उद्दीपन-पक्ष :

आलम्बन के उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् उद्दीपन पर विचार करते हैं। रस तथा रस-प्रक्रिया एक अविभाज्य अखड अभिव्यक्ति या असलक्ष्यक्रमव्यग्य ध्वनि है, अत उसका यह खण्डश विभाजन केवल अध्ययन के लिए है, रसानुभूति की अवस्था मे आलम्बन, उद्दीपन, अनुभावादि खण्डश अनुभव मे नही आते। ये आलम्बन-उद्दीपन, अनुभावादि परस्पर इतने सम्बद्ध है कि कई बार इनका अलग-अलग विश्लेषण करना भी कठिन हो जाता है। शृगार रस मे सुन्दर युवक-युवती को आलम्बन और एकान्त रम्य वातावरण को उद्दीपन बताया जाता है। जैसे, रति स्थायीभाव शकुँतला और दुष्यन्त के प्रथम मिलन-प्रसग में जाग्रत होता है। दुष्यन्त के लिए शकुंतला और शकुंतला के लिए दुष्यन्त आलम्बन है। पाठकों के स्थायीभाव के वे दोनों ही आलम्बन हैं। अब प्रश्न यह है कि रति स्थायीभाव का उद्बोधन केवल शकुन्तला आलम्बन से माना जा सकता है या नही? क्या कण्व ऋषि का आश्रम, उसका एकान्त रम्य वातावरण रति के उद्बोध मे कारण नही है? इसका स्पष्ट उत्तर यही है कि निश्चय ही वातावरण भी कारण बना हुआ है। अत. इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि उस वातावरण से सज्जित शकुन्तला ही आलम्बन है। इसी प्रकार अपने शारीरिक सौन्दर्य और दृढ वक्ष वाले राजसी ऐश्वर्ययुक्त स्वस्थ राजा दुष्यन्त ही, जब उस रम्य वातावरण मे अकस्मात् शकुन्तला की नजर पडते हैं तो उसके रति भाव के आलम्बन

१ चन्द्रकिशोर जैन कानून (एकांकी एकावली समग्र, हिन्दी भवन द्वारा प्रकाशित पृ० १७२

बनते हैं। हो सकता है कि गली-बाजार मे बहुत-सी नारियों के बीच नजर आने वाली शकुन्तला आलम्बन न बनती और इसी प्रकार अन्य साधारण वेश मे फटे-हाल दुष्यन्त शकुन्तला के लिए आलम्बन न बनता। इससे स्पष्ट है कि आलम्बन की अवतारणा मे कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह साथ ही उसका उद्दीपनकारी पक्ष प्रस्तुत करे, अर्थात् आलम्बन को पुष्ट, सर्वग्राह्य और योग्य बनाये। निश्चय ही आलम्बनत्व की प्रतिष्ठा मे केवल शकुन्तला और दुष्यन्त पर्याप्त नही है, दोनों की परिस्थितिया, प्रवृत्तियाँ, गुण, वेशभूषा, वातावरण आदि-आदि सब अपेक्षित है, और सब मिलकर उनको योग्य और पुष्ट आलम्बन बनाते है। अत. आलम्बन के साथ उद्दीपन भी लगा ही रहता है। फिर भी रस-प्रक्रिया को समझने के लिए हम उनकी पृथक्-पृथक् गणना करते है।

ऊपर हमने कहा कि पाठक के रति स्थायीभाव के दुष्यन्त-शकुन्तला दोनो आलम्बन है। इसका कारण शृंगार रस का उभय पक्षीय होना है, अर्थात् दुष्यन्त और शकुन्तला दोनो आश्रय है और दोनो आलम्बन, इसी से दोनो हमारे भी आलम्बन है। कुछ विद्वान् काव्य-आश्रय को भी आलम्बन मानते है। डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने भी कुछ प्राचीन आचार्यो (साहित्यकौमुदीकार) के आधार पर अपने थीसिस मे कहा है—'आलम्बन-विभाव के दो भेद होते है—(१) विषय तथा (२) आश्रय। रत्यादि भावों के जाग्रत होने में कारण-स्वरूप विभाव ही विषय अथवा आलम्बन-विभाव कहलाते है, क्योकि इन्हे ही अवलम्बन करके स्थायी भाव जाग्रत होता है। जिस व्यक्ति मे ये स्थायी भाव जाग्रत होते है, वह उनका आश्रय-भूत होने से आश्रय कहलाता है। अभिप्राय यह है कि आश्रय, विषय तथा उद्दीपक सामग्री तीनों ही विभाव के अन्तर्गत परिगणित होते है, तथापि इनमे से अन्तिम दो ही कारण-स्वरूप होते है और पहला उनके द्वारा उद्दीपित भावो का आधार होता है।'[1]

इस सम्बन्ध मे हमारा मत है कि रस का आश्रय पाठक या सहृदय अथवा कवि ही होता है, काव्यगत 'व्यक्ति' को रस या स्थायीभाव का आश्रय मानना भ्रांति-पूर्ण ही है। वास्तव मे काव्यगत आश्रय को सब अवस्थाओ मे रसानुभूति या स्थायी-भाव-अनुभूति नही होती। माता शैव्या को जिस शोक की अनुभूति होती है वह स्थायीभाव-अनुभूति या रसानुभूति नही कही जा सकती। वह लौकिक भावानुभूति है। स्थायीभाव-अनुभूति काव्यगत आश्रय को तभी होगी, जबकि वह व्यक्तिगत स्वार्थ-सम्बन्धों से ऊपर उठकर भावो का अनुभव करेगा, जैसे उत्साह का आश्रय स्थायीभाव साहसपूर्ण-उत्साह का अनुभव करता है। दया-वीर, कर्म-वीर, युद्ध वीर आदि सब

१. डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित. 'रस सिद्धान्त-स्वरूप-विश्लेषण' (प्रथम संस्करण), पृ० १८-१९।

वीररसानुभूति के आश्रय होते है। रस के अनिवार्य आश्रय तो कवि और पाठक या दर्शक ही है। काव्यगत आश्रय और नाटक में नट ये तो वैकल्पिक आश्रय ही होते है।

अब इस बात पर विचार करते है कि क्या आश्रय को आलम्बन माना जा सकता है। रस-अनुभूति का विश्लेषण सहृदय की दृष्टि से होना चाहिए। हम देखते है कि हमारे आचार्यों ने सहृदय सामाजिक को आश्रय मानकर बहुत कम विवेचन किया है। डा० दीक्षित भी पता नहीं, सहृदय का ध्यान छोडकर, काव्यगत आश्रय को आलम्बन-पक्ष मे कैसे घसीट लाए? रस-प्रक्रिया मे हम (पाठक या दर्शक) काव्यगत आलम्बन को देखकर या पढ़कर ही अपने हृदय मे भाव को उदित पाते है। काव्यगत आश्रय का आधार भी आलम्बन ही होता है। अत जब आश्रय से पूर्व ही भाव जाग्रत हो गया, तो फिर आश्रय भावोद्बोध का कारण कैसे हो सकता है?

पुत्र-शोक मे रोती हुई शैव्या, प्रणय-याचना करने वाला दुष्यन्त, दुराचार या दुराचारी की भर्त्सना करने वाला व्यक्ति सब हमारे मन मे क्रमश· शोक, रति और घृणा स्थायी भाव को उद्दीप्त ही करेंगे। अत. इस दृष्टि मे काव्यगत आश्रय आलम्बन नहीं, उद्दीपन ही ठहरता है। आलम्बन का अर्थ कारण, आधार, निमित्त या पात्र है अर्थात् जैसे घृणा का आलम्बन हमारी घृणा का पात्र बनता है, वैसे घृणा का आश्रय हमारी घृणा का पात्र नहीं बन सकता, वह अपनी घृणा की व्यंजना से हमारी पूर्व-जागृत घृणा को ही तीव्र करेगा। अत काव्यगत आश्रय को भावोद्बोध का कारण मानना उचित नहीं है। आश्रय से पूर्व आलम्बन ही हमारी अनुभूति को जगा देता है।

आश्चर्य की बात है कि आश्रय को विभावपक्ष मे ले लेने पर भी विद्वानो ने आश्रय की चेष्टाओं अर्थात् अनुभावो को उद्दीपक मानकर विभाव-पक्ष में सम्मिलित नहीं किया? सहृदय की दृष्टि से विचारने पर हमे अनुभाव को भी उद्दीपन के अन्तर्गत स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि काव्यगत आश्रय की चेष्टाएँ (अनुभाव) हमारे स्थायीभाव को रस-रूप मे उद्दीप्त करने मे ही सहायक होती है। इसी प्रकार सचारी भाव भी रस को पुष्ट करने के कारण 'उद्दीपन' ही है। अत रस-सामग्री के दो ही भेद हो सकते है—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन मे केवल कारण और पात्रता की बात रहेगी, रस की अन्य सब सामग्री—आलम्बनगत बाह्य एव आतरिक परिस्थितियाँ तथा वातावरण, आश्रय और उसके अनुभाव और सचारी भाव आदि सब—उद्दीपन-अन्तर्गत रखी जानी चाहिए।

काव्य मे जहाँ काव्यगत आश्रय नहीं होता या आश्रय से हमारा तादात्म्य नहीं होता वहाँ या काव्य-आश्रयगत अनुभाव भी नहीं होगे ऐसे स्थलो

पर या जहाँ-कही कवि अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करता है, जैसे अपने उपन्यासों मे कही-कही प्रेमचन्द अपनी टिप्पणियाँ बीच-बीच मे देते जाते है, तो वहाँ कवि के उद्गार ही अनुभाव होगे, क्योंकि कवि की वे प्रतिक्रियात्मक टिप्पणियाँ आश्रय के ही प्रतिक्रियात्मक अनुभाव है। काव्य मे जहाँ कवि की टिप्पणियाँ या कवि-आश्रय के भी अनुभाव नही होते वहाँ काव्यगत अनुभावो का तो अभाव ही होगा, हाँ, सहृदय के अनुभावो की कल्पना हो सकती है। रसानुभूति की दशा में सहृदय की जो चेष्टाएँ या प्रतिक्रियात्मक शारीरिक उपलक्षण होंगे, जैसे करुण दृश्य को देखकर या पढकर आँसू निकलना, हर्ष मे तालियाँ बजाना, घृणा मे 'शीः शीः', 'थू—थू' करना आदि, तो ये भी अनुभाव ही होंगे, पर इन अनुभावो के उद्दीपन होने का प्रश्न ही नही उठता। ये सहृदय की रसानुभूति के ही प्रतीक हैं, जो रस-चर्वण की ही दशा है। इस सम्पूर्ण रस-प्रक्रिया और रस के उपर्युक्त अवयवो के सम्बन्ध में अपनी धारणा हम एक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं। सुदर्शन जी की 'अठन्नी का चोर' कहानी मे निर्दयी तथा रिश्वतखोर इंजिनियर साहब, सजा देने वाले रिश्वतखोर जज साहिब और सिपाही आदि हमारी घृणा के पात्र बनते है। गरीब रसीला इंजिनियर साहब का नौकर है, जो उनके भरे-घर में पूरी ईमानदारी से काम करता है। एक दिन विवशतावश वह एक अठन्नी उठा लेता है। पता लगने पर इंजिनियर साहब उसे बुरा-भला ही नही कहते, उसे बडी बुरी तरह निर्दयतापूर्वक मारते है। यही नहीं, वे उसे पुलिस के हवाले करते है। रसीला को बेपूछ छ. महीने की सजा रिश्वतखोर शेख साहब देते है—अपने न्याय के नाम पर। तब लेखक की उक्ति देखिये—'यह दुनिया न्यायपुरी नही, अँधेर-नगरी है। यहाँ चोर मालिक गिरफ्तार कराता है, चोर सिपाही गिरफ्तार करता है, चोर हाकिम सजा देता है। गरीब चोर इसलिए है कि उसका अपराध (?) प्रकट हो गया, परन्तु उन सभ्य चोरों को, उन असली डाकुओ को, जो अपने-अपने घरों में बैठकर आराम से दूसरो का धन हथियाते है, कोई नही पूछता'।

रसीला का मित्र रमजान, जो शेख जज साहब का नौकर है, रसीला की सजा सुनकर घर पहुँचा। इस समय उसका चेहरा निराशा की सजीव मूर्ति था। एक दासी ने पूछा—"क्यो रमजान, रसीला को क्या हुआ ?"

"छः महीने की कैद का हुक्म हुआ है"।

दासी ने घृणा से कहा—"बहुत अच्छा हुआ। कम्बख्त इसी लायक था। यह इन्साफ है।"

"नही, तुम गलती पर हो। यह इन्साफ नही, अँधेर है।"

दासी ने समझने का यत्न किया, पर समझ न सकी कि रमजान का क्या मतलब है ? लेखक की अंतिम पंक्तियाँ देखिए—"रात के समय, जब एक हजार, पाँच सौ और पाँच रुपए के चोर (जज शेख, इंजिनियर और क्लर्क- सिपाही आदि)

अपने मकानों में गुदगुदे बिस्तरो पर शाति की नींद सो रहे थे, अठन्नी का चोर जेल की तंग और अँधेरी कोठरी मे बन्द था और अपने आप को दूसरे दिन की यातनाओ के लिए तैयार कर रहा था।"

उपर्युक्त प्रसग से स्पष्ट है कि इसमे घृणा या जुगुप्सा स्थायी भाव है। इ जिनियर साहब प्रमुख रूप से तथा जज साहब, पुलिस-कर्मचारीआदि गौण-रूप से घृणा के पात्र है। ये ही घृणा के विषय अर्थात् घृणा-पात्र-रूप मे आलम्बन है। रमजान काव्यगत आश्रय है। कवि-आश्रय भी स्पष्ट है। बेचारे रसीला को डांटने वाले इ जिनियर साहब घृणा-पात्र (आलम्बन) है। जब वे बुरी तरह मारते है, तो हमारी घृणा को तीव्रता से जगाते है, उसे पुलिस से पकडवा कर सज़ा दिलवाते है, तो हमारी घृणा को और भी उद्दीप्त करते है। अत. आलम्बन (पात्र) के ये कृत्य उद्दीपन-विभाव है। यह घृणा-विषयगत विभाव-पक्ष हुआ। काव्यगत आश्रय रमजान को जब हम मुँह लटकाये हुए, निराशा से भरा देखते है, और घृणा-पूर्वक दासी से कहते सुनते है कि नही, यह इन्साफ नहीं, अँधेर है, तो हमारी घृणा को इससे तुष्टि तथा पुष्टि ही मिलती है। अत· यह उद्दीपन-सामग्री ही है। आश्रय और उसकी चेष्टएँ उद्दीपन ही बनती है। यहाँ रमजान का वाचिक अनुभाव तथा शोकपूर्ण मुद्रा ही उद्दीपन अनुभाव है। कवि-आश्रय के अनुभाव भी उनकी उक्तियो मे व्यक्त फटकार से स्पष्ट है। ये उद्गार भी भावोद्दीप्ति के ही कारण बनते है। अत: उद्दीपन-अन्तर्गत ही आयेगे। इस उद्धरण में निराशा, शोक, क्षोभ आदि सचारी भाव भी स्पष्ट है और वे घृणा को ही पुष्ट या उद्दीप्त करते हैं। दासी ने जो रसीला के प्रति घृणा प्रकट की है, उस घृणा से हमारा तादात्म्य नही होता, उलटा उसका कथन हमारी अरुचि का विषय बनता है। हमारा मन भी रमजान की तरह उसका विरोध करना चाहता है। वह आलम्बन-पक्ष की है। अतः काव्य मे आलम्बन-पक्ष का पात्र भी आलम्बन ही बन जाता है, और उसके गुण या चेष्टाएँ अथवा अन्तर-बाह्य परिस्थितियाँ भी आलम्बन की परिस्थितियों की तरह उद्दीपन मानी जानी चाहिएँ। यहाँ दासी ने हल्का-सा आलम्बन-पक्ष लिया है, अत· उसके प्रति हमारी हल्की-सी घृणा ही जगती है, जो आलम्बन के प्रति जाग्रत और उद्दीप्त घृणा-भाव को और तीव्र करती है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हुआ कि काव्यानुभूति मे आलम्बन-पक्ष के अतिरिक्त सब रस-सामग्री उद्दीपन ही होती है। हाँ, इस उद्दीपन के कई रूप होंगे—१. उद्दीपन-विभाव-पक्ष, २ उद्दीपन-अनुभाव पक्ष और ३ उद्दीपक सचारी भाव। इनके फिर और भेदोपभेद हो सकते हैं। उद्दीपन विभाव बाह्य वातारण और आन्तरिक गुण-अवगुण आदि दो भागो मे बाँटा जा सकता है। उद्दीपन-अनुभाव भी दो रूपो मे प्रकट होता है एक आश्रय के अनुभाव दूसरे कवि के अनुभाव इस प्रकार रस के अवयवों की तालिका इस प्रकार होगी

अब उद्दीपन-विभाव पर विचार करे। शारदातनय ने प्रत्येक रस की विशिष्टता के आधार पर उद्दीपन-विभावो के ये भेद बताए है—१. शृंगार रस के उत्कर्षकारक आह्लादक ललित विभाव, २ हासोत्पादक ललिताभास, ३. वीर रस के उत्कर्षकारक स्थिर, ४. ऐश्वर्यपूर्ण अद्भुत चित्र विभाव, ५. करुण रस के रूक्ष, ६. रौद्र के खर, ७. बीभत्स के निन्दित और ८ भयानक के विकृत विभाव।[1]

यद्यपि सब रसो के बारे मे शारदातनय का यह विभाजन व्यापक, सूक्ष्म एवं स्पष्ट नही माना जा सकता, तथापि हम अन्य रसो की बात छोड यहाँ केवल बीभत्स रस की दृष्टि से विचार करते हुए पाते हैं कि निन्दित आकृति-प्रकृति, निन्दित चेष्टाओं तथा निन्दित आचार-विचार वाले व्यक्तियो को बीभत्स रस के आलम्बन मानकर और उनकी निन्दित चेष्टाओं को उद्दीपन-विभाव बताकर—निन्दापूर्ण सामग्री को विभाव-पक्ष बताकर—शारदातनय ने पूर्व आचार्यों की भ्रांति को कुछ दूर करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है।

जैसाकि ऊपर कह चुके है, उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आलम्बन की चेष्टाएँ,

---

१. शारदातनय : भावप्रकाशनम्—पृ० ४-५।

तथा देश-काल-वातावरण आदि ही विशेष रूप मे आते है।[1] प्राचीन आचार्यों ने अपनी स्थूल रक्त-मास वाली धारणा के कारण दुर्गन्धमय मासादि मे कीडे पडने आदि को ही बीभत्स रस का उद्दीपन-विभाव कहा है।[2] परन्तु हमे आचार्यों की यह धारणा अमान्य है। बीभत्स रस के मानसिक स्थायीभाव का उद्दीपन भी केवल स्थूल नही माना जा सकता। कीडे-पड़ी वस्तुएँ लौकिक घिन का ही विषय होती है। वास्तव मे बीभत्स रस के आलम्बन अर्थात् दुराचारी, दुष्ट दुर्गुणी व्यक्तियो के दुर्गुण, दुराचार और बीभत्स चेष्टाएँ ही उसके अन्तरग उद्दीपन-विभाव होंगे। बीभत्स रस मे जो कारण उसका आलम्बनत्व बनाते है, उन्ही की अधिक मात्रा उद्दीपन सिद्ध होती है, जैसे यदि कोई व्यभिचारी किसी अबला पर बलात्कार करता है, तो उसका आलम्बनत्व यद्यपि पुष्ट है, तो भी यदि वह अपनी कामवासना की पूर्ति मे इतना निर्दय हो जाता है कि वह उस अबला को जान से ही मार डालता है, तो उसके इस और दुष्कृत्य से हमारी घृणा और भी उद्दीप्त होगी। दुष्कृत्यो की जितनी मात्रा बढती जायगी, हमारी घृणा भी उतनी ही उद्दीपित होती जायेगी। इस अन्तरग उद्दीपन-विभाव के अतिरिक्त बाह्य उद्दीपन-विभाव भी उद्दीपन में सहायक होते है। ये बाह्य उद्दीपन अन्तरग विभाव के आधार बिना अपने मे स्वय घृणा का विषय या उद्दीपन नही बन सकते। ये भी कई रूपो मे प्रकट होते है—१. आलम्बन की आकृति, वेशभूषा आदि की विद्रूपता, जैसे, विद्रूप चेहरा, गदे कपड़े आदि, २ बाह्य वातावरण, जैसे दुर्गन्धपूर्ण स्थान, वस्तु आदि। एक उदाहरण से स्पष्ट करें। एक विलासी व्यभिचारी व्यक्ति के कमरे मे एक कवि जाता है। वहाँ वह उक्त व्यक्ति को शराब मे गुच तथा विलासिता मे मग्न देखता है। कवि की उसके प्रति घृणा उद्दीप्त होती है। यदि कवि को पता चलता है कि उस पिशाच ने एक भोली-भाली लडकी को कैद कर रखा है तो कवि की घृणा इस अन्तरग उद्दीपन-विभाव से और भी उद्दीप्त होगी। उस कमरे में टँगे नारियो के नग्न-चित्र, उस विलासी की विकृत आकृति तथा शराब आदि की बदबू बाह्य उद्दीपन-विभाव होंगे और ये भी उसके प्रति कवि की घृणा को बढायेंगे। इन नगे चित्रों तथा विकृत आकृति आदि का सम्बन्ध भी अन्तरग उद्दीपन-विभाव से स्पष्ट है। जिस प्रकार आह्लादक प्राकृतिक दृश्य तटस्थ रूप मे आलम्बन बन सकते है, और प्रकृति का तटस्थ आलम्बनगत चित्रण आह्लादक होने के कारण रसानुभूति का विषय बन जाता है, उसमे आकर्षण रहता है, उस प्रकार विकृत भौडे दुर्गन्धयुक्त बीभत्स दृश्य अपने तटस्थ रूप मे आह्लादक नही हो सकते। ये स्वतन्त्र आलम्बनत्व

---

१. उद्दीपन विभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये ॥१३१॥

नेच—

आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा। —हिन्दी साहित्यदर्पण, पृ० १६१

२ "तत्रैव कृमिपाताद्युद्दीपनमुदाहृतम्" २४० वही पृ० २६१

नही प्राप्त कर सकते, यह हम पहले भी कह चुके है। जो विद्वान् तटस्थ वातावरण को भी उद्दीपन मानते है, वे केवल शृंगार रस की दृष्टि से विचार करते है। डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित का कथन है कि इन (उद्दीपन) के क्रमश चार भेद बताये गए है १. आलम्बन के गुण, २. उसकी चेष्टाएँ, ३ उसका अलकरण तथा ४. तटस्थ। आलम्बन के गुणो मे रूप-यौवन, चेष्टाओं मे हाव-भावादि, अलकरण मे नूपुर तथा अगराग आदि का धारण करना तथा तटस्थ के अन्तर्गत चन्द्र, मलयानिल आदि आते है। ध्यान देने से प्रतीत होगा कि इनमे आरम्भ के तीन आलम्बन से अविच्छिन्न है और अतिम वातावरण अथवा प्रकृति स्वय है। ' जब इनका (प्रकृति का) वर्णन वातावरण-सापेक्ष-रूप मे होता है तब ये उद्दीपन कहलाने लगते है और जब इनका वर्णन निरपेक्ष दृष्टि से केवल इन्ही का रूप दिखाने के लिए किया जाता है, तब यह आलम्बन का रूप धारण कर लेते है।'''अतएव तटस्थ कहे जाने वाले उद्दीपनो को भी आलम्बन के रूप मे प्रस्तुत और ग्रहण किया जा सकता है।'[1]

हमारा नम्र निवेदन है कि उद्दीपन-रूप मे प्रस्तुत प्रकृति-चित्रण भी आलम्बन से अविच्छिन्न ही होता है। उस सूरत मे वह तटस्थ कहाँ रह जाता है ? और जब निरपेक्ष दृष्टि से प्रकृति का ही रूप दिखाने के लिए तटस्थ चित्रण होता है, तो वह स्वय स्वतन्त्र आलम्बन होने से उद्दीपन विभाव नही रहता। अतः तटस्थ प्रकृति-चित्रण या वातावरण-वर्णन उद्दीपन नही माना जा सकता।

---

१ रस सिद्धान्त ' स्वरूप-विश्लेषण—पृ० २१।

द्वितीय खण्ड

बीभत्स रस का शास्त्रीय निरूपण

रसांग-विवेचन :

अध्याय ३

अनुभाव-उद्दीपन

३ | अनुभाव-उद्दीपन

भरत मुनि ने अनुभाव की व्याख्या करते हुए कहा है कि अनुभाव अभिनयगत ऐसी आंगिक, वाचिक, सात्त्विक चेष्टाओं को कहते है, जो आश्रय के उद्बुद्ध भाव को बाह्य रूप से प्रकाशित करती है, और सहृदय को स्थायीभाव का भावन कराती है।[1] साहित्यदर्पणकार ने अनुभाव का स्वरूप इस प्रकार प्रकट किया है—"उन-उन कारणो से हृदय मे उद्बुद्ध रत्यादि भावो को बाहर प्रकाशित करने वाले अंगादि व्यापारो का नाम अनुभाव है। लोक-जीवन मे तो ये अंगादि-व्यापार (रत्यादि भावो के) 'कार्य' समझे जाते है किन्तु काव्य-नाट्य के क्षेत्र मे इन्हें 'अनुभाव' कहा जाता है।"[2]

व्युत्पत्त्यर्थ के अनुसार 'अनु पश्चात् भाव उत्पत्ति येषाम्', अथवा 'अनु पश्चात् भावोयस्य सोऽनुभाव·।' स्थायी भाव के जाग्रत होने के पश्चात् उत्पन्न होने के कारण इन्हे कार्य-रूप या परिणाम-रूप माना जाता है। किन्तु सहृदय मे भाव का साक्षात्कार कराने की दृष्टि से ये कारण-रूप माने जाते है।

---

१. "अनुभाव्यतेऽनेन वागंगसत्त्वकृतोऽभिनयः इति अनुभावः।
वागंगाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
वागंगोपागसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः॥"

—नाट्यशास्त्र (चौखम्भा) ७।५

२. "उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्॥१३२॥
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभाव· काव्यनाट्ययो·।

—हि० साहित्यदर्पण, पृ० २००।

अनुभाव के सम्बन्ध मे दो बातो का स्पष्टीकरण जरूरी है। एक तो यह कि अनुभाव आश्रय के ही होते है, और उसी काव्यगत आश्रय के होते है, जिससे हमारा तादात्म्य हो जाता है। अतः साधारणीकरण के कारण ये अलौकिक या उदात्त रूप मे ही अनुभूति का विषय बनते है। साहित्यदर्पणकार के उपर्युक्त लक्षण से यह तथ्य स्पष्ट नही होता। क्रोधभाव का बाह्य प्रकाशन तो रावण का अभिनय या उसकी चेष्टाये भी करती है, पर वे अनुभाव नही मानी जा सकतीं।

दूसरे, काव्यगत अनुभाव कार्य या परिणाम नही माने जा सकते। केवल सहृदय पाठक या दर्शक का पढते हुए या देखते हुए रोना, हँसना, तालियाँ बजाना आदि अनुभाव ही परिणाम या कार्य माने जा सकते है। पर इनकी काव्यगत सत्ता होती ही नही। हमने कवि-आश्रय के अनुभावों का भी ऊपर उल्लेख किया है। कवि के व्यक्त अनुभाव अवश्य कवि की रसानुभूति का परिणाम या कार्य है, पर वे सहृदय या सामाजिक के लिए कार्य नही है, उद्दीपन-रूप कारण ही है। उनसे भी सहृदय की भावानुभूति तीव्र होती है। अतः वास्तव में काव्यगत अनुभाव उद्दीपन-रूप कारण ही है, कार्य नही। काव्यगत आश्रय के लिए ये लौकिक होने से भाव के कार्य ही हैं, स्थायी भाव के अनुभाव नही।

अनुभाव के भेद

भरत मुनि ने 'वागगसत्त्व' अर्थात् वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अनुभाव—ये तीन भेद अनुभाव के बताए थे। भानुदत्त आदि ने अपना पृथक् नामकरण किया—कायिक, मानसिक, आहार्य तथा सात्त्विक। शारदातनय ने अपने चार भेदों का नामकरण यह किया—(१) चित्तारंभक अनुभाव, (२) गात्रारंभक, (३) वागारभक तथा (४) बुद्ध्यारंभक अनुभाव। हमारे आचार्यों ने अधिकतर केवल शृङ्गार के आधार पर ही इनकी विस्तृत विवेचना की है। नायिकाओं के स्वभावज, अंगज और अयत्नज अलकारो, तथा पुरुषगात्रारभक आदि सब की अवतारणा शृङ्गार रस की दृष्टि से ही की गई है। बीभत्स रस के अनुभावो पर तो विशेष विचार हुआ ही नही। शास्त्रकारो ने बीभत्स रस के अनुभाव निष्ठीवन (थूकना), आस्यवलन (मुह फेरना), नेत्रसकोचन (आँखे बन्द करना) आदि ही बताये है।[1] परन्तु ये केवल कुछ सीमित आगिक अनुभाव ही है। आचार्यों के स्थूल आलम्बन-दर्शन से ही ये सीमित अनुभाव प्रकट हुए है। हम नीचे बीभत्स रस के भिन्न-भिन्न अनुभावों का सक्षिप्त उल्लेख करते हैं—

(१) **वाचिक अनुभाव** : आश्रय की वाणी से जो कुछ व्यक्त होता है, वह वाचिक अनुभाव कहलाता है वाचिक अनुभाव के जो आलाप विलाप सलाप प्रलाप अनुलाप सन्देश अतिदेश निदश उपदेश और अपदेश नाम से ११

भेद आचार्यों ने किये है, वे प्राय सब अपने-अपने ढग पर बीभत्स रस मे भी स्थान पा सकते है, जैसे घृणित वस्तु या व्यक्ति का जिकर आलाप-मलाप, उसके घृणित-निंदित कार्यों पर दुःख के उद्गार निकालना विलाप, घृणा-जन्य दुःख के कारण अटपटी बाते करना प्रलाप, बार-बार निंदासूचक कथन अनुलाप, किसी के घृणित, निंदित कार्यों या प्रवृत्तियो की दूसरे के पास सूचना भेजना सदेश, निदित बातो तथा कार्यों से वर्जित करने के लिए निंदा-पात्र को उपदेश देना उपदेश, "छि. छि.," "शी शी" द्वारा घृणा व्यजित करना निर्देश आदि। बल्कि इनके अतिरिक्त और भी कुछ वाचिक अनुभाव बीभत्स रस में स्पष्ट दृष्टिगोचर होते है। धिक्कार, फटकार, अपशब्द (गाली देना), अभिशप्त करना (बाल्मीकि के अभिशाप में यह स्पष्ट है), व्याज-स्तुति, व्यंगोक्ति आदि कुछ प्रमुख वाचिक अनुभाव साहित्य-रचनाओ मे प्रचुरता से मिलते हैं, यह आगे प्रस्तुत किये गए बीभत्स रस के अनेक उदाहरणो से स्पष्ट है।

(२) **आंगिक अनुभाव** · यद्यपि वाणी भी शरीर का ही अंग है और इस दृष्टि से वाचिक अनुभाव भी आंगिक ही है, पर वाणी के रूप में प्रकट हुए अनुभाव, सात्त्विक अनुभावो की तरह, शरीर की स्थूल चेष्टाओं की अपेक्षा सूक्ष्म अनुभाव होते है, अत. इन्हे पृथक् गिनना ही उचित है। घृणा-पात्र के प्रति घृणा उत्पन्न होने पर आश्रय की चेष्टाये, जैसे दूर हटना, भागना, रोकने के लिए हाथ उठाना, नाक-भौं चढ़ाना, नाक बन्द करना, कान पर हाथ रखना, आँखे मूँदना, आँखे फेर लेना, ठोकर मारना, थूकना, धकेलना, घृणित वस्तुओं को नष्ट करना—जैसे शराब के घड़े तोडना, प्याले फोडना, भट्टी को नष्ट कर देना, सामाजिक कुरीतियो को समाप्त करने के लिए भाग-दौड आदि अनेक रूपो मे बीभत्स रस के शारीरिक अनुभाव प्रकट हो सकते है।

(३) **आहार्य तथा बौद्धिक अनुभाव** बीभत्स रस मे भी शृङ्गार की तरह आहार्य अनुभावो की पूरी सम्भावना है, जैसे किसी घृणित स्थान के बन्दी वातावरण से निकल भागने के लिए कोई आश्रय वेश बदल सकता है, उसका यह कार्य आहार्य अनुभाव ही कहलाएगा। इसी प्रकार यदि कोई 'सेवासदन' की सुमन-जैसी वेश्या अपने पेशे से नफरत हो जाने के कारण अपने प्रशंसकों के आने के समय जान-बूझ कर मैले-कुचैले कपडे पहन ले, मैला वेश बना ले, तो उसका यह व्यवहार भी आहार्य अनुभाव का प्रतीक होगा। ऐसे अनुभावो को शारदातनय ने बुद्ध्यारंभक अनुभाव कहा है, जो उचित ही है। इनके आयोजन मे आश्रय को बुद्धि-प्रयोग की विशेष आवश्यकता होती है। अतः रीति, वृत्ति तथा प्रवृत्तियो के रूप मे बुद्ध्यारम्भानुभाव भी बीभत्स रस में प्रकट हो सकते है, जैसे यदि कोई समाज-सुधारक सामाजिक कुरीतियों या रूढ परम्पराओ को बदलने की योजना बनाता है, अथवा पुरानी घृणित रीतियो के स्थान पर नई रीति अपनाता है तो उसका व्यापार बौद्धिक ही कहा जायगा। दहेज जैसी घृणित प्रथाओं के प्रतिकार मे विधेयक बनाना आदि भी ऐसे ही अनुभाव है।

(४) **मानसिक अनुभाव**: सात्त्विक अनुभावों को मानसिक अनुभाव कहना ही हम उचित समझते है। इनकी शारीरिक प्रतिक्रिया अत्यन्त सूक्ष्म होती है, इसी से शारीरिक या आंगिक अनुभावो से इन्हे पृथक् गिना जाता है। इनके प्रकट होने मे मानस का अधिक प्रभाव रहता है। ये सात्त्विक अनुभाव आठ बताए जाते है--- १ स्तंभ, २. स्वेद, ३ रोमांच, ४. स्वर-भंग, ५ वेपथु, ६. वैवर्ण्य, ७. अश्रु और ८ प्रलय। आचार्यो ने इन्हे 'सात्त्विक भाव' की संज्ञा दी है। प्रश्न उठता है कि इन्हें अनुभाव के स्थान पर 'भाव' क्यों कहा जाता है ? क्या ये भाव हैं ? भरतनाट्य-शास्त्र मे ४९ भावो की गणना मे इन्हे भी भाव ही माना गया है। भरत मुनि का मत है कि मन की समाहित अवस्था मे ही ये प्रकट होते है। इसलिए मानसिक सत्त्वोद्रेक के कारण इन्हे सात्त्विक भाव कहा गया है। परन्तु हम समझते है कि बिना मानसिक प्रतिक्रिया के, बिना सत्त्वोद्रेक के तो कोई अनुभाव अनुभाव्य होना ही नही। मन की प्रतिक्रिया से ही सब अनुभाव प्रकट होते है। इन्हे ही भाव की संज्ञा क्यों दी जाय ? भाव मन की प्रवृत्त्यात्मक दशा को कहते है, पर ये स्तंभादि मन की दशा नहीं, उसके उपलक्षण-मात्र हैं। अत: इन्हे भाव नही माना जा सकता।

यदि सात्त्विक शब्द की दृष्टि से देखे, भाव और अनुभाव के 'सात्त्विक' विशे-षण पर विचार करे, तो भी यही कहना पडता है कि सभी भाव और अनुभाव सहृदय को सत्त्वोद्रेक की दशा मे---अलौकिक रूप में ही अनुभाव्य होते हैं। अत. इन्हे सात्त्विक अनुभाव कहना भी भ्रान्तिपूर्ण है। शृंगारप्रकाशकार भोजराज ने इन्हें बाह्य व्यभि-चारी ही बताया। भानुदत्त ने तो स्पष्ट शब्दो मे इन्हे भाव मानने की बात का विरोध किया है। उनका कथन है कि 'सत्त्व' शब्द प्राणी-वाचक होने से सत्त्व से अभिप्राय शरीर है। जीवशरीर के धर्म ही सात्त्विक कहलाते है। शरीर-भाव या शरीर-धर्म होने के कारण ही इन्हें सात्त्विक भाव कह दिया जाता है, वस्तुत: आन्त-रिक भाव स्थायी और व्यभिचारी भाव ही है, ये शरीर-धर्म या सात्त्विक नहीं।[1] ये शरीरधर्म अत्यन्त सूक्ष्म हैं, अत: इन्हे आश्रय की स्थूल चेष्टाओ से पृथक् अवश्य माना गया है। भानुदत्त ने अन्य शारीरिक चेष्टाओं को 'चेष्टा' तथा इन 'सात्त्विको' को 'विकार' संज्ञा देना उचित माना है। ये स्तंभ, अश्रु आदि प्रयत्नपूर्वक प्रकट नही हो सकते। अर्थात् आन्तरिक या मानसिक सम्बन्ध अधिक होने से ही इन्हें पृथक् माना जा सकता है। ये है अनुभाव ही। अतः इन्हें मानसिक या सूक्ष्म अनुभाव कहना अधिक संगत है।

---

१. "सत्त्वशब्दस्य प्राणिवाचकत्वादत्र सत्त्वं जीवशरीरम्। तस्यधर्माः सात्त्विकाः। इत्थंच शरीरभावाः स्तंभादयः सात्त्विकभावा इत्यभिधीयते। स्थायिनो व्यभिचारिणश्च भावा अन्तरतया न शरीरधर्मा इति।

थी पृ० ५८

साहित्यदर्पणकार ने भी इन सात्त्विको को अनुभाव माना है, पर साथ ही 'मनोविकार' कहा है और अनुभाव से भिन्नता का कारण यही बताया है कि ये सत्त्वोद्रेक से उत्पन्न होते है। सत्त्व से उनका अभिप्राय अतःकरण का वह धर्म-विशेष है जिसके कारण सामाजिक के हृदय मे वासनारूप से विराजमान रत्यादि भावो का उद्बोधन हुआ करता है।[1] जैसाकि कहा जा चुका है, ये मन के विकार नही है, विकारो के उपलक्षक या सूचक शरीर-विकार ही है। दूसरे, केवल इन्हे ही सत्त्वोद्रेक से उत्पन्न नही माना जा सकता, सम्पूर्ण रस-प्रक्रिया ही सत्त्वोद्रेक से सम्बन्ध रखती है। अतः इस दृष्टि से इन्हे सात्त्विक भाव कहना हमे मान्य नहीं।

परम्परागत आठ सात्त्विकों के अतिरिक्त 'जृंभा' (जंभाई), मुख का आरक्त होना, आँखे लाल होना आदि कुछ और सूक्ष्म शारीरिक विकार भी मानसिक अनुभावो (सात्त्विको) में गिने जा सकते है। 'जृंभा' के सम्बन्ध मे डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित का मत है कि 'जृंभा' को सात्त्विको मे नही माना जा सकता। सात्त्विको की विशेषता है कि विभाव के देखते ही ये आप-से-आप उमड़ पडते है। सिंह को देखते ही स्तम्भ, स्वेद, वेपथु मे से कोई भी एकदम प्रकट हो सकता है। 'जृंभा' के सम्बन्ध मे यह नियम स्वीकार्य नहीं है। यदि इसे सात्त्विक माना जाय, तो इससे पहले निःश्वास, उच्छ्वास, अगसंकोच तथा उबकाई को भी सात्त्विक भाव मानने मे आपत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योकि किसी दुखात्मक सूचना के पाते ही अथवा स्मरण करते ही निःश्वास तथा उच्छ्वास प्रकट हो जाते हैं और इनका प्रदर्शन भी किया जा सकता है। इसी प्रकार अगसकोच किसी भयप्रद विभाव को देखते ही उत्पन्न होता है और उबकाई बीभत्स दृश्य को देखते ही आती है। यदि निःश्वास तथा उच्छ्वास को वायु-परिपोष-रूप जृंभा के ही अन्तर्गत मान ले, अर्थात् यह कहे कि जृंभा के स्थान पर वायु-परिपोष ही सात्त्विक है और उसके ये तीन भेद है, तो फिर स्वेद तथा अश्रु को भी सलिलोद्गम शब्द से ही क्यों न प्रकट कर दिया जाय? वस्तुतः आलस्य का द्योतक अनुभाव जृंभा है। उसे सात्त्विक नहीं मानना चाहिए।'[2]

इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि यदि जृंभा आलस्य का द्योतक अनुभाव है, तो क्या अश्रु शोक या हर्ष का द्योतक अनुभाव नही? साथ ही यह भी अनिवार्य नही कि अश्रु सात्त्विक अनुभाव विभाव के दृष्टि पड़ने पर एकदम प्रकट हो जाता हो। शनै.

---

१. तत्र सात्त्विकाः—

विकाराः सत्त्वसंभूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिता ॥१३४॥

सत्त्वं नाम स्वात्मविश्रामप्रकाशकारी कश्चनान्तरो धर्मः।

सत्त्वमात्रोद्भवत्वात्ते भिन्ना अप्यनुभावतः।

—साहित्यदर्पण हि० चौ० पृ० २०१

२ डा० दीक्षित रस सिद्धान्त स्वरूप-विश्लेषण पृ० ९४

शनैः पीडा घनीभूत होने पर, पहले उच्छ्वास आदि प्रकट होने के बाद भी अश्रु आ सकते है । अत यदि 'अश्रु' सात्त्विक है तो जृ भा को भी सात्त्विक मानने मे आपत्ति नही होनी चाहिए । वास्तव मे ये सब अनुभाव भावों के शारीरिक उपलक्षण मात्र हैं । स्थूल शारीरिक चेष्टाओ से इनकी भिन्नता का कारण इनकी सूक्ष्म-उत्पत्ति ही है । अत: वे सब सूक्ष्म शारीरिक विकार मानसिक अनुभाव माने जा सकते है, जो सूक्ष्मता से प्रकट होते है, और जिनका अभिनय विशेष कुशलता की अपेक्षा रखता है । वैसे तो सभी अनुभाव मानसिक भावो की प्रतिक्रिया-स्वरूप ही प्रकट होते है, पर इनमें यह मानसिक आधार अधिक होता है । इसीलिए हमने इन्हें मानसिक अनुभाव कहना अधिक उचित माना है । यदि 'सात्त्विक' से सत्त्वोद्रेक का भ्रम न हो, और भानुदत्त की तरह 'सूक्ष्म शरीर-धर्म' ही सत्त्व का अर्थ लिया जाय, तो इन्हें सात्त्विक अनुभाव भी कहा जा सकता है, पर सात्त्विक भाव कहना सर्वथा अनुपयुक्त है ।

बीभत्स रस में मानसिक अनुभावों का प्रकाशन

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने भाव-निरूपण मे सब स्थायी भावों को सुखात्मक और दुखात्मक इन दो वर्गो मे बॉट कर प्रत्येक स्थायी भाव की चेतन धारणा (Cognition), इच्छा (Conation), गति या प्रवृत्ति (Tendency) और लक्षण (Symptoms) बताये है । उन्होने जुगुप्सा की चेतन धारणा या आलम्बन (Cognition) कुरूप, कुत्सित या अत्यन्त अरुचिकर वस्तु बताई है । जुगुप्सा की Conation अर्थात् इच्छा या सकल्प घृणित वस्तु से दूर हटना मानी है और कायिक गति या प्रवृत्ति (Tendency) बताई है—आँख-नाक-कान मूदना, नाक सिकोडना, कान पर हाथ रखना, थूकना, मुह फेरना । किन्तु शुक्ल जी ने जुगुप्सा मे [illegible] (Symptom) कोई नही माना ।[1] प्रश्न उठता है कि क्या जुगुप्सा या [illegible] सात्त्विक अनुभाव का अभाव होता है ? वस्तुत. शुक्ल जी के भाव-चि[illegible]न मे यहाँ कमी ही दिखाई देती है । न तो शुक्ल जी के सम्मुख आत्मग्लानि के रूप मे जुगुप्सा स्थायी भाव आया, न उन्होने जुगुप्सा के भय, क्रोध, विस्मयादि मिश्रित रूपो की दृष्टि से ही यहाँ विचार किया । यही कारण है कि उन्हे जुगुप्सा या घृणा मे कोई सात्त्विक लक्षण प्रतीत नही हुआ । जबकि वास्तविकता यह है कि ऐसा प्रायः कोई सात्त्विक दिखाई नही देता, जिसका बीभत्स रस मे प्रकट होना असम्भव हो ।

अत प्रायः सभी मानसिक अनुभावों की उद्भूति बीभत्स रस के अन्तर्गत

१. देखिए रस मीमांसा—भावों का वर्गीकरण, पृ० १९२-१९३ ।

सम्भव है। नीचे इन अनुभावों के स्वरूप तथा इनकी बीभत्स रस मे अवतारणा के उदाहरणों को प्रकट करते है—

१. स्तम्भ भय, हर्ष, रोग आदि के कारण मन अथवा शरीर के व्यापारो का रुक जाना 'स्तम्भ' बताया गया है।[1] आश्चर्य से भी मनुष्य स्तम्भित रह जाता है। यदि किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति पहले हमारे मन मे अच्छी धारणा हो जाती है, जिसने अपने ढोंग के कारण ऊपर से शराफत का चोला पहना हुआ हो और फिर बाद मे सहसा उसका भीतरी कुरूप हमारे सामने स्पष्ट हो अर्थात् हम सहसा उसे कुकृत्य करते देखे, तो उस आश्चर्य-मिश्रित घृणा की अवस्था में हम स्तम्भित भी हो सकते है। अतः आश्चर्य-मिश्रित घृणा मे स्तम्भ अनुभाव की उद्भूति सम्भव है। इसी प्रकार भयमिश्रित घृणा मे इसकी पूर्ण सम्भावना है।

२. स्वेद रतिप्रसग, आतप (धूप), परिश्रम आदि के कारण शरीर से निकलने वाले जल को 'स्वेद' कहते है।[2] घृणा का आश्रय घृणा-पात्र से दूर हटता है अनिष्ट से बचने के लिए परिश्रम या प्रयत्न करता है। अत उसकी इन चेष्टाओ मे 'स्वेद' प्रकट होना भी सम्भव है। उत्तेजना या भावावेश की दशा मे घृणा-पात्र को धिक्कारने-फटकारने में भी स्वेद के चिह्न प्रकट हो सकते है।

३. रोमांच : हर्ष, विस्मय, भय आदि के कारण रोंगटो के खड़े होने को 'रोमाच' कहा जाता है।[3] बीभत्स रस मे रोमांच की सम्भाव्यता उपर्युक्त स्तम्भ से भी अधिक स्पष्ट है। आश्चर्य-मिश्रित, भयमिश्रित घृणा मे शरीर का रोमांचित होना सहज है। पीछे श्री इलाचन्द जोशी के 'पर्दे की रानी' से भयमिश्रित घृणा का उदाहरण देते हुए निरंजना का रोमाचित होना दिखाया जा चुका है। घृणा के आलम्बन की समाप्ति पर हर्ष उत्पन्न होने से भी रोमाच हो सकता है।

४. स्वरभग : मद्यपान, हर्ष, पीडा आदि के कारण गले के रुँध जाने का नाम 'स्वरभग' है।[4] घृणा की दुखपूर्ण तीव्र अनुभूति मे जब घृणा-पात्र को फटकार सुनाई जाती है, तब आवेश के कारण स्वरभग भी सम्भाव्य है। आत्मग्लानि मे भी स्वरभग होता है।

५. वेपथु . अनुराग, द्वेष, परिश्रम आदि के कारण शरीर की कपकपी को वेपथु कहा जाता है।[5] भयमिश्रित, क्रोधमिश्रित, क्षोभयुक्त घृणा या आत्मग्लानि से कम्प का प्रकट होना सहज सम्भव है।

---

१. स्तम्भश्चेष्टाप्रतीघातो भयहर्षामयादिभिः ॥१३६॥
२. वपुर्जलोद्गमः स्वेदो रतिधर्मश्रमादिभिः।
३. हर्षाद्भुतभयादिभ्यो रोमांचो रोमविक्रिया ॥ १३७॥
४ मदसमदपीडाद्यैर्वैस्वर्यं गद्गद विदुः।
५. रागद्वेषश्रमादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपथुः ॥१३८॥

६. **वैवर्ण्य** : विषाद, मद, रोष आदि के कारण उत्पन्न हुए वर्णविकार का नाम 'वैवर्ण्य है।[१] विवर्णता लज्जा के कारण भी होती है। आत्मग्लानि मे लज्जा का अनुभव विवर्णता उत्पन्न कर सकता है। साथ ही क्रोधमिश्रित घृणा आदि मे भी यह सम्भव है।

७. **अश्रु**[२] : आत्मग्लानि की दुखपूर्ण पश्चात्ताप की दशा मे रुदन सहज सम्भव है। आत्मावमानना और पश्चात्ताप की ऐसी रुलाई मे अश्रुमोचन भी हो सकता है।

८. **प्रलय** · सुख अथवा दुख के अतिरेक मे चेष्टा-शून्यता अथवा ज्ञान-शून्यता 'प्रलय' है।[३] बीभत्स रस मे आत्मग्लानि, भयमिश्रित घृणा आदि मे मूर्च्छा भी सहज सम्भावित होती है। डा० राकेश गुप्त ने 'प्रलय' को सात्त्विक अनुभाव नही माना। उनका कथन है कि रूढि के कारण 'प्रलय' को अनुभाव माना जा रहा है। पर 'प्रलय' किसी भाव का अनुभाव नही माना जा सकना, क्योंकि भाव-दशा मे चेतना का होना जरूरी है। प्रलय में चेतना ही नहीं रहती, तब भावानुभूति की सूचक उसे कैसे माना जाय।[४] आश्चर्य तो यह है कि विद्वान् लेखक ने सात्त्विकों को भाव स्वय नही माना है, तो भी वे भाव के अनुभाव मे चेतना की बात करते है। शोक, भय आदि से मूर्च्छा सामान्य अनुभूति की बात है। सम्भवत डा० राकेश गुप्त की भ्रांति का कारण काव्यगत आश्रय में ही रसानुभूति मानना है। सहृदय को ही प्रलय अनुभाव की अनुभूति होती है।

इसके अतिरिक्त किसी व्यक्ति की घृणित बातों के सुनने मे अरुचि के कारण ऊबाहट से जम्भाई लेना, घृणा से भर जाने के कारण जी मतलाना, उबकाई आना, वमन होना, अर्द्धचेतन-दशा मे बुड़बुडाना, विक्षिप्त हो जाना आदि मानसिक या सूक्ष्म अनुभाव भी बीभत्सानुभूति मे सम्भव हैं। साहित्य-रचनाओ मे—विशेषकर यथार्थवादी कथा साहित्य में बीभत्सरस के उदाहरणो से ये सब अनुभाव दिखाये जा सकते है। हमने हिन्दी-साहित्य से जो बीभत्स रस के अनेक उदाहरण इस प्रबन्ध मे प्रकट किए हैं, उनमे ये प्राय. सब अनुभाव दृष्टिगोचर होगे। बीभत्स-रस का अनुभूति-क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमे शास्त्रोक्त सब विभाव-अनुभावादि प्रकट हो सकते है। यह रस अपनी व्यापकता मे शृंगार से भी स्पर्द्धा-सी करता प्रतीत होता है।

---

१. विषादमदरोषाद्यैर्वर्णान्यत्व विवर्णता।
२ अश्रु नेत्रोद्भव वारि क्रोधदुःखप्रहर्षजम् ॥१३६॥
३. प्रलय· सुखदुःखाभ्या चेष्टाज्ञाननिराकृतिः।

—साहित्यदर्पण हि० पृ० २०२

४ Psycholog cal Stud es In Rasa P 157

अब एक और महत्त्वपूर्ण बात पर विचार करके इस अनुभाव प्रकरण को समाप्त करेगे। पिछले दिनो अखबारो में इधर के एक प्रसिद्ध मुकदमे का फैसला छपा था। उसमें विद्वान् जज ने अपनी टिप्पणी देते हुए कहा था कि 'इस अभागिनी लडकी ······ को जो भी गर्भ हुए, वे सब इस अभियुक्त द्वारा ही हुए है, इस तथ्य की स्पष्ट और अमिट छाप मुझ पर पड चुकी है। इस मुकदमे ने मेरे मुँह मे एक बहुत बुरी दुर्गन्ध उत्पन्न की है। इतनी कम आयु की एक ऐसी कुवारी लडकी के प्रति अभियुक्त के अमानुषीय कुकृत्य, जिसका कि यह एक तरह से अभिभावक बना हुआ था निस्सदेह निन्दनीय है।'[1]

जज महोदय के इस कथन से कि "इस मुकदमे ने मेरे मुँह मे बुरी दुर्गन्ध उत्पन्न कर दी है' प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव मे ही किसी घृणित पापाचारी का वृत्त 'मुख में दुर्गन्ध' छोडता है? बहुत बार ऐसा कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति के पापो की कथा सुनकर बदबू से नाक सड गई, जी मतलाने लगा। तो क्या घृणा के इन मानसिक आलम्बनो से भी घ्राण या जिह्वा को बदबू का अनुभव होता है? शरीर-विज्ञान की दृष्टि मे देखे तो विदित होता है कि नाक से गंध मालूम होती है। नाक के नथनों मे श्लैष्मिक झिल्ली रहती है। इसमे स्नायुतार और खून की अनेको पतली-पतली नलियाँ होती है। नथने के ऊपरी भाग मे सूघने की स्नायु (पहली मस्तिष्क स्नायु) होती है, और नाक के निचले भाग से श्वास-क्रिया होती है। इस भाग का सूघने की क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं है। साँस लेते समय हमे गध का अनुभव तभी होता है जबकि वस्तु तीव्र गंध दे रही हो, अन्यथा हमे गध मालूम करने के लिए जोर-जोर से हवा खीचनी पडती है। जिससे नाक मे सूँघने की स्नायु पर प्रभाव पडने से हमे गध मिलती है। घ्राण-स्नायु (Nerves of smell) पर भाप के कण पहुँचकर घ्राण-सेलो पर एक प्रकार का विशेष प्रभाव डालते है। घ्राण-नाड़ियों द्वारा यह प्रभाव मस्तिष्क के घ्राण-केन्द्रो मे पहुँचता है और तब हमें गंध का ज्ञान होता है। जुकाम आदि हो जाने से श्लैष्मिक झिल्ली फूल जाती है और हवा को नाक के ऊपरी

---

1. "Commenting on the judgment of a case against ········ the learned judge Mr. H D. Loombare marked, "That he had got an indelible and clear impression that pregnancies of this unfortunate girl, ·· ·· ···· ·· · were from the accused. . I must state that this case has left a very bad odour in my mouth. The evil acts of the accused towards an unmarried girl of such a tender age, to whom more or less he was in the position of a guardian, are doubtlessly reprehensible."

—P. T. I. Appeared in 'Tribune' dated December 20, 1960.

भाग तक पहुंचने नही देती, इसलिए जुकाम मे हमे गध का अनुभव नहीं होता। गध-प्राप्ति की क्रिया आभ्यतर (Internal) भी होती है। हम जब डकार लेते है तो अन्दर से निकलने वाली वायु भी गंधानुभूति कराती है। अत गध का सम्बन्ध घ्राण से है। जब हम गदी बाते सुनते या देखते है, तो इनका घ्राण से कोई सम्बन्ध नही होता। गंदी बातो की आन्तरिक अनुभूति हमारे मन पर अवश्य प्रभाव डालती है और बहुत बार जी मतलाने लगता है। यह जी मतलाना, जिह्वा पर प्रभाव पडना ही मुह मे बदबू पैदा होना है। अत अत्याचार, अनाचार या व्यभिचार की कहानी सुन कर हमे किसी घ्राण-जन्य खास बदबू का तो अनुभव नही होगा, हाँ जी खराब हो जाने से मुह का स्वाद बिगड सकता है, मतली-सी आने की स्थिति पैदा हो सकती है। इससे सिद्ध हुआ कि यह 'दुर्गन्ध' घ्राण की अपेक्षा मन से ही सम्बन्ध रखती है। 'मुह से दुर्गन्ध' छोडने की यह बात अधिकाशत औपचारिक कथन के रूप मे ही होती है, कहने के रूप मे होती है। इससे लाक्षणिक ढग पर बुराई की अधिकता व्यजित करना ही बहुधा अभिप्रेत होता है। वास्तव में जी मतलाने आदि की स्थिति बहुत ही कम आती है, घ्राण-जन्य किसी खास बदबू के पैदा होने का तो प्रश्न ही नही उठता।

द्वितीय खण्ड

बीभत्स रस का शास्त्रीय निरूपण

रसांग-विवेचन :

अध्याय ४

संचारी-भाव-उद्दीपन

● संचारी भाव-उद्दीपन

संचारी भाव-उद्दीपन

●

मानवीय चित्तवृत्तियो को भाव कहते है। काव्य-साहित्य मे स्थायी भावों
ारी भावो की स्थिति पर स्थायी भाव के प्रकरण मे प्रकाश डाला जा चुका
त्र की प्रत्येक भाव-वृत्ति जब किसी स्थायी भाव को पुष्ट करने के हेतु
.ना मे प्रकट होती है, तो साहित्य-शास्त्र के पारिभाषिक शब्द 'सचारी या
ी भाव' की संज्ञा पाती है। साहित्यदर्पणकार के अनुसार वे भाव व्यभिचारी
जाते हैं जो (विभाव और अनुभाव की अपेक्षा) विशेष उत्कटता किंवा
ा से (वासना रूप से सामाजिक-हृदय मे सदा विराजमान) रत्यादि स्थायी
रसास्वाद मे परिणत किया करते है तथा जिन्हें स्थायीभावो के समुद्र मे
ी भाँति उन्मज्जित (उतराते) किंवा निमज्जित (डूबते) होते हुए देखा
रता है। तात्पर्य यह है कि रत्यादिरूप स्थायी भाव तो हृदय मे स्थिर रूप
ुत हुआ करते हैं और निर्वेदादि सचारी भाव ऐसे है जो रत्यादि भावो से ही
ाते हैं और उन्ही मे तिरोभूत होते, उनकी रसरूप से अभिव्यक्ति में विशेषतया
हुआ करते हैं।[1]

रसो मे इनका अनुकूल सचरण होता है, इसी से इन्हें व्यभिचारी कहा जाता
ामाजिक के अनुभूति-काल मे स्थायीभाव उसकी स्थिर वृत्तियाँ है, व्यभिचारी
होती हैं। यह स्थिरता-अस्थिरता का विभाजन सामान्य भावो का सामान्य
निक विभाजन नही है, अपितु केवल रसास्वादन या काव्यानुभूति के क्षेत्र
वैज्ञानिक विभाजन है—इस तथ्य को सदा ध्यान मे रखना चाहिए। अत:

ोषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः'।
न्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदा' ॥१४०॥
तया वर्तमाने हि रत्यादौ निर्वेदादयः प्रादुर्भाव निरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरणाद्
ाचारिण' कथ्यन्ते।" —साहित्यदर्पण द्वि०, पृ० २०३।
विधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः।" —नाट्यशास्त्र

व्यभिचारी भाव काव्यजगत की उन अस्थिर चित्तवृत्तियों को कहते हैं, जो स्थायी चित्तवृत्ति-सूत्र में पिरोई प्रतीत होती है। कभी ये उदित होती हैं, कभी अस्त होती हैं। अनन्त वैचित्र्य के साथ इनमें आविर्भाव-तिरोभाव की आँखमिचौनी चला करती है। इन्हीं के कारण स्थायी भाव चित्र-विचित्र प्रतीत होते हैं।[1] काव्यानुशासनकार ने इन स्थायी-व्यभिचारी भावों की स्थिरता-अस्थिरता की जो पहचान बताई है, वह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती। उनका कथन है कि 'ग्लानि' में जब कहा जाता है कि 'यह ग्लान (दुःखी) है' तो प्रश्न उठता है कि 'ऐसा क्यों?' ग्लानि के हेतु का यह प्रश्न इस बात को सिद्ध करता है कि ग्लानि अस्थिर मनोभाव है। किन्तु 'राम उत्साह की शक्ति से भरपूर है'—यह कथन कोई प्रश्न नहीं उठाता, इससे स्पष्ट है कि उत्साह स्थिर भाव-वृत्ति है।[2]

इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि यदि सामान्य रूप में इस प्रकार का प्रश्न किया जाय, तो यह हेतु-प्रश्न वाली कसौटी ठीक सिद्ध नहीं हो सकती। इसकी बजाय यह प्रश्न काव्यगत आश्रय की दृष्टि से होना चाहिए, जैसे कहा जाए कि वीर रामचन्द्र जी को, अर्थात् जो राम उत्साह स्थायी भाव के आश्रय हैं, उनको ग्लानि हो रही है, तो प्रश्न उठेगा 'क्यों ?' यदि यह कहा जाय, कि वीर राम उत्साह से भरे हैं तो कोई हेतु-प्रश्न नहीं उठ सकता, क्योंकि उत्साह तो वीर राम का स्थायी धर्म या भाव है। सचारी भाव के सम्बन्ध में यह हेतु-प्रश्न उतना ही अधिक उठेगा, जितना अधिक वैषम्य सञ्चारी भाव और स्थायी भाव की प्रकृति में होगा। अर्थात् यदि स्थायी भाव सुखात्मक है और उसमें सञ्चारी भाव दुखात्मक आ जाता है, तो सचारी के हेतुत्व का प्रश्न उठने की अधिक सम्भावना होगी, जैसे, यदि कहा जाए कि माता यशोदा वात्सल्य-स्नेह में चिन्तित हैं; तो इस विरोधाभास से प्रश्न उठेगा 'क्यों ?' इसका समाधान तभी होगा, जब कहा जायगा कि संध्या हो गई है, कृष्ण अभी तक गोचारण से नहीं आए। माता यशोदा उनकी प्रतीक्षा में अपने वात्सल्य के कारण आशंका से चिन्तित हैं। इस प्रकार वात्सल्य रति सुखात्मक स्थायी भाव में दुखात्मक सचारी चिन्ता के सञ्चरण की बात स्पष्ट होती है।

भावों के स्थायित्व या स्थिर रूप और अस्थायी या अस्थिर रूप की पहचान पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं—"कोई भाव अपनी भावदशा में ही

---

१. "तस्मात् स्थायिरूपचित्तवृत्तिसूत्रस्यूता एवामी स्वात्मानमुदयास्तमयवैचित्र्यशतसहस्रधर्मीय प्रतिलभमाना स्थायिनं विचित्रयन्तः प्रतिभासन्ति इति व्यभिचारिणः उच्यन्ते।"

—आचार्य हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, २।१८

२. "तथाहि ग्लानोऽयमित्युक्ते कुत इति हेतुप्रश्नेनाऽस्थायिताऽस्य सूच्यते। न तु राम उत्साह शक्तिमानित्यत्र वे

वही २।१८

है या स्थायी दशा को प्राप्त हुआ है इसकी पहचान संचारियो से हो सकती है। कोई भाव या वेगयुक्त चित्त-विकार या तो सुखात्मक होगा या दुखात्मक। भावदशा मे सुखात्मक भाव का सचारी सुखात्मक भाव या चित्त-विकार ही होगा और दुखात्मक का दुखात्मक। बात यह है कि सुखात्मक भाव के अनुभव-काल मे दु खात्मक चित्त-विकार के आ जाने से और दु खात्मक के अनुभवकाल मे सुखात्मक चित्त-विकार के आ जाने से भाव बाधित होकर तिरोहित हो जायगा। पर स्थायी दशा प्राप्त होने पर यह बात नही रहती। स्थायी दशा को विरुद्ध या अविरुद्ध कोई भाव सचारी रूप में आकर तिरोहित नही कर सकता। स्थायी का यह लक्षण ग्रन्थो मे स्वीकार किया गया है, पर 'रति' को छोड (जो 'राग' की स्थायी दशा है) क्रोध आदि भावो मे यह लक्षण नही घटता। सुखात्मक भावो से निष्पन्न हास्य, वीर और अद्भुत रसो के संचारियों मे कोई दुखात्मक भाव या चित्त-विकार न मिलेगा, इसी प्रकार दु खात्मक भावों से निष्पन्न करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स रसो के सचारियो मे हर्ष आदि सुखात्मक भाव या चित्त-विकार न मिलेगे।"[1]

आश्चर्य है कि रसों के इतने बडे भावक आचार्य शुक्ल ऐसी भ्रातिपूर्ण बात कैसे कह गए! आरम्भ मे आचार्यों की 'अविरुद्धा विरुद्धा' वाली धारणा को मानने-मानते और उसे ही सचारी-स्थायी या भाव और स्थायी की कसौटी ठहराते-ठहराते आचार्य शुक्ल अन्त मे कैसे आचार्यों की बात का खण्डन कर गए? हम देखते है कि वीर मे क्रोध, क्षोभ, चिन्ता, ग्लानि, घृणा आदि दुखात्मक भाव सचारी रूप मे सब की अनुभूति का विषय बनते है। वीभत्स मे भी हास्य-व्यग्य सुखात्मक सचारी को हम पीछे व्यग्य-मिश्रित घृणा के उदाहरणो मे दिखा आए है। घृणा के आश्रय मे घृणित वस्तुओ या सामाजिक बुराइयो के समाप्त होने पर हर्ष, समाप्ति के लिए प्रयत्न करने मे उत्साह आदि सुखात्मक वर्ग के अन्य संचारी भी उत्पन्न हो सकते हैं।

सचारियो के सम्बन्ध मे और जो प्रश्न पैदा होते है, वे ये है—

१. सचारी भाव किसके भाव होते है, काव्यगत आश्रय के या किसके?

२. सचारी भावो के विषयो (विभावानुभावादि) का पृथक् होना अनिवार्य है या नही और स्थायी भाव के विभावादि से उनका क्या सम्बन्ध होता है?

३ क्या विभावादि से पुष्ट होकर ये भी रस-रूप में परिणत हो सकते हैं?

४. प्राचीन सचारियो मे क्या मरण, मद, जडता आदि सचारी भाव नही माने जाने चाहिए?

५. सचारी भावों की सख्या क्या हो?

सचारी भाव काव्यगत आश्रय के ही भाव होते है, जिन से, साधारणीकरण के कारण, सहृदय सामाजिक भी रसानुभूति प्राप्त करता है। काव्यगत आश्रय के

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल · "रस मीमासा" पृ० १८१-१८२ (द्वितीय संस्करण)।

अतिरिक्त ये संचारी भाव काव्य मे कवि-आश्रय के संचारी-रूप मे भी वहाँ प्रकट होते हैं, जहाँ कवि अपनी प्रतिक्रिया शब्दों द्वारा प्रकट करता हैं। इन सचारियो के विभावादि का स्थायीभाव के विभाव-पक्ष से पृथक् होना अनिवार्य नही है। जहाँ-कही विभावादि पृथक् होगे तो वे अनिवार्य रूप से स्थायी भाव के विभावादि से ही सम्बन्धित होगे। हमारे आचार्यो के रस-निरूपण में जैसे कहीं-कही भ्रांतियाँ पाई जाती है, वैसे ही सचारी भावो के उनके कुछ उदाहरण दोषयुक्त दिखाई देते हैं। हमने ऊपर निवेदन किया है कि सचारी भाव आश्रय के ही भाव होते है, आलम्बन या किसी अन्य काव्यगत पात्र के नहीं होते। किन्तु हम देखते है कि कई बार हमारे आचार्यो ने इस तथ्य का ध्यान छोड दिया है और उनके सचारी भावो के कुछ उदाहरण लौकिक भावो के उदाहरण-मात्र बन गये है। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने 'शिशुपालवध' मे असूया का यह उदाहरण [1] दिया है—

"अथ तत्र पाण्डुतनयेन सदसि विहित मधुद्विप।
मानमसहत न चेदिपति परवृद्धिमत्सरि मनो हि मानिनाम्॥"

अर्थात् "चेदिराज शिशुपाल, राज-सभा मे, युधिष्ठिर द्वारा दिये गये कृष्ण के सम्मान को न सह सका और सहे भी क्यों? अभिमानी लोगो का तो यह स्वभाव ही है कि वे दूसरे की बढती से जल उठते है।"

सहृदयो को बतलाने की आवश्यकता नही कि चेदिराज की यह असूया लौकिक भाव-मात्र है। और भाव भी यह ऐसे काव्यगत पात्र का है जो स्वय हमारे ही क्रोध या घृणा का आलम्बन है। चेदिराज शिशुपाल काव्यगत आश्रय नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसकी अनुभूतियों से हमारा तादात्म्य नही हो सकता। अत उसके भाव सचारी भाव बन ही नही सकते। शिशुपाल की इस असूया से हमारा तादात्म्य नही हो सकता। अत. असूया का यह उदाहरण संचारी भाव का उदाहरण नही माना जा सकता। इसी प्रकार 'साहित्यदर्पण' में त्रास, चिन्ता, ग्लानि, चपलता, विषाद, मरण आदि के जो उदाहरण प्रस्तुत किये गए है, वे सचारी भावो के उदाहरण कदापि नही माने जा सकते। आचार्य विश्वनाथ द्वारा स्वरचित 'चिन्ता' का उदाहरण और देखिए—

कमलेन विकसितेन संयोजयन्ती विरोधिनं शशिबिम्बम्।
करतल पर्यस्तमुखी किं चिन्तयसि सुमुखि! अन्तराहितहृदया॥[2]

अर्थात् हे सुमुखी! अपने हाथो पर अपना मुह रखकर, मानो खिले कमल से उसके विरोधी चन्द्रमा का मेल कराकर, कहो तो भला! क्या-क्या मन-ही-मन सोच-विचार कर रही हो?

---

१ देखिए साहित्यदर्पण हि० पृ० २२२

२ देखिए वही पृ० ४

इस उक्ति से सुमुखी का सौन्दर्य-वर्णन ही ध्वनित होता है, चिन्ता की कोई बात आस-पास भी नही है और इस दृष्टि से संचारी भाव चिन्ता का तो क्या, यह उदाहरण चिन्ता भाव का भी नही है। तो भी यदि सुमुखी के सोच-विचार कथन से चिन्ता का संकेत है, तो भी व्यभिचारी भाव नही माना जा सकता। सुमुखी कथन-कर्त्ता (नायक) के रति भाव का आलम्बन ही प्रतीत होती है, काव्यगत-आश्रय नही, अत. उसका चिंतन या सोच-विचार 'चिन्ता' संचारी भाव नही माना जा सकता। हाँ, यदि सुमुखी विरहिणी नायिका के रूप में चित्रित होती और प्रिय की प्रतीक्षा मे या अन्य कारणों से रति स्थायीभाव के आश्रय चिन्ता मे मग्न चित्रित की जाती, तब उसकी 'चिन्ता' संचारी भाव का उदाहरण होती। मरण के उदाहरण-स्वरूप 'रघुवंश' का ताड़का-वध का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, जो सर्वथा त्रुटिपूर्ण और काव्य-मनोविज्ञान की दृष्टि से भी सर्वथा अनुचित है। हम समझते हैं कि ऐसे उदाहरणो की परम्परा से ही संचारी भाव के सम्बन्ध मे कतिपय विद्वानो ने भ्रांतिपूर्ण और संदिग्ध धारणाएँ प्रकट की हैं।

डा० राकेश गुप्त ने आचार्यो द्वारा गिनाए गए ३३ संचारियों मे से निद्रा, मरण, श्रम, व्याधि आदि दस को संचारी भाव नहीं माना है। उन्होंने इन्हे भाव-शून्य अनुभूतियाँ (unemotional feelings) कहा है। उन्होने संचारी भावो को मनोविज्ञान के भावों से अभिन्न मानकर कहा है कि इन मरणादि के विभाव-अनुभाव नहीं हो सकते, अत जिनके विभाव-अनुभाव नहीं, वे भाव कैसे माने जा सकते है? उनके अनुसार इन मरणादि का भावो की सूची में अब तक होना रूढि का फल है।[1] जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, संचारियो के अलग विषय होना अनिवार्य नही है, बल्कि अलग विषयों के होने से संचारी द्वारा स्थायीभाव के तिरोहित होने का डर रहता है। अत. संचारियों के यदि विभावादि न भी हो, तो भी कोई हानि की बात नही, क्योकि जिन संचारियो के भिन्न आलम्बन होते है उनकी अनुभूति मे भी आश्रय का ध्यान उनकी ओर विशेष नही जाता। इस सम्बन्ध मे शुक्ल जी का कथन उल्लेखनीय है—'देखना यह चाहिए कि वह व्यवस्था क्या है जिसके अनुसार भावो (स्थायी भावो) को ऐसा अविचल पद प्राप्त रहता है कि स्वप्रवर्तित आगंतुक भावो के आ जाने से भी उनका स्वरूप सर्वथा तिरोहित नही होता। मनोविज्ञानियो के

---

1 "Besides this the 'Vibhavas' and the 'Anubhavas' which are among the constituents of Rasa, are distinctly available only in connection with the emotional feelings. The fact that the unemotional feelings have not been eliminated from the list of the 'Bhavas' since they were included in it is to be accounted for by the tendency to stick to the convention."

Psy Studies In Rasa, P 146

सम्बद्ध भावों की आलोचना करने से प्रकट होता है कि उनके विषय यदि प्रवर्त्तक भाव के आलम्बनों से भिन्न हो तो भी आश्रय का ध्यान मुख्यत उन्ही की ओर रहता है। पर सचारियो का विषय यदि प्रधान भाव के आलम्बन से भिन्न हुआ तो भी उनकी ओर ध्यान मुख्यत नही होता, अर्थात् वे विषय आलम्बन नही कहे जा सकते। इसी आलम्बन की स्थिरता के आधार पर भारतीय साहित्यिको ने 'भाव' (स्थायी भाव) की अविचलता या स्थायित्व को खड़ा किया है। आलम्बन ही वह कील है, जिससे प्रधान भाव हटने नही पाता।'[1]

स्थायी भाव द्वारा ही प्रवर्त्तित होने के कारण संचारियों के विषय भी स्थायी-भाव के आलम्बन (विषय) तथा उससे सम्बन्धित विषय होते है। अत उनके विभाव अलग न होने से उन्हे सचारियो की सूची से नही निकाला जा सकता। डा० राकेश गुप्त आदि ने सामान्य मनोविज्ञान के आधार पर ही निद्रा, मद, मरण आदि को भाव-शून्य घोषित किया है। पर हम देखते है कि काव्य मे इनका सचारी रूप मे प्रकट होना सवेदनशील ही नही होता, अपितु मानसिक दशा का द्योतक भी होता है। डा० राकेश गुप्त ने सम्भवत. इस दृष्टि से विचार ही नही किया। जब कोई प्रेमी अपने प्रिय के स्मरण मे लीन होता है, या शोक, वियोग-दुख, आत्मग्लानि आदि के कारण कोई प्राणी प्राण त्यागने की भाव-स्थिति मे होता है, या कोई प्रियतमा अपने प्रिय के संयोग-आनन्द मे मद मे फूली नहीं समाती, तो ऐसी अवस्थाओ मे क्रमश स्मरण, मरण, मद आदि स्पष्टत संचारी भाव के रूप मे प्रकट होगे। मन की ये अवस्थाएँ भी अपने संचारी रूप मे भाव ही है।

इन मनोदशाओ और मानसिक या सात्त्विक अनुभावों मे अन्तर यह है कि मानसिक अनुभाव मनोदशाओं के सूचक बाह्य लक्षण-मात्र है, मनोदशाएँ नही, जबकि सचारी भाव मनोदशाएँ हैं। जैसे अश्रु, स्वेद, रोमाच आदि के सम्बन्ध मे यह नहीं कहा जा सकता कि मन आंसू या पसीना निकालने की भावना करता है या रोमांच प्रकट करना चाहता है। इसके विपरीत मरणादि के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि मन प्राण त्यागना चाह रहा है, मद से भरा हुआ है, इत्यादि।

अस्तु, उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकला कि सचारी भाव काव्यगत आश्रय या कवि के ही भाव होते हैं, जो रस-प्रक्रिया मे सामाजिक की भी अनुभूति का विषय बनते हैं और उसकी रसानुभूति को तीव्र करते है। रस-प्रक्रिया मे संचारी भावो के अलग विषयो का होना अनिवार्य नही है। ये स्थायीभाव द्वारा ही प्रवर्त्तित होते है। अत स्थायीभाव के आलम्बन ही इनके आलम्बन बन जाते हैं। यदि कही पृथक् आलम्बन हो भी, तो वह स्थायी भाव के आलम्बन से ही सम्बद्ध होगा और आश्रय का ध्यान उसकी ओर स्थायीभाव के आलम्बन के माध्यम से ही जायगा। जैसे

१- रस मीमांसा पृ० २९९

शृगार मे असूया सचारी का आलम्बन प्रिय के स्थान पर सौत होती है। पर असूया का आधार प्रिय के प्रति प्रेम ही रहता है। प्रिय के माध्यम से ही सौत के प्रति डाह पैदा होती है। मरणादि सचारी भाव भी काव्यगत आश्रय के चाहे लौकिक भाव हो, पर पाठक के लिए लौकिक नही होते। रस-प्रक्रिया मे इनका सचरण इन्हे अलौकिक या आस्वाद्य अर्थात् उदात्त बना देता है। 'व्याधि' से मलेरिया आदि रोग, 'मृत्यु' से सामान्य मौत, 'मद' से शराब पीने की मस्ती आदि लौकिक अर्थ लेना भ्रातिपूर्ण ही है। वस्तुत सचारी भाव रस-प्रक्रिया मे आश्रय की विशेष-विशेष मनोदशाएँ हे। अत मरणादि भी सचारी भाव ही है। रस-प्रक्रिया मे स्थायीभाव के काव्यगत आश्रय या कवि की जो मनोदशाएँ हो सकती है, वे सब सचारी भाव हैं। विभावादि से पुष्ट होने पर सचारी भावों में रखे गए भाव भी रस बन सकते है या नहीं, इस पर स्थायीभाव के प्रकरण मे विचार किया जा चुका है। वे भाव ही स्थायी भाव बन सकते हैं, जिन के स्वतन्त्र विभावादि व्यापक रूप मे प्रकट हो सकते है और जो उदात्त रूप मे स्वतन्त्र आस्वाद्य हो सकते है। हम देख चुके है कि इस दृष्टि से प्राचीन आचार्यो की स्थायी-सचारी की व्यवस्था बहुत ही सूक्ष्म और प्रौढ है। निस्सदेह उनके काव्य-मनोविज्ञान के आगे नत-मस्तक होना पडता है। वे एक ऐसा सूत्र आधार हमें दे गए है, जो काव्य के समस्त अनुभूति-चक्र को स्पष्ट करता है। काव्य-मनोविज्ञान का इतना सूक्ष्म अध्ययन पाश्चात्य समीक्षा मे नहीं मिल सकता।

इन सचारियो के सम्बन्ध मे एक और तथ्य का स्पष्टीकरण आवश्यक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्थायी-सचारी के विभाजन पर विचार करते हुए कहा है—"जो भाव ऐसे है जिन्हे किसी पात्र को प्रकट करते देख या सुनकर दर्शक या श्रोता भी उन्ही भावो का-सा अनुभव कर सकते है, वे तो प्रधान भावो में रखे गए हैं, शेष भाव और मन के वेग सचारियो मे डाले गए हैं। जैसे, किसी आलम्बन के प्रति आश्रय को शोक या क्रोध प्रकट करते देख उस आलम्बन के मर्म-स्पर्शी स्वरूप और 'भाव' की विशद व्यजना के बल से श्रोता या दर्शक को उक्त दोनो भावों का रस-रूप मे परिणत अनुभव होता है, अत वे प्रधान भावो की श्रेणी मे रखे गए। पर आश्रय को किसी बात की शंका, किसी से ईर्ष्या, किसी पर गर्व, किसी से लज्जा प्रकट करते देख श्रोता या दर्शक को भी शका, ईर्ष्या, गर्व, लज्जा आदि का अनुभव न होगा, दूसरे भावों का हो तो हो। इसी से ये भाव प्रधान न माने जाकर सचारी माने गए है।"[1]

इस सम्बन्ध मे हमारा निवेदन है कि जिस आश्रय के क्रोध या शोक से हमारा तादात्म्य हो जायगा, उसके शका, ईर्ष्या, गर्व, लज्जा आदि संचारी भावो से

---

१ रस मीमासा पृ० २०२-२०३

भी हमारा तादात्म्य अवश्य होगा। काव्य के हर पात्र के तो न क्रोध से तादात्म्य होगा न शकादि से। रावण के क्रोध, शका आदि से हमारा तादात्म्य नही हो सकता, पर राम के शोक और उत्साह के साथ चिन्ता, गर्व आदि से भी हमारा तादात्म्य होगा। अतः सचारी भाव भी पाठक या दर्शक को वही अनुभूति जगाते है, स्थायी भावों के साथ ही उनके सचारियों से भी हमारा तादात्म्य होता है। हाँ, स्वतन्त्र आलम्बन होने पर, केवल भाव-रूप मे प्रकट होने पर ही वे पाठक की स्वविषयक अनुभूति जगाने में असमर्थ होते है। किसी की ईर्ष्या से हम ईर्ष्या अनुभव नही कर सकते, क्योकि ईर्ष्या एक स्पृहणीय उदात्त भाव-वृत्ति नही है, पर रति भाव के आश्रय जब हम नायिका को असूया करते देखते है, तो उसकी अनुभूति हमारे लिए भी ग्राह्य बन जाती है। उस अवस्था मे असूया निर्दोष हो जाती है। अत संचारी भाव भी स्पृहणीय अलौकिक भाव होते है, और वे जितने ही उदात्त रूप मे प्रकट हों, उतने ही अधिक उदात्त रूप मे रस की सिद्धि होगी। साराश यह है कि विभाव-अनुभाव की उदात्तता के साथ रस-प्रक्रिया में सचारी भावो की उदात्तता भी होनी चाहिए। अर्थात् सचारी भाव ऐसे हो, जो हमारी मानवीय सवेदनाओ को महान् बनाये, जीवन की उच्च प्रेरणाये प्रदान करे और हमारे रागों का परिष्कार करे।

(ख) बीभत्स रस में संचारी-भाव-संचरण

संचारी भाव-सम्बन्धी इस विवेचन के पश्चात् अब बीभत्स रस में उनके प्रकाशन पर विचार करें। हमारे प्राचीन आचार्यो ने तो बीभत्स रस मे मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि और मरणादि[1] सचारियो का ही उल्लेख किया है। इन सचारियो का भी आज तक केवल उल्लेख हुआ है। जहाँ तक हमारे देखने मे आया है किसी विद्वान् ने इन के स्वरूप को उदाहरणो द्वारा स्पष्ट नही किया। हम पहले भी निवेदन कर चुके है कि घृणा एक व्यापक भावना है, अत इसके अन्तर्गत शृगार की तरह सचारी भावो का खूब संचरण होता है। अब हम बीभत्स रस मे प्रत्येक सचारी भाव की संभाव्यता पर विचार करेगे।

प्राचीन ३३ संचारी :

१. **निर्वेद** : तत्त्वज्ञान, आपत्ति, ईर्ष्या आदि के कारण जो विराग पैदा होता है, उसे निर्वेद कहा गया है। साहित्यदर्पणकार ने इसका अभिप्राय स्वावमानन (अपने को धिक्कारना) बताया है। इसके प्रकट होने से दीनता, चिन्ता, आसू, विवर्णता, उच्छ्वास, विकलता आदि उत्पन्न होते है। निर्वेद सचारी बीभत्सरस मे प्रचुरता से मिलता है। आत्मग्लानि-स्वरूप बीभत्स रस में तो विरक्ति का पूर्ण

१. मोहोऽपस्मार आवेगो व्याधिश्च मरणादय हि० पृ० २६१

आयोजन रहता है। सुभद्राकुमारी चौहान की 'पापी पेट' कहानी के उद्धरण मे राम-खेलावन सिपाही का नौकरी छोड़ देना, स्वावमानन आदि निर्वेद सचारी के ही द्योतक है जो पीछे आत्मग्लानि के रूप मे बीभत्स रस के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए हम दिखा चुके है। घृणा के सहयोगी-रूप मे निर्वेद की सम्भावना स्पष्ट है।

२ आवेग : अचानक इष्ट या अनिष्ट के होने से चित्त की आतुरता को 'आवेग' कहते हैं। आवेशयुक्त घृणा मे आवेग सचारी स्पष्ट प्रकट होता है। आवेश-युक्त घृणा के उदाहरण मे बाबा मदनसिंह का आवेग हम दिखा आए है। घृणा मे अनिष्ट-जन्य आवेग ही होता है। बीभत्स रस मे आवेग सचारी तो प्राचीनो ने भी माना है।

३. दैन्य . दुख से चित्त का मलिन होना दीनता है। आत्मग्लानि-रूप बीभत्स रस मे दीनता का प्रकाशन स्पष्ट सम्भाव्य है।

४ श्रम—परिश्रम से श्रम का सम्बन्ध है। शारीरिक और मानसिक थकावट का-सा अनुभव जब किसी स्थायी भाव के आश्रय होता है, तो वह भी भावदशा बन जाती है, कोरा शारीरिक उपलक्षण नही रहती। इसीलिए इसे सचारी भाव कहना उचित ही है। घृणा का आश्रय जब घृणित आलम्बन को दूर करने मे कुछ परिश्रम करता दिखाई देगा, तो उसका श्रम सचारी भाव ही बनेगा, ठीक वैसे ही जैसे प्रिय-अनुराग मे प्रिय रामचन्द्र जी के साथ मार्ग का श्रम सहर्ष सहती हुई जानकी का श्रम शृगार का सचारी बन कर आता है।

५ मद : मन की ऐसी आनन्दपूर्ण मस्ती जिसमें सम्मोह-सा उत्पन्न हो जाय, मद कहलाती है। शृगार की सयोगावस्था मे यह विशेष रूप से प्रकट होती है। यद्यपि घृणा-पात्र की समाप्ति या उसके अनिष्ट मे हर्ष का सचार होता है, पर ऐसी मस्ती पैदा होना कठिन है।

६. जड़ता—किंकर्त्तव्यविमूढता को 'जड़ता' कहते है, जो अनिष्ट या इष्ट के कारण होती है। निर्निमेप नेत्रो से देखना, चुप्पी साधना आदि इसके लक्षण होते है। बीभत्स रस में इसका भी प्रकाशन सभाव्य है। कोई व्यक्ति यदि अचानक किसी दुराचार के अड्डे पर पहुँचता है या ले जाया जाता है, तो उस घृणित वातावरण को देखकर वह एकदम जड़- सा बन सकता है, किंकर्त्तव्यविमूढ-सा हो सकता है। वापस लौटे या खड़ा रहे, लाने वाले की भर्त्सना करे या ऐसे नरक-कुण्ड के बनाने वालो की ? उसकी एकदम जकी-तकी अवस्था जड़ता सचारी की द्योतक होगी।

७. उग्रता—'उग्रता' कहते हैं चण्डता अथवा असहिष्णुता को। इसकी उत्पत्ति के कारण शौर्य, अपराध, अपकार आदि-आदि है। इससे स्वेद, शिर कप, तर्जन और ताडन आदि-आदि स्वभावत उत्पन्न हुआ करते है।[१] लक्षण मे ही स्पष्ट

---

१ साहित्यदर्पण हि० पृ० २१०

है कि उग्रता बीभत्स रस का संचारी हो सकता है, होता है। कोई अत्याचारी किसी अबला पर बलात्कार करना चाहता है, तो उसकी उग्रतापूर्ण फटकार-प्रतिकार मे उग्रता संचारी प्रकाशित होगा। क्रोध-मिश्रित घृणा मे उग्रता संचारी प्रायः अवश्य प्रकट होगा।

८ मोह· किसी वस्तु मे ऐसी विफलतापूर्ण मग्नता, जो आत्म-विस्मृत-सा कर देती है, मोह कहलाती है। "साहित्यदर्पण" आदि लक्षण-ग्रन्थो मे मोह के जो लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये गये है, वे हमे मान्य नही। साहित्य-दर्पणकार के अनुसार "मोह" चित्त की विकलता को कहते है। इसकी उत्पत्ति भय, दुख, आवेग, अत्यन्त चिंतन आदि कारणो से संभव है। मोह' मे मूर्च्छा, अज्ञान, पतन, चक्कर आना, कुछ दिखाई न पडना आदि-आदि स्वभावत हुआ करते है। रति के मोह का जो उदाहरण दिया गया है, उससे मोह का कोई स्पष्ट बोध होता ही नही। वह मूर्च्छा सात्त्विक का उदाहरण ही प्रतीत होता है। कोई व्यक्ति अपने प्रिय के निधन पर यदि बार-बार अपनी छाती पीटता हुआ प्रिय के मृतक शरीर पर पडना चाहता है, श्मशान-भूमि मे उसकी चिता मे कूदने को लालायित होता है, तो उसका संचारी भाव मोह ही कहलायेगा। मोह का आधार अनुराग या आकर्षण होता है, जैसे शलभ का दीपक में जल मरना। बीभत्स रस मे आलम्बन के प्रति इसके विपरीत भावना (घृणा और विकर्षण) रहती है, अत बीभत्स रस मे मोह, रति आदि संचारी नही आ सकते।

९. विबोध—मन की लुप्त चेतना के पुन प्राप्त करने को विबोध कहते है। यह प्राय जडता, मूर्च्छा, अर्द्ध चेतनावस्था के पश्चात् सहसा चैतन्य आने पर प्रकट होता है। जैसे श्री कृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर गोपियाँ विक्षिप्त-सी, मूर्च्छित-सी, अर्द्ध-चेतनावस्था को प्राप्त करती है। फिर सहसा कृष्ण के प्रकट होने पर उनमे जो चेतना का संचार होता है, उसका नन्ददास जी ने इस प्रकार वर्णन किया है—

पियहि निरखि तिय वृन्द उठी सब इकै बार यो।
परिघट आए प्रान बहुरि उझकत इन्द्री ज्यो॥[1]

—रासपंचाध्यायी

हम ऊपर निवेदन कर चुके है कि बीभत्स रस में जडता, मूर्च्छा, अर्द्ध चेतना आदि की सम्भावना है, अत उनके पश्चात् चैतन्य-प्राप्ति का द्योतक विबोध संचारी भाव भी अवश्य प्रकट हो सकता है।

१०. स्वप्न—स्वप्न में भी यदि मन विषय मे मग्न होने से बाह्य अभिव्यक्ति प्रकट करे तो वह मन की स्वप्न-दशा होने से स्वप्न संचारी कहलाती है। लक्षण-ग्रन्थो मे इसका यही स्वरूप दिया गया है और किसी विरहिणी के स्वप्न मे प्रिय-

१ ग्रथावली (नागरी प्रचारिणी सभा पृ० १९ (पहला)

चिंतन या प्रिय-मिलन को इसका उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। पर हम 'स्वप्न' सचारी से अभिप्राय दिवा-स्वप्न (Day-dreaming or wishful dreaming) लेना ही उचित समझते है। स्वप्न का परम्परागत रूप तो सभी रसो मे सभव है, क्योकि स्वप्न की अवस्था मे कोई भी स्थायी भाव अनुभूति मे आ सकता है। स्वप्न मे घृणित आलम्बन के प्रति क्षोभ, भर्त्सना आदि भी प्रकट हो सकती है। बीभत्स रस मे 'दिवा-स्वप्न" वाला रूप भी सचारी बन सकता है। जिस प्रकार शृङ्गार का आश्रय (प्रेमी) अपनी मधुर कल्पनाओ मे डूब कर सौन्दर्य के महल बनाता है, अनन्त-यौवना प्रकृति के क्रोड में अपनी प्रेयसी के साथ रहने के लिए किसी अलकापुरी या इन्द्रपुरी की कल्पना करता है, ऐश्वर्य के सब साधनों की स्वप्निल इच्छा मे डूबता है, उसी प्रकार घृणा का आश्रय समाज की घृणित परम्पराओ, नारकीय यातनाकुण्डो को समाप्त करने के लिए स्वप्निल कल्पनाओ मे मग्न हो सकता है। वह ऐसे आदर्श 'सेवासदनो' या आश्रमो की कल्पना कर सकता है, जहाँ अत्याचारियो का अत्याचार, व्यभिचारियो का व्यभिचार प्रवेश भी न पा सकेगा।

११ **अपस्मार**—"अपस्मार" चित्त की विक्षिप्तता को कहते है। आत्मग्लानि-रूप बीभत्स रस मे इसकी पूरी सभावना रहती है। श्री प्रताप नारायण श्रीवास्तव के 'वेदना' उपन्यास मे युवक प्रेमनाथ की विक्षिप्तावस्था का कारण आत्मग्लानि-रूप बीभत्स रस ही है। इस उपन्यास के उद्धरण हमने आगे प्रस्तुत किये है। प्राचीनो को भी यह सचारी स्वीकार रहा है।

१२ गर्व—अभिमान, स्वाभिमान आदि को गर्व कहते है। गर्व संचारी भी बीभत्स रस मे प्राप्य है। वर्तमान घृणित परम्पराओ एव सामाजिक या सांस्कृतिक पतन को धिक्कारता हुआ देशभक्त अपने अतीत के प्रति गर्व की भावना व्यजित कर सकता है। उसका यह गर्व घृणा का सचारी बनकर प्रकट हो सकता है। दूसरो को फटकारने के मूल मे आत्मगौरव या उच्च भावना रहती है, वही गर्व या स्वाभिमान का रूप लेकर स्पष्टत प्रकट हो सकती है।

१३. आलस्य—किसी की पापाचारपूर्ण बातो को सुनने से घृणा होती है। यदि वह बार-बार सुनाना चाहता है, तो हम ऊब जाते है, अनसुने-भाव से मन की शिथिलता या अलसता प्रकट करते है। अत यह अनमनापन या मन की शिथिलता का भाव जिसे आलस्य सचारी भाव कहते है, बीभत्स रस में भी प्रकट हो सकता है।

१४. मरण—जैसा कि कहा जा चुका है, मरण से अभिप्राय मृत्यु लेना भूल होगी। वस्तुत अत्यधिक दुख के कारण प्राण त्यागने की भावना होना ही "मरण" है। आत्मग्लानि-रूप घृणा मे "मरण" प्रचुरता से प्रकट होता है। उपर्युक्त उपन्यास (वेदना) मे ही किरण के आत्मघात के प्रयास इसके उदाहरण है। कई बार प्राण त्यागने की भावना वास्तविक मरण में भी परिणत हो जाती है। अज्ञेय जी

की 'विपथगा' कहानी की विपथगा इसका उदाहरण है, जो हम पहले ही प्रस्तुत कर चुके है।

१५ **अमर्ष** · 'अमर्ष एक तरह से क्रोध का ही हलका रूप है। अत क्षोभ-मिश्रित या क्रोध-मिश्रित घृणा मे यह स्पष्टतः प्रकट होता है।

१६. **निद्रा** उपर्युक्त आलस्य की ही अवस्था, तीव्र होने पर, निद्रा का-सा भाव मन मे उत्पन्न करती है। 'निद्रा' मे नेत्र-निमीलन से इतना तात्पर्य नही है, जितना मनोनिमीलन से। मनोनिमीलन से निद्रा की-सी अवस्था ही निद्रा संचारी है।

१७ **अवहित्था** . भय, लज्जा, आदि के कारण मन का भाव छिपाने को 'अवहित्था' सचारी कहते है। भयमिश्रित घृणा मे इसकी अवस्थिति सभव है। भानुदत्त के आधार पर देव ने जिस छल सचारी की बात की है, वह अवहित्था मे ही अन्तर्भूत हो जाता है।

१८. **औत्सुक्य** : अभीष्ट की प्राप्ति मे विलम्ब का असह्य होना 'औत्सुक्य' या 'उत्सुकता' सचारी कहलाता है। इसके लक्षण आतुरता, आकुलता, चित्त-सताप आदि है। बीभत्स रस में 'उत्सुकता' का सचरण भी सभाव्य है। घृणित व्यभिचारी या अत्याचारी के पजे मे बच निकलने की उत्सुकता सहज अनुभूति की बात है।

१६ **उन्माद** · चित्त की व्यामूढता को उन्माद कहते हैं। विक्षिप्तता की अवस्था कुछ अधिक स्थायी होती है, उन्माद मे चित्त की व्यामूढता थोडी देर रहती है। घृणा के आश्रय मे—विशेष रूप से आत्मग्लानि के रूप मे उन्माद की अवस्था भी सम्भव है। शुक्ल जी का भी कथन है—जुगुप्सा या विरति से भी उन्माद या उन्माद की-सी दशा हो सकती है। शेक्सपियर का 'हेमलेट' इसका उदाहरण है। अपने चचा और माता के कृत्य से उसे जो विरक्ति हुई, उसने उसकी दशा उन्मत्त की-सी कर दी।[1]

२०. **शंका**—'शका' का अभिप्राय है अनर्थ-चितन का, और यह किसी दूसरे के क्रूराचरण, आत्मदोष आदि-आदि के कारण हुआ करती है। कहने की आवश्यकता नही कि भय-मिश्रित घृणा में तो शंका आशका के रूप में स्पष्ट प्रकट होगी। घृणा-पात्र के प्रति सामान्य रूप से भी अनिष्ट की आशका हो सकती है। शका से दूसरा अर्थ यदि सदेह लिया जाय, तो वह भी घृणा मे सचारी बन सकता है। किसी घृणित व्यक्ति के बारे में उसकी किसी दूसरी बुराई का सदेह हो सकता है। अभि-युक्तो के आचरण शका पैदा करते ही है।

२१ **स्मृति**—किसी के पापाचरण का स्मरण उसके प्रति हमारी घृणा को तीव्र करेगा ही। जिस प्रकार प्रिय का स्मरण प्रेम की तीव्रता प्रदान करता है, उसी प्रकार घृणित व्यक्ति अथवा पापाचरण की याद घृणा को उद्दीप्त करती है।

---

१ रस मीमासा पृ० २२६

२२ मति 'मति' से अभिप्राय है वस्तु तत्त्व के निश्चय की मानसिक स्थिति। इसके होने पर मुस्कराहट, धैर्य, सन्तोष आदि स्वभावत प्रकट हुआ करते हैं। बीभत्स इसके अन्तर्गत 'मति' सचारी का सुन्दर रूप हम इलाचन्द्र जोशी के 'पर्दे की रानी' मे पीछे भयमिश्रित घृणा के प्रकरण मे दिखा चुके है। होटल मे निरंजना 'मति' सचारी के ही कारण इन्द्रमोहन को खूब शराब पिलाकर, नशे में गुत्त करके निकल जाने की युक्ति अपनाती है।

२३. व्याधि—व्याधि का जो लक्षण आचार्यो ने दिया है, वह सचारी भाव का तो क्या, भाव सामान्य का लक्षण भी नही माना जा सकता। सामान्यत व्याधि का यह लक्षण दिया जाता है—'वात-पित आदि के प्रकोप से ज्वर आदि को व्याधि कहते है। इसमे नीचे लोट जाना, कंपकपी आदि विकार होते हैं। पित-प्रकोप वाली व्याधि मे जमीन पर लोटने की इच्छा तथा कफ-प्रकोप वाली मे कपकपी होती है।[1] इस लक्षण से स्पष्ट है कि लौकिक रोग, बीमारी आदि को ही आचार्य व्याधि' मान बैठे है। इसी से विश्वनाथ आचार्य ने इसका उदाहरण देना भी आवश्यक नही समझा, यह तो यो ही स्पष्ट है! किन्तु वास्तविक रोग कहने से मानसिक आधार दूर जा पडता है। प्रेम मे असफलता के कारण, या वियोग मे, रोग भी हो सकता है, पर जब तक 'करेजे की करक' का आधार नही होगा तब तक व्याधि संचारी भाव नही माना जा सकता। दुख के कारण शरीर की क्षीणता, अगो की विकलता आदि प्रकट करना ही उचित होता है। घृणा मे विशेषकर आत्मग्लानि में 'व्याधि भी सभव है।

२४. त्रास भय का हल्का रूप ही 'त्रास' है। भय-मिश्रित घृणा में इसकी उद्भूति स्पष्ट सम्भाव्य है।

२५. व्रीड़ा : 'व्रीड़ा' लज्जा को कहते है। यह किसी दुराचरण के कारण हुआ करती है। इसमे सिर नीचा होना, मुँह का रग उडना आदि विकार हुआ करते है—"धाष्ट्‌र्याभावो व्रीडा वदनानमनादिकृत् दुराचारात" (साहित्यदर्पण)। आत्मग्लानि-रूप बीभत्स रस मे लज्जा या व्रीडा सचारी प्रचुरता से पाया जाता है।

२६. हर्ष : मन की प्रसन्नता को हर्ष कहते है। हर्ष का सचार बीभत्स रस मे खूब पाया जाता है। घृणित आलम्बनो को समाप्त होते, कष्ट पाते देखकर हर्ष ही होता है। 'प्राय: देखा जाता है कि जब रगमच पर किसी बडे अत्याचारी को यातना प्रारम्भ होती है, लहूपिपासितो का लहू बहाया जाता है और दूसरों की नाक काटनेवालो की नाक काट ली जाती है, जब देशहितैषियो के गले पर छुरा

---

१. व्याधिर्ज्वरादिर्वाताद्यैर्भूमीच्छोत्कम्पनादिकृत।
तत्र दाहमयत्वे भूमीच्छादय शैत्यमयत्वे उत्कम्पादय:। स्पष्टमुदाहरणम्।
—साहित्यदर्पण हि०, पृ० २१६-२०।

चलाने वालो, पेट मे कटार भोकने वालो का लहू-पान किया जाता है, अथवा देश-द्रोहियो का सिर गेंद बनाया जाता है, उनके मास के लोथडे उछाले जाते है, और उनकी अतड़ी चबाई जाती है तो यह बीभत्स कांड देख कर दर्शक-मडली के रोगटे नही खड़े होते और न उनके हृदय मे कुछ दुख ही होता है। वरन् वे जितना छट-पटाते है, जितना रोने-कलपते हैं और जितनी हाय-हाय करते है, उतनी ही वह (दर्शक मण्डली) हर्षित होती और उल्लास प्रकट करती है। क्यो ? इसलिए कि नाटककार की लेखनी के कौशल से अत्याचारियों, देशद्रोहियो और उत्पीडको के प्रति उनके हृदय में इतनी घृणा जाग्रत रहती है कि उनको उनकी नाटकीय यातना देखकर ही सुख मिलता है।··· अत्याचारियो, देशद्रोहियों, मानव-उत्पीडको के प्रति मनुष्य-मात्र का सस्कार द्वेष और घृणामय है। इसलिए जब वह उनकी दुर्गति होते देखता है तो सतोष तो लाभ करता ही है, यह सोचकर भी उत्फुल्ल होता है कि संसार-कटकों की जितनी दुर्गति दिखलाई जावे, उतना ही उत्तम, क्योंकि उसी को देख कर जनता के नेत्र खुलते हैं, उन्मार्ग-गामियों को त्रास होना है और दुर्जनो से वसुधा सुरक्षित रहती है।''[1]

२७. **असूया**—दूसरे की गुण-समृद्धि को सहन न कर सकने के कारण मन की जलन को असूया कहते है। इसमे दूसरे के दोष का उद्घोषण किया जाता है, दूसरे को तिरस्कृत किया जाता है, क्रोध से भौहें चढ जाती है। घृणा-पात्र को उन्नति करते देख, अपने से बढते देख, मन में असूया पैदा होती है। अतः असूया भी बीभत्स का सचारी अवश्य बनता है।

२८. **विषाद**—अनिष्ट होने से जो मानसिक कष्ट होता है, उसे विषाद कहते हैं। घृणा दुखात्मक भाव है, अतः इसके सचारी-स्वरूप विषाद का आना पूर्ण सभव है। सामाजिक पतन के कारण हम बुराइयो के प्रति घृणा के साथ ही विषाद या खिन्नता का भी अनुभव करते है। आत्मग्लानि मे भी 'विषाद' सचरित होता है।

२९ **धृति**—साहस, तत्त्वज्ञान आदि के प्रभाव से विपत्ति-काल में भी चित्त का विचलित न होना धैर्य कहलाता है। बीभत्स रस में 'धृति' का प्रकाशन भी सभाव्य है। घृणित व्यक्ति या अत्याचारियो के अत्याचार धैर्यपूर्वक सहन करने मे धृति संचारी प्रकट होता है।

३०. **चपलता**—'चपलता' से अभिप्राय मन की अनवस्था या अस्थिरता है, जो द्वेष या मात्सर्य के कारण उत्पन्न होती है। इसमे दूसरों की भर्त्सना की जाया करती है, कठोर वचन बोले जाते है। बीभत्स-रस मे जब घृणा-पात्र को तेजी से फटकारा जाता है या घृणित आलम्बन के पास से तेजी से हटा जाता है, या तेजी

---

१ अयोध्यासिंह उपाध्याय 'रसकलस' पृ० ३० ३१ भूमिकाभाग (तृतीय २००८ वि०)

से उसे दूर हटाया जाता है तो चपलता सचारी का प्रकाशन होता है। शुक्ल जी का कथन है कि 'जिसमे घृणा या द्वेष हो, उसे देखकर भला-बुरा या अप्रिय वचन कहने लगना भी 'चपलता' ही के अन्तर्गत माना जायगा, पर तभी तक जब तक उग्रता न प्रकट होगी। यदि कटुवचन उग्रता लिए होगा तो वह 'उग्रता' का सूचक होगा'। (रस-मी० पृ० २२६)

३१. ग्लानि—हम पहले भी निवेदन कर चुके है कि ग्लानि का जो स्वरूप लक्षण-ग्रन्थों मे दिया हुआ है, वह हमे मान्य नही है। साहित्यदर्पण मे 'ग्लानि' का यह लक्षण दिया गया है—ग्लानि शारीरिक दुर्बलता को कहते हैं, जो कि रति-श्रम, अन्यविध परिश्रम, मनस्ताप, भूख, प्यास आदि-आदि से हुआ करती है। इसमे कपकपी हुआ करती है, काम करने मे जी नही लगता और ऐसे ही अन्य उत्पात हुआ करते है, जैसे कि सीताजी की ग्लानि का यह वर्णन—'जैसे आश्विन का आतप केतकी के गर्भ (किसलयों) को सुखा देता है, वैसे ही दारुण वियोग-शोक सीता-सुन्दरी के हृदय-कुसुम को झुलसा रहा है और उसकी वृन्त-पतित किसलय-सरीखी कोमल, दुर्बल और पीली देह-लता को भी जलाता दिखाई दे रहा है।"[1]

ग्लानि को शारीरिक दुर्बलता या शिथिलता कहना बिल्कुल अयुक्त है। लक्षणगत ग्लानि श्रम या अलसता से भिन्न कोई वस्तु प्रतीत नही होती। उक्त उदाहरण व्याधि का-सा लगता है। हम ग्लानि के दो रूप स्वीकार करते है—एक तो घृणित स्थूल वस्तुओं के दर्शन से जो घ्राणादि इन्द्रिय-जन्य ग्लानि होती है, वह ग्लानि सचारी है, दूसरे आत्मग्लानि के रूप में सच्ची मानसिक ग्लानि प्रकट होती है। आचार्य रामदहिन मिश्र ने ग्लानि का उपर्युक्त रूढ़ लक्षण देकर, उदाहरण के रूप मे ये पक्तियाँ दी हैं—

"गोरी का गुलाम मै बना था हतचेत था।
आर्यता गया के मै सदेह प्रेतवत था॥" (वियोगी)

और उन्होने कहा है—जयचन्द की इस उक्ति में भी ग्लानि की व्यंजना है।[2] किन्तु यह उक्ति ग्लानि के रूढ़ लक्षण से कोसों दूर है। वास्तव में यही आत्मग्लानि, यही मानसिक अवस्था ग्लानि का सच्चा रूप है। किन्तु उक्त उदाहरण संचारी भाव का नही माना जा सकता। इस उक्ति मे जयचन्द अपने कुकृत्य पर आत्म-भर्त्सना कर रहा है। अतः यह बीभत्स रस का ही उदाहरण है। सचारी-रूप में आत्मग्लानि 'साकेत' के भरत की द्रष्टव्य है। वह भ्रातृ-रति का सचारी बनकर प्रकट हुई है। बीभत्स रस में वस्तुगत घ्राण-जन्य ग्लानि घृणा स्थायी भाव का संचारी बनकर बहुधा प्रकट होती है।

---

१. देखिए 'साहित्यदर्पण हि०' पृ० २२४।
२. रामदहिन मिश्र : काव्यदर्पण, पृ० ८६ (प्रथम संस्करण)।

३२. चिन्ता—हित के प्राप्त न होने से जो आधि होती है, उसे चिन्ता कहते है। घृणा-पात्रो के बढ़ते हुए दुराचार से आश्रय चिन्तित हो सकता है। बीभत्स रस मे चिन्ता का भी पर्याप्त प्रसार पाया जाता है।

३३. तर्क—सन्देह के कारण उत्पन्न विचार या किसी भाव के आश्रय तर्क-वितर्क करना ही तर्क सचारी है। बीभत्स रस मे सामाजिक बुराइयो को दूर करने के लिए भिन्न-भिन्न उपाय सोचना, तर्क-वितर्क करना सामान्य अनुभूति की बात है। अत. बीभत्स रस मे तर्क सचारी भी सभाव्य है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ कि प्राचीन संचारियों मे से मोह आदि एकाध को छोडकर शेष सब सचारी भाव बीभत्स रस मे प्रकट होते है। प्राचीन आचार्यों ने मोह का अभिप्राय 'चित्त की विकलता' लेकर उसे बीभत्स का सचारी बनाया था, परन्तु हमने 'मोह' का परम्परागत लक्षण अमान्य ठहराया है। मोह मे अभिप्राय है अन्ध आकर्षण या अन्ध अनुराग। अनुराग का घृणा से विरोध होने के कारण, मुझे मोह संचारी की उपस्थिति बीभत्स रस मे सभव प्रतीत नही होती। स्थायी भावो में से भी केवल रति को छोड कर शेष क्रोध, भय, हास, विस्मय, उत्साह, शोकादि सब स्थायी भाव बीभत्स रस के सचारी-रूप मे प्रकट होते है। बीभत्स रस की व्यापकता मे क्या सन्देह हो सकता है? इतने सचारी भाव शृङ्गार को छोडकर शायद ही अन्य किसी रस मे प्रकट हो सकते हों।

इन प्राचीन सचारियो के अतिरिक्त और भी अनेक संचारी भाव बीभत्स रस मे प्रकट हो सकते है—प्रकट होते है। वास्तव मे सचारियो की सख्या केवल ३३ ही नही मानी जा सकती। सवेदनशील मन की न जाने कितनी तरंगें होती हैं। वे सब सचारी भाव के रूप में प्रकट हो सकती है। आशा, निराशा, पश्चात्ताप, विस्मृति, विश्वास, दया, सन्तोष, असन्तोष, उदासीनता, चकपकाहट, अनिश्चय, क्षमा, विनय, उत्कंठा, तृष्णा, अभिलाषा, श्रद्धा, उपेक्षा, निन्दा आदि कितने ही ऐसे भाव है, जिन पर प्राचीन आचार्यों का ध्यान नही गया था। बीभत्स रस मे इनमे से श्रद्धा और तृष्णा आदि एक-दो को छोडकर सब सचारी-रूप में प्रकट हो सकते हैं। इस प्रकार बीभत्स रस के रसार्णव मे सचारी भावों की अनेक तरगे प्रकट होकर उसे जीवन के नाना चित्र-विचित्र रूपो में प्रकट करती हैं। बहुत-से विद्वान् नवीन संचारियो के प्राचीन ३३ सचारियों मे ही अन्तर्भाव का प्रयत्न करते हैं। आचार्य रामदहिन मिश्र ने शुक्लजी द्वारा निर्दिष्ट 'उदासीनता' और चकपकाहट आदि संचारियों का अन्तर्भाव 'निर्वेद' और 'आवेग' मे करना चाहा है। सचारियो के अन्तर्भाव की यह बात हमें मान्य नहीं है। वस्तुत: भावों का मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म अन्तर इन सबको स्वतन्त्र भाव सिद्ध करता है

(ग) विभावादि और रसानुभूति

विभावादि रस-सामग्री का विवेचन करने के पश्चात्, अब प्रश्न उठता है कि क्या 'विभावानुभावसचारी' सबके योग से ही रसानुभूति प्राप्त हो सकती है, अथवा काव्य में यदि इनमें से कोई अनुपस्थित हो, तो भी रसानुभूति संभव है। डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने एक-मात्र विभाव से रसानुभूति मानना अनुचित बताया है। उनका कथन है कि 'रस का सम्बन्ध आत्मा से है, न कि विभाव के समान किसी बाह्य वस्तु से। बाह्य वस्तुओं को ही यदि रस मान लिया जाय तो उसे सभी स्थितियों में एकसा रसात्मक होना चाहिये। किन्तु इसके विपरीत एक ही वस्तु, यथा व्याघ्रादि भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न रस को व्यक्त करने में सहायक होती है। वही कभी भय की उत्पादक है, कभी क्रोध की। यदि आलम्बन-मात्र रस होता तो पिंजड़े मे पड़ा हुआ शेर भी भयानक रस व्यक्त करता और खुला हुआ शेर भी।'[1]

इस सम्बन्ध मे निवेदन है कि डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित भी डा० राकेश गुप्त की तरह विभाव को निरपेक्ष बाह्य वस्तु मानकर अपना वक्तव्य देते है, जो उचित नही है। काव्य में विभाव का अर्थ निरपेक्ष वस्तु नही होता। कवि या लेखक वस्तु-विशेष को जब अपनी किसी अनुभूति का आधार बनाता है, तभी वह उसके उस भाव का आलम्बन या विभाव बनती है। इसमे पूर्व वह न आलम्बन है, न विभाव, केवल वस्तु-मात्र होती है। अत. उक्त विद्वानो ने विभाव-अन्तर्गत किसी वस्तु के अनुभूति का आधार बनकर आने की अनिवार्य शर्त की अवहेलना ही कर दी है। शकुन्तला शृङ्गार रस का आलम्बन तभी बनती है, जब कवि को ऐसा अभीष्ट होता है। आलम्बन अनुभूति का आधार होता है, उसमें भी आनन्द प्रदान करने की शक्ति है। अतः स्थायीभाव को अनुभवगम्य बनाने वाले विभावादि मे से किसी एक का चित्रण भी रसानुभूति अवश्य करायेगा। काव्य में आलम्बन जब होगा, भावोद्बोधक होगा, अत. यदि काव्यगत आश्रय, उसके अनुभाव तथा संचारी भाव वर्णित न भी हों, तो भी पाठक स्वय आश्रय के रूप मे रसानुभूति प्राप्त करेगा। यदि विभाव मे रसानुभूति की क्षमता न होती, तो प्रकृति का आलम्बनगत विशुद्ध चित्रण अनुभूति का विषय ही न बनता। अत कवि की अनुभूति पर आश्रित काव्यगत आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव या सचारी में से किसी एक का चित्रण भी रसानुभूति कराने की क्षमता रखता है। बहुत बार काव्य मे एक के चित्रण से दूसरों की स्वयं सिद्धि हो जाती है। जैसे, यदि नायिका का केवल अनुभाव चित्रण हो तो विभाव और सचारी भावों का आक्षेप कर लिया जाता है।

परन्तु यदि काव्य में सब की पूर्ण योजना हो, तो सम्मिलित प्रभाव उत्पन्न

---

१ डा० दीक्षित स्वरूप विश्लेषण पृ० ५१

करने वाली पुष्ट रसानुभूति होगी, अर्थात् विभावादि सबका पुट-पाक रसानुभूति को अधिक पुष्ट, अधिक स्वय-सवेद्य और अधिक मार्मिक बना देगा। इसमे भी यदि विभावादि सब का स्वरूप पूर्ण उदात्त हो, तो सब की सम्मिलित अनुभूति उदात्ततम रस-अवस्था को प्रकट करेगी, और यह उदात्त रस की निष्पत्ति रस की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति मानी जायेगी।

स्थायीभाव और रस

प्रश्न उठता है कि क्या स्थायीभाव ही रस है? दण्डी, भट्टलोल्लट आदि आचार्यो ने विभाव-अनुभाव आदि से सपुष्ट हुए स्थायी भाव को ही रस माना है। दण्डी का कथन है कि "रूप बाहुल्य (उपचर्य) के कारण रति (स्थायीभाव) शृ गार रस-रूपता को प्राप्त हो जाती है।"[१] तथा "अत्यन्तवृद्धि को प्राप्त हुआ क्रोध स्थायी भाव रौद्र रस-रूपता को प्राप्त होता है।"[२] किन्तु शकुक ने इस मत का खण्डन किया है। स्थायीभाव का काव्य मे प्रकाशन या 'साक्षात्कारात्मक ज्ञान' विभावादि के बिना हो ही नही सकता, अत: विभावादि की विद्यमानता मे जो रत्यादि का बोध होगा, वह रस ही होगा, स्थायीभाव नहीं। अत. रस तथा स्थायी भाव भिन्न-भिन्न है। आचार्य शकुक का यही मत है। जब लौकिक उदाहरण से अथवा केवल नाम-कथन से घृणा का उल्लेख हो, तो उसे स्थायी भाव कहा जायगा। जैसे, शूर्पणखा को देखकर सीता के मन मे घृणा जगी। सीता की यह लौकिक अनुभूति स्थायीभाव घृणा की अनुभूति है। किन्तु जब कवि शूर्पणखा का घृणित रूप हमारे सामने चित्रित करता है और उस चित्रण से हम भी घृणा की अनुभूति प्राप्त करते है, तो यह बीभत्स रस ही माना जायगा। कुछ विद्वान् स्थायीभाव का स्वरूप उदाहरण-द्वारा स्पष्ट करते हुए बहुत ही भ्राति मे फसे दिखाई देते है। डा० विपिन बिहारी त्रिवेदी तथा डा० उषा गुप्ता की एक नई पुस्तक 'काव्य विवेचन' देखने में आई। डाक्टर द्वय की भ्रातियो का कहाँ तक उल्लेख करे। उनके द्वारा प्रकट किए गए स्थायीभावो के लक्षण-उदाहरण अत्यन्त भ्रांतिपूर्ण है। अनेक उदाहरण रसो के ही उदाहरण है। कई उदाहरणो मे सचारी भाव ही स्थायीभाव माने गए है। क्रोध स्थायीभाव का यह उदाहरण प्रस्तुत किया गया है—

सुनि अस लिखा उठा जरि राजा। जानहुँ दैवतडपि घन गाजा॥
का मोहिं सिंघ देखावसि आई। कहौं तो सारदूल धरि खाई॥

और कहा गया है— 'बादशाह अलाउद्दीन का पत्र मिलने पर राजा रत्नसेन के क्रोध की व्यजना यहाँ दिखाई गई है।"[३] किन्तु रत्नसेन के इस क्रोध से हमारा तादात्म्य

१. दण्डी : काव्यादर्श २।२८१।
२ वही २ २८२
३ काव्य विवेचन, पृ० ३०

हो जाने के कारण, यह रौद्ररस का उदाहरण स्पष्ट है। रत्नसेन की अनुभूति अवश्य लौकिक क्रोध की होगी। लेखकों ने इस तथ्य को स्पष्ट नही किया। इसी प्रकार स्थायीभाव जुगुप्सा के उदाहरण-स्वरूप पद्माकर जी का यह छन्द प्रस्तुत किया गया है—

आवत गलानि जो बखान करौं ज्यादा यह,
मादा मल मूत और मज्जा की सलीती है।
कहै "पद्माकर" जरा तौ जागि भीजी तब,
छीजी दिन रैन जैसे रैनु ही की भीती है।
सीतापति राम के सनेह-बस बीती जौ पै,
तौ तो दिव्य देह जम-जातना तें जीती है।
रीती राम नाम तें रही जो बिन काम तो, या,
खारिज खराब हाल खाल की खलीती है।

विद्वान् लेखकों का कथन है कि "यहाँ शरीर को "मादा मल मूत और मज्जा की सलीती" तथा "खाल की खलीती" कहकर ग्लानि व्यंजित की गई है और बीभत्स रस का परिपाक नहीं हुआ है।"[1] काव्यरसिकों को बताने की आवश्यकता नहीं, कि यह भक्ति रस या शान्तरस का विषय है, बीभत्स रस का नहीं और यहाँ ग्लानि संचारी भाव के रूप में आयी है, स्थायी-रूप मे नही। यहा अनुभूति का पक्ष लौकिक भी नही है, क्योंकि कवि या वक्ता जो हो, सत्त्वोद्रेक की अवस्था मे ही यह उद्गार करेगा। इसी प्रकार उनके द्वारा प्रस्तुत "आश्चर्य" स्थायी भाव के उदाहरण भी कम आश्चर्यजनक नहीं।

वस्तुत: काव्यगत विभावादि के योग से पूर्व रत्यादि स्थायीभावो का ज्ञान शाब्दिक ही हो सकता है। लौकिक विभावादि की व्यंजना द्वारा भी स्थायीभाव का लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है।

अत: घृणा स्थायीभाव और रस मे भेद है, किन्तु यह भेद केवल भाव की सुप्त अवस्था और पुष्ट अवस्था का भेद ही है। जिस प्रकार मिट्टी में ही उसकी गंध सुप्त रहती है, उसी प्रकार सामाजिक के मन मे ये स्थायीभाव सुप्त रहते है, और जैसे जल-सिंचन से मिट्टी की वही गंध प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार विभावादि के द्वारा स्थायीभाव ही पुष्ट होकर रस-रूप मे अभिव्यक्त हो जाता है। इस दृष्टि से स्थायीभाव ही रस है, यह भी कहा जा सकता है।

१. वही, पृ० ३२।
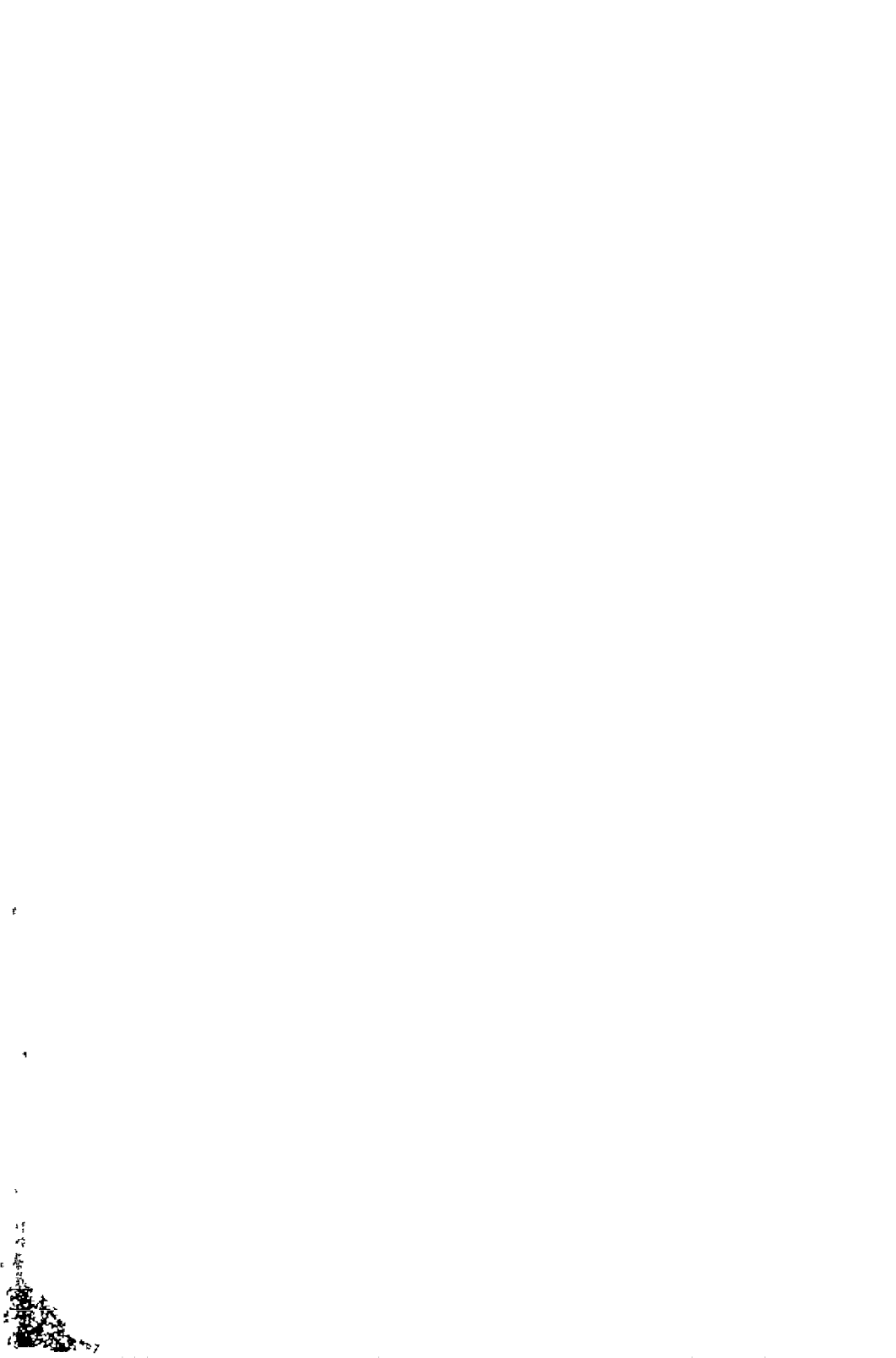
बीभत्स रस का शास्त्रीय निरूपण

अध्याय ५

बीभत्स रस का अन्य सैद्धांतिक विवेचन

- १. साधारणीकरण-तादात्म्य सिद्धांत और बीभत्स रस
- २. रस-दोष
- ३. रसों के वर्ण और देवता
- ४. न्याय या तर्क और रसानुभूति
- ५. घृणा और करुणा
- ६. बीभत्स रस और ओज गुण
- ७. घृणा और उदात्तता
- ८. बीभत्स रस से आनन्द और सौन्दर्यानुभूति
- ९. काव्य में अश्लीलता और बीभत्स रस

साधारणीकरण-तादात्म्य सिद्धान्त और बीभत्स रस

साधारणीकरण और तादात्म्य सिद्धान्त औचित्य पर आधारित है। हम त पात्रों के औचित्य का सहारा लेकर ही किसी पक्ष के पात्रो से तादात्म्य त करते हैं। हमारे कुछ आचार्यों ने पक्ष-विपक्ष दोनों को मिलाकर रसानुभूति-ी विचित्र धारणाओ को प्रकाशित किया है। मम्मट, अभिनवगुप्त, आनन्द-आदि आचार्यों ने अश्वत्थामा की क्रोधयुक्त उक्तियो मे रौद्र रस माना है, कुछ ो ने परशुराम के क्रोध को भी रौद्र रस का उदाहरण स्वीकार किया है। इस ध में हमारा निवेदन है कि अश्वत्थामा अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के जब उग्र बनता है, तो उसका क्रोध थोडी देर के लिए ही औचित्य की सीमा मे जा सकता है, क्योंकि उसके पिता एक श्रेष्ठ आचार्य थे। उनकी मृत्यु से व-पक्ष का लाभ होने पर भी, हमे अफसोस होता है, पर यदि अश्वत्थामा पाण्डव-ो—अबोध बालकों पर अपनी वक्र दृष्टि डालता है, तो हमे उसका कार्य वत ही जान पडता है, और उसके इस क्रोध में हम मन नही रमा सकते। । अश्वत्थामा ही हमारी भर्त्सना या घृणा का पात्र बन जायगा। यही बात ,राम के क्रोध के बारे मे कही जा सकती है। अत जैसा कि आरम्भ मे भी दन किया जा चुका है, अनुचित क्रोध रौद्र रस का विषय नही हो सकता। इसी र हनुमान के द्वारा लका-दहन से राक्षसो का भयभीत होकर भागना भयानक का विषय नही माना जा सकता। इससे हमारे स्थायीभाव भय की पुष्टि नही ो, बल्कि हम तो राक्षसों के भागने पर खुश होते हैं, उन्हे भयभीत होकर भागते ना चाहते है। स्वपक्ष और परपक्ष दोनो के समान साधारणीकरण और तादात्म्य स्थिति कदापि स्वीकार नही की जा सकती। किन्तु डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने चार्यों की इन भ्रांतिपूर्ण धारणाओं की प्रशसा करते हुए कहा है—'काव्य-शास्त्रो

के अध्ययन से पता चलता है कि आचार्यो ने पक्ष-विपक्ष दोनो की उक्तियों मे रस स्वीकार किया है।'' अभिप्राय यह कि रावण के विभावादि द्वारा परिपुष्ट क्रोध को भी रौद्र रस मानने मे आचार्यो को कोई आपत्ति नही है। उनके यहाँ इस प्रकार का पक्ति-भेद नही है कि हम केवल अमुक या स्वपक्ष के द्वारा प्रकट भाव को रस मानेंगे, और अमुक को चाहे कितना भी विभावादि से पुष्ट क्रोध हो, न मानेगे। वह लोग राम के उचित क्रोध को भी रौद्र-रस का उदाहरण मानने को तैयार है और रावण, परशुराम, अश्वत्थामा, कुंभकर्ण, मेघनाद आदि के (अनुचित ?) भावो को भी रौद्र रस और वीर-रस के परिपाक मे समर्थ मानते है। इस प्रकार उन्हे विभावादि के अन्तर्गत आश्रय, आलम्बन, उद्दीपन, स्थायी तथा सहृदय सभी का साधारणीकरण स्वीकार है। यदि यह साधारणीकरण न होगा तो विपक्षियो के कारण रस की सृष्टि कैसे मानी जा सकती है ?'[1]

निवेदन है कि साधारणीकरण तो अवश्य ही सम्पूर्ण रस-सामग्री का होता है, पर तादात्म्य सत्-पक्ष से ही होता है, और सत्-पक्ष के भावों से ही तद्रूप रस की सिद्धि होती है। विपक्षियो के कारण रस की सृष्टि विपक्षियों के भावों के तादात्म्य-रूप मे मानना अनुचित है। वास्तव मे विपक्षी ही ऐसे प्रसंगों पर हमारी घृणा का आलम्बन होगा और उसमे बीभत्स रस की सिद्धि होगी। विपक्षी का क्रोध यदि कभी उचित होगा, तो वह विपक्षी न रहकर स्व-पक्षी ही प्रतीत होगा। स्वपक्षी होने की सूरत मे ही उसका क्रोध हमारे मन मे रौद्र रस की अनुभूति करायेगा। वास्तव मे पक्षी-विपक्षी की धारणा रसानुभूति-काल मे ही स्पष्ट होती है। पूर्वपक्षी भी यदि खोटे कर्म करने लगेगा तो हमे विपक्षी प्रतीत होगा। जैसे, गुप्त जी के 'सिद्धराज' नामक खण्ड काव्य का नायक सिद्धराज पहले वीर नायक के रूप में प्रकट होता है, पर जब वह अबला और असहाय नारी रानकदे के बच्चों का निर्मम वध करता है, उस पर बलात्कार करना चाहता है, तब वह हमारी घृणा का ही पात्र बनता है, और विपक्षी प्रतीत होता है। अत. हमें रसानुभूति की समस्या का हल सहृदय पाठक या कवि की दृष्टि से ही करना चाहिए, न कि काव्यगत आश्रय की दृष्टि से। कवि की अनुभूतियो से ही हमारा तादात्म्य होता है। अत काव्य में साधारणीकरण सम्पूर्ण रस-सामग्री का होता है। अर्थात् विभाव, आश्रय, उसके अनुभाव तथा सचारी आदि सबकी सामान्य अनुभूति के विषय बनते है—साधारणतया प्रतीत होते हैं, पर तादात्म्य कवि की अनुभूति या सत् पक्ष से ही होगा। काव्य मे जहाँ असत् पक्ष होगा, उसके प्रति हमारी घृणा अवश्य जगेगी। हम देखते है कि जहाँ दुराचारियों के लोमहर्षक अत्याचारों को प्रस्तुत किया जाता है, वहाँ भय या क्रोध की भावना प्रमुख होने पर भी घृणा साथ में अवश्य लगी रहती है। बल्कि काव्यगत क्रोध या भय का वर्णन

---

१ रस सिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण पृ० ११८ ११९ (प्रथम)

भी हमारे हृदय में दुराचारियों के प्रति अधिकांशतः घृणा का ही सचार करेगा। काव्य मे अधिकतर ऐसा होता है कि दुराचारियों के प्रति भय और क्रोध की भावनाएँ थोडी देर के लिए जगती है, पर घृणा आरम्भ से अंत तक बनी रहती है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि जब कवि अत्याचारियो का वर्णन अपनी रचना मे करता है, तो उनके प्रति उसके हृदय में घृणा ही प्रमुख रूप से भरी होती है। भय या क्रोध तो बीच-बीच मे काव्यगत आश्रय (पात्रों) के निमित्त से कही-कही ही खुलकर प्रकाशित होता है। घृणा का प्रसार आद्योपांत रहता है। इसी से अत्याचारियो या दुराचारियों के आधार पर रौद्र-रस या भयानक-रस-प्रधान काव्यों की रचना बहुत कम होती है, बीभत्स-रस-प्रधान रचनाएँ अधिक होती है। आधुनिक युग मे बीभत्स रस-प्रधान सामाजिक रचनाएं प्रचुरता से रची गई है, और रची जा रही हैं।

शुक्ल जी द्वारा कथित मध्यम कोटि का रस

शुक्ल जी ने अपने 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' नामक लेख मे कहा है कि काव्यगत आश्रय के साथ तादात्म्य की अवस्था मे उच्च कोटि की रसानुभूति होती है, और जहाँ काव्यगत आश्रय से तादात्म्य नही होता, वहाँ शील-दशा ही होती है। 'वहाँ भी एक प्रकार का साधारणीकरण होता है, जिसमें कवि के भाव से हमारा तादात्म्य होता है। ऐसे स्थलों में कवि की दृष्टि शील-निरूपण की ओर रहती है और आश्रय के लिए जो आलम्बन है, वही पाठक का आलम्बन नही बनता, अपितु आश्रय के प्रति ही हमारा कोई-न-कोई ऐसा भाव जाग्रत होता है, जो उसके प्रति कवि मे भी रहा होगा। इस अवस्था (शील-निरूपण की) में भी एक प्रकार का रस तो आता है, किन्तु वह मध्यम कोटि का होता है'। उनका कथन है कि आश्रय की जिस भाव-व्यंजना को श्रोता या पाठक का हृदय कुछ भी अपना न सकेगा, उसका ग्रहण केवल शील-वैचित्र्य के रूप मे होगा और उसके द्वारा घृणा, विरक्ति, अश्रद्धा, क्रोध, आश्चर्य, कुतूहल इत्यादि में से ही कोई भाव उत्पन्न होकर अपरितुष्ट दशा मे रह जायगा। उस भाव की तुष्टि तभी होगी जब कोई दूसरा पात्र आकर उसकी व्यंजना वाणी और चेष्टा द्वारा उस बेमेल या अनुपयुक्त भाव की व्यंजना करने वाले प्रथम पात्र के प्रति करेगा। इस दूसरे पात्र की भाव-व्यजना के साथ श्रोता या दर्शक की पूर्ण सहानुभूति होगी। अपरितुष्ट भाव की आकुलता का अनुभव प्रबन्ध-काव्यों, नाटको, और उपन्यासों के प्रत्येक पाठक को थोडा-बहुत होगा। जब कोई असामान्य दुष्ट अपनी मनोवृत्ति की व्यंजना किसी स्थल पर करता है तब पाठक के मन मे बार-बार यही आता है कि उस दुष्ट के प्रति उसके मन मे जो घृणा या क्रोध है, उसकी भरपूर व्यंजना वचन या क्रिया द्वारा कोई पात्र आकर करता। क्रोधी परशुराम तथा अत्याचारी रावण की कठोर

बातों का जो उत्तर लक्ष्मण और अंगद देते है, उससे कथा-श्रोताओं की अपूर्व तुष्टि होती है।[1]

इस सम्बन्ध मे हमारा निवेदन है कि काव्य में जहाँ-कहीं काव्यगत पात्र से तादात्म्य नही होता है, उसे आश्रय माना ही नही जा सकता, वह आलम्बन ही होता है, और यदि इस आलम्बन या विभाव-पक्ष का ही चित्रण किया गया हो, तो कवि की अनुभूति से तादात्म्य होने के कारण, यह चित्रण भी रसानुभूति ही करायेगा। इसे केवल शील-निरूपण की अवस्था नहीं माना जा सकता। यदि कवि की अनुभूति तीव्र हुई, और उसने उस आलम्बन (विभाव पक्ष) को ही पूर्ण और उदात्त बना दिया तो ऐसी दशा भी पूर्ण रस-दशा ही होगी। इसमें नीची-ऊँची कोटि के रस का प्रश्न नही उठता। यदि कवि ऐसे पात्र को अपनी तीव्र घृणा का विषय बनायेगा और उसकी दुष्टता का पूर्ण चित्रण करेगा, तो उससे बीभत्स रस की पुष्ट अनुभूति पाठक को होगी। आलम्बन यदि योग्य हुआ तो विभाव-पक्ष के चित्रण से भी पूर्ण रसानुभूति होती है। किसी अत्याचारी के अत्याचार—जैसे, रावण या हूण सरदार मिहिरगुल के अमानुषिक व्यवहार के प्रति पाठक के मन मे जो घृणा जगेगी, वह अपने में इतनी तीव्र हो सकती है कि उसे रस की नीची या मध्यम दशा नही कहा जा सकता। दूसरे, ऐसी अनुभूति अपरितुष्ट भी नहीं मानी जा सकती। यदि कवि ने पूरे मनोयोग के साथ आलम्बन का चित्रण किया है, तो उसे अपरितुष्ट क्यों कहा जाय ? काव्यगत रसानुभूति के अपरितुष्ट होने का प्रश्न ही नही उठता। यदि हम अपने तोष की बात उठाने लगेगे तो करुणा-प्रधान दृश्यो मे तो और भी अधिक अपरितोष की बात आयेगी। जब हम किसी दीन-हीन दुखी को घोर सकट मे पाते हैं, तो हमारा अश्रुप्रवाह क्या इसलिए भावानुभूति की अपरितुष्टता का द्योतक माना जायेगा कि काव्यगत कोई आश्रय उसके प्रति सवेदना प्रकट करने वाला या उसे बचाने वाला नही है ? क्या हमारी करुण भावना को तभी तोष प्राप्त होगा जबकि कोई अन्य पात्र दुखी व्यक्ति को बचाने वाला या संवेदना प्रकट करने वाला बनकर उपस्थित होगा ? हम समझते है कि यदि हम विभावपक्ष से ही घृणा अथवा करुणा का पूर्ण अनुभव पाले तो उसके अतुष्ट या अपुष्ट रहने की बात ही नही रहती। अनुभाव-विधान की पूर्ति हम अपनी प्रतिक्रियाओं द्वारा स्वय ही कर लेते है। हम स्वयं घृणित पात्र को फटकार देने लगते है, मन से स्वयं शतशः धिक्कारते है ठीक वैसे ही जैसे कि शोक के प्रसग मे स्वय आँसू बहाते है और किसी काव्यगत आश्रय की अपेक्षा नही करते। अतः काव्यगत आश्रय से तादात्म्य की स्थिति में रस की उच्च दशा और अन्यथा नीच दशा का सिद्धान्त हमे मान्य नही है। यदि आलम्बन अपेक्षाकृत कम योग्य हुआ तो काव्यगत अन्य पात्र के प्रकट होकर अपनी प्रतिक्रिया प्रकट

---

१ चिंतामणि भाग १, पृ० २३२

करने मे भी वैसी रसानुभूति नहीं हो सकती, जैसी योग्य आलम्बन के चित्रण से सम्भव है। परशुराम हमारी भर्त्सना का इतना योग्य आलम्बन नहीं है, जितना कि रावण है। अतः लक्ष्मण के वचनों से तुष्टि होने पर भी परशुराम का प्रसंग हमारी घृणा या क्रोध उतना नहीं जगा सकता, जितना रावण के अत्याचारी रूप का केवल विभावगत चित्रण। अतः आलम्बन का चित्रण भी रसानुभूति मे पूरा महत्त्व रखता है। अपने इसी निबन्ध के आरम्भ में आलम्बन के चित्रण की महत्ता स्वीकार करने वाले शुक्लजी यहाँ व्यर्थ ही आलम्बन-चित्रण को शीलदशा-मात्र मान बैठे और रस की भ्रान्तिपूर्ण उच्चनीच कोटियाँ स्थापित करने मे प्रवृत्त हुए।

रस-दोष

डा० राकेश गुप्त ने 'रस-दोष' पर विचार करते हुए भी आ
मान्यताओं का खण्डन किया है। वास्तव मे, जैसा कि पहले कह आए है, र
ने साहित्यिक अनुभूति की दृष्टि से आचार्यो की रस-दृष्टि का अध्ययन नही
'रस-दोष' से आचार्यो का अभिप्राय यही था कि यदि किसी कवि के
आलम्बनत्व अयुक्त है, अथवा अनौचित्य पर आधारित है, तो उसका का
रस की दृष्टि से सफल नही बन पायेगा। रसदोष से अभिप्राय यह नही ि
रस की अनुभूति हुई और फिर दोष दिखाई दिया, बल्कि रस-परिपाक मे क
का नाम ही रस-दोष है। आचार्यो ने नाम-कथन से रस-दोष भी इसीलिए म
यदि रस-चित्रण के स्थान पर रस-कथन ही होगा, तो उस अवसर पर रस-
पूर्णरूप से न रहने के कारण रस-दोष आ जायेगा। इसमे सन्देह नहीं कि ना
केवल वही रसदोष माना जायेगा, जहाँ रस-परिपाक पूरी तरह न होगा। य
रस-परिपाक पूरी तरह हो जाता है और नाम-कथन भी हो तो रसदोष नहं
जायगा। कन्हैयालाल पोद्दार[1] तथा हेमचन्द्र आदि कुछ आचार्यो ने भी स्था
और सचारी भाव के नाम-कथन को वहाँ सदोष नही माना, जहाँ रस या
अनुभूति पूरी तरह हो जाती है। डा० राकेश गुप्त का मत है कि नाम से
रसदोष कहा ही नही जा सकता।[2] उन्होने नाम-कथन से केवल नाम लेना ह
कर इस तथ्य का बिल्कुल खण्डन कर दिया है। यह तो ठीक है कि कोरे नाम-
रस की स्थिति ही नही होगी, फिर रसदोष कैसा ? किन्तु इस सम्बन्ध मे
नम्र-निवेदन है कि काव्यो मे ऐसी स्थिति भी तो सभव है, जहाँ रस का आ
होता है, अर्थात् रस-विशेष की अनुभूति तो कुछ जगती है, किन्तु उसके पूरे

१. काव्य-कल्पद्रुम, पृ० ३७४-३७५।
2. Psychological Studies In Rasa, P. 172.

के अभाव से पूर्ण रस-परिपाक सभव न हुआ हो, और कवि ने अधूरे चित्रण और नाम-कथन से काम चला कर अपनी लेखनी बन्द कर दी हो, या चाहते हुए भी वह पूर्ण रस-योजना न कर पाया हो, ऐसे अवसर पर उसका अपूर्ण चित्रण या नाम-कथन रसदोष ही कहा जायगा। हमने आगे 'वेणी सहार', 'शिशुपालवध' आदि काव्यों के उदाहरणो से सिद्ध किया है कि किस प्रकार इन काव्यो मे आलम्बनत्व की अधूरी प्रतिष्ठा रसदोष रही है। रस अभिव्यक्त होता है, कथित नहीं—इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्यों ने नाम-कथन (चित्रण के अभाव मे) का निषेध किया। इसी दृष्टि को स्पष्टत. जागरूक रखने के लिए ही उन्होने रस के कथित रूप को रसदोप ठहराया। अस्तु, आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रस-दोष व्यर्थ की कल्पना नहीं है, मनोवैज्ञानिक साहित्यिक सत्य है।

आचार्यों ने रस-दोष के अन्तर्गत एक दोष यह बताया है कि एक रस-चित्रण के प्रसंग मे विरोधी रस के अग (विभावादि) उसी आश्रय मे नहीं आने चाहिएँ। इस सम्बन्ध मे आचार्यों ने रस-विरोध और रस-मैत्री पर विस्तृत प्रकाश डाला है। उन्होंने शृंगार और बीभत्स का पारस्परिक विरोध बताया है। शृगार का आलम्बन और आश्रय बीभत्स का आलम्बन और आश्रय नही बन सकता। इस बात पर विचारते हुए भी डा० राकेश गुप्त ने कहा है कि यदि पूर्व घटनाए और परिस्थितियाँ ऐसी है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दो या दो से अधिक तथाकथित विरोधी भावों को प्रकट करती है, तो हम उनके सह-आगमन को अनुचित नही कह सकते।[1] अपनी बात को पुष्ट करने के लिए उन्होने प्रसादजी की 'आकाशदीप' कहानी से उदाहरण देते हुए कहा है कि आकाशदीप कहानी मे चम्पा के हृदय की बुद्धगुप्त के प्रति रति और घृणा की दोनो विरोधी भावनाएँ एक-साथ प्रकट हुई है। अपने पिता का घातक होने के सन्देह से वह उससे घृणा भी करती है, किन्तु प्रेम के उत्सुक भाव से भी भरी हुई है। वह बुद्धगुप्त को कहती है—"मै तुम्हे घृणा करती हूँ, फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूँ। अन्धेर है, जल-दस्यु ! मैं तुम्हे प्यार करती हूँ।"

इस सम्बन्ध मे हमारा निवेदन है कि यह भाव-द्वन्द्व का उदाहरण है। इसमें रति और घृणा मे संघर्ष की स्थिति है, दोनो एक-दूसरे को बाहर धकेलने के लिए कमर कसे हुए है। दोनों भावों की एक साथ निश्चित स्थिति यहाँ नही मानी जा सकती। चम्पा तर्क-वितर्क करती है। कवि चम्पा के हृदय का द्वन्द्व ही प्रकट करना चाहता है। फिर एक बात और, व्यक्ति के प्रति आकर्षण और प्रेम तथा उसके किसी कार्य से घृणा की स्थिति तो काव्यो मे खूब रहती है, जैसे कोई नारी अपने प्रिय को दिलजान से चाहती हुई भी, उसकी शराब पीने की आदत या किसी अन्य व्यसन मे प्रवृत्ति के प्रति घृणा दिखा सकती है। ऐसे स्थानो पर घृणा भाव संचारी भाव के

---

१. वही- पृ० १७३।

रूप मे ही आ सकता है। 'नाट्यशास्त्र' मे जुगुप्सा को शृङ्गार का सचारी नही माना गया। पर बाद के आचार्यों ने शृङ्गार मे सब सचारी मान लिए। शृङ्गार के साथ घृणा सचारी रूप मे तो आ सकती है, किन्तु स्वतन्त्र स्थायी भाव रति के साथ स्थायी भाव घृणा का एक आलम्बन और एक आश्रय मे एक साथ प्रकट होना सम्भव नही है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य हो ही नही सकता। हाँ, परिस्थितियो के बदल जाने पर एक के बाद दूसरे रस या भाव की स्थिति हो तो यह दूसरी बात है। उस अवस्था मे आलम्बनत्व ही परिवर्तित हो जायगा।

किसी भाव का असमय आगमन भी हमारे आचार्यो ने रस-दोष बताया है, जो निस्सदेह मनोवैज्ञानिक है। किन्तु डा० गुप्त ने इस पर भी आक्षेप करते हुए कहा है कि 'वेणीसंहार' के दूसरे अक मे दुर्योधन का प्रणयप्रसग रस-दोष कैसे माना जा सकता है, जबकि कवि ने शृङ्गार का पूर्ण चित्रण किया है। अत· जब रणभूमि मे वीरो की लाशो का ढेर लग जाता है, तब शृङ्गार का यह प्रसंग असमय होते हुए भी उचित है। इस सम्बन्ध में भी हमारा निवेदन है कि यह प्रसग असमय भाव-आगमन नही माना जा सकता। 'वेणीसंहार' मे भाव-चित्रण की स्थिति बडी सदिग्ध है, यह हम आगे स्पष्ट करेंगे, यहाँ केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि यदि दुर्योधन का यह प्रणय धृतराष्ट्र द्वारा अपने पुत्र की मृत्यु के शोक या दुर्योधन द्वारा ही अपने भाई के निधन पर शोक की व्यजना के तुरन्त बाद प्रकट होता, तब अवश्य असमय कहलाता।

ऐसी असमय अवतारणा अनुचित-सी ही प्रतीत होती है। हमारी न्याय-भावना के विरुद्ध जो भी चित्रण होगा, वह अनुचित ही होगा। अत. किसी भाव का असमय आगमन रसदोष अवश्य बनता है, इसमे सन्देह नही होना चाहिए। शोक के तुरन्त बाद उसी आश्रय मे, बिना परिस्थिति-परिवर्तन के, हास्य का वर्णन करना हास्यास्पद और अनुचित ही कहा जायगा, यह रसदोष ही होगा। अत आचार्यों की रस-दोष-सम्बन्धी यह धारणा भी व्यर्थ नही समझनी चाहिए।

रसों के वर्ण और देवता

हमारे प्राचीन आचार्यों ने रसों के वर्ण और देवता भी निरूपित किए हैं। काव्य के रस रसायन-शास्त्र के द्रव्यों की तरह वर्ण आदि की दृष्टि से त नही किए जा सकते, फिर भी आचार्यों ने अपने सस्कारी दृष्टिकोण से वर्ण-निरूपण किया है जो साहित्यिक तथ्य-ग्रहण के स्थान पर उनकी क प्रवृत्ति का ही द्योतक है। भरतमुनि की तत्सम्बन्धी कारिकाएँ ये है—

श्यामो भवति शृङ्गार सितो हास्य प्रकीर्तित ।
कपोत करुणश्चैव रक्तो रौद्र प्रकीर्तित. ।।३५।।
गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चैव भयानक. ।
नीलवर्णस्तु वीभत्स पीतश्चैवाद्भुत स्मृत ।।३६।।[1]

अर्थात् शृगार रस श्यामवर्ण का होता है, हास्य रस श्वेत माना जाता है, बूतरी रग का और रौद्र रस लाल रग का कहा गया है। वीर रस गौर वर्ण यानक कृष्णवर्ण का, वीभत्स रस नील वर्ण का और अद्भुत-रस पीले रग का या है।

अभिनवगुप्त ने इन रगों की कल्पना का आधार तो स्पष्ट नही किया, हाँ, योजन पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि 'यह रगों का कथन रसो की पूजा अवसर पर उनके ध्यान लगाने मे उपयोगी होता है। दूसरे व्याख्याकारो के (उस-उस रस के अभिनय के समय तदनुरूप) मुख के राग (रगने) मे भी ी होता है)।'[1]

रसो के वर्ण-परिगणन से आचार्यों का क्या अभिप्राय है, यह प्रश्न स्वभावत. ता है। क्या इसका कोई मनोवैज्ञानिक या सामाजिक आधार है? निश्चय ार्यों ने रसो के स्वरूप-बोध को सरल और स्पष्ट बनाने के लिए ही उनके वर्ण

दी अभिनवभारती, पृ० ५३०।

और देवता की कल्पना की है। जैसाकि अभिनव गुप्त के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है, रसों के वर्ण निश्चित करने की मनोवैज्ञानिक उपयोगिता है। साथ ही इनका आधार भी मनोवैज्ञानिक और सामाजिक या सांस्कृतिक है। प्राचीन आचार्यों ने इस वर्ण-देवता की अवतारणा को आगमानुसार कहा है।[1] वास्तव मे रगों का आधार स्पष्ट रूप से सांस्कृतिक है। मानव-सस्कृति के इतिहास में भिन्न-भिन्न जातियो के अपने-अपने व्यवहार और सभ्यता के चिन्ह सामाजिक सस्कार बन जाते है। हमारे यहाँ हिन्दुओं में काला, नीला आदि रग अशुभ माने गए है, इसी से विवाह-शादी के अवसर पर वर-वधू को इन रगो के कपडे पहनाना निषिद्ध है। काला रंग भयानकता का प्रतीक बना हुआ है, इसी से रामलीला के अवसर पर हम रावणादि राक्षसो की वर्दी काली रखते हैं। काव्य में अनुराग या प्रेम का रंग लाल वर्णित किया जाता है, पर प्रेम के आदि देव विष्णु या कृष्ण का वर्ण श्यामल होने से श्रृंगार का वर्ण श्याम निश्चित हुआ है। हो सकता है यह द्रविड़ सस्कृति की देन हो। राम वीरता और अद्भुत शक्ति के प्रतीक हैं, अत. रामलीला आदि मे उनके वस्त्र गौरवर्ण तथा पीले वर्ण के रखे जाते है। हमारे यहाँ वीरता के साथ त्याग की भावना लगी रहती थी, अत वीर के साहसपूर्ण त्याग का प्रतीक केसरिया या गेरुआ रंग बन गया जो निश्चय ही गौर वर्ण से विकसित हुआ है। अत. वीर रस के गौर वर्ण का सांस्कृतिक आधार स्पष्ट है। बीभत्स का वर्ण नीला रखने में सभवत: रक्त आदि के सड़ जाने से उनका नीला हो जाना रहा हो। वस्तुतथ्य यही है कि हमारे सास्कृतिक विकास में नीला रग घृणा का प्रतीक बना हुआ है।

आज के सास्कृतिक परिवर्तन मे यह वर्ण-देवता के निर्माण की प्राचीन योजना व्यर्थ ही प्रतीत होती है, पर इससे प्राचीन सांस्कृतिक भावना का परिचय अवश्य मिलता है।

वर्ण-निरूपण के समान ही रसों के देवताओ का भी वर्णन आचार्यो ने किया है। नाट्यशास्त्रकार का कथन है—

> श्रृंगारो विष्णु दैवत्यो हास्य प्रमथ दैवत. ।
> रौद्रो रुद्राधिदैवत्य करुणो यमदैवत. ॥६।३७॥
> बीभत्सस्य महाकाल कालदेवो भयानक: ।
> वीरो महेन्द्रदेव स्यादद्भुतो ब्रह्मदैवत: ॥ ६।३८॥

अर्थात् श्रृंगार रस का देवता विष्णु है, शिव के गण हास्य के देवता है, रौद्र रस का अधिष्ठातृ देव रुद्र और करुण का देवता यम है, बीभत्स का महाकाल और भयानक का कालदेव है। वीर रस का महेन्द्र और अद्भुत का ब्रह्मा है'। अभिनव-

१. 'वर्णदेवतात्मकमप्यागमसिद्धत्वात्'—हि० अभि० पृ० ५३२

गुप्त ने अपनी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा है—"उस-उस रस की सिद्धि के लिए उस-उस देवता की पूजा करनी चाहिए, इसके लिए देवताओं का निरूपण किया गया है। विष्णु (का अर्थ यहाँ) कामदेव है। प्रमथ (शिव के गण) हास्य रस के देवता है। रुद्र तीनों लोकों का सहार करने वाले है (वे ही रौद्र रस के देवता है)। वे त्रैलोक्य के सहार कर्ता हैं, इसलिए वे ही यमराज को (प्राणियों के वध आदि के लिए) प्रेरित करते हैं। (उन रुद्र की प्रेरणा से) यमदेव द्वारा वध आदि के सम्पादित हो जाने पर करुण रस (उत्पन्न) होता है (इसलिए करुण रस के देवता यमराज है)। बीभत्स रस के महाकाल अधिष्ठातृ देव है, यह शेष समझना चाहिए। क्योंकि वह (महाकाल-रूप शिव) ही उस (बीभत्स रस) के विभाव ककाल, श्मशान आदि का सेवन करता है। (भयानक रस के विभाव भी बीभत्स रस के समान होते हैं, इसलिए उसका देवता कालदेव को बतलाया है। वीर रस का देवता महेन्द्र को माना गया है, उस महेन्द्र शब्द से) महेन्द्र अर्थात् त्रैलोक्य के राजा का ग्रहण होता है। (अद्भुत रस का देवता ब्रह्मा को बतलाया है क्योंकि) ब्रह्मा अचिन्त्य (जिसकी मनुष्य कल्पना भी नही कर सकता है इस प्रकार के) आश्चर्यजनक पदार्थों का रचयिता होता है।"[1]

आचार्यों द्वारा वर्ण तथा देवता की इस कल्पना के भी शोधन की आवश्यकता है। शृगारादि रसों के वर्ण और देवता का निर्धारण किसी ऐसे तथ्य के आधार पर होना चाहिए, जिससे रस का स्वरूप पूरी तरह स्पष्ट हो जाये। हमारे यहाँ अनुराग या प्रेम का रग परम्परा से लाल मान्य है, किन्तु यहाँ श्याम वर्ण ही शृगार का रग आचार्यों ने बताया है। सभवत भगवान् विष्णु जिनके प्रतिरूप श्री कृष्ण रसिकशिरोमणि माने जाते है, उनके श्याम वर्ण के कारण ही शृंगार का वर्ण श्याम मान्य हुआ है। अत. शृगार का देवता रास-रसिक श्री कृष्ण को मानना भी उचित है, क्योंकि श्याम वर्ण की सगति भी उनसे ठीक बैठती है। हसी को शुभ्रश्वेत कवि-परम्परा से ही माना हुआ है। इसके देवता का स्वरूप हास्य-विनोद की भावना से ही सम्बन्धित होना चाहिए। शिव जी के क्रीडा करने वाले गण प्रमथ भी ठीक है जिनके नाम लेते ही विष्णु-नारद प्रसग हँसी लाता है। करुण रस का कबूतरी रग किस आधार पर ठहराया गया है, यह स्पष्ट नही होता, यम देवता (मृत्यु देवता) को करुण रस का देवता मानने की बात फिर भी कुछ समझ मे आती है। अभिनवगुप्त ने तो 'रौद्रात् करुण' की ही भ्रान्त धारणा पर सिद्ध किया है कि रौद्र के देवता शिव की ही प्रेरणा से यम वध करता है और वह वध-रूप परिणाम करुणोत्पादक है। परन्तु अभिनवगुप्त के इस मत से हम सहमत नही। करुण रस का देवता वधकारी क्रूर नही माना जा सकता, अत वधकारी यम के स्थान पर मृत्यु-रूप यम को ही करुण का

---

१ हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५३०-५३१।

देवता माना जा सकता है। किन्तु क्यो न भूतदया और करुणा के अवतार बुद्ध को करुण का देवता बनाया जाय ? कुछ विद्वानों ने बुद्ध को शान्त का देवता बताया है, पर हम समझते है कि बुद्ध को करुण का देवता बनाना अधिक उचित है। करुणा मे तरलता और द्रवणशीलता का गुण रहता है, अत उसका प्रतिपादक जल या वरुण देवता भी करुण रस का देवता माना जा सकता है। रौद्र रस के आश्रय की आँखे, मुख आदि आरक्त हो जाते है, इसी से रौद्र का रक्त वर्ण सगत ही है, इसका देवता भी रुद्र पूर्णतया उचित है। उसके नाम से ही रौद्र रस की भावना साकार हो उठती है। वीर रस का गौर वर्ण भी उचित प्रतीत होता है। इसके देवता के रूप मे वीर पराक्रमी महेन्द्र की प्रतिष्ठा बिल्कुल उचित है। सभवत. महेन्द्र के ही गौर वर्ण के कारण इस रस का रग गौर मान्य हुआ। भयानक रस का रग काला बताया गया है। अन्धकारपूर्ण भयावह रात्रि, या काली वस्तुएँ डरावनी होती है, इसी से भयानक का काला रग उचित है। इसका देवता कालदेवता भी भयोत्पादक है, अत योग्य और उचित है। बीभत्स रस का रंग नीला बताया गया है और देवता महाकाल। अभिनवगुप्त ने महाकाल-रूप शिव को अधिष्ठातृ-देव मानने की पुष्टि इस प्रकार की है कि 'बीभत्स रस के विभाव कंकाल-श्मशान आदि का सेवन महाकाल शिव ही करते हैं'। संभवत नील वर्ण भी गन्दे रुधिर, मास-मज्जा आदि के नीला हो जाने से ही कल्पित किया गया होगा। परन्तु हमे इस सम्बन्ध मे आपत्ति है। पहली बात तो यह कि रौद्र का देवता पहले ही रुद्र को प्रतिष्ठित किया जा चुका है। महाकाल शिव उससे भिन्न नही माना जा सकता। आचार्यो की बीभत्स-सम्बन्धी धारणा मास-मज्जा, हड्डियाँ, श्मशान आदि तक ही सीमित रही है, अत. इस प्रकार की उपपत्ति आश्चर्य की बात नही है। हमारे सास्कृतिक व्यवहार मे भी नीला रग अशुभ एवं अवाछित माना जाता रहा है। आज भी विवाह-शादी आदि के अवसर पर इस रग को अशुभ और अवाछित ही माना जाता है। अत. यह सांस्कृतिक धारणा ही सभवत. बीभत्स रस को नीलवर्ण लक्षण देने का आधार रही है। उसके देवता का निर्णय फिर से होना चाहिए। महाकाल से एक तो व्यर्थ की आवृत्ति का दोष है, दूसरे इससे रसका स्वरूप-बोध भी नही होता। क्रौचवधिक व्याध को अभिशप्त करने और फटकारने वाले आदि कवि वाल्मीकि को ही क्यो न बीभत्स रस का देवता ठहराया जाय ? देवता की आधुनिक धारणा आदर्श व्यक्ति या महापुरुष ही होनी चाहिए। अद्भुत का पीत वर्ण और ब्रह्मा देवता भी सास्कृतिक औचित्य पर आधारित है।

न्याय या तर्क और भाव

रसानुभूति सद्य: अनुभूति है। किसी विशेष दृश्य या घटना का जो रूप
सामने स्पष्ट होता है, हमारी अनुभूति तदनुसार ही होती है। रसानुभूति और
। तर्क के सम्बन्ध पर विचार करते हुए श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने अपनी
'काव्य में अभिव्यंजनावाद' में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। 'न्याय और दया'
चार करते हुए वे कहते हैं कि 'न्याय के पहले हमारे हृदय में भाव पैदा होता
किसी घटना की सूचना पाते ही अपना सत् या असत् का निर्णय सुना देता है।
र्णय से न्याय का क्या सम्बन्ध रहता है, यह पीछे घटना की जाँच-पड़ताल
र मालूम होता है। किसी की हत्या का समाचार सुनकर हम अचानक कह
—आह ! यह अनर्थ हो गया ! पीछे सम्भव है, वह हत्या न्याय समझी जाय,
म उस समय की प्रतीक्षा नहीं करते।'[1]

वास्तव में भावानुभूति के समय भी हमारी न्याय-बुद्धि सुप्त रहती हो, ऐसा
ना जा सकता। भावानुभूति के समय हमें विषय की जितनी जानकारी होती
के आधार पर हमारी न्याय-बुद्धि अपने निर्णय या परिणाम पर पहुँचती है।
ा कहना है कि तर्क या न्याय-बुद्धि भाव की अनुगामिनी रहती है। हमारा
है कि उसको मनोवेग की सहगामिनी मानना ही उचित होगा। उसके सह-
से ही हम भाव के सही रूप को अपनाते हैं। हाँ, अनुभूति की अवस्था में
द्धि की तरंगे भाव-सागर की सीमा में ही रहती है, अर्थात् पाठक उस
ुभूति) को छोड़कर विशुद्ध तर्क लड़ाने नहीं बैठ जाता। उपर्युक्त उदाहरण
हमारे सम्मुख केवल मृत्यु का चित्र आता है तो हम 'हा !' करके अपने शोक
प्रकाशन करेंगे, हमारी न्याय-बुद्धि भी इसी का अनुमोदन करेगी, किन्तु यदि
हमें उस व्यक्ति की दुष्टता या दुराचार का पता चला और हमारी न्याय-बुद्धि

---

[1] ...मीनारायण सुधांशु : काव्य में अभिव्यंजनावाद (तृतीय संस्करण सं० २००७), पृ० ७५।

ने उसकी दुष्टता के परिणाम-रूप उस मृत्यु को उचित मानकर शोक से इतर कोई अन्य अनुभूति प्राप्त की, तो अनुभूतियो की इस भिन्नता का कारण विषय-बोध की भिन्नता है न कि न्याय-बुद्धि का अनुगमन। न्याय-बुद्धि तो पहले भी सजग थी। काव्य की प्रक्रिया मे पहली शोक की अनुभूति भी यथार्थ थी, और अब यदि उसके दुराचार के प्रति घृणा के कारण हम उसकी मृत्यु से सन्तोप अनुभव करते है, तो यह अनुभूति भी सत्य है। पहली अनुभूति भी अनुभूति है। वह बाद मे बदल जाती है तो क्या, उसका काव्यगत अस्तित्व तो रहेगा ही। वह जैसे अनुभूति का विषय है, वैसे ही विवेचना का विषय भी रहेगी। अर्थात् उस प्रसग मे यह नही कहा जा सकता कि करुण रस नही है।

कृष्णचन्द्र के उपन्यास 'गद्दार' से एक उदाहरण लीजिए। सन् १९४७ के साम्प्रदायिक दगों के दिनों में कथानायक बैजनाथ अपने एक मुसलमान मित्र के यहाँ लाहौर मे ठहरा हुआ है। वह रात को अचानक उठता है और आशका के कारण घर की गतिविधि देखता हुआ नीचे की ओर जाता है। नीचे कमरे में उस मुसलमान मित्र की बीवी अपने पति को आग्रहपूर्वक कह रही थी—'उसे गुण्डो के हवाले करो, नही तो मै उसका और तुम्हारा खून पी जाऊँगी।' उसके ये शब्द सुनकर बैजनाथ को वह पिशाचिनी प्रतीत हुई। पाठक भी उसके प्रति घृणा से भर जाता है। किन्तु बाद मे पता चलता है कि मुसलमान गुण्डो ने बैजनाथ की माँग की थी और मित्र ने बैजनाथ को गुण्डों के हवाले करने से जवाब दे दिया था। इस पर गुण्डे उसके छोटे बच्चे को उठाकर ले गये थे और जाते हुए कह गये थे कि यदि कल सुबह तक उस काफर को हमारे हवाले न किया तो तुम्हारे बच्चे की खैर नही। पाठक को अब विदित होता है कि उसकी बीवी का उक्त कथन पुत्र-प्रेम के कारण ही था। पाठक के मन में उसके प्रति अब वैसा घृणा का भाव नही रहता। उसके सामने विषय का और रहस्य खुलता है, तो भाव-परिवर्तन की स्थिति आती है। किन्तु यहाँ हम यह नहीं कह सकते कि घृणा या बीभत्स रस की पूर्व अनुभूति मिथ्या थी।

साराश यह कि रसानुभूति सद्यः अनुभूति है। हम विषय-बोध के साथ ही तुरन्त भावानुभूति प्राप्त कर लेते है। किसी दृश्य को देखकर या किसी घटना या प्रसग को पढकर, हम उसी वक्त भावानुभूति पा लेते हैं, उस समय निष्कप या अनुभव-शून्य रह कर, कुछ घड़ी बाद उस भाव का अनुभव पाना पसन्द नहीं करते। सच तो यह है कि हम अपने मन पर अधिकार ही नही रख सकते। घटना या प्रसंग के साथ ही किसी-न-किसी भाव का उत्पन्न होना निश्चित है। बाद मे हम अपने मन में जो कुछ सोचते है वह विचार है, रसानुभूति नही। साथ ही यह भी निश्चित है कि हमारी न्याय-बुद्धि रसानुभूति के समय भी उसकी सहगामिनी बनी रहती है। इसीलिए तो हम कइ बार चोर को अपराधी नहीं मानते वेश्या से घृणा नहीं करते

और किसी ढके-ढोल पूज्य या सम्मानित व्यक्ति का सम्मान नहीं करते। जब जैसी विषय की जानकारी लेखक या कवि हमें कराता है, तब वैसी ही भावात्मक प्रतिक्रिया हमारे मन पर होती है, अर्थात् तदनुरूप ही हम भावानुभूति ग्रहण करते हैं।

करुणा और घृणा

●

जैसाकि कहा जा चुका है, करुणा और घृणा का सह-प्रसार काव्यों मे १
मे आता है। आदि कवि का श्लोक भी आलम्बनत्व की दृष्टि से घृणा का हैं
है, यह हम पहले कह चुके है। करुणा और घृणा भाव की इस सहअनु
अनुभव श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने भी किया है। उनका कथन है—'ि
स्थितियो मे रहकर उस पात्र ने कोई कुकर्म किया है, उन्हीं परिस्थितियो मे
कोई दूसरा व्यक्ति यदि उस कुकर्म से बच सकता है, तो हमारी दया का
पहले के प्रति थोडा कठोर हो जाता है। ऐसी स्थिति मे हमे कैसी रसानुभू
है, यह शेक्सपियर की एक नायिका के सम्बन्ध की घटना से बहुत-कुछ
जायगा। डेस्डिमोना एक पति-परायणा स्त्री है। किसी ने उसके मूर्ख और
पति ओथेलो से डेस्डिमोना के दुश्चरित्र होने की बात कह दी। इस बात क
किए बिना ही वह अकाण्ड-ताण्डव करने पर तुल गया। डेस्डिमोना ने क
स्वामी, मुझे घर से निकाल दो, पर जान से मत मारो।' पर वह उसकी ए
सुनता और तुरन्त गला दबा कर मार देता है।

"इस हृदयद्रावक हत्याकाण्ड को देखकर रोम-रोम सिहर उठते है।
आँसू आता है, पर करुणा के विकास के लिए यथेष्ट अवकाश ही नही ि
जिस प्रकार ओथेलो ने अपनी अनुरक्ता नारी को भ्रमवश दुश्चरित्र समझ
क्षण भी जीने न दिया, उसी प्रकार शेक्सपियर ने इस जघन्य व्यापार क
दिखला कर हमारी करुणा को विकसित होने का क्षणभर भी अवसर न
हमारे हृदय में निरपराध डेस्डिमोना के लिए पर्याप्त करुणा है, पर उस
विशेष उसके निर्मम हत्यारे ओथेलो के प्रति घृणा का भाव है। ...... निरपरा
का वध करना एक गर्हित अपराध है, पाप है।......हमारे हृदय में डेस्डिम
लिए जितनी करुणा सचित होगी, उतना ही ओथेलो के प्रति क्रोध, तिरस्का

का भाव उद्दीप्त होगा। एक भाव दूसरे पर आश्रित है।......डेस्डिमोना हमारे हृदय के अत्यन्त समीप उस समय हो जाती है, जिस समय उसकी वह बात याद आती है, जो उसने अपनी मृत्यु को सन्निकट देखकर ओथेलो से कही थी—'मेरे देव, मै अपनी मृत्यु के भय से नही काँप रही हूँ, मै यह सोचकर दुःख से विह्वल हो रही हूँ कि मेरे मरने के बाद जब तुम्हे यह मालूम होगा कि मै कितनी निर्दोष तथा पतिपरायणा थी, तब तुम्हे कितना घोर दुख होगा।' इस बात से हमारी करुणा डेस्डिमोना के लिए बहुत बढ जाती है और इसी अनुपात से ओथेलो पर हम अपना क्रोध, क्षोभ, घृणा आदि प्रकट करते है।"

यहाँ विद्वान् लेखक ने करुणा पर ही घृणा आधारित बताई है परन्तु हम पहले कह चुके है कि बीभत्स रस या घृणा की अनुभूति यहाँ स्वतन्त्र मानी जा सकती है, क्योकि क्रूर कर्म अपने मे स्वतन्त्र विषय है, वह करुणा की अपेक्षा नहीं करता। मान लीजिए ओथेलो के साधातिक प्रहार से डेस्डिमोना अधमरी होकर बाद मे जी जाती, ओथेलो उसे मरी ही समझकर छोड जाता, और बच जाने पर वह वहाँ से निकल जाती, तो उस अवस्था मे करुणा का भाव मन्द पड जाता, किन्तु घृणा वैसी ही रहती। अत बीभत्स रस या घृणा का विषय अपने मे स्वतन्त्र है, पूर्ण है।

एक और बात विचारणीय है। ऐसे प्रसगो मे हमारे विद्वानो ने घृणा की अनुभूति तो स्वीकार की है, और उसे तीव्र भी माना है, रसानुभूति भी, पर वे इस घृणा की अनुभूति को सभवतः भावानुभूति ही समझते रहे। आचार्य शुक्ल ने स्पष्ट शब्दों मे ऐसी अवस्था को शील-दशा-मात्र मानकर निम्नकोटि की रस-दशा कहा। निम्नकोटि की ही सही, पर उसका नाम क्या हो? निश्चय ही घृणा भाव इसे नही कह सकते, क्योकि भावानुभूति लौकिक होती है, या सचारी रूप मे होती है। यहाँ घृणा सचारी किसी का नही है। अतः निश्चित रूप से ऐसे स्थलो पर बीभत्स रस की अनुभूति माननी चाहिए। हमारे आचार्य इस तथ्य तक पहुँचते-पहुँचते रुक जाते रहे हैं।

काव्यो मे जहाँ अन्याय, अत्याचार का कारुणिक चित्रण होता है, वहाँ स्पष्ट रूप से दो आलम्बन होते है—एक अत्याचारी या अन्यायी अथवा उसका अन्याय, दूसरा वह व्यक्ति जो अत्याचार या अन्याय का शिकार हुआ है। इन दोनों आलम्बनो से बीभत्स और करुण दोनो रसो की स्थिति रहेगी। हाँ, यह अवश्य है कि कवि या लेखक जिस आलम्बन की ओर अधिक प्रवृत्त होगा, उससे सम्बन्धित रस की अधिक स्थिति होगी, दूसरे की कम। दोनो आलम्बनो की विद्यमानता में रहेंगे दोनों ही रस, क्योकि दोनों का स्वतन्त्र आलम्बनत्व दोनो की ही स्वतन्त्र अनुभूति कराता है।

बीभत्स रस और ओज गुण

प्राचीन आचार्यों ने बीभत्स रस का सम्बन्ध ओज गुण से ब
वास्तव में उनकी यह धारणा भी बीभत्स के प्राचीन रूप के ही आधार
जिसमे रुधिर, मांस-मज्जा, प्रेत आदि का वर्णन होता है और जो प्राय. यु
प्रकट होता है। बीभत्स रस के इस स्वरूप का हम खण्डन कर चुके है।
मम्मट ने श्रुतिकटु शब्दो की योजना द्वारा बीभत्स रस का उत्कर्ष माना है।
कथन है कि 'श्रुतिकटु शब्दों से बीभत्स आदि रसो की शोभा और भी बढ ज
बीभत्स रस-व्यंजक श्रुतिकटु शब्दो के गुणत्व का उदाहरण उन्होंने इस
दिया है—

> अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलकक्रूरक्वणत्कङ्कण-
> प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम् ।
> पीतच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लसद्
> व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दर्पोद्धतं धावति ॥२६८॥

(काव्यप्रकाश, सप्तम

अर्थात् अन्तड़ियो से लिपटी हुई बड़ी-बड़ी खोपड़ियों और जाँघ की ह
परस्पर टकराने से भयानक शब्दों को करती हुई, हाथों के कंकण-समेत अनेक
आभूषणों के बजने के शब्दों की गूज से गगन-मण्डल को भरती, पहले पीक
हुए रक्त की घनी कीच से भरे शरीर के डरावने ऊपरी भागो मे स्थित चच
के बोझ से जो भैरव शरीरवाली ताडका नामक राक्षसी है, वह घमंड से उद्धत
दौड़ रही है।

मम्मट आदि आचार्यों का मत है कि ऐसे लम्बे-लम्बे समास और
श्रुतिकटु शब्दो की योजना बीभत्स रस की पोषक होती है और काव्य का
वर्द्धन करती है, न कि दोष उत्पन्न करती है। अर्थात् मम्मटादि ने श्रुतिकटु

बीभत्स रस की शोभा मे वृद्धि मानी है। वास्तव में आचार्यो का ध्यान केवल रुधिर, मास, हड्डी आदि तक ही गया। उपर्युक्त उदाहरण बीभत्स रस का उदाहरण इसलिए नही है कि इसमें एक राक्षसी का बीभत्स रूप प्रकट हुआ है, अपितु इसलिए है कि ताडका राक्षसी कवियों-मुनियो को सताती है, उनके यज्ञो मे विघ्न डालती है और अनेक प्रकार के उत्पात मचाती है। उसके बीभत्स आचरणों का वर्णन यदि श्रुतिकटु वर्णों मे न हो, तो भी बीभत्स रस का पूर्ण परिपाक होगा। फिर उसका उपर्युक्त स्वरूप-चित्रण भी यदि श्रुतिकटु शब्द-योजना मे न होता, तो कोई हानि नही थी। अत श्रुतिकटु शब्द-योजना बीभत्स रस की शोभा-वृद्धि का अनिवार्य कारण नही मानी जा सकती।

ओज गुण का लक्षण बताते हुए मम्मट कहते हैं—

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ॥६९॥
चित्तस्यविस्ताररूपदीप्तत्वजनकयोज ।

(सू० ९२ काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास)

अर्थात् चित्त को भडका देने (उत्तेजित करने) वाले गुण का नाम ओजस् है और यह गुण वीर-रस के वर्णन मे रहता है।

सू० ९३—बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्य क्रमेण च।

अर्थात् क्रमश बीभत्स और रौद्र रस मे उस ओज गुण का उत्कर्ष बढता जाता है।

वीराद्बीभत्से ततो रौद्रे सातिशयमोज:।

अर्थात् यह ओजस् नामक गुण वीर की अपेक्षा बीभत्स रस मे और बीभत्स रस की अपेक्षा रौद्र रस मे अधिक प्रखर हो जाता है।

प्राचीनो का यह अभिमत भी दोषयुक्त ही है। वस्तुत यह आवश्यक नही कि बीभत्स रस मे सर्वत्र ओजगुण का ही सन्निवेश हो। ओजगुण भी आ सकता है, किन्तु वहीं जहाँ आश्रय या कवि की उक्ति मे घृणित पदार्थ के प्रति क्षोभ की भी व्यजना हो। प्राचीन आचार्यों ने तो केवल रुधिर-मांस, हड्डियों आदि के विकृत रूप-वर्णन के कारण ही ओज गुण की प्रधानता बीभत्स रस मे मान ली थी। इसीलिए उन्होंने वीर रस से भी अधिक ओज बीभत्स मे स्वीकार कर लिया। परन्तु हमे यह सर्वथा अमान्य है।

वीर रस के समान ओज गुण की विद्यमानता बीभत्स रस में केवल उन्ही स्थलों पर होगी, जहाँ क्षोभ से भरकर आलम्बन को फटकारा जायगा। 'गोदान' मे जब धनिया दारोगा और पचो को फटकारती है, तो उस प्रसंग[1] मे बीभत्स रस-अन्तर्गत

---

१. उदाहरण देखिए, हमने आगे 'प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में बीभत्स रस' प्रकरण में उदाहृत किया है।

ओजगुण का बहुत सुन्दर उदाहरण प्राप्त होता है। किन्तु हम देख चुके हैं कि यह स्थिति बीभत्स रस मे सर्वत्र नही पाई जाती। क्षोभयुक्त घृणा के अतिरिक्त घृणा के और भी अनेक भेद है, जैसे व्यग-मिश्रित, हास्य-मिश्रित घृणा आदि। इनमें ओज गुण की स्थिति अनिवार्य नही। ऐसे स्थलो पर बीभत्स रस का प्रकाशन प्रसाद गुण-युक्त पदावली, बल्कि माधुर्य-व्यंजक पदावली मे भी हो सकता है। आजकल समास-बहुला पदावली को तो कहीं भी अच्छा नहीं समझा जाता। वह हिन्दी की प्रकृति के ही विपरीत है। अत हम इस कथन मे कोई तुक नहीं पाते कि ओज गुण बीभत्स रस में वीर रस से भी अधिक प्रकट होता है। न ही हम इस बात से सहमत हो सकते है कि श्रुतिकटु वर्ण-योजना और समास-शैली से बीभत्स की शोभा बढती है। पण्डित-राज जगन्नाथ ने भी बीभत्स रस मे ओज गुण स्वीकार किया और कहा है कि "वीर, बीभत्स और रौद्र रसो में पहले की अपेक्षा पिछले मे अधिक ओज रहता है, क्योकि इन तीनों मे प्रत्येक पिछला रस चित्त को अधिक दीप्त करने वाला है।" किन्तु यह परम्परागत धारणा का पिष्टपेषण ही है। वास्तव मे ओज गुण की स्थिति वीर में ही अधिक माननी पडती है, हाँ, ओजस्विता बीभत्स रस के आश्रय मे भी वीर रस के आश्रय-जैसी मानी जा सकती है। पर आचार्यों ने तो ओजस्विता की बजाय, ओज गुण पर ही विचार किया है। बीभत्स रस ओजपूर्ण उदात्त रस है, इसमें कोई सन्देह नही।

घृणा में उदात्तता

●

ा एक अनावश्यक हीन भाव-वृत्ति है ?

कुछ विद्वानों—विशेषकर धार्मिकों का कथन है कि प्रेम के विपरीत, घृणा ृहणीय अनावश्यक भाववृत्ति है। कामक्रोधादि के छोड़ने के साथ घृणा-द्वेष (का उपदेश भी दिया जाता है। वास्तव मे यह धारणा भी अनुचित ही है। ष्टि से विचार करने पर भी यह प्रमाणित होता है कि क्रोध की तरह घृणा रक्षा की दृष्टि से वांछनीय है। व्यक्तिगत सकुचित वैर-द्वेष, घृणा, धार्मिक और पारस्परिक घृणा आदि के रूप मे तो अवश्य घृणा एक नीच भावना ती है, अर्थात् यदि एक धर्मावलम्बी दूसरे धर्मानुयायी से घृणा करे, एक ने दूसरी जाति वालो से घृणा करे, गोरी जाति के लोग वर्ण-भेद से दूसरों समझकर घृणा करे, जात-पाँत के भेद-भाव से एक वर्ग के लोग अपने को नें और दूसरों को नीच समझ कर उनसे घृणा करें, तो ऐसी घृणा अवश्य अवांछित तथा हानिकारक होगी, और साहित्य मे तो ऐसी घृणा के प्रति ही गी।

केन्तु घृणा का उज्ज्वल पक्ष भी है। यही उज्ज्वल पक्ष उसका उदात्त रूप उदात्तरूप लोक और काव्य दोनों में स्पृहणीय एवं आवश्यक होता है। पाप ाणा मानव का धर्म है। अत. पापकर्म मे प्रवृत्त सब प्रकार के प्राणियो से घृणा हम पुण्य की ज्योति को अखण्ड जगते रख सकते है। हम दुष्ट प्रवृत्तियो, और अन्यायो तथा तत्सम्बन्धी व्यक्तियों के प्रति घृणा व्यजित कर के ही स्थिति-रक्षा का धर्म पालन कर सकते है। हम पीछे सिद्ध कर चुके हैं कि सीधा सम्बन्ध हमारे नैतिक आदर्शों से है। घृणा का यह उज्ज्वल रूप वहीं ा, जहा हम अपने नैतिक आदर्शों के प्रतिकूल आचरण पायेंगे। अत: घृणा मे दात्तता स्वयसिद्ध है।

कुछ विद्वानो ने प्राचीनों के आधार पर जुगुप्सा को नीच-प्रकृति-भाव ही कह डाला है, जिसमे उत्तम प्रकृति के सामाजिक चित्तसंवाद प्राप्त नही करते। इस सम्बन्ध मे डा० राघवन का कथन उल्लेखनीय है—

"It has been accepted that all cannot respond to all Rasas. Surely Bhayanaka will not raise sympathy in a heroic spirit. Bharata himself gives the respective characters—prakrtis (प्रकृतियाँ)—who respond to the different Rasas. Bhaya (भय) and Jugupsa are Nich-prakriti (नीचप्रकृति) Bhavas ; Uttama Samajikas do not have Chittasamvada (चित्तसंवाद) on seeing them. If Vitas delight in Srngara Vitragas delight in Santa"[1]

अर्थात् "यह माना गया है कि सब सामाजिक सब रसो मे आनन्द नही ले सकते। निश्चय ही वीर मे भयानक रस का उद्बोधन न होगा। भरत ने भी रसो की सापेक्षिक प्रकृतियाँ बताई है। भय और जुगुप्सा नीच-प्रकृति-भाव है, अत. उत्तम प्रकृति के सामाजिक इनमे चित्तसंवाद प्राप्त नही करते। यदि कामी शृंगार मे आनन्द लेते है तो वीतरागी शात मे।"

रस-प्रक्रिया मे स्थायी भावो की नीच-उच्च प्रकृति मानना कितना भ्रांतिपूर्ण है! तो क्या अलग-अलग प्रकृति के सामाजिकों के लिए अलग-अलग रस-प्रदर्शन होना चाहिए? वास्तव में व्यक्तिगत प्रकृति का प्रश्न रस-प्रक्रिया में रहता ही नही। एक नाटक के सभी दर्शक सामान्य भावभूमि को अपनाते है। फिर भी 'भिन्नरुचिर्हिलोका' के अनुसार यदि अनुभूति का कुछ अन्तर हो भी तो यह कहना नितान्त भ्रांति है कि रस नीच-प्रकृति होता है। वस्तुतः काव्यगत सभी भाव उत्तम प्रकृति के होते है और सब प्रकार की रसानुभूतियाँ उत्तम और उदात्त होती है। विद्वान् लेखक का यह कथन कि उत्तम प्रकृति के सामाजिक घृणा और भय मे चित्तसंवाद नही पाते, सर्वथा अनुचित है। स्वयं भरतमुनि ने भी प्रेक्षको की प्रकृति पर ही विचार किया है, न कि रसों की प्रकृति उच्च-नीच बताई है। नाट्यशास्त्र के २७ वें अध्याय मे भरतमुनि का तो स्पष्ट कथन है कि शूरवीर बीभत्स और रौद्र मे प्रवृत्त होता है। भरतमुनि ने उसी प्रेक्षक को श्रेष्ठ या आदर्श माना है जो काव्य-नाटक आदि के सब रसो-भावो मे आनन्द लेने वाला हो, जो इन सब भाव-गुणो से अलङ्कृत हो।[२]

---

1. Number Of Rasas (V. Raghvan), P. 29.

२. तुष्यन्ति तरुणा· कामेविदग्धा' समयाश्रिते।
अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षेष्वथ विरागिण'॥
नाना शीला प्रकृतय· शीले नाट्य प्रतिष्ठितम्।
× × ×
शूरा बीभत्सरौद्रेपुनिसुद्धेष्वाहवेषु च॥
प्रेक्षकः स तु मन्तव्यो गुणैरेतैरलंकृत-॥ —नाट्य शास्त्र २७।५६-६२

बीभत्स रस का शूरवीर से सम्बन्ध बताना बीभत्स को भी उदात्त या उत्तम-प्रकृति रस ही सिद्ध करता है। घृणा भाव में चरित्र-सुधार या वृत्ति-सुधार की बड़ी शक्ति है। "जो ज्ञानियों और सज्जनों पर श्रद्धा, दुष्टों से घृणा, बालकों से स्नेह और आलसियों से विरक्ति या उपहास का भाव रखने में अभ्यस्त भी हो गया, उसके चरित्र के सुधरने में कसर ही क्या रह गई ?"[1] प्रसिद्ध महाराष्ट्र संत नामदेव के बारे में प्रसिद्ध है कि वे अपनी जवानी में डाकू बने हुए थे और लूटमार द्वारा अपनी आजीविका चलाते थे। एक बार उनके दल ने ८४ आदमियों के समूह को मार डाला। नगर में लौटकर आने पर नामदेव ने एक स्त्री का करुण-क्रन्दन सुना। पूछने पर पता चला कि डाकुओं ने उसके पति को मार डाला और इस भरी-जवानी में वह निपट असहाय विधवा हो गई। इस करुण परिस्थिति से—इस भयंकर दारुण परिणाम का अनुभव कर नामदेव को अपने कुकृत्यों से उत्कट घृणा हो गई, और वह घोर पश्चात्ताप करने लगे। उन्हें अपने से, अपने वर्तमान जीवन से घृणा हो गई। परिणामस्वरूप उनके जीवन की दिशा ही बदल गई। विशोवाखेचर को गुरु बना कर वे भक्तिपथ में अग्रसर हुए।[2]

वास्तव में बीभत्स रस-अन्तर्गत घृणित चित्रों से भी जीवन की स्वस्थ प्रेरणाएँ और जीवन-शक्ति प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध में श्री इलाचन्द्र जोशी के विचार उद्धरणीय है—"ज्ञान और शक्ति किसी भी रूप में हो, उन्हें ग्रहण करो, यही उपदेश इस समय हम कृष्ण-युग से ले सकते है। तभी वास्तविक संस्कृति के पास हम पहुँच सकेंगे। पाश्चात्य जगत् आज बुद्धि और शक्ति में हम से कई गुना अधिक श्रेष्ठ इसी लिए है कि उसने अनजान में इस मूल रहस्य को पकड़ा है। साधारण सामाजिक दृष्टि-से प्रकट में निम्नवृत्ति में भी वहाँ के मनीषियों को यदि यथार्थ शक्ति का आभास मिला है, तो उन्होंने उसी दम उसे अपनाया है, पर हम लोग अपनी दुर्बल धर्मनीति का पचड़ा लेकर पग-पग में झिझक, बात-बात में द्विविधा और असमंजस के फेर में पड़े हैं। साहित्य को ही लीजिए। हम लोग चाहते है कि उसमें भी हमें धार्मिक या राजनीतिक उपदेश मिले। पर ग्रीक ट्रेजेडियों में और शेक्सपियर के श्रेष्ठ नाटकों में व्यभिचार, घृणा, क्रोध और प्रतिहिंसा की ज्वाला के अतिरिक्त हम क्या पाते है? तब क्यों संसार ने ऐसी रचनाओं को सिर-माथे चढ़ाया है? असल बात यह है कि उक्त वृत्तियों के मूल में—मनुष्य की सामूहिक अवचेतना में—एक ऐसी शक्ति छिपी है, जिसे साधारण मनुष्य देख नहीं पाता, पर कवि या दार्शनिक उस गुप्त शक्ति को जागरित कर के पाठकों की आत्मा में एक अपूर्व बल संचारित कर देता है। ......शेक्सपियर की ट्रेजिडियों में पाप के मथन से जिस प्रबल आध्यात्मिक शक्ति का

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रस मीमांसा, पृ० २२६।

२. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय (डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल), प्रथम संस्करण, पृ० ३४

प्रवेग प्रवाहित हुआ, उससे सभी पाश्चात्य काव्य-मर्मज्ञ परिचित है। इन नाटको मे केवल हत्या, प्रतिहिंसा और घृणा का विस्फूर्जन और गर्जन हुंकृत हुआ है। फिर भी इनमे अगाध रस का अनन्त स्रोत कहाँ से उमडा ? कारण वही है जो मै ऊपर बता चुका हूँ। निखिल प्राण की रहस्यमयी शक्ति उनमे छिपी है। पाप भी यदि शक्तिपूर्ण है, तो वह श्रेष्ठ है, और पुण्य भी यदि दुर्बल है तो वह तुच्छ है। प्रसिद्ध रूसी कवि पुश्किन ने कहा है, 'अधम सत्य से वह असत्य कई गुना अधिक श्रेष्ठ है जो हमारी आत्मा को उन्नत, जाग्रत करता है" ।...... इन सब बातों से मेरा तात्पर्य केवल इतना ही है कि राष्ट्र के प्राणो में यदि उच्चतम सस्कृति के बीज बोना चाहें तो हमे पाप-पुण्य, अन्धकार-आलोक सभी तत्त्वो को अपनाना होगा। सब प्रकार के भावो को ग्रहण कर के उनमे से ज्ञान, प्राण और शक्ति को शोषना होगा।.....यदि गदगी मे भी हमे ज्ञान, प्राण और शक्ति का बोध होता है, तो नि सशय होकर उसकी जड खोदनी होगी।"[1]

सामाजिक विकृतियों के प्रति पाठको की घृणा जगाकर ही समाज-सुधार का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य सिद्ध होता है। प्रेमचन्द के उपन्यासो का बीज भाव घृणा ही तो है। जिस प्रकार शुक्ल जी ने वीर काव्यों का बीज भाव करुणा को माना है, उसी प्रकार प्रेमचन्द आदि उपन्यासकारो की यथार्थ रचनाओ का बीज भाव घृणा ही है। प्रेमचन्द ने स्वय समाज की कुत्सित और घृणित परम्पराओं, मानव-शोषी पद्धतियों और अनेक प्रकार के अनाचार-व्यभिचार के प्रति घृणा की दृष्टि डाली और अपनी उस घृणानुभूति मे अपने पाठको को आप्लावित करके मानव-सस्कृति के उदात्त तत्त्वो के निर्माण की ही प्रेरणा दी है। अत घृणा में किसी भी भाव से कम उदात्तता नही है। वीर, शृंगार, करुण आदि श्रेष्ठ और उदात्त रसानुभूतियों के समकक्ष उदात्तता घृणा या बीभत्स रस मे है, इसमे किसी प्रकार का सदेह नही होना चाहिए।

मानवता के इतिहास मे आदिकाल से ही अच्छाई के साथ-साथ बुराई भी सब युगो और सब देशो मे प्रचलित रही है। मानव-जीवन का कहीं किसी देश मे, किसी काल मे भी ऐसा उदाहरण हमे प्राप्त नही हो सकता, जब जहाँ मानव-जीवन में किसी-न-किसी रूप मे बुराई न बसी हो। राम-राज्य की कल्पना कपोल-कल्पना चाहे कोई न माने, किन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा, कि उस आदर्श राम-राज्य मे भी बुराई के प्रति घृणा का भाव प्राणियो के अन्त करण मे सजग रहा होगा तथा सजग रहेगा। रामराज्य के स्थायी आदर्श की सभावना भी सम्भवत हम तभी कर सकते है, जबकि पाप से घृणा का भाव प्राणियों मे विद्यमान रहे। अतः पहले तो बुराई की विद्यमानता ही झुठलाई नही जा सकती, हम वेदो-उपनिषदों जैसे सर्व-

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'देखा परखा' निबन्ध संग्रह मे 'भावी साहित्य और संस्कृति' लेख, प्रथम संस्करण, पृ० १००-१०५।

प्राचीन धार्मिक ग्रन्थो मे भी व्यक्ति और समाज के घृणित रूपों का परिचय पाते है। बृहदारण्यकोपनिषद् मे जार-भाव के प्रति रोष और घृणा की अनुभूति हमे मिलती है। अपनी पत्नी के जार को नष्ट करने की कई विधियाँ उक्त उपनिषद् मे बताई गई हैं। एक विधि ने पति का घृणामिश्रित रोष इस प्रकार से उल्लिखित हुआ है—यदि स्त्री का कोई जार हो, और उस जार के साथ उसका पति द्वेष करना चाहे तो एक मिट्टी के कच्चे बर्तन मे अग्नि को रखकर पारिस्तणादि कर्म को उलटा करे और सिरकियो का हवन करे। साथ में इस मन्त्र का उच्चारण करे—अरे दुष्ट! तूने मेरी प्रदीप्त योषाग्नि मे होम किया है, इसलिए मैं तेरे प्राण हर लेता हूँ।[1]

यदि कोई रामराज्य की बात करे भी, और कहे कि ऐसे समाज एव ऐसे युग की कल्पना भी वास्तविकता मे परिणत हो सकती है, जहाँ कोई अत्याचार-व्यभिचार ही न हो, न पापकर्म हो न पापी हो, घृणा का आलम्बन ही न रहे, तो उसे भी हम यही कहेंगे कि समाज में अत्याचार या घृणित कुकर्मो के समाप्त हो जाने पर भी घृणा का भाव समाप्त नही होगा। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या समाज या व्यक्ति के जीवन से अनाचार, दुराचार आदि के समाप्त होने पर, घृणा का भाव भी समाप्त हो जायगा? इस सम्बन्ध में हमारा यही निवेदन है कि घृणा का भाव मानव का प्रधान भाव है, यह संस्कारबद्ध है। जीवन की परिष्कृत रुचियों को भी तब तक प्रश्रय नहीं मिल सकता, जब तक अपरिष्कृत और घृणित बातों के प्रति अरुचि या घृणा की भावना नहीं होगी। पाप के प्रति घृणा की भावना से ही पुण्य-लोक की स्थापना हो सकती है। बुराई की सापेक्षता मे ही मानवता ने अच्छाई के कोड (Code—नियम) बनाये है। न इस धरती पर कभी देव-सृष्टि रही, न होगी। और फिर देवो के पतन की कहानी भी हम जानते है। मानव सदा से 'कु' और 'सु' का पुतला रहा है, रहेगा। यह बात दूसरी है कि कहीं किसी युग मे सद्प्रवृत्तियो की प्रधानता रही हो, कभी असत् की। रहेंगी दोनो ही। अतः घृणा-भाव या घृणा के आलम्बन की समाप्ति या नाश की बात चलाना व्यर्थ है।

उपर्युक्त कथन मे कोई कह सकता है कि साहित्य में घृणा की भावानुभूति अधिकतर तभी होगी, जब समाज का रूप घृणित होगा। कवि समाज-जीवन से ही तो अपनी अनुभूतियाँ सजोता है। अत. यदि समाज निर्विकार है तो घृणित परिस्थितियाँ कहाँ से आएँगी और इस प्रकार बीभत्स रस या घृणा का प्रकाशन न होगा। इस सम्बन्ध में यही कहना है कि यद्यपि यह ठीक है—जब-जब जीवन या समाज के अन्दर अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार और कुत्सितता का बोलबाला होगा, तब-तब उसके सजग कलाकार बीभत्स रस से ओतप्रोत रचना करेंगे। किन्तु इसका यह आशय नहीं कि यदि तत्कालीन समाज मे घृणा के आलम्बन कम है, तो बीभत्स रस

---

१ देखिए कोपनिषद् ६ ४ १२

का चित्रण ही नही होगा। हमारा निश्चित मत है कि काव्य की सबल आत्मा का सगठन बीभत्स रस के बिना हो ही नही सकता। वीर, रौद्र, शृ गार, करुण आदि रसो के समानान्तर बीभत्स रस भी अवश्य स्थित रहेगा। जीवन-चेता कवि इसकी अवहेलना नही कर सकता।

हमारे प्राचीन सस्कृत साहित्य मे यद्यपि व्यक्ति-चरित्रो के घृणित रूप मे बीभत्स रस का पर्याप्त प्रसार दिखाई देता है, तो भी सामाजिक और जीवन-व्यापी घृणा का उतना प्राचुर्य उसमे नही है, जितना आधुनिक यथार्थवादी साहित्य में पाया जाता है। वस्तुत प्राचीन साहित्य मे बीभत्स के अपेक्षाकृत कम चित्रण का यह कारण मानना भ्रातिपूर्ण होगा कि प्राचीनकाल मे समाज और जीवन पवित्र थे, उनमे बुराई न थी। वस्तुत. पूर्व साहित्य मे बीभत्स की अपेक्षाकृत न्यूनता का कारण कवियों की जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टि का अभाव ही है। हमारे समस्त प्राचीन साहित्य मे आदर्शवादी कला का ही रूप-विकास पाया जाता है।

अध्यात्मवादी कहते है कि आत्मा का ज्ञान होने पर मनुष्य का रागतत्त्व सर्वत्र फैल जाता है, तब कोई भी वस्तु उसके लिए जघन्य नही रहती। 'आत्मवत्-सर्वभूतेषु' की प्रवृत्ति में घृणा के लिए स्थान ही नही रहता। कहा भी गया है—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मान ततो न विजुगुप्सते॥

ऐसे समदर्शी या निर्भेद-बुद्धि-प्राणी मे भी पापों के प्रति घृणा का भाव अवश्य रहता है। ऋषि वाल्मीकि-जैसे वीतरागी भी क्रौंच पक्षी को निशाना बनाने वाले व्याध के प्रति अपनी घृणा प्रकट किए बिना न रह सके। अतः घृणा जीवन्त आत्मा का—सबल आत्मा का—आवश्यक उच्छ्वास है, आवश्यक भाव है। इसकी जीवन-व्यापी सामाजिक और यहाँ तक कि आध्यात्मिक उपयोगिता एव आवश्यकता स्वय-सिद्ध है।

बीभत्स रस से आनन्द और सौन्दर्यानुभूति

●

शोक, क्रोध, भयादि की तरह जुगुप्सा या घृणा भी दुखात्मक भाव-वृत्ति है । स प्रकार करुण रस मे शोकपूर्ण दृश्यों से आनन्द-प्राप्ति कैसे सम्भव होती प्रश्न उठता है, उसी प्रकार बीभत्स रस में भी यह प्रश्न पैदा होता है कि और घृणात्मक दुखद दृश्यो से काव्यानन्द की प्राप्ति कैसे संभव होती है ? त्स रसानुभूति आनन्दानुभूति ही है ? क्या उसमे खिन्नता या दुख का भाव नही होता ? क्या आत्मग्लानि-रूप बीभत्स रस में आश्रय-द्वारा आत्म-ा, आत्म-पीड़न और यहाँ तक कि आत्मघात केवल आनन्द प्रदान करता है ? मे दुख का पुट नही होता ? यदि होता है तो दुख होते हुए भी आनन्द-ा क्या रहस्य है ? करुण रस तथा बीभत्स रस मे ये प्रश्न समान रूप से । बल्कि बीभत्स रस में हमारे सामने एक और समस्या उपस्थित होती है, कि बीभत्स रस के आलम्बन आदि भी बीभत्स, कुरूप, विद्रूप और अरुचिकर फिर उन कुरूप विभावादि से भी सौन्दर्यानुभूति कैसे होती है ? बीभत्स रस र्य-तत्त्व का क्या रहस्य है ?

किसी वस्तु या दृश्य मे हमारी आत्मा की रुचि या आकर्षण अथवा प्रवृत्ति न्द या सौन्दर्य-भावना का कारण है । वे सब वस्तुएँ हमें आनन्द प्रदान , जो हमारी इन्द्रियज या मानसिक अनुभूति को रुचती है । आनन्द या वस्तुगत (विषयगत) है अथवा विषयीगत, इस सम्बन्ध में बड़ा मतभेद ा विचारकों में पाया जाता है । मूल रूप में आनन्द आत्मा की ही वस्तु है, वस्तु के सुन्दर या आह्लादक होने पर भी यदि हमारी मानसिक या आत्मिक विपरीत है, तो हमें उसमे आनन्द नही आता । फिर भी सामान्य रूप से स्वादु और आकर्षक वस्तुओ के देखने, चखने आदि से आनन्द प्राप्त होता ही सौन्दर्यानुभूति या आनन्दानुभूति के लिए दो बाते आवश्यक है—एक तो

हमारे मन या आत्मा का प्रकृतिस्थ अवस्था मे होना, अर्थात् यदि हमारा मन किन्ही अन्य कारणों से अन्यथा क्षुब्ध, तृप्त, श्रात नहीं है या व्यक्तिगत कारणो से विपरीत नही है, तो सुन्दर या स्वादिष्ट वस्तु देखने या चखने मे हमें आनन्द अवश्य प्रदान करेगी। अत मन का ठीक देखने, चखने या अनुभूति प्राप्त करने के लिए तैयार होना पहली शर्त है, यह विषयीगत बात हुई। दूसरी शर्त है विषय-वस्तु का सुन्दर होना—आकर्षक या स्वादु होना। आनन्द इन्द्रियज भी होना है और मानसिक भी। अर्थात् जिह्वा का रस स्वादिष्ट भोजन होता है, कान का रस मधुर शब्द तथा सगीतमय ध्वनि है, आँख का रस सुन्दर दृश्यों से प्राप्त होता है, घ्राण का रस सुगन्धित वस्तुओं से और इसी प्रकार त्वचा का रस किसी कोमल स्निग्ध स्पर्श से प्राप्त होता है। यह आनन्द इन्द्रियज आनन्द है। यद्यपि यह भी मानसिक आनन्द बन जाता है, हम किसी स्वादिष्ट वस्तु को खा कर यही कहते है कि मन प्रसन्न हो गया, मन आनन्दित हो गया, तो भी इसका प्रत्यक्ष कारण पचेन्द्रियाँ ही है। इस आनन्द के प्राप्त करने से मन की भावनाओ को कोई उत्तेजना प्राप्त नही होती। अर्थात् हम सतरे का रस पीकर आनन्दित तो होते हैं, पर उससे हमारे मन मे कोई उदात्त भावना नहीं जगती। इसी प्रकार जब हम एक सुन्दर पुष्प को देखते है, तो आनन्दित होते है। यह केवल आनन्दानुभूति या सौन्दर्यानुभूति है, उदात्त भावानुभूति नही है। यह अनुभूति उदात्त भावानुभूति तभी बनती है, जब हम उस पुष्प के सौन्दर्य से प्रभावित होकर उससे अनुराग स्थापित करते है, उसके रचयिता किसी विश्वात्मा की कल्पना करते है, उसके क्षणिक किन्तु परोपकारपूर्ण जीवन से प्रभावित होते हैं अथवा उसके शीघ्र मुरझा जाने पर खिन्न होते है। पुष्प के प्रति ऐसी भावनाएँ काव्य में ही प्रकट होती है, अत वह कोरा इन्द्रियज सौन्दर्य-बोध नही रहता। किन्तु इन भाव-कल्पनाओ के बिना पुष्प-दर्शन इन्द्रियानुभूति ही होता है। यही बात किसी चित्र के देखने से प्रकट होती है। यदि चित्र के पीछे कोई स्पष्ट भावना नहीं है तो चित्रगत सौन्दर्य नयनाभिराम होने से इन्द्रियज आनन्दानुभूति ही करायेगा।

जब हम ताश खेलते हैं, या सर्कस का तमाशा अथवा किसी नट का कौशल या कोई और खेल-तमाशा-नाच आदि देखते है, तो भी आनन्द-लाभ करते है। यह आनन्द भी यद्यपि नेत्रेन्द्रिय के माध्यम से ही मिलता है, पर यह होता है मानसिक आनन्द। इस आनन्द का सीधा हृदय से सम्बन्ध है। किन्तु प्राय यह आनन्द भी भावानुभूति का आनन्द नही होता। यह आनन्द इसीलिए प्राप्त होता है कि खेलने-खिलाने तथा विचित्र कार्य देखने में हमारा मन रुचि रखता है, इनसे मनोरजन होता है। इन खेल-तमाशो से भी जीवन की उदात्त अनुभूतियाँ विशेष नही जगती। हाँ, जहाँ खेल-तमाशो से भावानुभूतियाँ जगती हैं, वे खेल-तमाशे भी भावानुभूति का रस प्रदान करने वाले माने जायेंगे और काव्य की कोटि मे गिने जायेंगे यदि किसी हाकी

के मैच को देखने से हम एक टीम के कैप्टन की सदाशयता, साहस, सहृदयता आदि गुणों से प्रभावित होकर खिलाड़ी की सदाशयता (Sportsman Spirit) का गुण ग्रहण करते हैं, तो हमारी आनन्दानुभूति उदात्त भावानन्द के रूप में प्रकट होगी। यह अनुभूति ही काव्यानन्द से मिलती-जुलती अनुभूति होगी। अतः खेल-तमाशों की मानसिक अनुभूति भी अनिवार्य रूप से उदात्त भावानन्दानुभूति नही मानी जा सकती। हम पहले भी कह चुके है कि काव्यानन्द इन्द्रियज आनन्द तथा खेल-तमाशे के मानसिक आनन्द से भिन्न उदात्त भाव-जन्य आनन्द होता है।

जिन वस्तुओं और दृश्यों को हमारा मन चाहता है, वे उसके लिए आकर्षक और सुन्दर होती हैं। जिस प्रकार सुन्दर पुष्प, मनोहर चित्र, सुगंधित वायु तथा स्वादिष्ट भोजन हमें रुचिकर होते है, उसी प्रकार भावानुभूतियाँ भी रुचिकर और आल्हादक होती है। जैसे सब व्यंजन-पदार्थ रुचिकर नही होते, केवल सुन्दर और स्वादिष्ट वस्तुएँ ही आनन्ददायक होती है, वैसे ही कुछ सुन्दर भाव या भावनाएँ ही हमे आल्हादक प्रतीत होती है सब भाव नही। अब प्रश्न यह है कि वे सुन्दर भाव या भावनाएँ कौन-कौन सी है, जो आनन्दानुभूति कराती है। जैसा-कि पहले कहा जा चुका है, उदात्त भाव ही हमें स्पृहणीय होते है। अतः इनके अनुभव से हमें आनन्द मिलता है। इस भाव-जन्य आनन्दानुभूति के लिए भी वही दो शर्तें आवश्यक हैं, एक भावो का सुन्दर और उदात्त होना, दूसरे हमारे मन का अनुभूति के लिए तैयार होना। हम स्थायीभाव आदि पिछले प्रकरणो में कहते आए हैं कि हमारे स्थायी-भाव आदि सम्पूर्ण रस-सामग्री उदात्त और सुन्दर रूप मे प्रकट होती है। काव्यगत स्थायीभाव शोक, रति आदि सब स्पृहणीय होते हैं, उदात्त होते है। इन भावो की अनुभूति से हमारा मन आनन्दित हो उठता है। ये जीवन के सुन्दरम् और शिवम् से सम्बन्ध रखते है। जीवन की सत्यता के कारण इनमें सत्यम् भी विद्यमान रहता है। चित्त की अनुकूलता मे—अर्थात् जब हमारा मन सत्त्वोद्रेक की स्थिति में होता है, व्यक्तिगत स्वार्थ-सम्बन्धों से दूर होता है—इन उदात्त भावों की अनुभूति आनन्दमय ही होती है। अतः भावानुभूति मे आनन्द या सौन्दर्य तत्त्व दो बातो से उत्पन्न होता है। एक तो अनुभूति-काल में हमारे मन की अवस्था व्यक्तिगत योग-क्षेम से परे हो, दूसरे, भाव उदात्त हो। उदात्त भावों मे सौन्दर्य-तत्त्व रहता ही है, क्योंकि उदात्त भावनाओं मे हमारी प्रवृत्ति होती है, वे हमे स्पृहणीय लगती हैं, और जिन वस्तुओं में हमारी स्वतः प्रवृत्ति होती है, जो हमें स्पृहणीय लगती हैं, वे आकर्षक और सुन्दर होती ही है। अतः 'हृदय की मुक्तावस्था' या सत्त्वोद्रेक की दशा मे उदात्त भावो की अनुभूति आनन्दमयी सौन्दर्यानुभूति होती है। यह सौन्दर्य नेत्रेन्द्रिय द्वारा प्राप्त केवल दृश्य-वस्तुगत सौन्दर्य नही होता, बल्कि मानसिक भावनाओं का सौन्दर्य है। इन्द्रियज सौन्दर्यानुभूति या आनन्दानुभूति भी इसमे सम्मिलित होकर, इसकी सहायक सिद्ध हो सकती है और जहाँ यह इन्द्रियज सौन्दर्यानुभूति चित्रकला

भवननिर्माणकला, सगीत-नृत्यकला, अभिनयकला, मूर्तिकला आदि के रूप में इस भावसौन्दर्यानुभूति की सहायक बन जाती है, जैसे नाटक, सिनेमादि मे, वहाँ यह भावसौन्दर्यानुभूति अपने चरम पर पहुँच जाती है।

उदात्त शोक, घृणा, क्रोधादि दुखात्मक भावों से भी रसानुभूति या आनन्दानुभूति प्राप्त होती है, यह तथ्य उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हो गया होगा। किसी व्यक्ति को हम, धार्मिक विद्वेष के कारण, अन्य धर्मावलम्बी किसी व्यक्ति से घृणा करते देखते है, तो उसकी यह घृणा हमे स्पृहणीय नही लगती, किन्तु यदि वह व्यक्ति किसी अत्याचारी-दुराचारी के पापाचरण के प्रति घृणा व्यजित करता है, तो उसकी घृणा हमें स्पृहणीय लगेगी। अतः यही उदात्त घृणा है। इसमे मानसिक प्रवृत्ति या स्पृहा होने के कारण सौन्दर्य-तत्त्व विराजमान है। अत' उदात्त घृणानुभूति सुन्दर भी होगी और आह्लादक भी। इसका सौन्दर्य भावना का सौन्दर्य है। इसका आनन्द न इन्द्रियज आनन्द है, न भाव-प्रवृत्ति-शून्य मानसिक आनन्द, अपितु यह आनन्द भावजन्य मानसिक आनन्द है।

शोक, घृणादि से आनन्दानुभूति प्राप्त होती है, यह सिद्धान्त मान लेने पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा उठाये गए ये प्रश्न बडे महत्त्वपूर्ण विवेच्य प्रश्न हो जाते है कि "क्या क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि आनन्द का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय मे प्रकट होते है, अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते है? उसे कुछ भी लगा नहीं रहने देते? क्या 'विभावत्व' उनका स्वरूप हरकर उन्हे एक ही स्वरूप----सुख का—दे देता है? क्या दुःख के भेद सुख के भेद-से प्रतीत होने लगते हैं? क्या मृत पुत्र को लिए विलाप करती हुई शैव्या से राजा हरिश्चन्द्र का क़फन माँगना देख-सुनकर आँसू नहीं आ जाते, दाँत निकल पडते हैं?...... क्या कोई दुखान्त कथा पढ़कर बहुत देर तक उसकी खिन्नता नही बनी रहती? 'चित्त का यह द्रुत होना' क्या आनन्दगत है?"[१] आचार्य शुक्ल ने उन लोगो के प्रति आक्रोश भी प्रकट किया है जो काव्य को केवल आनन्द की वस्तु कहा करते है—"इस आनन्द शब्द ने काव्य के महत्त्व को बहुत-कुछ कम कर दिया है—उसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है।"

जो विद्वान्[२] कहते है कि शोक के आँसू करुणरस-अनुभूति मे सुख के आँसू होते हैं, शुक्लजी ने उनका भी विरोध किया है। निस्सदेह करुण मे प्रकट होने वाले आँसुओं को सुख के आँसू मानना भ्रांतिपूर्ण ही है। वस्तुत' वे आँसू तो शोक के ही होते हैं, पर उदात्त भावना से सम्बन्ध होने के कारण यह शोक और इसके आंसू भी स्पृहणीय होते है, हम बार-बार इस तरह रोना चाहते है। इसी प्रकार घृणा य

---

१ रस-मीमांसा, पृ० १०१

१ देखिये आचार्य विस्तनाथ का मत हि० पृ० ११६ ११७

बीभत्स की अनुभूति में भी घृणा भाव दुखात्मक ही होता है, पर वह उदात्त दुख भी हमे अच्छा ही लगता है, हम चाह कर उसे अपनाते है।

दुखद दृश्यो से आनन्द कैसे प्राप्त होता है, इसका समाधान एक और विचार से करते हैं। वास्तव मे हम दु ख से निवृत्ति चाहते हैं, इसीलिए करुण में आनन्द प्राप्त करते है। जब हम कुरूपता के प्रति अनिच्छा या घृणा प्रकट करते हैं, तभी हमे सौन्दर्यानुभूति होती है। हम दुखी को देखकर रो पड़ते है तो इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि हम उसे दुखी देखना नही चाहते। उसका दुखी होना हमे अच्छा नही लगता। इसका मतलब यह हुआ कि हम उसे सुखी देखना या कम-से-कम दुख-रहित देखना चाहते है। बस इसी चाह के कारण—दुख-निवृत्ति के कारण—हमे आनन्द प्राप्त होता है। प्रश्न उठ सकता है कि फिर हम बार-बार दुखपूर्ण चित्र या कुरूप दृश्य देखने क्यो जाते है? वास्तव में हम उन्हे इसीलिए बार-बार देखना चाहते हैं कि हम बार-बार अपनी दुख-विनिवृत्ति चाहते हैं। हमारी उनमे प्रवृत्ति इसी लिए रहती है कि हम बार-बार ऐसी दुखद घटनाओं या दुखी व्यक्तियों के दुखो से मर्माहत होकर, अपनी भावना का यही निर्णय देना चाहते है कि मानव को ये दुख नही होने चाहिएँ। हम बार-बार ऐसे वर्णन पढने या सुनने को तैयार होते हैं तो इसीलिए कि हम जगत् मे किसी को दुखी देखना नही चाहते, किसी को कुरूप और घृणित आचरण वाला बनते देखना नही चाहते। यह भी दुख की ही निवृत्ति का एक प्रकार है। जिस प्रकार परोपकार करना या दूसरो के दु.खों मे सहानुभूति प्रकट करना उनके दुख दूर करना या दुख दूर होने की इच्छा करना ही हैं, उसी प्रकार काव्यगत दुखियों के दु ख मे आँसू बहाना उन्हें दु ख-मुक्त देखने की इच्छा ही है। दूसरो को दुखी देखने से हृदय मे जो चोट लगती है, उसे परोपकार, सहानुभूति-प्रदर्शन आदि के द्वारा हम दूर करने का प्रयत्न करते है, इसी प्रकार काव्यानुभूति द्वारा हम दुखी व्यक्ति के प्रति अपनी सवेदना या सहानुभूति प्रदर्शित करके अपनी चोट या दुख की ही निवृत्ति करते है। अत. उससे उसी प्रकार का आनन्द पाते हैं जैसा आनन्द परोपकारी व्यक्ति दुखियों के दुख दूर करने मे प्रवृत्त होकर पाता है। हमे सहानुभूति या सवेदना-जन्य आनन्द मिलता है। निश्चय ही दया, घृणा, क्षमा आदि का आनन्द दुख की निवृत्ति का ही हेतु है। हमारी सहानुभूति का विस्तार भी दुख की निवृत्ति का हेतु होता है, और इस प्रकार हम दुखपूर्ण दृश्यों से भी आनन्द प्राप्त करते हैं।

करुणा में आनन्दप्राप्ति के मूल में सहानुभूति-सिद्धान्त प्राचीन काल से विद्वानो को मान्य रहा है। हम आरम्भ में प्लेटो के उदाहरण से सहानुभूति-सिद्धान्त की मान्यता को प्रस्तुत कर चुके हैं। आधुनिक विचारको ने भी इस सिद्धान्त पर विचार किया है। 'सहानुभूतिपूर्वक ताटस्थ्य' सिद्धान्त के मानने वालो मे डा० वाटवे का नाम है उनका कथन है कि काव्य विषय से हमारी सहानुभूति

जाग्रत होती है, अतः हमें आनन्द मिलता है। यह सहानुभूति हमारी तटस्थ दशा मे ही होती है, इसी मे हमारे व्यक्तित्व का पूर्ण विलय भी नही होता। इस मे किसी को संदेह नही हो सकता कि मानव दूसरो के दुःखो मे सहानुभूति प्रकट करके सच्चा आत्मिक आनन्द अनुभव करता है।

अब प्रश्न यह है कि करुण रस मे तो सहानुभूति सिद्धान्त स्पष्ट लागू होता दिखाई देता है, बीभत्स रस मे यह सिद्धान्त कैसे मान्य हो? बीभत्स रस मे सहानुभूति किस के प्रति जगती है? डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने बीभत्स रस मे सहानुभूति सिद्धान्त की सिद्धि पर संदेह प्रकट करते हुए कहा है कि 'कम-से-कम बीभत्स रस के प्रसग मे इस सहानुभूति-पूर्वक ताटस्थ्य सिद्धान्त की सिद्धि किस के प्रति सहानुभूति प्रकट करने से होगी, यह नही बताया जा सकता।"[1] संभवत बीभत्स रस के परम्परागत 'मॉस-मज्जा-रुधिर' वाले रूप के कारण ही सहानुभूति का पात्र इस रस में उन्हे कोई दिखाई नही दिया। परन्तु हम देखते है कि सामाजिक और व्यक्ति-चरित्रों पर आधारित हमारी मानसिक घृणा मे समाज या मानवता अथवा व्यक्ति-विशेष या स्वय अत्याचारी-पापी अथवा उससे पीडित-दुखित प्राणी की हानि का विचार रहने से उनके प्रति सहानुभूति की भावना अवश्य रहती है। एक प्रकार की करुणा या सहानुभूति का जो बीज भाव वीर रस के आश्रय मे रहता है, वह घृणा या बीभत्स रस मे भी अवश्य मान्य होना चाहिए। आत्मग्लानि-रूप बीभत्स रस और दयामिश्रित घृणा मे तो सहानुभूति का विस्तार उतना ही स्पष्ट प्रतीत होता है, जितना करुण रस मे। अतः हमारा निश्चित मत है कि बीभत्स रस की आनन्दानुभूति के मूल मे यह सहानुभूति सिद्धान्त भी अवश्य काम करता है, यद्यपि यही अपने मे पूर्ण नहीं है।

डा० गुलाब राय का कथन है कि "साहित्य मे वर्णन होने के कारण उनका (काव्य-विषय का) विभावन व साधारणीकरण हो जाता है और उसी के साथ उसका भयावनापन या घृणापन जाता रहता है और केवल आनन्द रह जाता है। घृणोत्पादक वस्तुओं का वर्णन घृणोत्पादक नहीं होता। यद्यपि उससे कोई आदमी यह नही चाहता कि घृणोत्पादक वस्तुओ का वर्णन ही लिखा या पढा करें। ······ तथापि बीभत्स का वर्णन युद्ध की भयंकरता को पुष्ट करने, अपने प्रतिद्वंद्वियों के प्रति घृणा प्रकट कर उन से प्रतिकार ले आत्मा को शान्त करने, बुरे को बुरा कहकर उसको दूर करने में समाज के साथ सहानुभूति प्रकट करने का आनन्द उत्पन्न करता है।"[2]

बाबू जी के उपर्युक्त वक्तव्य की आरभिक पक्तियो के बारे में हमे आपत्ति

---

१. डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित : 'रस-सिद्धान्त: स्वरूप-विश्लेषण'- पृ० १५५ (प्रथम संस्करण)
२ बाबू नवरस पृ० ५०२ (द्वितीय १९३४ ई०)

है, किन्तु उनका अंतिम वाक्य सहानुभूति सिद्धान्त की स्पष्ट पुष्टि करता है। हम उनकी इस बात से सहमत नही हो सकते कि घृणोत्पादक दृश्य घृणोत्पादक नही रहते। वास्तव मे रहते तो वे घृणोत्पादक ही है, पर घृणा भाव स्पृहणीय हो जाता है। विषय या दृश्य तो घृणाजनक ही रहेगे, पर अनुभूति ग्राह्य हो जाती है। इसी से सब कोई यही चाहता है कि घृणोत्पादक वस्तुओं या दृश्यो का वर्णन ही लिखा या पढा करे। बाबू जी की इसके विपरीत उक्ति मान्य नही हो सकती।

बीभत्स रस मे आनन्द-प्राप्ति के एक और कारण पर विचार करना आवश्यक है। जिस स्थान पर या जिन बातों मे हम अपना प्रभुत्व पाते है, वहाँ हमारा मन आनन्द और प्रसन्नता का अनुभव करता है। जिस प्रकार हम हॉकी, फुटबाल, शतरज आदि खेलो मे दूसरो को हराने के लिए—अपनी श्रेष्ठता का डका बजाने के लिए प्रवृत्त होते हैं, और जीतने पर अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव करते है, उसी प्रकार बीभत्स रस मे भी हम अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित करते हैं। घृण्य वस्तु, व्यक्ति या दृश्य की तुच्छता प्रकट करके हम अपने आत्म-भाव को तुष्ट करते है। अत आनन्द प्राप्त करते हैं। बाबू गुलाबराय का इस सम्बन्ध में भी कथन है—"बीभत्स रस-सम्बन्धी वर्णन कभी-कभी दया के भाव उत्पन्न कर समाज-सुधार मे सहायक होते है। बीभत्स रसात्मक वर्णन घृणित पदार्थों की तुच्छता प्रकट कर हमारे आत्म-भाव की तुष्टि करते है, और इस प्रकार मनुष्य की प्रसन्नता के कारण होते है।"[1]

हम पीछे बीभत्स रस या घृणा-स्थायीभाव के मूल में आत्म भाव या एडलर का प्रभुत्वकामना-सिद्धान्त (Superiority Complex) स्पष्ट कर चुके है। अत हमारी यह प्रभुत्व-प्रतिष्ठा भी हमारे आनन्द का कारण अवश्य बनती है। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि काव्य-रसो मे आनन्द का प्रमुख कारण तो उदात्त भावों का अपना सौन्दर्य है, अर्थात् उदात्त घृणा, उदात्त शोक आदि भाव अपने में आनन्द और सौन्दर्योत्पादक है, अत उपर्युक्त सहानुभूति सिद्धान्त और आत्म-भावना का सिद्धान्त गौण रूप मे ही उदात्त भावो की आनन्दानुभूति मे सहायक होते है। ये उदात्त भावानुभूति के साथ ही लगे हुए है, उससे पृथक् नही है। अत. उपर्युक्त आत्म-भाव या अहम् भाव से अभिप्राय अभिमान नहीं हो सकता। यह प्रभुत्वकामना भी विकृत नही होने पाती। मराठी के श्री वामन मल्हार जोशी ने जो "आत्म-क्रीडा-आत्मरति" का सिद्धान्त काव्यानन्द के मूल में बताया है, वह भी उपर्युक्त आत्म-भाव सिद्धान्त से ही मिलता-जुलता है। यह सिद्धान्त आनन्दानुभूति का एकमात्र पूर्ण सिद्धान्त नही माना जा सकता। कुछ विद्वानों ने "अनासक्त तन्मयता" तथा "तादात्म्य सिद्धान्त" आदि का भी प्रतिपादन किया है। काव्य में कवि की अनुभूतियों से

---

१ वही पृ० ५०४

तादात्म्य होता है, यह हम पहले ही कह चुके है। काव्यगत आश्रय से भी तादात्म्य होता है, पर काव्य में आश्रय की स्थिति अनिवार्य नही है। फिर उदात्त अनुभूतियो मे तन्मयता और तादात्म्य स्वयं-सिद्ध है। अत ये सिद्धान्त भी आंशिक रूप मे आनन्दानुभूति की समस्या का समाधान करते है।

नाट्यदर्पणकार आदि कुछ प्राचीन विद्वानों ने शोक आदि को दुखात्मक मानते हुए भी यह कहा है कि हमारे उनमें आनन्द लेने का कारण यही है कि नाटककार या अभिनेताओं ने उस करुण या बीभत्स दृश्य को भी बड़े कलात्मक ढंग से प्रकट किया है। यही बात कुछ पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्री कहते है कि त्रासदी मे सौन्दर्यानुभूति का रहस्य यही है कि स्रष्टा ने उसे पूर्ण कलात्मक रूप प्रदान किया है। परन्तु यह सिद्धान्त वैसे ही ऊपरी-सा है, जैसे भट्टलोल्लट और शकुक ने काव्यानन्द को चमत्कार-जन्य बताकर छुट्टी पा ली थी। वास्तव में इसका हल भी हमे मानस-शास्त्र से ही खोजना चाहिए, और उपर्युक्त उदात्त भावसौन्दर्य का सिद्धान्त ही इसका वास्तविक हल है।

अभिनवगुप्ताचार्य ने मन की विश्रान्ति प्राप्त होने के कारण ही सब रसो को सुखात्मक बताया है। उनका कथन है—'रस स्वसाक्षात्कारात्मक आस्वादरूप ज्ञान के आनन्दमय होने से सुखप्रधान (आनन्दमय) होते है। जैसे कि केवल शोकानुभूति के आस्वादन में भी उसके निर्विघ्न विश्रान्त-रूप होने से लोक मे (अत्यन्त सुकुमार-हृदय) स्त्रियों को भी हृदय की विश्रान्ति (आनन्द) प्राप्त होती है। (हृदय की) अविश्राति का नाम ही दुख है। इसीलिए सांख्य दर्शन के मानने वाले (कपिल के अनुयायियो) ने (दुख को) रजोगुण की वृत्ति कहकर, चचलता (अविश्राति) को ही दुख का प्राण कहा है। इसलिए (जब करुण रस तक में हृदय की विश्रान्ति प्राप्त होती है तो) सब रसो की आनन्दरूपता ही है। किन्तु उपरजक विषयो के कारण वीर रस के समान उनमे भी दुख का स्पर्श रहता है, क्योंकि वह (वीर रस) क्लेशसहिष्णुतादि-प्रधान होता है।'[1] चित्त की यह विश्रान्ति उदात्त रसानुभूति या उदात्त भावानुभूति का ही परिणाम है। अत. उदात्त भावो की अनुभूति से ही आनन्द प्राप्त होता है।

बीभत्स रस में कुरूप दृश्यों से भी सौन्दर्यानुभूति

हम आरंभ में भी बता चुके है कि भरत मुनि ने शृंगार रस को 'उज्ज्वलवेषात्मक' कहा है। व्याख्याकार शंकुक ने वेष शब्द का सामान्य अर्थ लेकर यह शका उठाई है कि 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में शृंगाररस होते हुए भी उन्मादावस्था में पुरुरवा के अनुज्ज्वल वेष का और तापस 'वत्सराज-चरित' में वासवदत्ता के मर जाने का

---

१ (आचार्य विश्वेश्वर) पृ० ४७८ (प्रथम)

विश्वास दिला दिए जाने के बाद तापस वत्सराज उदयन के अनुज्ज्वलवेश का वर्णन पाया जाता है। इन दोनो में अनुज्ज्वल वेष के कारण शृंगार रस की सिद्धि कैसे होगी ? यह समस्या उठाकर स्वय ही व्याख्याकार शंकुक ने यह समाधान दिया है कि बाह्य उज्ज्वल वेष न होने पर भी उनके भीतर की उत्तम रति विद्यमान रहती है, इसलिए वहाँ शृंगाररस के मानने में कोई दोष नही।[1] शकुक के इस कथन से जो तथ्य प्रकाशित हुआ है वह यह कि केवल बाह्य सौन्दर्य ही सौन्दर्यानुभूति का कारण नही होता, अपितु आन्तरिक सौन्दर्य, आभ्यन्तर श्रेष्ठता, अन्तर की उत्तमता भी सौन्दर्यानुभूति कराती है। उदयनादि की आन्तरिक सुन्दर प्रकृति ही यहाँ आकर्षण या सौन्दर्य-बोध की परिचायक है।

शृंगार, भक्ति आदि रसो के अतिरिक्त बीभत्स, भयानक आदि कुछ रसो मे सौन्दर्यबोध की समस्या कुछ जटिल-सी बन जाती है। बीभत्स रस का आलम्बन बाह्य रूप से तो कुरूप होता ही है क्योकि सुन्दर किन्तु कुलटा नारी का बाह्य सौन्दर्य भी सौन्दर्य नही रहता--साथ ही शृंगार रस के उपर्युक्त उदाहरण के विपरीत उसका अन्तरपक्ष भी कुरूप होता है। अतः बीभत्स रस में सौन्दर्यबोध की समस्या सर्वाधिक जटिल बन जाती है। इस रस मे अन्तर-बाह्य से बिल्कुल कुरूप आलम्बन भी सौन्दर्यानुभूति कैसे कराता है ? विषय (आलम्बन) के प्रति विकर्षण होते हुए भी बीभत्स में विषयगत (रसगत) आकर्षण कैसे रहता है ?

वास्तव में सौन्दर्य भी आनन्द की तरह आत्मा का ही गुण है। बाह्य सुन्दरता भी बीभत्स हो सकती है। सौन्दर्य को (बाह्य सौन्दर्य को) अलौकिक और अति पवित्र मानने वालो को सुन्दरता के कुकृत्यों एवं बीभत्स व्यापारो का अवलोकन करना चाहिए। फ्रेंच उपन्यासकार ड्यूमा की ग्लैडी, या प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'वेदना' की लौरा जैसी सुन्दरियाँ अपने सौन्दर्य-बल पर अनेक निरीह प्राणियो के निर्मम प्राणान्त तथा अन्य वीभत्स व्यापारों का कारण बनती है। इन सुन्दरियों के असुन्दर कार्यों के प्रति घृणा का भाव भी क्या सुन्दरम् की रक्षा नही करता ? वस्तुतः आलम्बन में कुरूपता और विद्रूपता होते हुए भी, उसके प्रति घृणा-भाव सुन्दरम् की ही रक्षा करता है। जैसा कि कहा जा चुका है, काव्य का आधार केवल बाह्य सौन्दर्य पर ही अवलम्बित नही है, उसमे हृदय की अन्तर्वृत्ति का विश्लेषण ही मुख्य है। जो भाव विस्तृत जन-समाज के हृदय के साथ सामंजस्य रखता है, उसी से काव्य मे यथार्थ सौन्दर्य का विधान किया जाता है। 'काव्य ही एक ऐसा स्थल है, जहाँ घृणा, क्रोध, उपहास, ईर्ष्या, तिरस्कार आदि में भी सौन्दर्य है। बाह्य सौन्दर्य पर ही लुभाने वाले मूढ़ होते है। अन्तर्वृत्ति का सौन्दर्य ही काव्य का प्राण है।'[2]

---

१. हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५४४-५४५।

२ सुधांशु काव्य में पृ० ७६ (प्रथम)

बीभत्स रस के सम्बन्ध मे प्रश्न यही है कि यह अन्तर्वृत्ति का सौन्दर्य इसमे कहाँ रहता है ? निश्चय ही इसके आलम्बन मे अन्तर्वृत्ति का सौन्दर्य नहीं रहता, क्योंकि शृंगारादि के विपरीत बीभत्स का आलम्बन तो अन्तर्वृत्ति से अवश्य ही कुरूप या घिनौना होता है। तब सौन्दर्यानुभूति कैसे होती है ? आकर्षण किस बात मे है ? जैसाकि कहा जा चुका है, आनन्द या सौन्दर्य आत्मा का विषय है, अत हम अपनी आत्मा का ही आनन्द या रस लेते हैं। हम अपने ही भावो का आनन्द प्राप्त करते हैं। बाह्य आलम्बन तो निमित्त-मात्र है। अत. जब हम घिनौने दृश्यो से अपने हृदय मे घृणा का अनुभव करते है, तो सौन्दर्य वस्तु (आलम्बन) मे न होकर उस हमारी भावना मे होता है, हमारी आत्मा का ही ओज घृणा भाव के रूप मे हमे आनन्द प्रदान करता है। अत: बीभत्स और कुरूप दृश्यो से भी सौन्दर्यानुभूति का रहस्य यह भाव-सौन्दर्य ही है। हम यह नहीं कहते कि 'अहा ! कैसा सुन्दर शराबी-अत्याचारी है', अपितु कहते तो यही है कि 'कैसा दुरात्मा है, नीच और दुष्ट !' और उसकी उपस्थिति से नाक-भौं चढ़ाते है, पर काव्य में फिर भी हम उसे देखना चाहते हैं, बार-बार उसका वर्णन पढना चाहते है। इससे यही तथ्य निकलता है कि काव्य मे घृणित दृश्यो में भी आकर्षण रहता है। हाँ, वह आकर्षण वस्तुगत या विषयगत न होकर हमारी ही भावना द्वारा प्रेरित आत्मगत होता है। अत· इस दृष्टि से काव्य का यह बीभत्स पक्ष भी सुन्दर है। आलम्बन मे कुरूपता होते हुए भी भावना मे सौन्दर्य होता है। यह घृणा-भाव उदात्त भाव होने के कारण हमें आनन्द तथा सौन्दर्यानुभूति ही कराता है। इसीलिए काव्य मे सुन्दर-असुन्दर दो पक्ष नही, अपितु एक ही पक्ष 'सुन्दर पक्ष' मानना चाहिए। रावण आदि दुष्टों के जिन कार्यों को असुन्दर कहा जाता है, वास्तव मे वे भी काव्यानुभूति के रूप मे हमारी सौन्दर्यानुभूति ही जगाते है। अत. हमारी उदात्त भावना के सौन्दर्य से बीभत्स दृश्य भी काव्य मे सुन्दर तो नही बनते, पर हमें सौन्दर्यानुभूति अवश्य कराते हैं, ठीक वैसे ही जैसे करुण प्रसगो मे विषय या आलम्बन दुखदायी होते हुए भी आनन्दानुभूति कराते है। बीभत्स रस मे भी वे कुरूप और दुखकारक होते हुए भी सौन्दर्यानुभूति तथा आनन्दानुभूति ही कराते है। अत· आलम्बन चाहे कुरूप हो पर उनसे अनुभूति हमें सौन्दर्य की ही होती है।

पाश्चात्य विद्वान् और सौन्दर्यशास्त्री जब इस समस्या पर विचार करते हैं कि भद्दे और कुरूप दृश्यों से सौन्दर्यानुभूति कैसे होती है, तो वे प्राय. भाव-सौन्दर्य के इस रहस्य का उद्घाटन न कर के अन्य बातो मे ही इस समस्या का समाधान ढूँढते है। सच तो यह है कि काव्य की दृष्टि से पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्री इस विषय पर विशेष विचार न करके चित्रकला आदि की दृष्टि से ही सौन्दर्यानुभूति पर अधिक विचार करते है। अरस्तु के अनुकरण-सिद्धान्त मे तो इस प्रश्न का यही उत्तर मिलता है कि वस्तु चाहे कितनी ही अग्राह्य या अरुचिकर क्यों न हो उसकी अनुकृति प्राय·

ग्राह्य एवं रुचिकर होती है।'[1] पाश्चात्य विद्वानों ने अधिकतर इसी आधार पर यह तथ्य प्रकाशित किया है कि कुरूप और असुन्दर वस्तुएँ भी ललित कलाओं में सुन्दर इसीलिए प्रतीत होती है कि कलाकार उन्हे पूर्ण कलात्मकता के साथ चित्रित या प्रकट करता है। परन्तु हम देखते है कि यह समाधान भी अरस्तु के कुशल अनुकृति-सिद्धान्त-जैसा ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि इसमे विपर्यागत दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक है। कवि वह कुशल चित्रण कैसे करता है, कुशल चित्रण से क्या अभिप्राय है, आदि प्रश्न ज्यों-के-त्यों बने रहते है। अत बीभत्स रस से सौन्दर्यानुभूति की समस्या का हल भावसौन्दर्य की दृष्टि से ही समीचीन बैठता है। इस भाव-सौन्दर्य का ध्यान भुलाकर ही कुछ विद्वानों ने बीभत्स रस के बारे मे भ्रांतिपूर्ण वक्तव्य दिए है। एक विद्वान् का कथन है—"बीभत्स रस सौन्दर्य-भावना मे आघात पहुँचाता है, और कदाचित् इसीलिए सौन्दर्यस्रष्टा सूरदास की प्रकृति ने उसकी उपेक्षा कर दी।"[2] किन्तु कला में 'कुरूप' और 'असुन्दर' विवादी स्वरों के समान है जो मुख्य राग को निखारते हैं। अर्थात् वे आनन्द और सौन्दर्य-भावना को ही तीव्र करते है, सौन्दर्य-भावना मे आघात नही पहुँचाते।

अब विद्वानों के एक और मत पर विचार करना आवश्यक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि बाह्य प्रकृति के साथ यदि अन्त.प्रकृति का सौन्दर्य भी कवि प्रकट करता है, और इस प्रकार प्राकृतिक सौन्दर्य, मानव का बाह्य आकृति-प्रकृतिगत सौन्दर्य और मानवीय आन्तरिक सौन्दर्य तीनों का यदि सामंजस्य घटित हो जाए, तो फिर क्या कहना! इसके लिए उन्होंने चित्रकूट के रम्य प्राकृतिक वातावरण मे अत'बाह्य से सुन्दर राम और भरत की अद्भुत सौन्दर्य-छटा का उदाहरण दिया है। 'चित्र-कूट-ऐसे रम्य स्थान मे राम और भरत-जैसे रूपवानों की रम्य अन्त प्रकृति की छटा का क्या कहना है।'[3]

इससे सन्देह हो सकता है कि इस दृष्टि से बीभत्स रस सौन्दर्य या आनन्द की ऐसी उत्कृष्टतम स्थिति को पहुँच ही नही सकता, क्योंकि बीभत्स रस में अन्त बाह्य के सौन्दर्य-सम्मिलन का यह रूप प्रकट हो ही नही सकता। अत. विद्वानों ने जो यह कहा है कि—जहाँ बाह्य और अन्त सौन्दर्य का सम्मिलन है, वहाँ काव्य की भावना अत्यन्त ही ऊँची रस-भूमि पर पहुँच जाती है।[4] यह केवल शृंगार, वीर आदि रसों

---

1. "…. …that an imitation is often agreeable, though the thing imitated or copied is disagreeable"
—A History of Aesthetics : Bernard Bosanquet, P. 57.

२. डा० रामरतन भटनागर तथा वाचस्पति त्रिपाठी · 'सूर-साहित्य की भूमिका', पृ० १४६, (प्रथम संस्करण १९४२)।

३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि प्रथम भाग, पृ० १६७-६८।

४ लक्ष्मीनारायण सुधांशु · 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' पृ० ७६।

में ही स्पष्टतः संभव हो सकता है, बीभत्स मे नहीं। तो क्या बीभत्स रस में काव्य की भावना अत्यन्त ही ऊँची रस-भूमि पर नहीं पहुँचती ? बीभत्स रस में अन्तः बाह्य-सम्मिलन का क्या रूप होगा ? होगा भी या नही ?

इस सम्बन्ध मे हमारा मत है कि बीभत्स रस मे जहाँ घृणा के आलम्बन की आन्तरिक कुरूपता के साथ बाह्य वातावरण की कुरूपता और आलम्बन की व्यक्तिगत कुरूपता का सामंजस्य घटित होता है. वहाँ भी घृणा भाव की अत्यन्त ही ऊँची रस-भूमि मानी जा सकती है। जैसे, एक दुराचारी व्यक्ति अपने अत्याचारों और कुकृत्यो से हमारी घृणा का पात्र बनता है। अब यदि वह कुरूप और विद्रूप भी हुआ, और साथ ही अपने दुराचार के बीभत्स अड्डे मे प्रकट हुआ, जहाँ का वातावरण भी घिनौना हो, तो उससे हमारी घृणा तीव्रतम होगी। और काव्यगत उदात्त घृणा भाव का तीव्रतम होना ही भाव की अत्यन्त ऊँची रस-भूमि की सिद्धि है। अत जहाँ हम यह कहते हैं कि अन्त.बाह्य सौन्दर्य से हमे पूर्ण आनन्द प्राप्त होता है, वहा साथ ही हमे यह भी मानना होगा कि काव्यगत बीभत्स दृश्यो के अन्तःबाह्य से कुरूप और घृणित होने पर भावानुभूति अत्यन्त ही उच्च रस-भूमि को पहुँचती है। आलम्बन अन्तर-बाह्य से जितना ही अधिक कुरूप होगा, उतनी ही अधिक भाव-सौन्दर्यानुभूति प्राप्त होगी।

बीभत्स रस मे भी बाह्य और अन्त सौन्दर्य का सम्मिलन संभव है, पर यह सम्मिलन आलम्बन में न होकर कवि की कला मे होता है। अन्तःसौन्दर्य से अभि-प्राय भाव-सौन्दर्य से होगा और बाह्य सौन्दर्य कवि या लेखक की कलात्मक अभि-व्यक्ति—शब्द, छन्द, संगीत आदि कला-तत्त्वों मे समझना चाहिए। साराश यह कि बीभत्स रस भी हमें सौन्दर्यानुभूति कराता है, और सुन्दरम् की रक्षा का ही उद्देश्य रखता है।

काव्य में अश्लीलता और बीभत्स रस

काव्य मे अश्लीलता का प्रश्न एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यद्यपि श्लील का
शष्ट, सभ्य, उत्तम आदि है और शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से अश्लील या
लता का अर्थ अशिष्ट, असभ्य, भद्दा या अशिष्टता, भद्दापन, फुहड़पन आदि
रते हैं, किन्तु काव्य में अश्लीलता का अर्थ नग्न यौन-प्रदर्शन के रूप मे रूढ हो
। हमारे प्राचीन आचार्यों ने अश्लील का व्यापक अर्थ लेकर उसे काव्य-दोष
और अश्लील शब्द-दोष, अश्लील पदत्व दोष, अश्लील प्रकरण-दोष, भावदोष
अनेक रूपो मे विवेचित किया। किन्तु अश्लीलता से अभिप्राय अधिकतर यौन-
ही रहा है।

प्रायः सभी आचार्यों ने अश्लीलता को काव्य-दोष बताया है, किन्तु मम्मट
र्य आदि ने साथ ही यह भी कहा है कि "अश्लील क्वचिद् गुणः"—अर्थात्
लता का दोष भी कही-कही गुण हो जाता है। मम्मटाचार्य का कथन है कि
दायक अश्लील अर्थ शान्त रस के प्रकरण मे गुण-विशिष्ट माना जाता है।
रण-रूप में यह श्लोक प्रस्तुत किया गया है—

उत्तानोच्छूनमण्डूकपाटितोदरसन्निभे।
क्लेदिनि स्त्रीव्रणेसक्तिरकृमेः कस्य जायते ॥३०४॥

—काव्य प्रकाश, सप्तम उल्लास।

अर्थात् "औधे मुंह सूजे हुए मेढ़क के फटे पेट के समान क्लेद (मलिन-जल)
जो स्त्रियो का वरागरूप शरीर का फटा हुआ भाग है, उसमें कीड़ों-मकोड़ों
ान कृमि (नीच प्राणियो) को छोड और कौन आसक्त हो सकता है?"

मम्मटाचार्य ने यहाँ शान्त रस का प्रकरण माना है। किन्तु शान्त रस का
विषय न होकर, वस्तुतः इस श्लोक में जुगुप्सा स्थायीभाव से बीभत्स रस ही
णित विषय में आसक्ति रखने वाले घृणित नीच प्राणियों के प्रति घृणा ही यहाँ

व्यंजित हुई है। कवि या कथन-कर्ता की स्पष्ट घृणा और ग्लानि ही यहाँ व्यक्त हुई है। यदि यही भाव सासारिकता का निषेध करके तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद और आध्यात्मिक प्रवृत्ति दिखाता तभी शान्त रस बनता। अस्तु, ऐसे शान्त और बीभत्स रस के प्रकरण में गुप्त अगो का इस प्रकार का जुगुप्सापूर्ण स्पष्ट चित्रण भी आचार्यो ने गुण स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न स्वभावत. बडा जटिल बन जाता है कि साहित्य में हम किसे अश्लील कहे, किसे श्लील। अश्लीलता की कसौटी क्या हो ?

अश्लील साहित्य की आजकल खूब वृद्धि हो रही है। इसे रोकने की समस्या आज की बड़ी जटिल समस्या बनी हुई है। परन्तु अश्लीलता का मापदण्ड हमारे पास कोई नही है, जिसके कारण न तो साहित्यकार एकमत होकर किसी रचना को अश्लील घोषित कर सकते है, न न्याय की रक्षक सरकार ही अश्लील रचना को अपने कानून की जद मे लाने मे समर्थ है। कुछ साहित्यकार साहित्य मे श्लीलता-अश्लीलता के प्रश्न को निरर्थक कहकर टाल देना चाहते है। अज्ञेय आदि[1] का कथन है कि कला की पूर्णता मे अश्लीलता का प्रश्न ही नही रहता। परन्तु कलात्मक मूल्य क्या है, और किस कलात्मक सिद्धि में अश्लीलता दोष नही रहती, यह तथ्य उक्त विद्वानो ने उद्भासित नही किया। मम्मट आचार्य ने जो 'क्वचिद् गुण.' वाली बात कही है, ये विद्वान् एक तरह उसी बात का समर्थन करते प्रतीत होते है। किन्तु उनके उक्त कथन से भी इस समस्या का समाधान नही होता, अश्लील रचनाओ के श्लील-अश्लील होने की बात या यो कहे कि अश्लील रचनाओ के कलात्मक-अकलात्मक होने की कसौटी सामने नही आती।

अश्लीलता का सम्बन्ध नग्न-यौन-प्रदर्शन से है, यह ऊपर कह चुके हैं। यह यौन-प्रदर्शन प्राय: तीन रूपो मे प्रकट होता है १. प्रेमपूर्ण वासना के चित्रण-रूप मे, २. परिस्थिति-जन्य वासना-चित्रण के रूप मे तथा ३ बलात्कार या अवैध यौन-प्रदर्शन। जब कवि या लेखक पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका के स्वाभाविक प्रेम की मन-प्राण और शरीर के एकाकार-रूप मे परिणति दिखाता हुआ यौन-चित्रण करता है, तब उसका यह चित्रण यदि सयमपूर्ण है तो अश्लील नही माना जाना चाहिए। वास्तव मे अश्लील वर्णन वही है, जो हमारा मानसिक स्खलन करता है। जब कबीर भक्ति या प्रेम के आवेश में प्रिय की सेज और एकमेक भाव से मिलन आदि की बात करते है तो इसमे अश्लीलता का तत्त्व मानकर इसे अनैतिक कहना व्यर्थ ही है। काव्य का प्रत्येक वस्तु-चित्र किसी भाव या विचार का उद्बोधक होना चाहिए। यदि किसी प्रकार का भावोद्बोध किसी वस्तु-चित्र से नही होता और केवल शारीरिक भूख या वासना उत्तेजित होती है, तो वह साहित्यिक दृष्टि से निरर्थक है और

---

१ देखिए जनवरी १९५९ की आलोचना में साहित्यिक अश्लीलता का प्रश्न

नैतिक दृष्टि से हेय, क्योंकि वासना-उत्तेजक वर्णन से यौनाचार की प्रवृत्ति बढती है, मानसिक स्खलन होता है, जो निश्चय ही वैयक्तिक और सामाजिक हानि के द्योतक हैं।

प्रेम की पराकाष्ठा के रूप मे जो संयत यौन-चित्रण हमने उचित.और कई बार वाछित बताया है उसके अतिरिक्त यदि यौन-चित्रण किसी भाव से सम्बन्ध रखता है, तो वह है घृणा। बलात्कार या अवैध यौन-चित्रण बीभत्स रस का ही विषय है। यदि बलात्कार या अवैध यौन-वर्णन अथवा परिस्थिति-जन्य वासना-चित्रण से ग्लानि या घृणा उत्पन्न करना लेखक का उद्देश्य नहीं है—स्पष्ट शब्दो मे यदि पाठक ऐसे वर्णन पढ़कर उन कृत्यों को बीभत्स और घृण्य अनुभव नही करता, अर्थात् उसके मन मे उनकी बुराई से घृणा पैदा नही होती, वह बीभत्स रसानुभूति प्राप्त नही करता तो वे यौन-दृश्य सर्वथा अनुचित है, हेय हैं, अश्लील हैं। यदि अवैध यौन-चित्रण, बलात्कार, व्यभिचार, वेश्यावृत्ति आदि पाठक के मन मे घृणा उत्पन्न कर देते हैं—इन बुराइयो से दूर रहने और समाज से इन्हे दूर करने की प्रेरणा देते हैं—तो पाठक के मानसिक स्खलन की सभावना नही रहती, बल्कि भावना के औदात्त्य के कारण मानसिक स्वास्थ्य-लाभ ही होता है। ऐसे चित्रों में ही अश्लीलता का दोष भी दोष नही माना जा सकता। प्रेम या घृणा की अनुभूति के बिना अश्लील चित्रो के मानसिक होने की बात सार्थक ही नही रहती। शान्त रस की सिद्धि में भी घृणा (विषय-वासना के प्रति घृणा) ही काम करती है। अत. सिद्ध हुआ कि काव्य मे अश्लील वर्णन वही सह्य या दोषमुक्त होगा जो हमारी प्रेम या घृणा की उदात्त वृत्तियाँ जगाएगा। उसे ही हम कलात्मक कहना चाहे तो कलात्मक भी कह सकते हैं, क्योंकि उदात्त वृत्तियो की अनुभूति ही कला या साहित्य का उद्देश्य है। यदि शारीरिक अनुभव भावनात्मक अनुभूति बन गया तो उसमे अश्लीलता नहीं रहती। शारीरिक अनुभव भावनात्मक अनुभूति दो ही रूपो मे हो सकता है--एक प्रेम और दूसरे घृणा के रूप मे।

प्रेम और घृणा की उदात्त वृत्तियो के आश्रय भी कवि या लेखक को शारीरिक वर्णन मे संयम से ही काम लेना चाहिए, क्योंकि यदि वह शारीरिक वर्णन को अधिक विस्तृत और नग्न कर देगा, तो उसकी ही मानसिक धुरि के खो जाने का डर है। उसके साथ ही उसके पाठक की भी मानसिक भावना पर शारीरिक चटक हावी हो जायगी। अत: जहाँ तक हो, सकेतो से काम चलाना ही उचित रहता है, तभी रचना सर्वथा दोषमुक्त बनी रह सकती है।

उत्तरार्द्ध

हिन्दी साहित्य में बीभत्स रस

प्राचीन संस्कृति-हिन्दी साहित्य में बीभत्स रस

●

प्राचीन संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी साहित्य में बीभत्स रस की अवतारणा यद्यपि
मात्रा में हुई है, तथापि आधुनिक साहित्य में बीभत्स रस का जैसा व्यापक
र्ण प्रकाशन हुआ है और हो रहा है, वैसा प्राचीन साहित्य में नहीं हुआ।
क प्रति आदर्शवादी दृष्टिकोण की प्रधानता रहने के कारण प्राचीन साहित्य
स रस के भिन्न-भिन्न आलम्बन कवियो और लेखको के दृष्टि-पथ से दूर ही
कर भी आदर्श की स्वरूप-रक्षा के लिए, सत्य की प्रतिष्ठा के लिए कुत्सित
सत्य की निंदा या भर्त्सना आवश्यक होती है। अतः प्राचीन साहित्य में खल-
राक्षसो, दुष्टो और दुश्चरित्र व्यक्तियों के चरित्र बीभत्स रस का विषय
ऐसे चरित्रों की परम्परा वैदिक साहित्य से लेकर समग्र प्राचीन संस्कृत-
साहित्य में प्राप्त होती है। प्राचीन लेखक, दार्शनिक और धर्मोपदेशक सब
इ और सामाजिक अभ्युदय एव निःश्रेयस की सिद्धि व्यक्तिगत धर्माचरण पर
ारित मानते थे, और सामाजिक तथा धार्मिक सस्थाओ और नियमों के प्रति
विश्वास आधुनिक युग की तरह हिला भी नहीं था, इसी से प्राचीन साहित्य
सामाजिक विकृतियो का चित्रण नहीं मिलता। अतः प्राचीन साहित्य मे बीभत्स
अकतर व्यक्ति-चरित्रो के रूप मे ही मिलता है। कपट-छल-प्रवचना, नारी पर
ार, कामुकता, पर-धन-अपहरण, अकारण द्वेष, पर-अधिकार छीनना आदि
भी बुराइयाँ प्राचीन खलपात्रों मे प्रकट हुई है, वे अधिकतर व्यक्तिगत आच-
ही द्योतक हैं, उनसे सामाजिक घृणा (सामाजिक बुराइयो के प्रति घृणा)
हरण प्राचीन साहित्य में बहुत कम प्राप्त होते हैं। हम पहले भी निवेदन कर
कि घृणा का प्रसार यथार्थ जीवन-चित्रों में अधिक होता है। प्राचीन साहित्य

मे यथार्थवाद की न्यूनता के ही कारण बीभत्स रस का विकास, विस्तार और विपुल चित्रण आधुनिक युग-जैसा नही हो पाया।

आदर्शवादी कला के आश्रय चरित्र-चित्रण के प्राय: दो बंधे हुए ढर्रे रहते थे—एक राम और उसके पक्ष का आदर्शवादी चरित्र-चित्रण, दूसरा रावण और उसके साथी राक्षसो या दुष्टो का घृणित पतित चरित्र। इन घृणित पात्रों के चरित्र संस्कृत महाकाव्यो, नाटको और आख्यायिकाओं मे प्रायः सर्वत्र पाये जाते है। रावण आदि राक्षसो के चिरपरिचित दुराचरण सब की घृणा-अनुभूति के विषय है। राजाओ और सामंतों के घृणित, उद्धत एवं कामुक चरित्रो की झाँकी संस्कृत साहित्य मे यत्र-तत्र पाई जाती है और उनमे व्यक्तिगत चरित्रो के प्रति घृणा का पर्याप्त प्रसार पाया जाता है। सामाजिक समस्याओ के रूप मे तो नहीं, हाँ, समूहगत या जातिगत घृणित आचरण के रूप मे भी अवश्य बीभत्स रस के कुछ उदाहरण संस्कृत साहित्य मे प्राप्त होते है। दण्डी-कृत "दशकुमार चरित' के द्वितीय उच्छ्वास मे विंध्याटवी मे रहने वाले ब्राह्मणो और वहा के जगली भीलो द्वारा लूट-मार आदि जघन्य कृत्य उनके प्रति घृणा जगाते है। मातग अपनी जाति के इन ब्राह्मणों के घृणित कुकृत्य का वर्णन करता हुआ कहता है कि इस विंध्याचल के भारी जगल मे कुछ ऐसे ब्राह्मण नामधारी लोग भी रहते हैं, जो वेद-पाठ आदि अपने पवित्र कार्यो को छोडकर भीलों के अगुआ बने हुए है और छल-कपट, झूठ और लूटमार मे उनके साथ सम्मिलित हैं। ये गिरोह बनाकर भीलो के साथ बस्तियो पर छापा मारते है, लोगों को लूटते है और बाल-बच्चो-समेत उन्हे पकड लाते है और अनेक यत्रणाये देते है। उनके इन क्रूरतापूर्ण कृत्यो के प्रति मातग की पूर्ण घृणा व्यजित हुई है। वह अपने बधुओ से घृणा करने लगता है और उन्हे फटकारता है। यही समूहगत घृणा रावण आदि राक्षसो के कुकृत्यों मे प्रकाशित हुई है।

दशकुमारचरित के तृतीय उच्छ्वास में सोमदत्त आपबीती सुनाता है। इस प्रसग मे राजा मत्तकाल का चरित्र घृणोत्पादक है। वह राजा वीरकेतु पर आक्रमण करके उसकी पुत्री के साथ जबरदस्ती व्याह करना चाहता है। वह वीरकेतु के सैनिकों और साथियों को जेल में ठूंस देता है। सोमदत्त को भी उसकी यंत्रणाओ का शिकार होना पडता है। इसी प्रकार पुष्पोद्भव की आत्मकथा के प्रसंग मे कामुक दारुवर्मा का चरित्र घृणोत्पादक है। वह कुकर्मी बालचन्द्रिका पर बलात्कार करना चाहता है। दिनरात दूसरो को लूटना-खसोटना और पर-नारियों का अपमान करना ही उस लम्पट का काम है। किन्तु पुष्पोद्भव उसे उसकी दुष्टता का मजा चखा देता है। संस्कृत साहित्य के ये घृणित चरित्र प्रायः एक ही ढर्रे के हैं। इनमे बीभत्स रस की प्रायः एक-जैसी सामग्री पाई जाती है।

संस्कृत-नाटकों में ऐसी रचना है जिसमे बीभत्स रस का अपेक्षाकृत अधिक प्रसार पाया जाता है करुण शृगार और बीभत्स रस की सुन्दर

त्रिवेणी इस नाटक में आद्योपान्त प्रवाहित हुई है। इसमे राजा के साले शकार का चरित्र, उसका कुकर्मपूर्ण आचरण तीव्र घृणा जगाता है। यद्यपि इसमें भी सामाजिक समस्याओं तथा घृणित सामाजिक बुराइयो के रूप मे सामाजिक घृणा नही पायी जाती, तथापि व्यक्ति-चरित्रगत घृणा का इसमें पर्याप्त विस्तृत प्रकाशन हुआ है। 'मृच्छकटिक' में तत्कालीन जीवन के कुछ यथार्थ चित्र प्रकट हुए है, पर उसे भी यथार्थवादी रचना नही कहा जा सकता।

वसन्तसेना का पीछा करता हुआ कामुक शकार आरंभ में ही हमारी घृणा का आलम्बन बनता है। प्रथम अक के दूसरे दृश्य मे ही वसतसेना उसे फटकारती है—"शन्तं शन्तं। अवेहि, अणज्ज मन्तेशि।" अर्थात् खामोश, मैं नही सुनना चाहती। दूर हटो। तुम अनार्य (अनुचित) वचन बोल रहे हो।

वसन्तसेना गलती से जब शकार के रथ पर बैठ जाती है और उसके पुष्प-करण्डक वन में पहुँच जाती है, तब शकार उसे समर्पण के लिए कहता है और कभी मारने की धमकी देता है, कभी प्रलोभन देता है। तब भी वसन्तसेना उस दुष्ट को खूब फटकारती हुई कहती है—

खल ! चरित-निकृष्ट ! जातदोष कथमिह मा परिलोभसे धनेन।
सुचरितचरित विशुद्धदेह न हि कमल मधुपाः परित्यजन्ति ॥३२॥

अर्थात् हे खल ! तू चरित्र-पतित है। दुष्ट, मुझे तू धन से लुब्ध करना चाहता है ? भला मेरा मन-भ्रमर सुन्दर चरित्र वाले और निर्मल-शरीर वाले कमल (चारुदत्त) को छोडकर कही अन्यत्र जा सकता है ?

वसन्तसेना के न मानने पर शकार उसे मार डालता है और अपने पाप को छिपाने की चेष्टा करता है। पता लगने पर विट उसे धिक्कारता हुआ कहता है—"अनेन च पतता स्त्री व्यापादिता। भो ! पाप ! किमिदमकार्यमनुष्ठित त्वया ?" अर्थात् इस पतित ने तो स्त्री को मार डाला। ऐ पापी ! तूने यह दुष्कार्य क्यो किया ?

हत्या-दोष से बचने के लिए शकार विट को धमका कर, प्रलोभन देकर अपने पक्ष में करना चाहता है। विट तब भी उसे धिक्कारता है। वह उसका कहना मानने, उसके साथ रहने से जवाब दे देता है और उसे घृणा का पात्र सिद्ध करता हुआ कहता है—

अपतितमपि तावत् सेवमान भवन्तं
पतितमिव जनोऽयं मन्यते मामनार्यम्।
कथमहमनुयाया त्वा हतस्त्रीकमेनं
पुनरपि नगरस्त्री-शकितार्द्धाक्षिदृष्टम् ॥४२॥

"तेरे साथ रहने से मुझ पापरहित को भी साधारण जनता पतित, दुर्जन या असाधु ही समझेगी। वसन्तसेना नारी के हत्यारे तथा नगर की स्त्रियों द्वारा शका और घृणा से देखे जाने वाले तेरे-जैसे पापी का मैं अब कैसे अनुसरण कर सकता हूँ ?"

उसका चारुदत्त के विरुद्ध झूठा अभियोग लगाना, चेट को बुरी तरह बाव देना आदि कार्य उसके प्रति हमारी घृणा को अधिकाधिक तीव्र करते है। हमारे हृदय मे अकुरित एव विकसित घृणा चेट के इन धिक्कार और भर्त्सना-भरे शब्दो मे पूर्णतया पुष्ट होती है—"ही ही ! अणज्ज ! वशन्तशेणिअ मालिय ण पलितुट्टेशि, शम्पद पणइजण-कप्पपादवं अज्जचालुदत्त मालइदु ववशिदेशि ?" (ही ही ! अनार्य ! वसन्तसेनिका मारयित्वा न परितुष्टोऽसि ? साम्प्रत प्रणयिजनकल्पपादपम् आर्य-चारुदत्त मारयितु व्यवसितोऽसि)।

संस्कृत-आलोचकों ने 'मृच्छकटिक' के भी दशम अक के केवल श्मशान-दृश्य मे ही बीभत्स रस बताया है। परन्तु हम प्रतिपादित कर चुके है कि शृगाल द्वारा नोचे जाते शवो का वर्णन घृणा का सचार नहीं कर सकता। ऐसी उक्तियो मे लौकिक अरुचि ही रहती है, जो काव्य का विषय नही मानी जा सकती। इस रचना मे शकार का चरित्र ही बीभत्स-रसानुभूति कराता है।

सस्कृत के कुछ काव्य तथा नाटक ऐसे है, जिनमे बीभत्स रस का आलम्बनत्व पुष्ट नहीं हो पाया है। इसी से उन काव्यो में रस-परिपाक की पूरी सगति नही बैठ पाई। "शिशुपाल वध" काव्य और "वेणीसहार" नाटक को लीजिए। 'वेणीसहार' मे दुर्योधन के घृणित आचरणो की व्यजना अपूर्ण रह गई है, और लेखक ने पाठक या दर्शक के सस्कारी मन पर ही बहुत-सी बाते छोड दी है—अर्थात् सभवत- इस खयाल से दुर्योधन के अत्याचारो को प्रकट नही किया कि महाभारत का प्रत्येक जानकार—प्रत्येक भारतीय उसे जानता ही है। यह स्थिति रस-परिपाक की दृष्टि से बहुत आपत्तिजनक है। जब तक काव्य मे आलम्बन की पूर्ण प्रतिष्ठा नही होती, तब तक पक्ष-विपक्ष का पूरा निर्णय और कवि के कथ्य के साथ तादात्म्य स्थापित होना कठिन होता है। 'वेणीसहार' में पाठक के सम्मुख दुर्योधन घृणा का पूर्ण पात्र बन कर नही आता। इसी से न तो पाठक का साधारणीकरण भीम के क्रोध से ही पूरी तरह हो पाता है, और न ही दुर्योधन के प्रति सवेदना या सहानुभूति जगती है। पक्ष-विपक्ष के स्वरूप की यह अनिश्चित स्थिति रस-दोष ही कही जा सकती है।

इसी प्रकार 'शिशुपाल वध' (महाकाव्य) मे भी कृष्ण आदि को खरी-खोटी सुनाने या गालियाँ देने के अतिरिक्त शिशुपाल के अन्य जुगुप्साकारक कृत्यों और आचरणों का विशेष चित्रण नही हुआ, जिसके कारण वह बीभत्स रस का पूर्ण पुष्ट आलम्बन कम ही बन पाता है। पाठक के संस्कारी मन के भरोसे ही सभवतः कवि ने आलम्बनत्व को अधूरा छोड़ दिया है। पर हमारा मत है कि इस प्रकार विभाव-पक्ष को अपूर्ण रखना सर्वथा अनुचित है।

'पचदशः सर्ग' मे जब वह भगवान् कृष्ण की निंदा करता है, और भीष्मादि को भी बुरा-भला कहता है तो पाठक का सस्कारी मन ही उसके कथनो की अवज्ञा

उसे अपनी घृणा का पात्र बना सकता है, अन्यथा कवि के कथ्य से उसका घृणित रूप विशेष स्पष्ट नहीं होता। यद्यपि द्वितीय सर्ग मे बलराम जी उसे कृत्रिम शत्रु सिद्ध करते है, और उसके द्वारा द्वारिका नगरी को घेरने और यदुवंशियो की स्त्री के अपहरण आदि की बात चलाते है, तो भी शिशुपाल की दुष्टता का पूर्ण परिचय पाठक को नही हो पाता। उसका 'लोक-पीडक' रूप पाठक के सम्मुख अच्छी तरह प्रस्तुत नही हो पाया है। और मैं समझता हूँ कि रस की दृष्टि से (काव्य की दृष्टि से) यही इस काव्य या महाकाव्य का बडा दोष है। यदि शिशुपाल की दुष्टता का पूर्ण सजीव साक्षात्कार पाठक को भी कराया जाता, तो पाठक या दर्शक का पूर्ण तादात्म्य कृष्ण-पक्ष से हो जाता, और उस अवस्था मे बीभत्स, रौद्र और वीर रस का जैसा सुन्दर परिपाक होता, वैसा अब नही हो पाया है। अत आलम्बन की पूर्ण सिद्धि का अभाव इस काव्य की दुर्बलता ही है। सभवत. कवि ने अपने सस्कारी मन मे पहले से ही शिशुपाल की दुष्टता का भाव धारण किया हुआ है और पाठक मे भी उसे सिद्ध मानता है, इसी से काव्य मे उसे स्पष्ट चित्रित करने की आवश्यकता ही उसने नही समझी। किन्तु हम इसे काव्यगत दोष ही मानते है। रस-सचार के लिए आलम्बनत्व की स्पष्ट प्रतिष्ठा अत्यन्त आवश्यक है।

'पंचदश. सर्ग.' मे शिशुपाल जो निन्दा करता है, वह इतनी क्षोभकारी नही कि रौद्र रस या बीभत्स रस का पूर्ण आलम्बनत्व सिद्ध करे। कवि ने स्वय इस कथन से कि "श्री कृष्ण भगवान् शिशुपाल के कटुवचन से भी विकृत (क्षुब्ध) नही हुए, क्योकि सत्य पर स्थिर रहने वाले सज्जन को (कटु) वचन से भी चचल करने मे कौन-से लोग समर्थ होते है? अर्थात् सत्यप्रतिज्ञ सज्जन को कटु वचन कहकर भी कोई क्षुब्ध नही कर सकता है"[1]—थोडी-बहुत उत्पन्न घृणा को भी ठडा कर दिया है। अतः इसके पश्चात् भीष्म और अन्य राजाओ के रोष मे रौद्र रस का विशेष आवेग नही रह जाता। आरभ के सर्ग मे नारद मुनि शिशुपाल के पूर्व चरितो—हिरण्यकशिप व रावण आदि का तो विस्तारपूर्वक कथन करते है, किन्तु शिशुपाल के कुकृत्यो का इस सर्ग मे भी विशेष उल्लेख नही हुआ है। इस प्रकार हमारा मत है कि महाकवि माघ के 'शिशुपाल वध' में बीभत्स रस का विभावपक्ष विशेष पुष्ट नही हुआ है। बीभत्स रस का विभाव-पक्ष अपुष्ट रहने से ही रौद्र और वीर रस की पुष्टि भी बहुत कम होती है। और यही विभाव-पक्ष की अपूर्णता इस काव्य का बडा दोष है।

सस्कृत के मुक्तक काव्य मे बीभत्स रस का प्रायः अभाव ही है। उसमे शृंगार,

---

१. कटुनापि चैद्यवचनेन विकृतिमगमन्नमाधवः।
सत्यनियतवचसं वचसा सुजनं जनाश्चलयितुं क ईशते ॥४०॥

शिशुपालवधम पृ० ५९२ (चौखम्बा सन् १९५५)

शात और वीर रस की ही पद्धति विशेप प्रचलित रही। बीभत्स रस-सम्बन्धी संस्कृत की यही परम्परा प्राकृत-अपभ्र श के काव्य मे दृष्टिगोचर होती है। व्यक्ति-चरित्रों के रूप मे ही वीभत्स रस का प्रकाशन प्राकृत-अपभ्र श के प्रवन्ध काव्यो मे पाया जाता है।

हिन्दी साहित्य के आदि काल में पुरानी हिन्दी या अपभ्रंश की जो रचनाएँ हुई, उनके मूल मे मुख्य प्रेरणा धर्म की ही थी। सिद्धो, नाथपंथियो तथा जैन कवियों का मुख्य उद्देश्य अपना धर्म-प्रचार करना ही था। इस धार्मिक प्रवृत्ति के आश्रय बीभत्स रस का विशेप प्रकाशन नही हो सका। इन धार्मिक कवियो के मुक्तक काव्य मे—विशेषरूप से सिद्धो और नाथो में—जो खण्डन-मडन की प्रवृत्ति पाई जाती है, उसमे कही-कही तत्कालीन धार्मिक बुराइयों की निंदा वीभत्स रस का विषय बनी है। धार्मिक रूढियो और बुराइयो को फटकारने की इस परम्परा का समुचित विकास आगे चल कर हिन्दी की सत-काव्य-धारा मे हुआ।

जैन-कवियो की प्रबंध रचनाओ में स्वयभू का "पउमचरिउ" विशेष महत्त्व की रचना है। जैन प्रबन्धकाव्यो मे भी वीभत्स रस का जो थोडा-बहुत प्रकाशन हुआ है वह केवल व्यक्ति-चरित्रो के रूप में ही हुआ है। इन काव्यो मे कई स्थानो पर प्राचीन रामायण, महाभारत आदि की कथाओ को भिन्न-भिन्न रूपो मे भिन्न-भिन्न ढग से प्रस्तुत किया गया है। स्वयभू के 'पउमचरिउ" मे रामकथा का वह रूप नही है, जो तुलसी के 'मानस' मे है। तुलसी के रावण अत्यन्त घृणित दानव या राक्षस है, परन्तु स्वयभू का रावण दनुज जाति का बनि राजा प्रतीत होता है। इसीलिए उसके तथा उसके सहयोगियो के प्रति वैसी तीव्र घृणा 'पउमचरिउ' मे उत्पन्न नही होती, जैसी 'रामचरितमानस' मे। फिर भी रावण द्वारा सीता-हरण और सीता को पाने की इच्छा उसके प्रति कुछ घृणा जगाती है। 'पउमचरिउ' मे मदोदरी रावण की दूति बनकर सीता के पास जाती है, और रावण की प्रशंसा करती है। इस पर जानकी सीता उसकी भर्त्सना करती हुई कहती है—'हला, हला, तुमने क्या कहा, एक भद्र महिला के लिए यह उचित नही है, तुम रावण का दूतिपन क्यो कर रही हो ? इस तरह मेरी हसी मत उडाओ, जान पडता है तुम्हारी किसी परपुरुष मे इच्छा है, इसी से यह दुर्बुद्धि मुझे दे रही हो। तुम्हारे यार के माथे पर वज्र पडे, मैं तो अपने पति मे दृढ भक्ति रखती हूँ।'[1] इस प्रसग मे घृणा भाव का ही प्रकाशन

---

१. "हलें हलें काइँ काइँ पईं वुत्तउ। उत्तिम-णारिहें पउ ण जुत्तउ ॥३॥
किह दइयहों दूअत्तणु किज्जइ। एण णाइँ महु हासउ दिज्जइ ॥४॥
मंछुड तुहुँ पर-पुरिस-पइट्ठी। तें कज्जें महु देहि दुबुद्धि ॥५॥
मत्थएँ पडउ वज्जु तहों जारहों। हउँ पुणु भत्तिवन्त भत्तारहों ॥६॥

—पउमचरिउ, द्वितीय भाग, अयोध्याकाण्ड

हिन्दी अनुवाद सहित अनुवादक श्री देवेन्द्रकुमार जैन (प्रथम) पृ० २५६ ५७

हुआ है । सीता के सम्मुख रावण के प्रस्ताव और सीता की भर्त्सना में भी कुछ घृणा पाई जाती है । रावण सीता से कहता है—देवी, परमेश्वरी ! मुझ पर कृपा करो, मैं किसी बात में हीन हूँ क्या ? सौभाग्य या भोग मे हीन हूँ क्या ? या अर्थ-हीन हूँ ? क्या सौन्दर्य या रग मे कम हूँ, क्या सम्मान, दान, युद्ध की दृष्टि से हीन हूँ,कहो किस कारण से तुम मुझे नहीं चाहती ? और जिससे तुम महादेवी के पद की भी इच्छा नही करती ?" तब राम की गृहिणी सीता ने रावण की भर्त्सना करते हुए कहा—

'रावण, मेरे सामने से हट, तू मुझे पिता के बराबर है । ... जब तक तुम्हारी अकीर्ति का डका नही बजता, जबतक लका नगरी नही ध्वस्त होती,...जब तक युद्ध-स्थल मे कबध नही नाचते, जब तक तुम युद्ध मे बाणो से नही काटे जाते तब तक हे राजन ! तुम राम के पैरों मे पड जाओ ।"[1]

रावण फिर घृणित प्रस्ताव करता है । सीता को लोभ देता है, अपना ऐश्वर्य जताता है । तब फिर सीता देवी ने भर्त्सना करते हुए रावण को उत्तर दिया, "अरे, मुझे कितनी अपनी ऋद्धि दिखाता है, अपने लोगो को ही दिखा । यह जो तुम्हारा राज्य है, वह मेरे लिए तिनके की तरह तुच्छ है, चन्द्रमा की तरह सुन्दर जो यह नगर है, वह मेरे लिए मानो यम-शासन की तरह है । और जो तुम बार-बार अपने यौवन का प्रदर्शन कर रहे हो, यह मेरे लिए विष-भोजन की तरह है । और जो यह मेखलासहित कण्ठा और कटक है, शीलविभूषिता के लिए केवल मल है । सैकड़ो रथवर, तुरंग और गज भी जो है उन्हे मै कुछ भी नही गिनती । उस स्वर्ग से भी क्या जहाँ चारित्र्य का खण्डन हो ! यदि मैं शील से विभूषिता हूँ तो मुझे और क्या चाहिए ?"[2]

वास्तव मे स्वयंभूदेव ने रावण, चन्द्रनखा (रामायण की शूर्पणखा), खर-

---

१. 'विरणत्तिएँ पसाउ परमेसरि । हउँ कवरणेण हीण सुर-सुन्दरि ॥५॥
कि सोहग्गें भोग्गें ऊणउ । कि विरुयउ कि अत्थ-विहूणउ ॥६॥
कि लावण्णें वण्णें हीणउ । कि संमाणें दाणें रणें दीणउ ॥७॥
कहे कज्जेण केण ण समिच्छहि । जें महएवि-पट्टु ण पडिच्छहि' ॥८॥

घत्ता

राहव-गेहिणिऐं णिब्भच्छिउ णिसियर-राणउ ।
ओसरु दहवयण तुहुँ अम्हहुँ जणय-समाणउ' ॥९॥

"जाम ण अयस-पडहु उब्भासइ । जाम ण लकाणयरि विणासइ ॥२॥
जाम ण आहयणें कपिज्जहि वर-णारायहिँ ।
ताव णराहिवइ पडु राहवचन्दहों पायहि" ॥९॥

—वही पृ० ३५८—६१ ।

२ वही पृ० ३७०–७१

दूषण आदि का चरित्र विशेष घृणोत्पादक नही दिखाया है। इसीसे उनके प्रति घृणा का भाव विशेष प्रबल रूप मे नही जगता। स्वयंभू के दृष्टिकोण में और तुलसी के दृष्टिकोण मे आकाशपाताल का अन्तर है। यह इस उदाहरण से ही स्पष्ट हो जायगा। तुलसी जहाँ राम-विरोधियों को दुष्ट-रूप में चित्रित करते है, वहा स्वयभू ऐसा नही करते। स्वयभू के मन म राम-लक्ष्मण के प्रति भी वह पूज्य-भाव तो दूर, उच्च सम्मान का भाव भी नही है, जो तुलसी की भक्ति-भावना को ग्राह्य रहा है। सुग्रीव के सम्मुख खर-दूषण के इस परिणाम की जो कहानी कही गई है वह इस प्रकार है—"राम और लक्ष्मण नामक, दशरथ के दो पुत्र बनवास के लिए आये है। उनमे लक्ष्मण अत्यन्त दृढ मन का है और उसने शम्बूककुमार का सिर काट डाला है और बलपूर्वक उसने देवो से सूर्यहास खड्ग छीन लिया है। उसी ने चन्द्रनखा का यौवन कलंकित किया जिससे रोती-बिसूरती हुई वह जयलक्ष्मी से विभूषित खर और दूषण के पास आई। तब उन दोनो ने आकर लक्ष्मण से युद्ध ठाना। परन्तु उसने तत्काल इनके दो टुकड़े कर दिये।"[1]

युद्ध के कारण का यह वर्णन इतनी तटस्थता से प्रकट हुआ है कि राम-लक्ष्मण की चारित्रिक महानता विलुप्त-सी हो गई है। इसी कारण सुग्रीव अपने मन मे तर्क करता है कि "क्या वह अपने शत्रु माया (नकली) सुग्रीव पर विजय पाने के लिए राम-लक्ष्मण की शरण मे जाय ? क्या हनुमान की शरण मे जाऊँ ? क्या रावण की अभ्यर्थना करे ? नही, खर-दूषण का मान-मर्दन करने वाले राम-लक्ष्मण की शरण मे जाना ही ठीक है।"[2] इससे स्पष्ट है कि लेखक का उद्देश्य राम-लक्ष्मण के पक्ष की तुलना मे रावण आदि विपक्षियो को बहुत गिरा हुआ चित्रित करना नही है, इससे उनके चरित्र और कार्यों के प्रति तीव्र घृणा उत्पन्न नहीं होती।

---

१. "कों वि दसरहु तहों सुअ वेण्णि जण। वण-वासें पइट्ठ विसण्ण-मण ॥४॥
सोमित्ति क्को विचित्तेण थिरु। तें सम्बुकुमारहों खुडिउ सिरु ॥५॥
असि-रयणु लइउ तियसहुँ वलिउ। चन्दणहिहे जोव्वणु दरमलिउ ॥६॥
कुवारें गय खर-दूषण हुँ। अजयहुँ जय-लच्छि-विहूसणहुँ ॥७॥
अब्भिट्ट ते वि सहुँ लक्खणेण। णेण वि दोग्गाविय तक्खणेण" ॥८॥
—वही पृ० २-४ (भाग ३)

२. 'एहएँ अवसरें को सभरमि। कि हणुअहों सरणु पईसरमि ॥३॥
तेण विरिउ जिणें वि ण सक्कियउ। पच्चेल्लिउ हउ णिरत्थु कियउ ॥४॥
कि अब्भत्थिज्जइ दहवयणु। णं णं तिय-लम्पडु लुद्ध-मणु ॥५॥
× × ×
खर-दूसण-देह-विमद्दणहुँ। वरु सरणु जामि रहु-णन्दणहुँ ॥७॥
—वही, पृ० ४५

कहीं-कहीं प्रासंगिक कथाओं के खलनायकों के अमानुषीय कृत्यों के प्रति भी इसमें घृणा उत्पन्न होती है। दधिमुख विद्याधर की तीन सुन्दरी कन्याओं की कामना करने वाले सुरतिप्रिय राजा अंगारक ने दधिमुख के पास अपना दूत भेजकर कहलाया, "यदि तुम भला चाहते हो तो शीघ्र ही तीनों कन्याएँ मुझे दे दो। दधिमुख के अस्वीकार करने पर अंगारक रुष्ट हो जाता है। जब वे कन्याएं देव-अराधना के लिए वन में गई हुई थीं, तो अँगारक ने उस वन में चारों ओर आग लगा दी।[1] इस प्रकार के दुष्टतापूर्ण आचरण वाला अँगारक हमारी घृणा का ही पात्र बनता है।

आदिकाल के रासो ग्रंथों में भी बीभत्स रस का चित्रण कहीं-कहीं ही पाया जाता है। वास्तव में युद्ध-वीर और शृंगार रस ही इनका मुख्य विषय रहा। राजाओं की लड़ाइयों और युद्धों के वर्णन का इन चारण कवियों को बड़ा चाव था। इनके द्वारा वर्णित राजाओं की वीरता में भी विशेष औदात्य नहीं है। अधिकतर लड़ाइयाँ अकारण ही आपसी फूट वंशाभिमान या कन्या के विवाह आदि के कारण हुई है, जिनमें उद्देश्य की क्षुद्रता के कारण विशेष वीरत्व की अनुभूति नहीं होती। कहीं-कहीं तो यह वीरता बीभत्स काण्ड ही उपस्थित कर डालती है। इस काल की सर्वप्रमुख रचना 'पृथ्वीराजरासो' में इस तथाकथित युद्ध-वीरता का एक बीभत्स चित्र देखिए। पृथ्वीराज के दरबार में सात चालुक्य वीर राजकुमार सम्मान प्राप्त किए हुए थे। एक दिन जबकि पृथ्वीराज अपने सामंतों-सहित सभा किए बैठा था, तब अचानक सभा में हलचल मच गई। आपस में मार-काट और खून-खराबे का बीभत्स दृश्य उपस्थित हो गया। सभा में बैठे चालुक्य प्रतापसिंह ने यों ही अपनी मूछों पर हाथ दिया। बस फिर क्या था, 'चहुआन कन्ह' उसका सिर धड़ से एकदम अलग कर देते है। भला चौहान कन्ह के सामने कोई चालुक्य अपनी मूछों पर हाथ रख सकता है? प्रतापसिंह की मृत्यु पर उसके भाई भी टूट पड़ते हे। पलभर में महा-भारत युद्ध खड़ा हो जाता है। कन्ह-पक्ष के चौहान सामन्त सातों चालुक्य भाइयों और उनके साथियों को मार-काट डालते है। वाह रे शौर्य-अभिमान और कुल-गर्व! निश्चय ही इस प्रसंग में बीभत्स रस की पूर्ण व्यंजना हुई है। ऐसा अकारण युद्ध-काण्ड घृणा का ही विषय है। पलभर में लाशों का ढेर लग गया, "योगनियों ने रुधिर से खप्पर भर लिये, गिद्धनियों ने माँस खा कर डकारा, गले में मुण्डमाला धारण कर के पार्वती-सहित शंकर नृत्य करने लगे—"

> पत्र भरे जुग्गिनि रुहिर, ग्रिध्धिय मंस डकारि।
> नच्यौ ईस उमयासहित, रुण्डमाल गल धारि ॥२३॥[2]

---

१. देखिए, वही पृ० ८४-८६।

२. 'पृथ्वीराज रासो' प्रथम भाग (सम्पादक कविराज मोहनसिंह, प्रथम संस्करण, २०११ वि०)। पृ० ४१०।

यह मांस-रुधिर का दृश्य बीभत्स रस का स्वतन्त्र विषय नही है, यह केवल ग्लानि सचारी का द्योतक है, क्योंकि अकारण युद्ध (जो घृणा का मूल विपय है) का यह बीभत्स परिणाम इन्द्रियज ग्लानि उत्पन्न करके घृणा स्थायी भाव को ही पुष्ट करता है।

यद्यपि अज्ञात रूप से कवि का उद्देश्य कन्ह को स्पष्टत' घृणा का आलम्बन बनाना नही है, और इसी से उसकी प्रतिक्रिया केवल हलकी फटकार (उलाहना) के रूप में पृथ्वीराज के निम्न कथन मे प्रकट हुई है, तथापि पाठक इस दभी और नृशस चौहान के प्रति घृणा से खूब भर जाता है। महाराज पृथ्वीराज उसे उसके कृत्य पर उलाहना देते हुए कहते है कि आपने ऐसा कलकपूर्ण कार्य क्यो किया ? सब यही कहेगे कि चौहानो ने अकारण ही चालुक्यो को मार डाला। वे चालुक्य तो आपत्ति के मारे हमारे घर आए थे, तिस पर आपने ऐसा अत्याचार किया ! आपके सिर यह दोष लग गया है और यह बुरी बात सारे संसार मे फैल गई है—

> तुम ऐसी क्यौ करौ, अप्पसिर चढिय सु काई।
> कहि है सब चहुआन हते चालुक्य सु राई॥
> आएति बिखे अप्पनसु घर, सौ रावर ऐसी करिय।
> इह दोस अप्प लग्गौ खरौ, बत्त बित्थरिय जग बुरिय॥४२॥[१]

ऐसे क्षुद्र कुल-अभिमान, शौर्य्य-अभिमान और आपसी फूट के ही कारण भारत का पतन हुआ था और देश परतन्त्रता की बेडियों मे जकड़ा गया था।

'पृथ्वीराजरासो' मे शहाबुद्दीन गौरी हमारी घृणा का प्रमुख पात्र है। नासिरुद्दीन को निर्वासित कर देना, पृथ्वीराज से वैर ठानना, अनेक बार चढाई करना और परास्त होकर पकडा जाना एवं दण्डित होकर छूटना, कई बार छद्म-युद्ध करना, चालुक्येश्वर के दूत सारगदेव को मार डालना आदि उसके कृत्य घृणोत्पादक है। ऐसे विदेशी शत्रु की सहायता करने वाले जयचन्द और उसका भाई वीरचन्द आदि भी हमारी घृणा के ही पात्र हैं।

इस काल की अन्य 'रासो' रचनाओ मे बीभत्स रस की और भी न्यूनता है। 'बीसलदेव रासो' तो प्राय. शृङ्गार रस से ही सम्बन्धित है, 'परमाल रासो' (आल्ह-खण्ड) मे भी बीभत्स रस का विशेष प्रकाशन नही। 'हम्मीर रासो' अप्राप्य ही है। अस्तु, कहा जा सकता है कि आदिकाल मे बीभत्सरस की सामग्री छुट-पुट रूप में ही कही-कही प्राप्त होती है। सामंतीय और धार्मिक परिस्थितियो में जीवन की यथार्थता चित्रित नही हो पाई, जिसके कारण बीभत्स रस का प्रकाशन बहुत कम हुआ।

भक्तिकाल में भी बीभत्स रस गौण रूप में कही-कही प्रकाशित हुआ है। इस

---

१ वही पृ० ४१२।

काल के कृष्ण-भक्त कवियों ने कंस के अत्याचारी तथा कृष्ण के कंसदमनकारी रूप से विशेष प्रयोजन न रखकर नवनीतप्रिय रास-रसिक कृष्ण को ही मुख्यतः अपना आलम्बन रखा। प्रेम और भक्ति के सिवा अन्य भावों का प्रकाशन करने में इनकी प्रवृत्ति न हुई। इसी से बीभत्स रस का कृष्ण-काव्य मे अभाव ही है। रामकाव्यधारा मे अवश्य घृणा का कुछ प्रसार पाया जाता है। राम-चरित्र से सम्बन्धित प्रबन्ध-काव्यों मे खल-प्रकृति के राम-विरोधी पात्र घृणा के आलम्बन बने हैं। इसी प्रकार सूफी प्रबन्ध-काव्यों मे जहाँ-जहाँ खल-नायकों की अवतारणा हुई है वहाँ-वहाँ बीभत्स रस की अनुभूति पाई जाती है। 'पद्मावत' मे अलाउद्दीन, राघवचेतन, राजा देवपाल तथा उसकी कुटनि हमारी घृणा के ही पात्र है। अहंकारी ब्राह्मण राघवचेतन अपने देश-निर्वासन का बदला लेने के लिए दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन को चित्तौड पर चढाई करने के लिए भड़काता है और उसे पद्मिनी का लोभी बना देता है। पद्मावती का लोभी तथा कपटी अलाउद्दीन हमारी तीव्र घृणा का आलम्बन बनता है। वह छल-कपट से राजा रत्नसेन को पकड़ कर दिल्ली ले जाता है। कुंभलनेर का राजा देवपाल रत्नसेन से अपनी शत्रुता निकालने के लिए रत्नसेन की अनुपस्थिति मे उसकी पत्नी को फुसलाकर अपने कब्जे में करना चाहता है। वह इस कार्य के लिए एक वृद्धा दूती को नियोजित करता है। इस प्रकार वह हमारी घृणा का आलम्बन बनता है। दूती का आचरण हमारी घृणा को और भी तीव्र करता है। ज्यों-ज्यों वह पद्मावती से बहकाने की बाते करती है, त्यों-त्यों उसके प्रति हमारी घृणा तीव्र होती जाती है। वह पद्मावती के यौवन और रूप की दुहाई देती हुई उसे भोग-विलास का पाठ पढ़ाना चाहती है और स्वपति के अभाव मे पर-पुरुष-रस चखने की सलाह देती है—

> पदमावती ! सो कौन रसोई। जेहि परकार न दूसर होई।
> रस दूसर जेहि जीभ बईठा। सो जानै रस खाटा मीठा।।
> भँवर बास बहु फूलन्ह लेई। फूल बास बहु भँवरन्ह देई।
> दूसर पुरुष न रस तुइ पावा। तिन्ह जाना जिन्ह लीन्ह परावा।।[1]

दूती जब देवपाल का बखान करती है और सब प्रकार की मर्यादा को लाघ जाती है, तो पद्मावती और उसकी दासियाँ उसकी खूब खबर लेती हैं। उसका मुँह काला करके उसे गधे पर चढ़ाती है और दुष्ट कुटनी को कूट-कूट कर कुटनी बना देती है—

> फेरत नैन चेरि सौ छूटी। भइ कूटन कुटनी तस कूटीं।।
> नाक-कान काटेन्हि, मसि लाई। मूड़ मूड़ि कै गदह चढाई।।[2]

---

१. जायसी-ग्रंथावली—(सम्पादक आ० रामचन्द्र शुक्ल, पंचम संस्करण), पृ० २७२।

२ वही पृ० २७४

इस प्रसग में बीभत्स रस का सुन्दर प्रकाशन हुआ है। सूफी प्रबन्ध-कथाओं में इस प्रकार व्यक्ति-चरित्रो के सहारे बीभत्स रस का यत्र-तत्र चित्रण हुआ है। इसी प्रकार तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' तथा अन्य प्रबन्ध रचनाओं मे दुष्ट और खल-प्रकृति के राक्षस आदि घृणा के आलम्बन है।

तुलसीदासजी के 'रामचरितमानस' मे राम-विरोधियों के प्रति तुलसी की घृणा स्पष्ट व्यक्त हुई है। अयोध्या काण्ड मे मंथरा दासी और रानी कैकेयी हमारी घृणा का आलम्बन बनती हैं। किन्तु काव्य की दृष्टि से 'रामचरितमानस' मे तुलसी की अतिशय भक्ति-भावना और अलौकिकता कई स्थानों पर रस-व्याघात उत्पन्न करती है। तुलसीदासजी ने 'गई गिरा मति फेरि' कहकर घृणा के इन आलम्बनो को हल्का बना दिया। तुलसीदासजी की अलौकिक कल्पना के अनुसार देवताओ ने सरस्वती देवी के चरणों मे विनय की कि हमारी विपत्ति को देखकर वही कीजिए जिससे राम वन को चले जाएँ और देवताओं का सब कार्य सिद्ध हो। इस प्रकार देवताओं की प्रार्थना सुनकर और आगे के शुभ कार्य का विचार करके सरस्वती ने ही मथरा की बुद्धि फेर दी। अत. देव-वाछा की यह कल्पना मथरा को इतना दोषी नहीं रहने देती। मथरा के प्रभाव में आकर राम को निर्वासित करने वाली कैकेयी भी इसी दैव-सम्बन्ध से तीव्र घृणा का आलम्बन नही बन पाती। निश्चय ही आलम्बनत्व की यह अपूर्ण प्रतिष्ठा रस-दोष ही है। इन दैविक या अलौकिक कल्पनाओ के कारण तुलसी के पात्रो का स्वतन्त्र व्यक्तित्व और चरित्र पनप नही पाता। फिर भी इस कल्पना का ध्यान कम होने पर मंथरा और कैकेयी के प्रति घृणा जगती ही है। अनेक प्रकार की कुटिल बातें गढ़-छोलकर वह कैकेयी के मन मे भी भेद पैदा कर देती है। उस नीच-बुद्धि ने कितनी कुटिलता की कि राम-सीता को सुख के समय दुख दिया—

कैकयनदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहि रघुनदन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह ॥९१॥

भरत के अयोध्या आने पर, जबकि समस्त नगरी, सेवक-परिजन आदि शोकाकुल होते है, तब कैकेयी का हर्ष प्रकट करते हुए भरत का स्वागत करना, कपटपूर्ण आँसू भरकर यह कहना कि मैंने सारी बात बना ली थी, पर बीच मे राजा के परलोक सिधारने से जरा-सा काम बिगड़ गया, उसकी दुष्टता और हृदयहीन स्वार्थ-परायणता का अत्यन्त घृणित रूप है। उसकी पाप-कथा सुनकर शोकाकुल भरत भी उसके प्रति घृणा से भर जाता है, पुत्र भी इस जघन्य कार्य पर माता को धिक्कारता है—'पापिनी, तूने यह क्या किया! वर माँगते समय तेरी छाती क्यो नही फट गई, मन में ऐसा बुरा विचार आते ही पीड़ा क्यों नही हुई? जीभ गल नही गई? इस मुँह मे कीड़े नही पड गये?

धीरज धरि भरि लेहि उसासा । पापिनि सबहि भाँति कुल नासा ।।
जौ पै कुरुचि रही अति तोही । जनमत काहे न मारे मोही ।।
पेड़ काटि तै पालउ सीचा । मीन जिअन हित बारि उलीचा ।।
... .
जब तै कुमति कुमत जियँ ठयऊ । खड-खड होइ हृदउ न गयऊ ।।
बर माँगत मन भइ नहि पीरा । गरि न जीह, मुँह परेउ न कीरा ।।
(अयोध्याकाण्ड, सत्रहवाँ विश्राम)

इस उद्धरण की पहली पक्ति से स्पष्ट है कि शोकाकुल भरत पिता की मृत्यु और राम-लखन-सिय के बनगमन की सूचना पाकर पहले शोक-विह्वल होते हैं, और पाठक को करुण रस मे निमज्जित करते है, फिर कुछ क्षणो के बाद माता के अनुचित तथा धर्मविरुद्ध आचरण से दुखी होकर शोक को धैर्यपूर्वक सम्भालते है और घृणा से भरकर माता को फटकारते है। पाठक भी कैकेयी के कुकृत्य का आलम्बन पाकर अब करुण रस की अपेक्षा बीभत्स रसानुभूति प्राप्त करता है, बल्कि कहना चाहिए कि आलम्बन-भेद से करुणरस के साथ-साथ बीभत्सरसानुभूति प्राप्त करता है। यहाँ घृणा को शोक स्थायी का सचारी मानना भूल होगी। कैकेयी के आलम्बनत्व मे उसकी स्वतंत्र सत्ता स्पष्ट है। जब पुत्र भी माता के बुरे कार्य की निन्दा करता है, तो हमारी नैतिक भावना को अधिक पुष्टि मिलने से यहाँ बीभत्स रस की तीव्रानुभूति होती है।

भरत को घृणा का यह आलम्बन (अपनी माता) जरा नही सुहाता। वह कैकेयी को यहाँ तक कह देते है—आह ! श्रीराम भी तुझे बैरी लगे ? सच बता, तू कौन है ? क्या माता है ? तू जो हो, अब मुँह मे स्याही पोत कर मेरी आँखो से दूर बैठ—

भे अति अहित रामु तेउ तोही । को तू अहसि सत्य कहु मोही ।।
जो हसि सो हसि मुँह मसि लाई । आँखि ओट उठि बैठहि जाई ।।

उसी समय भाँति-भाँति के वस्त्राभूषणो से सज कर कुबरी मथरा वहाँ आती है। उसका इस प्रसग पर सजधजकर आना उसकी कुटिलता को और भी स्पष्ट करता है तथा उसके प्रति हमारी घृणा को और बढ़ाता है। शत्रुघ्न देखते ही एक लात मारकर इस सजी हुई पाप-मूर्ति का स्वागत करते है .

तेहि अवसर कुबरी तहँ आई । बसन बिभूषन बिबिध बनाई ।।
लखि रिस भरेउ लखन लघु भाई । बरत अनल घृत आहुति पाई ।।
हुमगि लात तकि कूबर मारा । परि मुँह भर महि करत पुकारा ।।

यद्यपि शत्रुघ्न रिस (क्रोध) से भरकर ही उसे मारते है, पर पाठक के लिए वह घृणा का ही आलम्बन है। अत शत्रुघ्न के क्रोध से यहाँ रौद्र रस की स्थिति

मानना भ्रान्ति होगी। हम पहले भी निवेदन कर चुके है कि रौद्र रस का आलम्बन प्रत्यक्ष अनिष्ट या अनिष्टकारी पात्र ही हो सकता है। मथरा का इस समय आगमन हमारे क्रोध का नही, घृणा का ही विषय है। अत यहाँ बीभत्स रस की ही पुष्टि होती है। शत्रुघ्न का क्रोध हमारी घृणा को उचित प्रतीत होता है, और हम भी क्रोध सचारी का अनुभव करते है, घृणा की ही तुष्टि पाते है।

इसके अतिरिक्त 'रामचरितमानस' मे और भी अनेक स्थानो पर बीभत्स रस-प्रसार पाया जाता है। शूर्पणखा-प्रसग, रावण-द्वारा सीता-हरण, रावण का सीता के प्रति आग्रह आदि अनेक प्रसगो मे बीभत्स रस की सुन्दर अवतारणा हुई है। तुलसीदासजी ने स्थान-स्थान पर राम-विरोधियों और मर्यादाहीनो को आड़े हाथो लिया है। तुलसीदासजी की 'कवितावली' तथा इस युग के अन्य रामचरित-काव्यो मे भी इसी प्रकार व्यक्ति-चरित्रो के प्रति घृणा प्रकट हुई है। वास्तव में भक्तिकाल मे सर्वाधिक बीभत्स-रस-प्रकाशन राम-काव्य (विशेषतः 'मानस') मे ही पाया जाता है।

प्राचीन रामकाव्य-धारा मे केशव की 'रामचन्द्रिका' भी महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमे भी बीभत्स रस के छुट-पुट उदाहरण मिलते है। केशवदासजी ने मथरा की कुटिलता और कैकेयी के स्वार्थ का वह मनोवैज्ञानिक वर्णन नही किया है, जो 'रामचरितमानस' या 'साकेत' में पाया जाता है। केशवदासजी ने यह प्रसग केवल इन पक्तियों मे चलता कर दिया—राम के राज्याभिषेक की बात भरत-जननी ने सुनी, तो उसने विचार किया कि मै राम को वन भेजूगी। अत भवन मे जाकर कैकेयी ने राजा दशरथ से अपना वर माँगा—

'नृपता सु बिसेम भरत्थ लहै। वरषै बन चौदह राम रहै॥"

इसीलिए 'रामचन्द्रिका' मे मथरा के प्रति घृणा का तो प्रश्न ही नही उठता, कैकेयी के प्रति भी केवल भरत के आगमन पर कुछ घृणा जगती है। भरत के आने पर माता-पुत्र का यह सक्षिप्त उत्तर-प्रत्युत्तर मनोवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता—

मातु, कहाँ नृप ? तात, गये सुरलोकहि, क्यो ? सुत शोक लये।
सुत कौन सु ? राम, कहाँ है अवै ? वन लच्छमन सीय समेत गये॥
वन काज कहा कहि ? केवल मों सुख, तोको कहाँ सुख यामे भये ?
तुम को प्रभुता, धिक तोको कहा अपराध बिना सिगरेई हये॥४॥[1]

अन्तिम पक्ति मे ही कैकेयी को धिक्कारा गया है। वास्तव मे उसके स्वार्थ और कुटिल आचरण का मनोवैज्ञानिक चित्रण न होने से वह घृणा का विशेष आलम्बन नही बन पाई। आगे भी कवि ने तुलसी के विपरीत, उसकी कुटिलता की निन्दा कही नही की।

'रामचरितमानस' की तरह ताड़का, रावण और उनके साथी राक्षस सब इस

---

१ पृ० १५६ (सपादक ला० सप्तम आवृत्ति)

रचना में भी हमारी घृणा के पात्र है। रावण धनुप-यज्ञ-प्रसंग से ही हमारी घृणा का आलम्बन बन जाता है। उसकी थोथी गर्वोक्तियाँ, अहंकार, सीता-हरण, अशोक-वाटिका मे सीता से प्रस्ताव करना आदि आचरण घृणोत्पादक है। इसी प्रकार कलुषित प्रस्ताव करने वाली सूर्पणखा, ऋषियो-मुनियो को सताने वाले वाणासुर, ताडका आदि राक्षस सब बीभत्स रस के आलम्बन है। रावण-अगद-सवाद प्रसंग मे अगद का एक-एक शब्द फटकार से भरा हुआ है। वह रावण को धिक्कारता और समझाता हुआ कहता है—रे मूढ़ रावण ! तू अब तक मोह मे ही पडा है, तू ने इ ने भोग-विलास किए है, तो भी तेरी तुष्टि नहीं हुई, अब मृत्यु का समय निकट है, मूर्ख, अब भी चेतता नही, तेरा चित्त अभिमान पर ही चढ़ा है। हे रावण ! चेत जा। तेरा यह ठाठ, ये हाथी-घोड़े, साज-समाज, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र सब विनष्ट हो जायेगे, यमपुरी को अकेले ही जाना होगा—

चेतत नाहि रह्यौ चढि चित्त सो चाहत मूढ चितहू चढ्यौ रे ॥२४॥
हाथी न साथी न घोरे न चेरे न गाउँ न ठाउँ कुठाउँ विलै है।
तात न मात न पुत्र न मित्र न वित्त न तीय कहूँ संग रैहै॥
चेति रे चेति अजौं चित अतर अतक लोक अकेलोइ जैहैं ॥२५॥[1]

पर कभी रावण कब मानने वाला था। उसका अभिमान घृणा की पूर्ण अनुभूति कराता है। अन्त मे अगद इस घृणित पात्र को ठोकर लगा कर और उसका मुकुट उतार कर चलता है, 'मानो यमलोक के लिए रावण का प्रस्थान रखने जाता हो।'

'रामचन्द्रिका' के उत्तरार्द्ध मे केशवदासजी ने एक ऐसे प्रसग की कल्पना की है, जिसमे मठधारी दुश्चरित्र व्यक्तियो की निन्दा की गई है। अपने युग मे केशवदास ने मन्दिरों के दुश्चरित्र पुजारियों तथा मठाधीश महन्तो की विकृति का अनुभव किया होगा, तभी इस प्रसग की उद्भावना हुई है। राम के दरबार में एक कुत्ता फरियाद करता है कि अमुक ब्राह्मण ने मुझे अकारण ही मारा। वह ब्राह्मण के लिए स्वयं दण्ड की व्यवस्था देता है और सब दण्ड छोड़कर उसे किसी मठ का महन्त बना देने की प्रार्थना करता है। सभासद उससे पूछते है कि तूने इस ब्राह्मण को जो यह पदवी दिलवायी सो यह दण्ड है या कृपा है ? तब कुत्ता एक मठधारी का वृत्तान्त सुनाता है, जो मन्दिर मे किसी बड़े आदमी के आने पर—खूब भेट चढने की आशा मे—तो ठाकुरजी का सिंगार करता, अन्यथा ठाकुरजी की जात भी न पूछता था। वह मठधारी भेट-चढौनिया खूब पाता और उस धन से नित्य नवीन प्रकार के भोग-विलास करता था। कुत्ता सुनाता है कि मठधारी नानाप्रकार के भोजन बनवाता था। एक दिन मेरे पिताजी ने उसके तथा उसके मेहमान के आगे भोजन परोसा। भोजन

---

१ वही पूर्वार्द्ध, पृ० २९५-९६

कराकर जब पिताजी घर आए तो उस मठधारी का जरा-सा घी, जो पिताजी के नाखून मे रह गया था, मेरे दूध-भात मे छूने से पिघल कर पड गया और वह घी मुझ से खाया गया। उसी दोष से मै अनेक नरको का भागी हुआ। इस प्रकार मैं अनेक योनियों में भ्रमता अब अयोध्या मे आकर कुत्ता हुआ हूँ। (मठधारियो का द्रव्य खाने से मेरी यह गति हुई तब स्वय मठधारी की क्या दशा होती होगी, सो आप लोग स्वय अनुमान कर लें)। जो मठपति होता है, वह अपना यह लोक भी कलंकित करता है और उस लोक मे जाकर नरकवास पाता है। वह इतना पापी माना जाता है कि जो कोई उसे छुए उसका भी पुण्य नष्ट हो जाता है—

लोक कर्‌यो अपवित्र वहि लोक नरक को बास।
छिये जु कोऊ मठपतिहि ताको पुन्य विनास ॥२५॥[1]

इस प्रकार केशवदास जी ने उस समय के मठधारियो के प्रति अपनी घृणा व्यजित की है। उनका यह यथार्थ कथन वर्तमान युग की भी वास्तविकता है। आधुनिक काल मे ऐसे मठाधीश बीभत्स रस का आलम्बन प्रचुर मात्रा मे बने है।

प्राचीन साहित्य में आधुनिक युग-जैसी सामाजिक घृणा का प्राय. अभाव रहा है, यह हम पहले भी निवेदन कर चुके हैं। उपर्युक्त छुट-पुट उदाहरणो के अतिरिक्त भक्ति काल के सत-काव्य में कुछ ऐसे उदाहरण अवश्य मिलते हैं, जिनमे हमारे सत-कवियो ने तत्कालीन सामाजिक भेद-भाव, धार्मिक विद्वेष तथा धार्मिक ढोंग को फटकारा है। तीर्थ-व्रत, देवी-देव-पूजा, वर्ण-भेद तथा सन्यास के ढोग आदि को फटकारने की प्रवृत्ति सिद्ध-सम्प्रदाय, जैन-मुनियो तथा नाथ-पथियों से ही प्रचलित पाई जाती है। अपभ्र श और पुरानी हिन्दी की इन सिद्ध-जैन-नाथो की कविता मे जो खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति है, यद्यपि वह अधिकाशतः साम्प्रदायिक है, तो भी कही-कही ढोग और पाखण्ड के प्रति घृणा का भाव स्पष्ट प्रकट हुआ है। जैन मुनि रामसिंह (समय स० १०००) सिर मुँडा कर योगी-ढोंगी बनने वालों को फटकारते हुए कहते है—

मुँडिय मुँडिय मुँडिया सिरु मुँडिउ चित्तु ण मुँडिया।
चित्तहं मॅडणु जि कियउ। संसारहं खडणु ति कियउ ॥१३५॥[2]

अर्थात् हे मुड मुंडाने वालो मे श्रेष्ठ मुण्डी! तूने सिर को तो मुडाया किन्तु चित्त को न मूडा। जो चित्त का मुण्डन करता है, वही इस ससार का खण्डन कर सकता है।

कबीर आदि संतकवियो की वाणी मे यह खण्डन और फटकार अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक है और इसमे सतो का मानवतावादी दृष्टिकोण अधिक मुखर

---

१. वही उत्तरार्द्ध, पृ० २६७।

२ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (डा० वर्मा) से उद्धत

है। यद्यपि सामाजिक और धार्मिक बुराइयो के प्रति विक्षोभपूर्ण तीव्र घृणा ये सत कवि भी नही जगा सके, क्योंकि ससार में रहते हुए भी ये ससार और उसकी स्थिति को तुच्छ और क्षणभंगुर मानते थे तथा ऐहिक दृष्टिकोण के स्थान पर पारलौकिक लक्ष्य रखते थे, तो भी जात-पाँत, भेद-भाव तथा धार्मिक ढोंग के प्रति इनका सहज आक्रोश इनकी वाणियो मे स्पष्टता से प्रकट हुआ है। इन्होंने बुराइयो की खुलकर निन्दा की है। बडी निर्भीक वाणी मे कबीरदास वर्ण-भेद, ऊँच-नीच और जातीय भेद-भाव की निंदा करते हुए कहते है कि हिन्दु-तुरुक, शूद्र-ब्राह्मण आदि का भेद व्यर्थ है। सब एक ही परमातमा के बदे हैं। परमात्मा सबको एक ही रूप मे पैदा करता है, हिन्दू-तुरुक, ब्राह्मण-शूद्र आदि का भेद सब कपटपूर्ण और कृत्रिम है। हे ब्राह्मण! हे तुरुक! तू यह छल-कपट छोड़ दे, सत्य का मार्ग पकड़—

जो तू करता वर्ण विचारा। जन्मत तीन डंड अनुसार॥
जन्मत शुद्र मुये पुनि शुद्रा। कृतम जनेउ घाल्नि जग धंदा॥
जो तू ब्राह्मण ब्राह्मनिको जाया। और राह ह्वै काहे न आया॥
जो तू तुरुक तुरकनि को जाया। पेट मैं काहे न सुन्ननि कराया॥
कारी पियरी दुहहु गाई। ताकर दूध देउ बिलगाई॥
छाँडहु कपट नर अधिक सयानी। कहहिं कबीर भजु शारंगपानी॥[1]

जैसे काली और पीली सब गायों का दूध एक-जैसा होता है, वैसे ही सब मनुष्यो मे वही परमात्मा निवास करता है, फिर भेद-भाव क्यों? ब्राह्मण तिलक और जनेऊ माता के गर्भ से नहीं लाता। और फिर कबीरदास जी ने बहुतेरे ब्राह्मण-पंडित और औलिया-पीर देखे हैं। ये वेद-शास्त्र, कुरान-किताब पढते है, नियम-व्रत रखते हैं छापा-तिलक लगाते हैं, माला-तस्बीह पहनते है, पर सत्य का मर्म न पण्डित जानता है, न मुल्ला। दोनो धर्म के नाम पर, राम-रहीम के नाम पर लडते-झगडते है। आसन जमा कर समाधि लगाने वाले ढोंगी पीर-फकीर व्यर्थ का दभ रच कर गुरुमन्त्र देते फिरते हैं। ऐसे सब धार्मिक पाखडियो के प्रति कबीर की निंदा व्यक्त हुई है—

नेमी देखा धर्मी देखा। प्रात करै अस्नाना॥
आतम मारि पषाणहि पूजै। उनमे किछउ न ज्ञाना॥
बहुतक देखा पीर औलिया। पढ़े कितेब कुराना॥
कै मुरीद तदबीर बतावै। उनमें उहै जो ज्ञाना॥
आसन मारि डिभ धर बैठे। मन मे बहुत गुमाना॥
पीतर पाथर पूजन लागे। तीरथ गर्भ भुलाना॥
.. ..

---

[1] कबीर बीजक (वेंकटेश्वर प्रेस स० १९८४) पृ० ५०

हिन्दू कहै मोहि राम पियारा । तुरुक कहै रहिमाना ।।
आपसु मे दोउ लरि लरि मुये । मर्म न काहू जाना ।।[१]

मुसलमानो की हिंसावादी प्रवृत्ति तथा हिन्दुओ की पशु-बलि की भी कबीर आदि सन्तो ने निन्दा की है । खलक खालिक कहने वाला तुरुक दिन को तो रोजा रखता है और रात को गाय मारता है, भला मूर्ख की यह क्या बन्दगी !

दिन को रोजा रहत है, रात हनत है गाय ।
यह तो खून वह बदगी, कैसे खुशी खुदाय ।।

सिर मुँडा कर सन्यासी बनने का दभ रचने वाले या रगे कपड़े पहन कर योगी कहाने वाले झूठे संन्यासियो की भी कबीर आदि ने खूब खबर ली है . "मुँड मुडाने से यदि भगवान् मिल सकते है, तो सब कोई न सिर मु डवा लेता ! भेड बार-बार मु डती है, तो क्या वह वैकु ठ को पा लेती है ?" और कपडे भगवे रंगाने से भी क्या होता है ? हे योगी, तूने अपना मन तो भगवान् के नाम से रगा नहीं, कपड़े ही रगाये हैं । बकरे की तरह दाढी बढ़ाने, कान फडवा लेने और जटा-जूट बढा लेने से क्या होता है ?

मन न रंगाये, रंगाये जोगी कपरा ।
आसन मारि मन्दिर मैं बैठे
नाम छाड़ि पूजन लागे पथरा ।
कनवाँ फडाय जोगी जटवा बढ़ौलै
दाढी बढाय जोगी होइ गैलै बकरा ।।

इस प्रकार की सत-वाणी मे निश्चय ही ढोंगियो के प्रति घृणा ही उत्पन्न होती है । समाज और धर्म के क्षेत्र मे प्रचलित भेद-भाव, जात-पाँत, छुआ-छूत, हिन्दू-मुसलमानो का वैमनस्य आदि बुराइयाँ उस समय के घृणा के आलम्बन ही है। सामाजिक समस्याओं के प्रति यथार्थ जागरूकता उस समय के कवियो में बहुत कम थी, यही कारण है कि आधुनिक काल-जैसी स्पष्ट सामाजिक घृणा का चित्रण इन प्राचीन कवियो में नही मिलता ।

कृष्ण-भक्त कवियो ने कही-कही कस के अत्याचारो को पद्यबद्ध किया है । ऐसे पद्यों में कस के प्रति घृणा जगती है । सूरदास जी ने तो कृष्ण की शकटासुर-वध-लीला, कालिय-दमन लीला, दावानल लीला आदि लीलाओं को कस से सम्बन्धित करके और मानवीय मनोवैज्ञानिक रूप देकर जहाँ अपनी अद्भुत कल्पना-शक्ति का परिचय दिया है, वहाँ अत्याचारी कस को घृणा का पूर्ण आलम्बन बना दिया है । कृष्ण को मारने के लिए कंस अनेक उपाय करता है । वह एक के बाद एक कई

---

१ वही पृ० ७६

असुरों को कृष्ण के प्राण लेने के लिए भेजता है। पूतना, कागासुर-वध आदि से उदास होकर कंस शकट को भेजता है। शकटासुर को व्यक्तित्व प्रदान करने मे सूर ने अच्छी मौलिकता दिखाई है। सब तरह से हारकर कंस नारद मुनि के सुझाव पर नन्द के पास पत्र-द्वारा दूत के हाथ आदेश भेजता है कि "यह पत्र देखते ही कालीदह के कमल हमारे पास भेजो, नहीं तो मैं ब्रज को उजाड दूंगा। प्रधान गोप तथा उपनन्द आदि किसी को जीता नहीं छोड़ूँगा। यदि फूल मंगाकर न भेजोगे तो तुम्हारे कृष्ण और बलराम को पकडवा कर मगा लूंगा।" इस प्रकार अत्याचारी कंस हमारी घृणा का पूर्ण आलम्बन है। उसके भेजे हुए असुर भी हमारी घृणा के ही पात्र है। कृष्ण-काव्य मे थोडा-बहुत बीभत्स रस इसी प्रसग में प्राप्त होता है।

रीतिकाल मे अधिकतर शृंगार की ही हाट सजी है। जीवन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियो की ओर कवियों का ध्यान ही नहीं गया। इसी से बीभत्स रस का प्रकाशन इस काल में भी विशेष नहीं हुआ। लक्षण-ग्रन्थकारों ने भी अधिकतर शृंगार रस का ही विवेचन किया। रस-सम्बन्धी कुछ लक्षणग्रन्थो मे बीभत्स रस का परम्परागत स्वरूप अवश्य प्रकट हुआ है, परन्तु उस माँस-मज्जा आदि के आलम्बनत्व से बीभत्स रस की स्वरूप-सिद्धि का हम पहले ही खण्डन कर चुके है। इस काल मे शृंगार रस का जादू ही कवियों के सिर चढा रहा। अत. बहुत-से कवि-आचार्यों ने बीभत्स रस को भी शृंगार रस में अन्तर्भूत करने की व्यर्थ चेष्टाएं कीं। बीभत्स रस को शृंगार के अन्तर्गत मानने वाली प्रवृत्ति ने भी हास्यास्पद स्थितियाँ उत्पन्न की है। इस काल के प्रमुख आचार्य केशवदास ने "नवरस मे ब्रजराज नित' वाली धारणा प्रकट करके शृंगार मे ही बीभत्स को भी अन्तर्भूत करने का प्रयत्न किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत बीभत्स रस का अशास्त्रीय और हास्यपूर्ण उदाहरण देखिए—

टूटे टाटि घुनघुने घूम धूम सेन सने,
झींगुर छगोडी साँप बिच्छिन की घात जू।
कटक कलित त्रिन वलित विगध जल,
तिनके तल पत लता को ललचात जू।
कुलटा कुचील गात अध तम अवरात,
कहि न सकत बात अति अकुलात जू।
छेड़ी मे घुंसे कि घर ईंधन के घनश्याम,
घर घर धरनीति जात न धिनात जू॥ (रसिकप्रिया)

बीभत्सपूर्ण साँकरी गली मे राधा से मिलने के इस प्रसंग को बीभत्स रस का उदाहरण मानना हास्यास्पद नही तो और क्या है? यहाँ केशव की रस-दृष्टि मे परम्परागत नाक की 'घिन' को ही बीभत्स रस मानने का दोष तो है ही, साथ ही रीतिकालीन शृंगार-परिचालित दृष्टि ने अन्य रसों की स्थिति कितनी हास्यास्पद

बना दी, यह भी स्पष्ट है। इसी प्रकार केशव ने शांत रस के आलम्बन-रूप में कृष्ण का चित्रण हास्यास्पद बना दिया है। राधा के मधुर अधर-रस का पान करने के इच्छुक कृष्ण ने यदि संसार के सब स्वाद त्याग दिये तो इस भाव में शान्त रस की अवस्थिति कैसे मानी जाय ?

तात्पर्य यह कि रीतिकाल के शृंगारी कवियों की रचनाओं में तो बीभत्स रस का अभाव है ही, लक्षण-ग्रंथों में भी बीभत्स रस के निर्दोष उदाहरण प्राप्त नहीं होते। इस रस के बारे में कवियों और आचार्यों में भ्रांति ही बनी रही। अपने 'शब्द रसायन' नामक ग्रन्थ में देव ने यद्यपि निंद्य कर्म को भी बीभत्स रस का स्वरूप माना है, और इस दृष्टि से प्राचीनों में उनका बीभत्सरस-निरूपण महत्त्वपूर्ण है, तथापि वे भी निंद्य कर्म-जन्य बीभत्स रस का स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत नहीं कर सके। देव ने जुगुप्सा के दो रूप बताये हैं—

१. वस्तु घिनौनी देखि सुनि घिन उपजै जिय माँहि।
   छिन बाढ़ै बीभत्स रस, चित्त की रुचि मिटि जाँहि॥
२. निंद्य कर्म करि निंद्य गति, सुनै कि देखै कोय।
   तन संकोच मन सम्भ्रमरु, द्विविध जुगुप्सा होय॥

पहले प्रकार में 'नाक की घिन' वाला परम्परागत स्थूल रूप है, दूसरे में हमारा प्रतिपाद्य निंद्य कर्म है, जो व्यवहार में अब तक नहीं आया। देव ने भी इस स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया। उन्होंने भी शृंगार में ही सब रसों का अन्तर्भाव करने तथा बीभत्स को शांत के ही आश्रित मानने की भूल की है।

शृंगार के अन्तर्गत नायिकाभेद में लक्षण-ग्रन्थकारों ने कुलटा नायिका की भी गणना की है। परन्तु वास्तव में 'कुलटा' नायिका का स्वरूप बीभत्स रस का ही विषय कहा जायगा। हमारी नैतिक धारणा किसी स्त्री के व्यभिचारपूर्ण आचरण को सहन नहीं कर सकती। शृंगार रस में छिछली रसिकता को चाहे स्थान प्राप्त हो, किन्तु कुलटा का रूप रसिकता से भी आगे अमर्यादा को छूता है, और अमर्यादा घृणा ही उत्पन्न करती है। वास्तव में प्रेम के बिना भी ऐन्द्रिक सुख को शृंगार रस मानने की प्रवृत्ति से ही कुलटा आदि को शृंगार रस में स्थान प्राप्त हुआ है, जो सर्वथा अनुचित है। कुलटा का लक्षण लक्षण-ग्रन्थों में इस प्रकार दिया गया है—

जो चाहति बहु नायकनि, सरस सुरति पर प्रीति।
ता सों कुलटा कहत है, कवि ग्रन्थन की रीति॥

इसका उदाहरण मतिराम का यह दोहा देखिए—

मोह मधुर मुसकानि सों, सबै गाँव के छैल।
सकल सैल, बन कुंज में, तरुनि सुरति की सैल।[1]

शास्त्रकारों ने गणिका की वृत्ति धन पर ही आधारित बनाई है। ऐसी गणिका भी घृणा का ही विषय होगी न कि श्रृंगार रस का। इस प्रकार रीतिकालीन नायिका-भेद के ग्रन्थों में कुलटा और गणिका का जो स्वरूप प्रकट हुआ है, वह प्रेम के अभाव में कोरा व्यभिचार या विलास होने के कारण घृणा का ही विषय है। उसे श्रृंगार रस में स्थान नहीं मिलना चाहिए।

श्रृंगार-काव्य के अतिरिक्त इस काल में जो कुछ वीर-काव्य तथा प्रबन्ध रचनाएँ हुई है, उनमे कहीं-कहीं घृणा का प्रकाशन मिलता है। भूषण कवि ने वीर शिवाजी और छत्रसाल की वीरता का ही अधिकतर वर्णन किया है। शिवाजी का प्रतिपक्षी औरगजेब इतिहास-प्रसिद्ध अत्याचारी है। उसके छल-कपट, अत्याचार, धार्मिक विद्वेष आदि जघन्य कार्यों में बीभत्स रस के प्रसार का पर्याप्त अवसर था, किन्तु भूषण कवि ने औरगजेब के घृणित कार्यों का बहुत कम वर्णन किया है। केवल दो-चार छन्दों में ही औरगजेब के प्रति घृणा प्रकट हुई है। वस्तुतः भूषण उनमे भी बहुत कम तीव्रता भर सके हैं। एक उदाहरण देखिये—कवि औरगजेब को फटकारता हुआ कहता है—

किबले कौ ठौर बाप बादसाह साहजहाँ,
ताको कैद कियो मानो मक्के आगि लाई है।
बड़ो भाई दारा बाको पकरिकै मारि डारयो,
मेहरहू नाहिं माँ को जायो सगो भाई है।
बंधु तौ मुरादबकस बादि चूक करिबे को,
बीच दै कुरान खुदा की कसम खाई है।
'भूषण' सुकबि कहै सुनौ नवरंगजेब,
एते काम कीन्हे तब पातसाही पाई है॥१२॥[1]

अर्थात् हे दुष्ट औरगजेब! तूने अपने देव-तुल्य पूज्य पिता शाहजहाँ को भी कैद कर लिया! ऐसा घोर अनर्थ करके मानो अपने धर्म-स्थान मक्का को ही आग लगाई है। अपने भाई दारा को पकड कर मार दिया! सगे भाई पर भी तुझे तरस व दया न आई। कुरान को साक्षी रखकर अपने भाई मुराद बख्श के साथ किसी प्रकार की बुराई न करने की तूने कसम खाई थी, पर उसे भी धोखे से मार डाला! इतने पाप करने के पश्चात् तुझे बादशाहत मिली है, धिक्कार है!

इसी प्रकार की भर्त्सना कवि ने एक-दो छन्दों मे और भी खुलकर प्रकट की है। कपटी औरगजेब के धार्मिक ढोंग और अत्याचार का भण्डाफोड निम्न छन्द मे और देखिए—

---

१ भूषण-ग्रन्थावली (हिन्दी भवन द्वारा प्रकाशित सन् १९५०)- पृ० १३।

हाथ तसबीह लिए प्रात उठै बन्दगी को,
आप ही कपटरूप कपट सुजप के ।
आगरे मै जाय दारा चौक मैं चुनाय लीन्हो,
छत्रहू छिनायो मानो मरे बूढ़े बप के ।
कीन्हो है सगोत घात सो मैं नहिं कहौ फेरि,
पील पै तुरायो चार चुगल के गप के ।
'भूषन' भनत छरछदी मतिमंद महा,
सौ सौ चूहे खाइ कै बिलारी बैठी तप के ॥१३॥[1]

इस प्रकार के छुट-पुट उदाहरणो के अतिरिक्त रीतिकाल मे बीभत्स रस की विशेष सामग्री प्राप्त नही होती । प्रबन्ध काव्यो में भी कहीं-कहीं प्रतिपक्षी के प्रति घृणा का भाव दृष्टिगोचर होता है, किन्तु घृणा का पूर्ण आलम्बन इस काल की रचनाओ मे अधिक दृष्टिगोचर नही होता । पद्माकर की 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' तथा 'प्रतापसिंह विरुदावली' आदि रचनाओ में प्रशस्ति काव्य की परम्परा का ही निर्वाह हुआ है । न तो इन रचनाओं के नायक ही लोक-रक्षक परोपकारी वीर-विश्रुत राजा हैं, और न इनमें प्रतिपक्षी का घृणित आलम्बनत्व प्रकट हुआ है । इसी से इनमे केवल युद्ध-वीर का चित्रण ही हो सका है । चन्द्रशेखर का 'हम्मीर हठ' तथा जोधराज का 'हम्मीर रासो' आदि इस काल के दो-चार प्रबन्ध-काव्यों मे अवश्य बीभत्स रस का सुन्दर प्रकाशन हुआ है । 'हम्मीर रासो' तथा 'हम्मीर हठ' मे अत्याचारी, विलासी और कायर बादशाह अलाउद्दीन हमारी घृणा का आलम्बन है । वह अपनी कायरता और अविवेक के कारण महिमशाह को देश-निकाला दे देता है । महिमशाह रण-थभगढ के हम्मीर की शरण लेता है । पता लगने पर अलाउद्दीन हम्मीर के पास बार-बार दूत भेजता है कि यदि अपनी खैर चाहते हो तो मीर महिम को शरण मत दो और उसे हमारे हवाले करो । हम्मीर राव ने उत्तर दिया कि मैं जो प्रण कर चुका हूँ, उसे अपने जीवन-पर्यन्त नही छोड़ सकता । अत: उचित यही है कि बादशाह अब महिमशाह के बारे मे मुझसे कुछ बात न करे, और जो कुछ उससे बन पड़े कर ले । अलाउद्दीन चढ़ाई कर देता है । उसकी असख्य सेना रणथभगढ को घेर लेती है । बादशाह अब फिर दूत को भेजता है, पर वीर हम्मीर फिर उसे फटकारता है— 'बादशाह, तुझे कितना दर्प है, जो दूसरों को कुछ नही समझता ! इस पृथ्वी पर रावण, मेघनाद-सरीखे अभिमानी और अतुल बलशाली पानी के बुलबुले की तरह बिला गए—

थिर रह्यौ न यह संसार कोइ सुनो साहि साखी सु ध्रुव ।
दसकंध धरणि अज्जुन जिसा स्वप्नंहि सम दिक्खंत भुव ॥४१३॥

---

१ वही पृ० २४

कलि मैं अमर जु कोइ नहि, हसम देखि नहि भूल ।
तुमसे किते अलावदी, या धरनी पर धूलि ।।४१४।।[१]

अलाउद्दीन हजार प्रयत्न करता है, किन्तु दुर्ग को जीत नही पाता। एक दिन दुर्ग की अट्टालिका पर राव हम्मीर सभामंडप सजाते है । चन्द्रकला नर्तकी का अद्भुत नृत्य-संगीत होता है । अभिमानी अलाउद्दीन इस इन्द्र-सभा को देखकर और भी जल उठता है । चन्द्रकला के प्रत्येक गीत और प्रत्येक पद-गति से अलाउद्दीन की निन्दा-सूचक ध्वनि निकलती थी । बादशाह की ओर पदाघात करके उसने ऐसा विलक्षण कटाक्ष किया कि जिसे देखकर राव हम्मीर की सभा मे आनन्द छा गया । पाठक भी अपने आलम्बन की इस निन्दा से हर्ष अनुभव करता है । चिढकर अलाउद्दीन अपने सैनिको से कहता है कि जो इस नर्तकी को तीर से मारे, और राव के रग मे भग कर दे, मैं उसे मानूगा—

हम्मीर राव राजत मसद ।
दुहूँ ओर चौर ढारैं अमद ।।
यहि देखि साहि गरि गयौ गव्व ।
हम्मीर इन्द्र पदवी सु सव्व ।।६२०।।
....
अपमाँन बाल कीन्हौ अनत ।
एडी दिखाय मुझ कौ हसत ।।
... .
जो हनै बाल कहि तीर पाहि ।
रस भग करै मैं गिनौं ताहि ।।[२]

'हम्मीर रासो' मे कृतघ्न और देशद्रोही सुरजनसिह भी हमारी घृणा का पात्र बनता है । हम्मीर की वीरता को अजेय मानकर जब अलाउद्दीन दिल्ली वापिस जाने को तैयार होता है, तभी स्वार्थी और नीच सुरजनसिह उसके पास आकर कहता है कि यदि मुझे छाडगढ़ का राज्य दे देना स्वीकार करे तो मैं रणथभ के अजेयदुर्ग पर आपकी फतह सहज ही करा दूगा । राव हम्मीर का यह दुष्ट कोषाध्यक्ष अपने स्वार्थ मे पड़कर देशद्रोह करता है । वह दुर्ग की रसद-सामग्री और युद्ध-सामग्री को खुर्द-बुर्द कर देता है । उसके कुचक्र के कारण ही वीर हम्मीर और उसके सब साथी तथा महिमशाह वीरगति को प्राप्त होते हैं । सहस्रो वीर राजपूतनियाँ जौहर की ज्वाला का आलिंगन करती है । वाह रे अलाउद्दीन, तेरा दभ ! वाह रे सुरजनसिह तेरी गद्दारी !!

---

१ हम्मीर रासो (जोधराज)- पृ० ७४ (नागरी प्रचारिणी सभा, चतुर्थ संस्करण) ।
२ वही पृ० १११ ११२

रीतिकाल के मुक्तक भक्ति-नीति-काव्य मे यद्यपि घृणा की स्पष्ट और व्यापक व्यंजना नही पाई जाती, तो भी कही-कही हमारे नीतिकारो ने उस समय के बुरे व्यक्तियों या बुरी चाल को फटकारना अपनी उक्तियों का उद्देश्य बनाया है, जैसे दीनदयाल गिरि के निम्न दोहे मे पशु-बलि देने वाले अधम-पापी-जनो को फटकारा गया है—

दुख मैं आरत अधम जन पाप करै डर डारि ।
बलि दै भूतन मारि पसु अरचै नही मुरारि ॥७७॥[1]

इस प्रकार प्राचीन साहित्य मे बीभत्स रस-चित्रण यद्यपि आधुनिक काल की अपेक्षा बहुत कम हुआ है, तथापि शृङ्गार, वीर और शांत या भक्ति को छोड़कर अन्य किसी रस से कम बीभत्स रस-प्रकाशन प्राचीन साहित्य मे भी नही हुआ है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में तो इस रस का इतना व्यापक चित्रण हुआ है कि केवल शृङ्गार और करुण को छोडकर यह अन्य सब रसो मे बाजी मारता प्रतीत होता है।

---

१. दीनदयालगिरि (संपादक डा० श्यामसुन्दरदास, नागरीप्रचारिणी प्रकाशन, संस्करण १९१९ ई०) पृ० ७९

आधुनिक युग की परिस्थितियाँ और बीभत्स रस

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हमारे प्राचीन साहित्य मे बीभत्स रस का चित्रण बहुत कम हुआ है । सम्पूर्ण प्राचीन हिन्दी काव्य-साहित्य में शृ गार, क्ति और शान्त रसों की प्रधानता हे । पहले दो सामन्तीय परिस्थितियो की देन ले दोनो रस भक्ति आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप चित्रित हुए है । अन्य सभी ग-रूप मे ही कवियो की अनुभूति का विषय बने है । प्राचीन काल मे जीवन के गार्थ दृष्टिकोण जगा ही नही था । फिर बीभत्स रस को प्रधानता कैसे मिल ती ? मुसलमानों की धर्मान्धता, सामन्तो की अहमन्यता और विलासिता उस मुस्लिम काल मे कुछ कम घृणित अन्याचार-पापाचार नहीं किया, और ा नही है कि उस युग मे घृणा के आलम्बनो का वास्तविक जीवन मे अभाव वास्तव मे गऊघाट पर भक्ति की तान छेडने वाले कवियो को सीकरी या वन की नगरियो 'सो कहा काम' था ? यही कारण है कि बाबा तुलसीदास- ाध लोकचेता कवि ही सामाजिक-धार्मिक विकृतियो के प्रति अपनी प्रतिक्रिया र सके । रीतिकाल में भी कवि अपने आश्रयदाताओ को शृ गार-चषक पिलाने गे रहे । साथ ही रीति-परम्परा मे बीभत्स रस का मांस-मज्जा-रुधिर का कवियो तथा आचार्यो की चेतना मे बद्ध था, जो काव्योपयोगिता और भावना के विपरीत ही था, अतः रीति काल के कवि भी बीभत्स रस का करने मे प्रवृत्त नही हो सके ।

उन्नीसवी शताब्दी पूर्वार्द्ध तक यही पुराना रंग काव्य-साहित्य मे रहा । जीवन नती हुई विचारधारा तथा जाग्रत नवीन भावना का प्रदर्शन सर्वप्रथम भार- ल मे ही हुआ तभी काव्य विषयो भावो विचारो रूप-कला और भाषा

जीवन के बीच की खाई को दूर करने के प्रयत्न हुए। जीवन मे जो अच्छाई और जो बुराई थी, उस सब की ओर साहित्यकार सजग हुए। भारतेन्दु-युग साहित्य और जीवन दोनों की दृष्टि से नव-जागरण-काल है।

सन् १८४९ मे पजाब को भी हस्तगत कर लेने से समूचे भारत पर अग्रेजी आधिपत्य हो गया था। अग्रेजो के सम्पर्क मे आने से भारतीयो को अपनी वास्तविक स्थिति का ध्यान हुआ। अग्रेजो के आगमन से जो सास्कृतिक सघर्ष पैदा हुआ, अग्रेजी शिक्षा-दीक्षा के कारण समाज मे जो नवीन हलचल हुई, उससे जहाँ एक ओर समाज का एक वर्ग अग्रेजियत के रंग मे रंगा जाने लगा, वहाँ दूसरी ओर कुछ विचारशील भारतीय नेताओ को भारत की वास्तविक स्थिति का भी बोध हुआ। उन विचारको के मन मे भारत की गुलामी की खिन्नता का भाव तो उत्पन्न हुआ ही, साथ ही गुलामी का मूल कारण अपनी (भारत की) पतित अवस्था भी उनके सामने स्पष्ट हुई। अंग्रेज कौम की तुलना मे उन्हे भारतीयो मे अनेक दुर्बलताए नजर आई। भारतीय जीवन की अति पतित एव विच्छृंखल अवस्था के प्रति दुख से भरकर उन्होने सबसे पहले अपने घर को सुधारने का बीड़ा उठाया। भारतीय जीवन में—विशेषरूप से हिन्दू जीवन मे सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, नैतिक आदि सभी क्षेत्रों मे कोढ लगा हुआ था। अनेक प्रकार की बुराइयो से समाज जकडा हुआ था। हजारो वर्षों की गुलामी ने भारतीय जीवन को जीर्ण-जर्जर और पंगु बना दिया था।

भिन्न-भिन्न जातियो-उपजातियो मे बटी हिन्दू जाति छोटे-छोटे कठघरो में बन्द हुई इतनी सकीर्ण हो गई थी कि विश्व का व्यापक प्रकाश लखना तो दूर रहा, वह अपने ही पडोसी भाई का जलता चिराग नही देख सकती थी, उसे सह नहीं सकती थी। हिन्दू-मुसलिम साम्प्रदायिकता तो थी ही, इसके अतिरिक्त हिन्दुओं मे ही पारस्परिक फूट, भेद-भाव, छुआ-छूत, खान-पान का निषेध आदि बुराइयां व्याप्त थी। प्राचीन रूढियो और अंधविश्वासो मे जकड़े भारतीय कूपमण्डूक बने हुए थे। समुद्र-यात्रा उनकी दृष्टि मे पतित कर देने वाला कर्म था। किसी मुसलमान या अंग्रेज से हाथ मिलाना या अपने घर मे बुलाना अपने को भ्रष्ट करना था। इस प्रकार की संकुचित अमानुषिक प्रवृत्ति समाज की प्रगति के लिए भारी खतरा बन गई थी। उच्च वर्ग के लोग मनुष्य से ही घृणा करने लगे थे। उनके अमानुषीय व्यवहार स्तंभित कर देने वाले होते थे। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, दहेज-प्रथा, पर्दा-प्रथा, नारी की हीन दशा, विधवा-विवाह-निषेध, पुरुष द्वारा बहु-विवह, समुद्र-यात्रा के कारण जाति-बहिष्कार, जमीदारो और सम्पन्न व्यक्तियो की विलास-प्रियता, मद्यपान, नशेबाजी, धार्मिक साम्प्रदायिकता, आलस्य, निरुद्यमता, वर्ण-भेद, कुल-भेद, झूठी मर्यादा और प्रतिष्ठा की हवा बांधना, कायरता, स्वार्थपरता, वेश्यागमन, वदफिरोशी, वेश्यालय, बाल-हत्या, कन्या की उपेक्षा, सती-प्रथा आदि अनेक कुप्रथाओं और बुराइयों का चलन हो गया था

धर्म का वास्तविक रूप लुप्त हो गया था। मिथ्या-आडम्बर, ढोंग, अन्धविश्वास, संकीर्णता, कट्टरता आदि दोष धर्म में घुस आए थे। हिन्दू समाज में ब्राह्मण वर्ग की प्रधानता के कारण बाह्य-आडम्बर अत्यधिक मात्रा मे आ गया था। समाज में अधिकांशतः धर्म का परम्परागत, रूढ़िग्रस्त, अन्धविश्वासपूर्ण बाह्य रूप ही प्रचलित था, जिसमे अनेक देवी-देवताओ, पीर-फकीरों की पूजा, मूर्ति-पूजा, बहुदेववाद आदि के अत्यन्त गर्हित और विकृत रूप के दर्शन होते थे। बाह्य कर्मकाण्डो से संचालित, निठल्ले और दुश्चरित्र पण्डे-पुरोहितों, कूप-मण्डूक ब्राह्मणो, पुजारियों, गुरुओं और ज्योतिषियों के छल-प्रपंचो से युक्त यह धर्म विचारशील व्यक्तियो के लिए बिल्कुल असह्य हो गया था। धर्म के इस रूप के अन्तर्गत अनेक ऐसी कुप्रथाएँ और कुरीतियाँ प्रचलित थी, जिन्हे अत्यन्त सारहीन, कुत्सित और क्रूर कहा जा सकता है। जमीन पर पेट के बल रेंगते हुए या लुढकते हुए तीर्थ-यात्रा करना, या प्रयाग मे जीवित अवस्था मे जल-समाधि लेना या जिन्दा जमीन में गड जाना, केवल भूखे रहकर शरीर को सुखा लेना, एक पैर से खड़े रहना, बाल-हत्या, नर-बलि, क्रूरतापूर्ण दासी-देवदासी प्रथा, मन्दिरो और तीर्थ-स्थानो मे चलने वाले अश्लील काण्ड तथा अन्य अनेक प्रकार के अन्धविश्वास हिन्दू धर्म को रसातल तक पहुँचा रहे थे। हिन्दू धर्म और समाज की अत्यन्त शोचनीय दशा हो गई थी। १९ वीं शती उत्तरार्द्ध में ब्रह्मो समाज, आर्य-समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी आदि कई संस्थाओ के आश्रय पतित हिन्दू समाज की इन कुप्रथाओ के विरुद्ध आवाज उठी और समाज-सुधार की प्रवृत्ति जगी। अनेक नवशिक्षित भारतीय इन संकीर्णताओ, बुराइयो और कुप्रथाओ को रोकने के लिए अग्रसर हुए। सरकार ने भी हिन्दू धर्म की नर-बलि, कन्याघात, बाल-हत्या, देव-बलि, सती-प्रथा आदि कुत्सित रीतियो को रोकने का प्रयत्न किया। सरकार से भी अधिक सक्रिय रूप मे स्वय हिन्दू समाज अपने इन घृणित पापाचारो को दूर करने मे प्रवृत्त हुआ। स्थान-स्थान पर सार्वजनिक सभाएँ की जाने लगी, जिनमे इन कुत्सित प्रथाओ का विरोध होने लगा। सरकार ने तो केवल दो-चार नृशंस कुप्रथाओं को ही लक्ष्य बनाया था, किन्तु सुधारकों ने समाज की सभी बुराइयो का भंडा-फोड़ किया। साहित्यकार भी इस नवयुग में पीछे नहीं रहे। भारतेन्दुकाल के प्रहसनो, निबन्धो, नाटकों आदि में इन कुप्रथाओ का घृणित रूप प्रस्तुत होने लगा।

अँग्रेज और अँग्रेजी शासन भी अपनी अनीति और अत्याचार के कारण घृणा के आलम्बन बने। भारतीयो और भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी घृणा, रंग-भेद, ईसाई मिशनरियो का धर्म-प्रचार, भारतीयो के प्रति अपमानजनक अमानुषीय व्यवहार तथा भारतवासियो की हर प्रकार से राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक क्षति आदि बातें अंग्रेजों को हमारी घृणा का पात्र बना रही थी। ब्रिटिश नौकरशाही के घृणित पापाचारो—जैसे रिश्वतखोरी, गाँवो पर टिड्डीदल-आक्रमण, पुलिस के अत्याचार, फौजी सैनिकों की ज्यादतियाँ शासन का दमन चक्र आदि कार्यों ने विदेशी के

प्रति हमारी घृणा को खूब तीव्र किया। हमारे लेखको, कवियो और साहित्यकारों को घृणा के नये-नये विषय और आलम्बन प्राप्त हुए।

बादशाहो, राजाओ, नवाबो तथा तालुकेदारो के अत्याचारो तथा विलासिता-पूर्ण जीवन के फलस्वरूप उत्पन्न आर्थिक भार से जनसाधारण का अत्यधिक शोषण और उत्पीड़न पहले से ही चल रहा था। सरकारी कर्मचारी और सैनिक भी मन-मानी करते थे। अँग्रेजी शासन और अँग्रेजी पूँजीवाद ने देश को और भी निर्धन बना डाला। सामंतशाही, पूँजीवाद तथा अँग्रेजो के साम्राज्यवाद में जकड़ी भारतीय जनता दुर्भिक्षो और महामारियो का भी शिकार होने लगी थी। अँग्रेजो द्वारा भारत पर आर्थिक भार डाला जाना, उद्योग-धन्धो का नष्ट कर देना आदि भारत की सामान्य निर्धनता के कारण बने। आर्थिक विषमता ने समाज मे दो वर्ग उत्पन्न कर दिए—एक शोषक वर्ग और दूसरा शोषित वर्ग। शोषितो की करुणापूर्ण स्थिति तथा नानाप्रकार के शोषको के घृणित अमानुषिक कुकृत्यो का वर्णन भी इस युग मे हमारे साहित्यकारों का एक प्रधान विषय बना। शोषक वर्ग और शोषण—जमींदारी शोषण, पूँजीवादी शोषण, गाँवो में महाजनी शोषण, धार्मिक शोषण आदि सबके प्रति उत्कट घृणा आधुनिक साहित्य में प्रकट हुई। इनके अतिरिक्त धार्मिक विद्वेष, हिन्दू-मुस्लिम कट्टरता आदि और भी अनेक विषय सामने आये, जो सहज स्वाभाविक रूप से ही हमारे साहित्यकारों के घृणा भाव का आलम्बन बने। साराश यह कि जीवन के प्रति साहित्य मे भी यथार्थ दृष्टि उत्पन्न हुई और आधुनिक काल मे घृणा या बीभत्स रस के अनेक विषय हिन्दी कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, एकांकी आदि साहित्य-विधाओ मे प्रकट हुए। हम आगे हिन्दी साहित्य के इन भिन्न-भिन्न रूपो मे बीभत्स रस के इस प्रसार का अध्ययन करेगे।

आधुनिक हिन्दी कविता में वीभत्स रस

●

पहले भी निवेदन कर चुके हैं कि बीभत्स रस का सम्बन्ध जीवन की यथार्थता
क है। जीवन की यथार्थ अनुभूतियाँ काव्य की अपेक्षा कथा-साहित्य (उपन्यास,
और नाटकों आदि) में अधिक प्रामाणिकता के साथ विस्तृत रूप में प्रकट हो
। श्री इलाचन्द्र जोशी ने भी 'उपन्यास कैसे लिखे गए?'—इस प्रश्न के
स्वीकार किया है कि मानव-जीवन के यथार्थ उद्वेगों को प्रकट करने के लिए
कविता के क्षेत्र को प्रायः छोड़कर उपन्यास और कहानी के क्षेत्र मे अधिक
ा के साथ प्रवृत्त हुए। उनका कथन है—'निरन्तर कटु और कठोर यथार्थ से
ोते रहने से मुझे अनजान ही मे लगा कि स्वय अपनी और सारे समाज की
क पीड़ाओं का चित्रण कविता की अपेक्षा मैं उपन्यास के माध्यम से अधिक
ारी और सच्चाई से कर सकता हूँ। कविता द्वारा केवल साकेतिक शैली मे ही
र्म-पीडा का भावात्मक आभास दिया जा सकता है, पर उपन्यास द्वारा उसे
और ज्वलन्त सत्य का रूप दिया जा सकता है।'[1] अत प्रमाणित हुआ कि
मे यथार्थ जीवन-समस्याओ के विस्तृत चित्रण की अपेक्षाकृत कम गुँजाइश है।
काव्यों मे यथार्थ जीवन-चित्रो की अधिक सभावना होती है, पर हम देखते हैं
न्यास-कहानियों की तरह वर्तमान जीवन की यथार्थ समस्याओं और घृणित
ाक रूढियो और कुरीतियो को ही विषय बनाकर प्रबन्ध-काव्य प्रायः नहीं रचे
अधिकाश प्रबन्ध-काव्यो, खण्ड-काव्यों और महाकाव्यो मे ऐतिहासिक, पौरा-
कथानक ही अपनाये गए हैं। यही कारण है कि हिन्दी कविता मे बीभत्स रस
ना व्यापक और तीव्र-अनुभूतिपूर्ण चित्रण प्राप्त नहीं होता, जैसा हिन्दी उपन्यास-

---

[1] 'साहित्य संदेश', जुलाई-अगस्त विशेषांक १९५६, पृ० ७७।

कहानी-नाटक-साहित्य में पाया जाता है। फिर भी हिन्दी की कुछ राष्ट्रवादी एव प्रगतिवादी रचनाओं और कुछ प्रबन्ध-काव्यो मे बीभत्स रस का पर्याप्त चित्रण हुआ है।

नव-जागरण-काल भारतेन्दु काल में ही हमारे कवियो ने तत्कालीन भारत मे प्रचलित बैर, कलह, आलस्य, कायरता, अँग्रेजो की खुशामद, अँग्रेजी शिक्षा के कुपरिणाम, फैशन, अँग्रेजों-द्वारा टैक्स, यवनो द्वारा देश की दुर्दशा, समाज मे फैली छूत-छात, बाल या वृद्ध-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध और तज्जन्य व्यभिचार, रूढ़िवादिता, समुद्र-यात्रा-प्रतिबन्ध, कूपमडूकता, झाड-फूक, भूत-प्रेत की पूजा, धार्मिक कर्म-काण्ड, धार्मिक पाखण्ड, धर्म की आड़ मे धूर्त्तता और व्यभिचार, अमीर-उमरावो की विलास-प्रियता, व्यभिचार, अपव्यय, अदालती बुराइयाँ, पुलिस के कुत्सित कृत्य और अत्याचार, घूस, सिफारिश, सुरापान, मांस-भक्षण आदि सामाजिक और धार्मिक कुप्रवृत्तियो और कुप्रथाओ एव नैतिक पतन की पूर्ण आलोचना की है। अधिकांशत व्यग्यमयी शैली में इस युग के कवियो ने इन बुराइयो के प्रति घृणा ही उत्पन्न की है। पारस्परिक कलह की निन्दा करते हुए श्री प्रतापनारायण मिश्र लिखते है—

'भाय भाय (भाई-भाई) आपस मे लरै,
परदेसिन के पायन परै।
यहै द्वेप भारत-शशि राहु,
घर का भेदिया लका दाहु।'[1]

इसी प्रकार अँग्रेजी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करके अँग्रेजो और अँग्रेजीयत के गुलाम बनने वाले नवयुवको की खबर लेते हुए वे कहते है—

तन मन सों उद्योग न करही,
बाबू बनिवे के हित परही।
परदेसिन सेवक अनुरागे,
सब फल खाय धतूरन लागे।[2]

भारतीय जनता के धर्म-कर्म की तीव्र निन्दा करते हुए बाबू बालमुकुन्द गुप्त कहते है—

पै हमरे नहि धर्म्म-कर्म्म कुल कानि बड़ाई।
हम प्रभु लाज समाज आज सब धोय वहाई॥
मेटे वेद-पुरान न्याय निष्ठा सब खोई।
हिन्दू कुल-मरजाद आज हम सबहि डुबोई॥ (राम भरोसा)

हमारे सब धर्म-कर्म बिगड़ गए है, सब कार्य-व्यवहार विकृत हो गए है।

---

१. 'लोकोक्ति शतक' (१८८८), पृ० २।
२ वही पृ० ७

अपनी कायरता, निर्लज्जता तथा अधोगति के प्रति आत्मग्लानि उत्पन्न करना ही यहाँ कवि का उद्देश्य है।

भारतेन्दु युग मे कविता की अधिकांश प्रवृत्ति परम्परागत शृङ्गार-प्रकाशन और भक्ति-निवेदन की ही रही, अत इस युग मे जो थोडी-बहुत नवीन कविता रची गई, उसी मे हमे घृणा के कुछ उदाहरण मिलते हैं। इस युग के कवियो की सुधारवादी वृत्ति उपदेशात्मक ही रही, इसी से घृणित प्रथाओ का यथार्थ चित्रण कम ही हो पाया। कुरीतियो और कुप्रवृत्तियो का इन लोगो ने उल्लेख-मात्र किया है। अत. इतिवृत्तात्मक वर्णन होने के कारण इस युग की ऐसी कविता मे पाठक की हल्की घृणा ही जगती है। उत्कट घृणा-भाव से ओत-प्रोत कविता इस युग मे कम ही मिलती है। इस युग के नाटको मे तथा कुछ कथात्मक कविताओ मे जहाँ-जहाँ कुप्रथाओ का चित्रण हुआ है, और उनके कुप्रभाव को प्रसगपूर्वक प्रकट किया गया है, वहाँ बीभत्स रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। उदाहरणार्थ पटना के बाबू महेश नारायण की 'स्वप्न' नामक कविता मे एक ऐसी युवती का करुणापूर्ण जीवन-प्रसग चित्रित किया गया है, जिसका पिशाच पिता धन के लोभ से उसका विवाह एक बुड्ढे धनी व्यक्ति से कर देता है। इस कविता मे युवती के प्रति करुणा और युवती के पिता, माता और वृद्धपति तथा सामाजिक बुराई के प्रति तीव्र घृणा जगती है। इसमे करुण और बीभत्स दोनों रसो का सह-अस्तित्व और सुन्दर परिपाक हुआ है। युवती की करुण-दशा और उसकी धन-लोलुप माता के घृणित आचरण का कविता की अन्तिम पक्तियो में अवलोकन कीजिए—

"हाय शादी हुई थी
वेहोश मैं जब थी
मै सोलह बरस की
वह अस्सी बरस के।
देख उनको मैं रोती,
देख हमको वह हँसते।
किया करो मुझे प्यार करो, माता ने बनाया है तुमको हमारी।
मै हूँ अमीर मर जाऊँगा जब तक दौलत होगी हमारी तुम्हारी॥
मर ही गए वह बिचारे उसी दिन हो गई विधवा पर कुमारी।
माता मेरी सन्तुष्ट हुई और घर लाई वह दौलत सारी॥"[1]

इसी प्रकार प्रतापनारायण मिश्र ने अपनी 'तृप्यन्ताम्' (१८९१ ई०) कविता मे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे भारत की अध पतित अवस्था का दिग्दर्शन तीव्र व्यग्यमयी शैली मे कराया है। आत्मभर्त्सना और आत्मग्लानि का पर्याप्त मार्मिकता से प्रकाशन

---

१. 'बिहार-बंधु', १३ अक्तूबर, १८८१ के अंक मे प्रकाशित।

हुआ है। देश की निर्धन जनता की तुलना में अमीर लोग अपनी आनन्द-मौज मनाते थे। पड़ौस में कोई गरीब भाई मर रहा है तो उनकी बला से, मरा करे! उन्हें क्या? गरीबों, अकाल-पीड़ितों के प्रति उपेक्षा का भाव रखने वाले स्वार्थी धनिकों के प्रति बालमुकुन्द गुप्त की धिक्कार सुनिए—

हे धनियो! क्या दीन जनों की नहि सुनते हो हाहाकार।
जिसका मरे पड़ोसी भूखा उसके भोजन को धिक्कार॥
भूखों की सुध उसके जी में कहिये किस पथ से आवे।
जिसका पेट मिष्ट भोजन से ठीक नाक तक भर जावे॥

... ...

हे बाबा! जो यह बेचारे भूखो प्राण गँवावेंगे।
तब कहिये क्या धनी गलाकर अशर्फियाँ पी जावेंगे॥

वास्तव में भारतेन्दु काल के कवियों का भी उद्देश्य तो भारत को स्वतन्त्र और सम्पन्न देखना ही था, किन्तु जागरण की यह प्रथम लहर विद्रोह और क्रान्ति के स्थान पर समाज-सुधार, और स्पष्ट स्वतन्त्रता-प्राप्ति की आकांक्षा के स्थान पर समाजिक चेतना के रूप में ही प्रगट हुई। इस युग के कवि उग्रतावादी नहीं बन सकते थे। उन्होंने अपने लक्ष्य तक वेगपूर्वक न पहुँचकर आहिस्ता-आहिस्ता पहुँचना ही ठीक समझा। परिस्थितियाँ भी उग्र बनने के अनुकूल न थीं। अतः पाश्चात्य शासकों के प्रति घृणा जगाने की प्रवृत्ति इस युग में बहुत कम रही। अपने घर की देख-भाल से आत्म-दोषों के कारण आत्मभर्त्सना और आत्मग्लानि का प्रकाशन ही अधिक हुआ है।

अंग्रेजी पढ़े-लिखे नवयुवकों में फैशन और बाबूपन की बू घुसती जा रही थी। देश-सेवा से ये बाबू लोग कोसों दूर थे। अपनी भोली-भाली देशी जनता को ये घृणा की दृष्टि से देखने लगे थे। अपने पूर्वजों का गौरव इन्हें विस्मृत होता जा रहा था। मांस-मदिरा का सेवन इनका व्यसन बन चुका था। नैतिक दृष्टि से ही नहीं, राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भी यह स्थिति शोचनीय थी। अंग्रेजीयत के रंग में रंगे बहुत से भारतीय व्यक्ति समाज के लिए भी समस्या बनते जा रहे थे। बंगाल के हिन्दू कालेज के अँग्रेजी-शिक्षित नवयुवकों ने क्या नहीं किया? अपनी प्रगतिशीलता की भभक में वे कट्टर हिन्दुओं के घर मांस-मिट्टी फेंक देते थे और इस प्रकार कलह मचाते थे। कभी-कभी नशे में चूर होकर समाज के लिए संकट पैदा कर देते थे। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी-जैसे देश-भक्तों ने भी पश्चिम का अन्धानुकरण करने वाले लोगों के बुरे आचरण और कुप्रवृत्तियों की जोरदार शब्दों में निन्दा की थी। अँग्रेजों से अच्छी बातें तो ये सीखते न थे, बुराई ही लेते थे। इसी ओर लक्ष्य करके भारतेन्दुजी ने कहा है—

सिया भी तो अंग्रजो से औगुन

अँग्रेजो के विरुद्ध बहुत कम आवाज उठी। अँग्रेजो की नीति के विरुद्ध खिन्नता का भाव ही इस युग मे कही-कहीं प्रकट हुआ है। स्पष्ट घृणा अँग्रेजो के प्रति प्राय व्यजित नहीं हुई। हास्यपूर्ण रुदन से युक्त मीठी घृणा मुकरी की इन पंक्तियो मे देखिए—

भीतर-भीतर सब रस चूसै। हसि-हँसि कै तन-मन-धन मूसै॥
जाहिर-बातिन मे अति तेज। क्यो सखी साजन नहिं अँग्रेज॥

भारतेन्दु काल के नाटक साहित्य में भी यत्र-तत्र कुछ छन्द बीभत्स रस को प्रकाशित करते है। भारतेन्दु आदि नाटककारों ने अपने नाटको और प्रहसनों मे सामाजिक कुरीतियों के प्रति घृणा जगाई है। बीच-बीच मे कही-कही पद्य-रूप में तथा गीत या कविता-रूप मे भी यह भावना प्रकट हुई है। भारतेन्दु बाबू के 'भारत-जननी' नामक औपेरा में 'होली' का गीत आत्मभर्त्सना का ही द्योतक है। भारत-वासियो की अधोगति पर खिन्नता और फटकार प्रकट करता हुआ कवि कहता है—

भारत मे मची है होरी।
इक ओर भाग अभाग एक दिसि होय रही झकझोरी।
अपनी अपनी जय सब चाहत होड परी दुहुँ ओरी॥
दुन्द सखि बहुत बढोरी॥१॥

. ...

कहाँ गए क्षत्री किन उनके पुरुषारथहि हरोरी।
चूडि पहिरि स्वाँग बनि आए धिक् धिक् सबन कह्यौरी॥
भेस यह क्यो पकरो री॥८॥

... .

धिक वह मात पिता जिन तुम सो कायर पुत्र जन्यो री।
धिक वह घरी जनम भयो जामैं यह कलंक प्रगटो री॥
जनमतहिं क्यों न मरो री॥६॥

... ...

आलस मै कछु काम न चलिहै सब कछु तो बिनसोरी।
कित गयो धन बल राज पाट सब कोरो नाम बचोरी॥
तऊ नहीं सूरत कगोरी॥१२॥

... .

तेज बुद्धि बल धन अरु साहस उद्यम सूरपनो री।
होरी मे सब स्वाहा कीनो पूजन होत भलो री॥
करत फेरी तब कोरी॥१६॥[1]

१ भारतेन्दु ग्रंथावली पृ० ५०२ ५०५ (प्रथम २००७ वि०)

इसी प्रकार 'नीलदेवी' मे एक देवता भारतवासियो की पतित अवस्था पर उन्हे धिक्कारता है और शोक प्रकट करता है। भारतवासी सुपथ को छोडकर कुमार्गगामी होने जा रहे है, भारतीयता उनमे से मिटती जा रही है, दूसरों के गुलाम बन रहे है। हिन्दू अपने भाई हिन्दू से लडता है, यवनों से मेल करता है, यवनो का दास बनता है—

तजि सुपथ सबहि जन करिहै कुपथ बिलासा।
अब तजहु बीर-बर भारत की सब आसा।।
अपनी वस्तुन कहँ लखिहै सबहि पराई।
निज चाल छोड़ि गहिहै औरन की धाई।।
तुरकन हित करिहै हिन्दू संग लराई।
यवनन के चरनहि रहिहै सीस चढ़ाई।।
तजि निज कुल करि है नीचन संग निवासा।
अब तजहु बीर-बर भारत की सब आसा।।[१]

इस प्रकार भारतेन्दु काल मे कवियों की सुधारवादी प्रवृत्ति के आश्रय घृणा स्थायी भाव का प्रकाशन हुआ है। यद्यपि तीव्र घृणानुभूति इस काल की कविता मे कम पाई जाती है, क्योकि कवियो ने अधिकांशत बुराइयो का उल्लेख-मात्र करके ही काम चला लिया है, बुराइयों और कुरीतियो के कुपरिणाम का मार्मिक चित्रण कम ही हुआ है, तो भी इस युग की नवीन कविता में आत्मग्लानि और आत्मभर्त्सना का ही मुख्य रूप से प्रकाशन हुआ है।

भारतेन्दुकाल के पश्चात् द्विवेदी काल के कवियो ने सामाजिक बुराइयो और कुरीतियों का जम कर विरोध किया। धार्मिक और सामाजिक पाखण्ड का भण्डाफोड करने में इस युग के कवियो ने कोई सकोच नही किया। मुक्तक कविता के अतिरिक्त इस काल मे अनेक प्रबन्ध काव्यो की रचना हुई, जिनमे बीभत्स रस का पर्याप्त प्रसार पाया जाता है। हमारे कवियो ने समाज की गली-सड़ी धारणाओ, छुआ-छूत, बाल-विवाह, आलस्य, लम्पटता, पर्दा-प्रथा, वृद्ध-विवाह, विलासिता, मद्यपान, जूआ आदि नैतिक बुराइयो के प्रति अपनी घृणा का प्रकाशन तीव्रानुभूति के रूप में किया है। पूर्व-युग के कवि अधिकतर हास्य-व्यग्य मे लपेट कर ही घृणा प्रस्तुत करते थे, या खिन्नता (शोक) की प्रधानता के कारण घृणा का स्पष्ट प्रकाशन कम होता था, किन्तु इस युग मे व्यग्य भी अधिक तीखा हो गया और घृणा का प्रकाशन कवि की आन्तरिक अनुभूति का स्पष्ट प्रकाशन बन गया। इस युग में न केवल आत्महीनता का दर्शन करके कवियों ने आत्मग्लानि और आत्मभर्त्सना प्रकट की, अपितु विदेशी शासको तथा जीवन की अनेक कुरूपताओं का सीधा प्रकाशन भी उनका

१. वही, पृ० ५३१-३२।

उद्देश्य बन गया। इनकी आत्मभर्त्सना भी समाज-भर्त्सना होने के कारण घृणा का पूर्ण आलम्बन प्रस्तुत करती है।

'भारत भारती' के कवि ने स्पष्ट शब्दों मे कहा है—

आई अविद्या की निशा है, हम निशाचर बन रहे,
हा! आज ज्ञानाभाव मे बीभत्स रस मे सन रहे।
विद्या बिना अब देख लो, हम दुर्गुणो के दास है,
है तो मनुज हम किन्तु रहते दनुजता के पास है।
दाये तथा बायें सदा सहचर हमारे चार है।
अविचार, अधाचार है, व्यभिचार, अत्याचार है।

आधुनिक शिक्षा पर भी कवि ने घृणामूलक-घृणोत्पादक व्यंग्य-विद्रूप किया है—

वह आधुनिक शिक्षा किसी विध प्राप्त भी कुछ कर सको—
तो लाभ क्या, बस क्लर्क बन कर पेट अपना भर सको।
लिखते रहो जो सिर झुका सुन अफसरो की गालियाँ।
तो दे सकेंगी रात को दो रोटिया घर वालियाँ।

विदेशागत (England-returned) उच्च शिक्षितों को कवि 'शंकर' अपनी घृणा और उपहास का विषय इस प्रकार बनाते है—

ईश गिरिजा को छोड यीशु गिरजा में जाय
'शकर' सलोने मैन मिस्टर कहावेगे।
बूट पतलून कोट कम्फर्टर टोपी डाट,
जाकट की पाकट में वाच लटकावेगे।
घूमेगे घमडी बने रंडी का पकड हाथ,
पियेगे बरडी मीट होटल में खावेंगे।
फारसी की छार सी उडाय अंग्रेजी पढ,
मानो देवनागरी का नाम तो मिटावेगे।

पर-उपदेश-कुशल ढोगियो के प्रति रामचरित उपाध्याय जी की यह व्यंग्यात्मक घृणा देखिये—

गाँजा भग अफीम आदि का यदि प्रचार रुक जावे,
तो होकर नीरोग देश यह सदा सभी सुख पावे।
छिपकर किन्तु साथ चण्डी के ब्राण्डी पिया करू मैं,
हानि नहीं जो खुलकर खण्डन इनका किया करू मैं।

'नीचता के मनोमोदक'
रामचरित)

अछूत की उपालभपूर्ण घृणा का रूप श्री बदरीनाथ भट्ट की 'पतिता का उलाहना' में देखिए—

हमें मत छूना हे द्विजराज !
हम है शूद्र अछूत, आप है आर्य जाति-सिरताज ।।

'दहेज की कुप्रथा' पर श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'स्नेही' द्वारा व्यंजित घृणा का अवलोकन कीजिए—

यह दहेज की आग सुबंशो ने दहकाई।
प्रलय-वृष्टि सी वही आज चारों दिशि धाई।
घर उजाड़ बन बना रही कर रही सफाई।
ताप रहे हम मुदित समझते होली आई ।।
(सरस्वती, अगस्त, १९१४)

धार्मिक क्षेत्र मे भी विकृतियो को दर्शाया गया और कवियो ने अपनी घृणा-पूर्ण चोटें की। मन्दिर और मठो मे महन्तों की पोप-लीलाओं पर 'भारत भारती' के कवि की फबती देखिए—

अब मन्दिरो में रामजनियों के बिना चलता नही,
अश्लील गीतो के बिना वह भक्ति-फल फलता नही।
वे चीरहरणादिक वहाँ प्रत्यक्ष लीला-जाल है,
भक्त स्त्रियाँ है गोपियाँ, गोस्वामी ही गोपाल है।

तीर्थों के ढोंगी पण्डो के यथार्थ घृणित रूप को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

वे हैं अविद्या के पुरोहित, अविधि के आचार्य है,
लड़ना, झगड़ना और अड़ना मुख्य उनके कार्य है।

सूदखोरों के प्रति कवि शंकर की घृणा इन पंक्तियों मे देखिए—

क्यों जी बे जोड ब्याज खाना !
दीनों को रात दिन सताना ।
समझे है जो सुशील इनको,
कहते है वे कुशील किनको ?

तोंद फुलाये, गरीब का गला काटने वालों के प्रति कवि केशवप्रसाद मिश्र बड़े प्रखर स्वर मे घृणा व्यक्त करते हैं—

हाहाकार मचा भूखों का है धनिकों के पास,
फिर कैसे ये तोंद फुलाये खाते विषमय ग्रास ?

इस वैषम्यपूर्ण आर्थिक वाली को ही कवि फटकारता है
धिक्कारता है

अगर सभ्यता आज भरे ही को है भरना,
नही भूलकर कभी गरीबो का हित करना।
तो सौ-सौ धिक्कार सभ्यता को है ऐसी,
जीव मात्र को लाभ नही तो समता कैसी ?

(केशवप्रसाद मिश्र, सरस्वती', अगस्त १९१६)

द्विवेदी काल मे भी आदर्शवाद का बोल-बाला अधिक रहा । यथार्थवाद को कवियो ने अपेक्षाकृत कम अपनाया और अपनाया भी तो तुरन्त आदर्श की परिणति कर डाली।

'भारत भारती' मे गुप्त जी ने भारत की अधोगति पर खिन्नता के आंसू बहाये है, पर साथ ही भारतीयों की वर्तमान दशा के प्रति रोष और कुरीतियों एव बुराइयों के प्रति घृणा भी प्रकट हुई है। यद्यपि इतिवृत्तात्मक होने के कारण इस रचना मे घृणा का सवेदनापूर्ण प्रकाशन कम हुआ है, तो भी कही-कही आत्मभर्त्सना और बुराइयों के प्रति फटकार सुन्दर ढग से व्यंजित हुई है। कवि देश-द्रोही जयचन्द को धिक्कारता हुआ, उसे ही भारत की परतत्रता का कारण बताता है—

क्या यवन, पाते न प्रश्रय यदि अधम जयचन्द से ?
जयशील पृथ्वीराज हारे अन्त में छल-छन्द से।[1]

यवनो के अत्याचारो, गोवध, विदेशी वस्तुओं के प्रयोग और व्यापार, मद्यपान, आलस्य, भोग-विलास, अग्रेजी शिक्षा आदि अनेक बुराइयो के प्रति भारतीयो की घृणा जगाने का प्रयत्न कवि ने किया है। देश के रईसो और विलासी राजाओं को फटकारता हुआ कवि कहता है—

जातीयता क्या वस्तु है निज देश कहते है किसे,
क्या अर्थ आत्म-त्याग का, वे जानते हैं क्या इसे ?

... ...

दुर्भिक्ष आदिक दुःख से यदि देश जाता है मरा,
तो है प्रसन्न कि धाम उनका अन्न-धन से है भरा।
दुर्भाग्य से यदि देश-भाई आपदा मे फस रहे—
तो नाच-मुजरे मे विराजे आप सुख से हंस रहे ॥

... ...

हाँ, नाच, भोग-विलास-हित उनका भरा भण्डार है,
धिक धिक पुकार मृदंग भी देता उन्हे धिक्कार है !

---

१ मैथिलीशरण गुप्त भारत भारती (सस्करण १९८५ वि०) पृ० ७४

वे जागते हैं रात भर, दिन भर पड़े सोवें न क्यो ?
है काम से ही काम उनको, दूसरे रोवें न क्यों ?[1]

अंग्रेजी शिक्षा को धिक्कारते हुए कहा गया है—

शिक्षे ! तुम्हारा नाश हो, तुम नौकरी के हित बनी
लो मूर्खते ! जीती रहो, रक्षक तुम्हारे है धनी !!!

ऐसी शिक्षा को लानत है, जो अंग्रेजो का गुलाम बनाती है, अफसरों से गालियाँ खाकर ही जिसमे पेट भरा जाता है । धर्म में आडम्बर और तीर्थ-पण्डो की खबर लेता हुआ कवि कहता है—

वे तीर्थ-पण्डे, है जिन्होंने स्वर्ग का ठेका लिया,
है निंद्य कर्म्म न एक ऐसा हो न जो उनका किया ।
वे है अविद्या के पुरोहित, अविधि के आचार्य है,
लडना-झगड़ना और अडना मुख्य उनके कार्य्य है ।।
वे आप तो है ही पतित, कामी, कुपथगामी बडे-
पर पाप के भागी हमें भी हैं बनाने को खड़े ।
हम—भस्म मे घृत के सदृश—देते उन्हें जो दान है,
बस वे उसी मे दुर्व्यसन के जोडते सामान है ।।[2]

मन्दिरो और मठो के लुच्चे महंतो का पापाचार क्या कम घृणोत्पादक है ! हमारे मन्दिर पापाचार के अड्डे बने हुए है—

हा ! पुण्य के भण्डार मे है भर रहीं अघ-राशियाँ,
है देव आप महन्त जी ही देवियाँ हैं दासियाँ !
तन, मन तथा धन भक्तजन अर्पण किया करते जहाँ—
वे भण्ड साधु कुकर्म्म का तर्पण किया करते वहाँ !!

"अश्लील गीतो से ही वहाँ भक्ति-फल फलता है, चीरहरणादि लीलाएँ प्रत्यक्ष होती हैं, भक्त स्त्रियाँ गोपियाँ बनती है और गोस्वामी जी गोपाल बने रहते हैं ।" कवि ने 'बेजोड विवाह', 'अन्ध परम्परा', 'वर-कन्या-विक्रय', नशेबाजी, गृह-कलह, व्यभिचार आदि बुराइयो का घृणित रूप भी प्रकट किया है .

बिकता कही वर है यहाँ, बिकती तथा कन्या कही,
क्या अर्थ के आगे हमे अब इष्ट आत्मा भी नहीं ।
हा ! अर्थ, तेरे अर्थ हम करते अनेक अनर्थ है—
धिक्कार, फिर भी तो नही सम्पन्न और समर्थ हैं ।[3]

---

१ वही- पृ० १११—११३ ।
२ वही पृ० १२७-१२८ ।
३ वही, पृ० १४०

प्रबंध काव्यो मे घृणा का प्रसार और भी अधिक दिखाई देता है। गुप्त जी की 'पचवटी' मे शूपनखा की बाह्य एवं आन्तरिक कुरूपता की एक अच्छी झाँकी प्रकट हुई है। उसका घृणित आचरण और कुरूप आकृति दोनो उसे जघन्य बनाते है। वह अपनी विकल-वासना पर प्रेम का आवरण चढा कर जब लक्ष्मण के सम्मुख प्रस्ताव करती है, तो लक्ष्मण खिन्न होकर उसे समझाते हुए अपनी घृणा यों प्रकट करते है—

"हा नारी! किस भ्रम मे है तू, प्रेम नही यह तो है मोह।
आत्मा का विश्वास नहीं यह है तेरे मन का विद्रोह।
विष से भरी वासना है यह, सुधापूर्ण वह प्रीति नही,
रीति नही, अनरीति और यह अति अनीति है, नीति नही।[1]

परन्तु वह कुलटा तो मायाविनी बनकर पुरुष को छलने का ही लक्ष्य रखती थी। अपनी वासना की तृप्ति के लिए वह राम को भी अपने माया-जाल मे फंसाना चाहती है, और उन दोनो के न मानने पर अपना विकराल-विकृत रूप प्रकट करती है। उसका बीभत्स राक्षसी रूप-परिवर्तन देखिए—

गोल कपोल पलट कर सहसा बने भिड़ो के छत्ते से,
हिलने लगे उष्ण साँसो से ओंठ लपालप लत्तो से!
कुन्दकली-से दाँत हो गए बढ़ बराह की डाढो-से!
विकृत, भयानक और रौद्र रस प्रकटे पूरी बाढों से!
जहाँ लाल साडी थी तनु मे बना चर्म का चीर वहाँ,
हुए अस्थियों के आभूषण थे मणि-मुक्ता-हीर जहाँ!
कधो पर के बड़े बाल वे बने अहो! आँतों के जाल,
फूलों की वह वरमाला भी हुई मुण्डमाला सुविशाल![2]

शूपनखा के इस कुरूप मे कवि ने विकृत (बीभत्स), भयानक और रौद्र का सगम बताया है। निस्सन्देह सीता जी उसके इस रूप को देखकर भयभीत होती है, लक्ष्मण क्रुद्ध होते है, किन्तु वस्तुतथ्य यही है कि पाठक के मन मे घृणा ही उत्पन्न होती है। वह बीभत्स रस का आलम्बनत्व ही पुष्ट करती है। उसके कुरूप के प्रति घृणा जगने का आधार बाह्य आकृति ही नहीं है, उसका मूल कारण आचरणहीनता है।

'किसान' मे कृषक-जीवन की करुण कहानी प्रकट हुई है। बीच-बीच मे सूद-खोर महाजन, रिश्वतखोर दारोगा, झूठे रुक्के लिखानेवाला शोषक जमींदार

---

१ मैथिलीशरण गुप्त 'पंचवटी (२७ वा संस्करण २००८ वि०). पृ० १७।
२ वही, पृ० २७

आदि के प्रति पाठक की घृणा भी जागृत होती है। ये शोषक-शक्तियाँ गरीब का सब-कुछ लूट लेती है। इनका रूप कितना विकृत है—

साह, महाजन, जमींदार तीनो ठने !
बात, पित, कफ सन्निपात जैसे बने ।
पन्द्रह दूनी तीस साह ने भी किये !
मौके पर थे दिये पुलिस-प्रभु के लिये !
सन्ध्या थी उस समय तामसिक याम था,
आया 'कुड़क अमीन', मुफ्ती से काम था ।
बस, मेरापन आत्मभाव खोने लगा,
जो कुछ था वह सभी कुर्क होने लगा।[1]

बेचारा किसान दुखित और हताश होकर ऐसे देश को छोडने का निश्चय करता है, जहाँ उसे भूखो मरना पडता है। वह 'आरकाटी' के झासे मे आ जाता है और फिजी की कुली-प्रथा का शिकार होता है। वह और उसकी 'कुलवन्ती' दोनो अनेक भारतीयो के साथ जहाज पर सवार होकर फिजी पहुँचते है। कवि ने इस कुली-प्रथा का बीभत्स रूप अत्यन्त सवेदनापूर्वक प्रकट किया है। वहाँ का नारकीय रूप रोंगटे खडे कर देने वाला है—

अधम आरकाटी कहता था—फिजी स्वर्ग है भू पर,
नभ के नीचे रहकर भी वह पहुँच गया है ऊपर ।
मैं कहता हूँ, फिजी स्वर्ग है तो फिर नरक कहाँ है ?
नरक कहीं हो किन्तु नरक से बढ कर दशा यहाँ है ॥

... ...

गीध मरी लोथे खाते है, ओवरसियर निरन्तर,
हाथ चलाते यहाँ हमारी जीती अबलाओ पर ।
भारतीय कुलियों का मानो फिजी श्मशान हुआ है
हाय ! मनुजता का मनुजो से यह अपमान हुआ है ॥
भूमि राम जाने किसकी है, श्रम है यहा हमारा,
किन्तु विदेशी व्यापारी ही लाभ उठाते सारा ।
जड़ यन्त्रो को भी तैलादिक भक्ष्य दिया जाता है,
अर्द्धाशन मे हमसे दूना काम लिया जाता है ॥
हाथों में फोले पड़ जावें पर धरती को गोडो,
रोगी रहो, किन्तु जीते जी कार्य अपूर्ण न छोड़ो ।

---

१. मैथलीशरण गुप्त : 'किसान' (२००५ वि०), पृ० २६।

ये गन्ने के खेत खड़े हैं इनसे खाँड बनेगी,
उससे तुम्हीं भारतीयों की मीठी भग छनेगी।[1]

कवि ने इस दारुण परिस्थिति का चित्रण करके विदेशी शोषकों और उनकी इस कुली-प्रथा के प्रति हमारी तीव्र घृणा जगाई है। 'किसान' भारतीयों को चेतावनी देता हुआ कहता है—मेरे देशबंधुओ, इस घृणित खाँड को मत लेना, मुँह में न डालना। यह हम भारतीयों के ही शोणित से बनी है, इसमें हमारी हड्डियाँ पिसी हैं। विदेशी पापी हमारी अबलाओं को अपमानित करते हैं। उनके बुझे हुए दीपक-से मन, वाणी और प्राण मूक हैं। असभ्य फिजी भी हमारी भर्त्सना करते हुए कहते हैं—

सुनो, फिजीवासी असभ्य वे हमसे क्या कहते हैं—
क्या तुम-जैसे ही जघन्य-जन भारत में रहते हैं?
धिक है उसको जिसके सुत यों घोर अनादर पावें,
पुरुष कहाकर पशुओं से भी बढ़कर समझे जावें॥[2]

किसान की पत्नी कुलवन्ती को एक विदेशी ओवरसियर अपनी पाप-वासना का शिकार बनाना चाहता है। सफल न होने पर वह उसे अर्द्धमरी करके चला जाता है। कुलवन्ती की दर्दनाक हालत और पापी के पाप-कर्म को कुलवन्ती के इन शब्दों में देखिए—

प्रकटित करके पाप-वासना वह दुशील सुरापी,
लोभ और भय देकर मुझको लगा छेड़ने पापी।
किन्तु विफल होकर फिर उसने यह दुर्गति की मेरी,

कुलवन्ती के इन शब्दों से पापी के प्रति हमारी घृणा ही पुष्ट होती है। वह एक तरह से उसे अभिशप्त करती हुई कहती है कि मेरे ही शोणित में यह पापी डूब जायगा, यही क्यों, यह कुली-प्रथा भी उसमें डूब कर रहेगी। अन्त में यही कहना पड़ता है—

पशु कर रक्खे जो मनुज कहीं मनुजों को,
पशु क्यों न कहूँ उन मनुज-रूप दनुजों को![3]

'जयद्रथवध' में नीच जयद्रथ और उसके साथी हमारी घृणा के पात्र बनते हैं। अकेले अभिमन्यु पर जब अनेक शत्रु चक्रव्यूह में टूट पड़ते हैं, तो वह वीर अदम्य उत्साह के साथ उनका सामना करता हुआ आगे बढ़ता है। वह उनकी अनीति पर उन्हें धिक्कारता हुआ कहता है—

---

१. वही, पृ० ३६-३७।
२. वही, पृ० ३८।
३. वही, पृ० ४१।

"मै एक, तुम बहु सहचरो से युक्त विश्रुत सात हो,
एकत्र फिर अन्याय से करते सभी आघात हो।
तुम वीर कैसे हो, तुम्हे धिक्कार सौ-सौबार है।[1]

प्राचीन रणनीति के सर्वथा विरुद्ध, नि शस्त्र अभिमन्यु पर जब कौरव-पक्ष के सैनिक प्रहार करते है, तो वह वीर उन्हे फटकारता हुआ फिर कहता है—

सग्राम मे निज शत्रुओ की देख कर यह नीचता,
कहने लगा वह यो वचन दृगयुग करो से मीचता—
नि शस्त्र पर तुम वीर बनकर वार करते हो अहो!
है पाप तुमको देखना भी पामरो! सम्मुख न हो।
... .

नि शस्त्र पर आघात करना सर्वथा अन्याय है,
स्वीकार करता बात यह सब शूर-जन समुदाय है।
पर जानकर भी हा! इसे आती न तुमको लाज है,
होता कलकित आज तुमसे शूर-वीर समाज है।।[2]

'पापी जयद्रथ जब रण मे उस वीर से पार न पा सका, तब नीच ने उसे मृतक जान उसके सिर पर अपना पॉव रखकर अपमानित करना चाहा।''

पचम सर्ग मे जब जयद्रथ के वध की प्रतिज्ञा करके अर्जुन कौरव-सेना मे आगे बढता जाता है, द्रोण भी देखते रह जाते है और दुर्योधन 'प्रार्थना के व्याज से' द्रोणाचार्य की निन्दा करता है, तब द्रोणाचार्य दुर्योधन को फटकारते हुए पाठक की सहानुभूति ही पाते है। पाठकों का हृदय भी दुर्योधन के प्रति घृणा से भर जाता है—

जो लोग अनुचित काम कर जय चाहते परिणाम मे,
है योग्य उनकी-सी तुम्हारी यह दशा सग्राम मे।
विष-बीज बोने से कभी जग मे सुफल फलता नही,
... .

तुमने सजा यों पाण्डवों से शत्रुता का साज है,
पर क्या न उनके शील पर आती तुम्हे कुछ लाज है?[3]

'द्वापर' में नृशस और पापी कंस के प्रति घृणा उत्पन्न की गई है। देवकी और वसुदेव को कैद मे डालने और अनेक अत्याचार ढाने वाले कस को फटकारता हुआ कवि कहता है—

---

१. मैथिलीशरण गुप्त जयद्रथवध (बतीसवा सस्करण २००५ वि०), पृ० १७।
२ वही पृ० १८ १९
३ वही पृ० ६८

धिक् तुझको, तेरे राजा को,
वह है स्वेच्छाचारी,
अविचारी, अन्यायी, बर्बर,
केवल पशुबल-धारी।
हाहाकार हमारा है सो,
उसका बजता बाजा,[1]

कारागृह में पड़े हुए उग्रसेन भी अपने पुत्र की भर्त्सना करते हुए कहते हैं—

ओ सत्ता-मदमस्त! आज भी
आँखें खोल अभागे!
वह साम्राज्य-स्वप्न जाने दे,
सत्य, जाग यह आगे।

किन्तु नृशंस, अविचारी, अन्याचारी कंस कब किसकी सुनता है? वह तो अपने साम्राज्य की नींव में निरीह प्राणियों के रुधिराप्लुत कंकाल भरना चाहता है। वह 'अहं ब्रह्म' की पुकार करने वाला दम्भी शासक अपनी शक्ति का भय दिखाकर प्रजा को अपना भक्त बनाना चाहता है—

मैं हूँ अहंब्रह्म-विश्वासी,
परब्रह्म है कौन?

इस प्रकार कंस और उसके अत्याचार 'द्वापर' में हमारी घृणा जगाते हैं।

'सिद्धराज' में गुप्तजी ने राजपूतों की पारस्परिक कलह-भावना के प्रति घृणा प्रकट की है। आपसी फूट और भेद-भाव ही हमारे विनाश का कारण बना है। विदेशी आक्रमणकारी हमारी इसी कमजोरी का लाभ उठाते रहे हैं—

'धिक् उस नरता को बर्बर दले जिसे!'
... ...

'किन्तु क्षत्रियों की आज यादवों की गति है,
नष्ट हो रहे हैं हम आपस में जूझ के!
स्वप्न देखते हैं आप एक नर-राज्य का,
एक देव के भी यहाँ सौ-सौ भाग हो चुके!'[2]

'साकेत' में राक्षसों के कुकृत्यों के प्रति घृणा उत्पन्न की गई है। इन पंक्तियों में राक्षसों के प्रति घृणा का भाव कितनी सहजता से जगता है—

---

१ द्वापर: मैथिलीशरण गुप्त (२०१६ वि०), पृ० ८७।
२. मैथिलीशरण गुप्त: सिद्धराज (सप्तमावृत्ति), पृ० १३२।

शात, सदय मुनियों को उद्धत राक्षस वहाँ सताते थे,
धर्म-कर्म के घातक होकर उनको खा तक जाते थे।[1]

इसी प्रकार छल-बल से सीता-हरण करने वाला रावण हमारी घृणा का आलम्बन वनता है—

शून्याश्रम से इधर दशानन, मानो श्येन कपोती को,
हर ले चला विदेहसुता को, भय से अबला रोती को।
चिल्ला तक न सकी घबरा कर वे अचेत हो जाने से,
भाँय-भाँय कर उठा किन्तु वन, निज लक्ष्मी खो जाने से।
वृद्ध जटायु वीर ने खल के सिर पर उड आघात किया,
उसका पक्ष किन्तु पापी ने काट केतु-सा गिरा दिया।[2]

यहाँ रावण आलम्बन है, अबला को भयभीत करना, जटायु का पक्ष काटना आदि उद्दीपन है, विदेहसुता के रुदन से शोक, जटायु के घात से क्षोभ आदि सचारी भाव प्रगट हुये है और 'पापी', 'खल' आदि तिरस्कारपूर्ण शब्दो मे वाचिक अनुभाव भी स्पष्ट है। अत बीभत्स रस का यहाँ पूर्ण परिपाक हुआ है। जटायु का उत्साह और क्रोध भी बीभत्स के सचारी ही दिखाई देते है, क्योंकि यहाँ रावण के प्रति घृणा की भावना ही प्रमुख रूप से जगती है। सीता और जटायु के आलम्बनत्व से करुण रस की व्यजना हुई है, और रावण तथा उसके कुकृत्यो से बीभत्स रस की।

कामायनी

'कामायनी' मे रुधिर, अस्थि-खण्ड आदि के चित्रण द्वारा बीभत्स रस की व्यजना सार्थक है। मनु द्वारा निरीह पशुओं की यज्ञ-बलि के घृणित कार्य के प्रति जयशंकर प्रसाद ने पाठक के मन मे जुगुप्सा या घृणा की भावना जगाने का सफल प्रयास किया है। यहाँ रुधिर आदि अवश्य घृणोत्पादन मे सहायक होते है। किन्तु यहाँ भी स्थूल घृणित दृश्य का यदि मानसिक मनोवैज्ञानिक आधार न होता, तो जुगुप्सा कदापि न जगती। निरीह पशु-बलि का दुष्कृत्य घृणा को जगाने मे स्वय पूर्ण है, चाहे रुधिर या अस्थि-पिजर वर्णन मे न आते। अत स्थूल रुधिर-दृश्य से घृणोत्पत्ति यहाँ भी मानसिक आधार रखती है। पंक्तियाँ देखिये—

यज्ञ समाप्त हो चुका तो भी,
धधक रही थी ज्वाला,
दारुण दृश्य रुधिर के छींटे!
अस्थिखण्ड की माला।

---

१. साकेत—एकादश सर्ग, पृ० २७७ (संस्करण २००७ वि०)।
२ वही पृ० २८९

वेदी की निर्मम प्रसन्नता,
पशु की कातर वाणी
मिलकर वातावरण बना था,
कोई कुत्सित प्राणी ।[१]

यहाँ पशु-बलि का हिंसापूर्ण घृणात्मक कार्य आलम्बन है । पशु की कातर वाणी, रुधिर के छीटे, अस्थिखण्ड की माला आदि उद्दीपन विभाव है । 'वेदी की निर्मम प्रसन्नता' की व्यग्योक्ति तथा वातावरण को कुत्सित प्राणी बताना निन्दासूचक अनुभाव है । संचारी-रूप मे शोक, क्षोभ आदि भी स्पष्ट हैं । मनु की पाशविक सस्कृति के प्रति कामायनी (श्रद्धा) की भर्त्सनापूर्ण उक्ति हमारे घृणा-भाव को पुष्ट करती है—

और किसी की फिर बलि होगी
किसी देव के नाते,
कितना धोखा ! उससे तो हम
अपना ही सुख पाते ।
ये प्राणी जो बचे हुए हैं
इस अचला जगती के,
उनके कुछ अधिकार नही
क्या वे सब ही है फीके !
मनु ! क्या यही तुम्हारी होगी
उज्ज्वल नव मानवता !
जिसमें सब कुछ ले लेना हो,
हत ! बची क्या शवता ![२]

'इड़ा' सर्ग मे काम का वक्तव्य भौतिक-सस्कृति के प्रति हल्की घृणा का भाव उत्पन्न करता है । जब मनु इड़ा पर बलात्कार करना चाहता है, तो यह घृणा तीव्र होकर बीभत्स रस का पूर्ण सचार करती है । इड़ा मनु को कहती है—

"मनु सब शासन स्वत्व तुम्हारा सतत निबाहे,
तुष्टि, चेतना का क्षण अपना अन्य न चाहे !
आह प्रजापति ! यह न हुआ है कभी न होगा,
निर्वाधित अधिकार आज तक किसने भोगा ?"

(कामायनी, पृ० १९९)

१ कामायनी कर्म सर्ग पृ० १०२ (चतुर्थ संस्करण)
२ वही पृ० ११५ ११६

किन्तु वासना का पुतला मनु तो अहम् से अधा हुआ है। वह अपनी की पूर्ति करने मे अधा बनकर इडा की बात ही नहीं सुनता। इधर क्षोभ से भर प्रजा भी सिंहद्वार तोड डालती है। मनु अपने विधान पर गर्व प्रकट और प्रजा को कृतघ्न बताता है। किन्तु प्रजा स्पष्ट शब्दो मे उसके विधान प्रकट करती हुई अपनी घृणा व्यजित करती है—

> तुमने योगक्षेम से अधिक सचय वाला,
> लोभ सिखाकर इस विचार सकट मे डाला।
> हम संवेदनशील हो चले यही मिला सुख,
> कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख।
> प्रकृत शक्ति तुमने यत्रो से सब की छीनी!
> शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी!
> और इडा पर यह क्या अत्याचार किया है?
> इसीलिए तू हम सबके बल यहाँ जिया है?
> आज वदिनी मेरी रानी इडा यहाँ है?
> ओ यायावर! अब तेरा निस्तार कहाँ है?[१]

क्रोध-मिश्रित तिरस्कारपूर्ण शब्दों को सुनकर मनु भीषण रण छेड प्रकृति-प्रजा का सहार होता है। 'नर-पशु' मनु के इस कुकृत्य पर अपनी प्रकट करती हुई 'इड़ा' कहती है—

> इडा अभी कहती जाती थी 'बस रोको रण—
> भीषण जन-सहार आप ही तो होता है,
> ओ पागल प्राणी तू क्यों जीवन खोता है।
> क्यो इतना आतंक ठहर जा ओ गर्वीले।
> जीने दे सब को फिर तू भी सुख से जी ले।'[२]

युद्ध-निरत मनु की यह भर्त्सना कितनी यथार्थ है! वह आलम्बन और पाठक आश्रय। भीषण जन-सहार, मनु का गर्वीलापन आदि जुगुप्सा उद्दीप्त करने मे सहायक होते है। युद्ध से रोकना, 'पागल प्राणी' कहना अ भाव-विधान तथा शोक, क्षोभ आदि सचारी भाव भी स्पष्ट व्यजित है।

कृष्णायन—

'कृष्णायन' मे 'रस प्रकाशन' पर विचार करते हुए डा० गोविन्दराम कहा है—

'कृष्णायन' मे वीर की प्रधानता के कारण उसके सहायक-रूप मे

---

१ कामायनी (सघर्ष) पृ० १७५-७६

२ वही पृ० १७७

बीभत्स रस भी अनेक स्थलों पर व्यक्त हुए है। विविध युद्ध-प्रसगों में रौद्र, बीभत्स और भयानक रस की अभिव्यक्ति एक साथ ही दीख पडती है। ..रौद्र और बीभत्स का क्रमश एक-एक उदाहरण देखिए[1]—

बीभत्स—"समर-मही शोणित-नदी प्रचलित विपुल कबन्ध।
उडत गृद्ध, जम्बुक फिरत कर्षित मज्जा गन्ध।।"

यहाँ भी वही परम्परागत दृष्टि ही है। कस के अत्याचारो, उसकी राक्षसी वृत्ति, प्रजा मे आतक फैलाना, द्वारका मे उत्पात मचाने वाले शाल्व चीरहरण करने वाले दु शासन तथा जरासंध आदि के कुकृत्यो मे जो बीभत्स रस की विपुल सामग्री ग्रन्थ मे पाई जाती है, उसकी ओर शर्माजी का ध्यान ही नही गया। वास्तविक मनोवैज्ञानिक बीभत्स रस ऐसे ही प्रसगों पर तीव्र रूप मे अनुभूति जगाता है।

साकेत-सन्त

'जहाँ कृमि, कीट-मडांव वही बीभत्स' वाली प्रवृत्ति से ही प्रेरित होकर डा० गोविन्दराम शर्मा ने साकेत-सन्त मे भी बीभत्स रस की झलक पाई है—'एक-दो प्रसगो मे बीभत्स रस की झलक भी साकेत-सन्त मे दिखाई देती है।'[2] डा० शर्मा ने उदाहरण ये प्रस्तुत किए है—

सडने लगती देह बिगडने लगती आकृति,
कृमि कीटों की भक्ष्य भयावह उसकी ससृति।
साकेत-सत, सर्ग, ५ ८

गये उड गिद्ध और शृगाल भागे, सडी-सी लोथ चोथी छोड आगे।
मगर की राह ने परवाह किसकी, उसे थी आह किसकी चाह किसकी।।
साकेत-सत, सर्ग ६, ३०

निश्चित ही ऐसे वर्णनो मे बीभत्स रस की अवस्थिति नही मानी जा सकती। मानव के घृणित आचरण और पाप-कर्म ही हमारी मानसिक घृणा के विषय बन सकते है। 'साकेत-सत' मे दुष्टो के अत्याचारो और कुकर्मो के वर्णन का विशेष अवकाश कवि के पास नही है।

अन्य महाकाव्य

डा० प्रतिपालसिंह ने अपने शोध-प्रबन्ध 'बीसवी शताब्दी के महाकाव्य' मे कुछ आधुनिक महाकाव्यो का विवेचन प्रस्तुत किया है। खेद है कि उन्हे इन महाकाव्यों मे बीभत्स रस के उदाहरण नही मिले। केवल दो महाकाव्यो से एक-एक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, और उसमे भी वही परम्परागत त्रुटिपूर्ण दृष्टिकोण है। 'कृष्णायन' मे भीम के बीभत्स रूप को बीभत्स रस का विषय बताया गया है,

---

१- हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य' गोविन्दराम शर्मा- पृ० ३३० (प्रथम संस्करण)।
२ वही पृ० ३७०

जिसका खण्डन हम पहले कर चुके है। दूसरा उदाहरण[1] भी रुधिर-मास से सम्बन्धित है। 'नूरजहाँ' (श्री गुरु भक्तसिंह 'भक्त') मे 'रस और भाव' पर विचार करते हुए उन्होंने इस महाकाव्य से बीभत्स रस का कोई उदाहरण नही दिया। यद्यपि उन्होने स्पष्ट कहा है कि शेर अफगान और जमीला का चरित्र अत्यन्त घृणित है। जमीला के सम्बन्ध मे उनका कथन है—'वह कुलटा, दुश्चरित्रा एवं स्त्री-जाति की कलंक कही जा सकती है। उसमे घृणित-से-घृणित कार्य करने की क्षमता है। उसका चरित्र निकृष्ट है।'[2] किन्तु इस घृणित पात्र मे भी उन्हे बीभत्स रस का उदाहरण प्रतीत नही हुआ—उस बीभत्स रस का जिसका उनके ही शब्दों मे घृणा स्थायीभाव है। इस सम्पूर्ण अभाव-दर्शन का एक-मात्र कारण बीभत्स रस के बारे में परम्परागत दृष्टिकोण और लहू-मांस आदि की प्राचीन धारणा ही है। 'नूरजहाँ' काव्य में बीभत्स रस का प्रसार प्रचुर मात्रा मे दिखाई देता है। शेर अफगान बगाल की निरीह प्रजा पर निर्दयतापूर्ण अत्याचार करता है। अपनी धर्मान्धता को प्रकट करता हुआ वह नाहर और उसके पुत्र को धर्म-परिवर्तन के लिए मजबूर करता है और उनके न मानने पर उन्हे मौत के घाट उतार देता है। उसके चरित्र को लेखक ने अपनी इन पंक्तियों मे घृणा का विषय बनाया है :

> "वह था स्वभाव से रूखा था हृदयहीन अति कट्टर,
> था पशुबल का व्यापारी, अति क्रोधी निर्दय बेडर।
> सगीत-समाज उसे था दुश्मन-सा सदा खटकता,
> साहित्य नाम सुनते ही गुस्से से पैर पटकता।"

उसके लिए स्त्री केवल काम-पूर्ति की वस्तु थी। वह अपनी धर्मान्धता मे कट्टर था। जब उसकी पत्नी मेहर (नूरजहाँ) अपनी सखी सर्वसुन्दरी के पति के प्राणो की भिक्षा माँगती है, तो वह उसे ठुकरा देता है और अपमानित करता है।

उसे किसी से प्यार नही, केवल अपनी तलवार ही उसे प्यारी थी। विमलराय का वध करने मे उसके मुल्लापन का बीभत्स रूप अत्यन्त घृणोत्पादक है। जब वह विमलराय को इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है तो वह वीर धर्मात्मा उसे फटकारता हुआ कहता है—

---

१. डा० प्रतिपालसिंह : बीसवी शताब्दी के महाकाव्य, पृ० २२७ पर 'दैत्यवश' (हरदयालुसिंह) मे निम्न उदाहरण—

"जोगिन भूत पिशाच पिशाची मारु काटु धुनि बोलहि नाचै।
भच्छहि मास रुधिर धुनि पीवहिं आमिष देहि वीर दोऊ जीवहिं।
कोऊ हार आतन के धारत, कोऊ करेजो फारि निकारत।
कोऊ मुण्डन की माल बनावत, कोऊ सचोप चरबी तन लावत।"

२ वही पृ० १ ३

"यह सर मेरा है हाजिर मुझको मरने का क्या डर।
तू मारेगा क्या मुझको मैं अमर अनन्त अजय हूँ,
तू काटेगा क्या मुझको मैं जल हूँ अनन्त मलय हूँ॥"

अन्त में उसे अपने कुकृत्यों पर पश्चात्ताप करना पड़ता है। जब उसका कोई साथ नहीं देता और वह अकेला अत्यन्त विपन्न अवस्था में होता है, तो पछताता है—

"दौड़ा दौड़ा अन्दर जा तुरत मेहर के पग पर गिर।
मूर्ख हृदय की भूलों की वह क्षमा माँगता था फिर फिर॥"

विक्रमादित्य' महाकाव्य में भी बीभत्स रस के उदाहरण यत्र-तत्र प्राप्त होते है। आरम्भ मे धौंकल भोलानाथ प्रहरी से अंत:पुर का समाचार बताता हुआ कहता है कि मै महाराज से चन्द्रगुप्त के बारे मे झूठी-सच्ची बताकर अपना उल्लू सीधा करूँगा, टका-धर्म कमाऊँगा—

राजा के भाई है तो क्या, सीधा है करना मुझे टका,

. . . .

अपना उल्लू सीधा कर लूं बनकर आज्ञाकारी चाकर।
चट्टा बट्टा कर उसी रग का, तुमको भी अपनाता हूँ,
सुर मे सुर भरो हमारे तुम, गाओ जैसा मैं गाता हूँ।[1]

इस पर भोलानाथ उसे फटकारता हुआ कहता है—

मैं झूठ कदापि न बोलूगा, विश्वासघात! यह नीच काम,
मुद्रा के लिए पतन ऐसा? कलियुग की महिमा! राम! राम!

....

क्यो आग लगाने को घर मे हो व्यर्थ आग पर रहे लोट,
चुल्लू भर जल में डूब मरो जो यो जी मे आ गया खोट।

धौंकल के नीच प्रस्ताव पर उसकी भर्त्सना और फटकार बीभत्स रस का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है। शौरसेन-सेनापति भूधरनाथ क्षत्रपति बनने के लालच मे आकर शक-शासक रुद्रसिंह से दुरभिसंधि कर लेता है और अपने स्वार्थ के हित अपने स्वामी नागसेन को मार डालता है। यह धूर्त्त भी हमारी घृणा का पात्र बनता है। उसके ये शब्द उसके प्रति हमारी घृणा उत्पन्न करते है—

स्वार्थसिद्धि है ध्येय हमारा जैसे भी हो यथा तथा,
यह ही मेरा मूल मन्त्र है, यह मेरे जीवन का लक्ष,
छत्रपति! हाँ ले सकता है यह सैनिक भी क्षत्रप-पक्ष,
यदि त्रिवाच दे, मुझे बिठा दो, जीत इसी सिंहासन पर,
मेरा स्वप्न करो तुम पूरा, मैं दूं तब अनुशासन कर,[2]

१. गुरुभक्तसिंह भक्त: विक्रमादित्य (प्रथम संस्करण), पृ० १२-१३।
२. वही- पृ० ३५।

वह अपने मन में लड्डू फोडता हुआ, अपने क्षत्रप बनने की धुः
—

मारा राज्य हमारा होगा, शीश झुकायेगा जग कल,
सिंहासन पर मुझे देख, यह प्रजा करेगी कुछ खल बल,
उस पर भी मै जय पा लूगा, दिखलाकर अपना छल बल,
नेताओ को डाल गर्त मे, मिट्टी से दूँगा पटवा,

उसकी इस नृशंस प्रकृति के प्रति पाठक की घृणा ही जगती है ।

जब विलासी और भीरु सम्राट् रामगुप्त शक-शासक रुद्रसिंह से ड
ा (महारानी) को देने का उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लेते है, और
बात का पता चलता है, तो वह सम्राट् को उसकी कायरता पर धि
ती है—

महाराज मै क्या सुनती हूँ शकपति का अनुचित अनुरोध,
स्वीकृति देकर मान लिया है, सुनकर आया तनिक न क्रोध,
यह है विषय बडी लज्जा का, यह है बडे दुखकी बात,
कर विश्वासघात पावन बन्धन पर कर डाला आघात,
....

मेरी पत लेने की पति से शकपति करे धृष्टता फिर,
पृथ्वी नही फटी क्यो भगवन्, अबर नही गया क्यो गिर,
इति कर दी निज कुल के यश की नही मूछ पर आया ताव,
सम्राज्ञी के देने का क्षत्रप ने जब भेजा प्रस्ताव,
मुझे दूसरे को देने का नही किसी को है अधिकार,
यदि 'हाँ' कर दी कायरता से, तो भेजो यह शीश उतार,
लेने को प्रतिकार प्रतिज्ञा करती हूँ मैं छू करवाल,
पत्नी रण में जूझेगी बैठें पति पतित चूड़ियाँ डाल,[1]

जब चन्द्रगुप्त को भी भाई की इस कायरता का पता चलता है,
भाई को धिक्कारता हुआ कहता है—

मति भाई की भ्रष्ट हो गई, नही बॉह मे उनके बल ?
जो शक की गीदड भभकी पर पथ से अपने गये विचल,
देवी देने की स्वीकृति दी ! उन्हे डूब मर जाना था,
मर्यादा यों खो, निज कुल में नही कलंक लगाना था,[2]

बीसवें खण्ड मे कापालिक हमारी घृणा का आलम्बन बनता है । व

१, पृ० ५६-६० ।
२ पृ० ६६ ।

प्राणियों की बलि देकर चण्डी की आराधना करता है। उसका बाह्य और आन्तरिक रूप-कुरूप देखिए—

खप्पड़ की ज्वाला ने जगकर अद्भुत रूप दिखाया,
मांसल देह, रीछ से रोये, क्षारपूर्ण तन काला,
मूँजदण्ड, कौपीन कसी कटि, मेरुदण्ड की माला,
मेद, मज्ज, जल जल खप्पर में, करते स्वल्प उजाला,
... .

मन्दिर के था निकट अस्थि पिंजर समूह का टीला,
एक ओर सूखी सरिता का था पेटा रेतीला,
एक ओर थी अग्निकुण्ड मे आग धधकती धू धू,
तम की ही आहुति देता था इक उलूक जप हू हू,[1]

कवि ने यद्यपि 'कापालिक' के चरित्र से बीभत्स रस की ही सृष्टि की है, वह योगिनी के सुन्दर रूप पर मुग्ध हो बलात्कार करना चाहता है, जिससे क्षुब्ध हो योगिनी बनी हुई ध्रुवदेवी तलवार से उसका सर काट डालती है, पिचकारी-सी रक्त की धार निकलती है, ध्रुवदेवी उसकी लोथ को ठोकर लगाती है; तो भी कवि ने उसमे जो अलौकिक शक्ति या मत्र-शक्ति दिखाई है, जिससे खिंचकर चन्द्रगुप्त-जैसे वीर पराक्रमी भी उसके आगे चुपचाप बलि का बकरा बन जाते हैं, यह सर्वथा अयोग्य है, और आलम्बनत्व मे या रस मे अनौचित्यपूर्ण व्याघात-सा उत्पन्न करती है। पता नही, किस मोह मे कवि यह दिखा गया है! उस नीच, कामुक और अत्याचारी मे ऐसी किसी शक्ति की सिद्धि आधुनिक पाठक के हृदय उतर नहीं सकती।

सम्राट् रामगुप्त भी अन्त में अपने किये पर पछताते है। आत्मग्लानि से भरा हृदय रुग्णशय्या पर यों फूट पड़ता है—

गई वह, मुझे अकेला छोड़,
प्रेम का नाता सारा तोड़,
मुझे धिक्कार,
अनेकों बार,
त्याग कर उसे किया अपमान,
क्लीव बन गया, भूल कुल कान,
मिटाई आन,
कीर्ति अम्लान,
आर्य ललना को बना अनाथ,
गहा था हठवश, जिसका हाथ,

[1] वही पृ० १०७-१०८

गया हूँ ऊब,
मरूँ मैं डूब,
.. ..
पातकी नीच घृणित मैं आज,
भार हो रहा मुझे यह राज,
... .
अहो मम तात,
बिना कुछ बात,
दिया निर्वास तुम्हे कर भूल,
लगा अभियोग झूठ निर्मूल;
... .. .
किया सब होकर स्वार्थ विभोर,
गया मैं यों पशुता की ओर;
कृपा आगार,
करो निस्तार,
छोड हे राम ! मोह का साज,
त्याग दे रक्त भरा यह राज;
करो अज्ञान ।
अलख का ध्यान;
गहो सतपथ निकाल विकार,[1]

अन्तिम पंक्तियों मे आत्म-ग्लानि या आत्मभर्त्सना शान्त रस की सहायक भी सिद्ध हो रही है। इस प्रकार 'विक्रमादित्य' मे बीभत्स रस का पर्याप्त प्रसार दिखाई देता है। कवि ने पूरी सहानुभूति के साथ मानवीय दुर्बलताओ के प्रति घृणा उत्पन्न की है।

'हल्दी घाटी' में जब शक्तिसिंह और प्रताप अपने शिकार पर ही आपस में लड़-मरने को तलवार खींच लेते हैं, तब राजपुरोहित ब्राह्मण यह दृश्य देखकर दंग रह जाते हैं, दोनों को फटकारते हुए वे कहते है—

कहा डपटकर, रुक जाओ,
यह शिशोदिया-कुल-धर्म नही।
भाई से भाई का रण यह,
कर्मवीर का कर्म नही ॥

१. वही, पृ० १३६—१३८।

राजपूत-कुल के कलंक,
अब लज्जा से तुम झुक जाओ ।
शक्तिसिंह, तुम रुको, रुको,
राणा प्रताप, तुम रुक जाओ ।।[१]

जब वे राजपुरोहित की बात पर बिल्कुल कान नही धरते तो ब्राह्मण ने एकदम अपने सीने में छुरा घोंप लिया और दोनो के बीच निज रक्त-धारा बहा दी। उसने राजवश के हित को अपने प्राणो की बलि देकर सुरक्षित रखा। दोनो भाई सन्नाटे में आ जाते है। लज्जा से सिर झुक जाना है—

युगल-बन्धु के दृग अपने को
लज्जा पट से ढाप उठे ।
रक्त देख कर ब्राह्मण का
सहसा वे दोनों काप उठे ।।

कवि ने अकबर के व्यभिचार 'मीना बाजार' का कच्चा चिट्ठा खोलकर उसके प्रति हमारी घृणा जगाई है। कितने दु.ख एव लज्जा की बात है कि—

अहो हमारी मा-बहनों से
सजता था मीना बाजार ।
फैल गया था अकबर का वह
कितना पीड़ामय व्यभिचार ।।[२]

कामातुर हो अकबर न-जाने कितनी भारतीय ललनाओं पर अत्याचार करता था। एक बार एक वीर नारी ने उसकी छाती पर चढ़कर उससे तोबा कराई थी। जब अकबर धृष्टतापूर्वक उसकी ओर बढ़ा, तब—

शिशोदिया कुल कन्या थी
वह सती रही पांचाली सी ।
क्षत्राणी थी चढ़ बैठी
उसकी छाती पर काली सी ।।
कहा डपटकर—'बोल प्राण लू,
या छोड़ेगा यह व्यभिचार ?"
बोला अकबर—"क्षमा करो अब
देवि ! न होगा अत्याचार ।।"[३]

---

१. श्यामनारायण पाण्डेय : हल्दीघाटी, पृ० २६ (प्रथम संस्करण) ।
२. वही, पृ० ४३ ।
३ वही पृ० ४६ ४७

'हल्दी घाटी' वीररस-प्रधान काव्य है, अतः कवि ने हल्दी घाटी के भीषण रण और उसमें लाशों पर मडराने वाले कौवो और कुत्तो का बीभत्स चित्रण प्रस्तुत करने की परम्परा का भी पूरी तरह निर्वाह ही नही किया है, बल्कि १४ वा सर्ग इसी वर्णन से भर दिया है। इस भद्दी परम्परा के निर्वाह मे पता नही क्या रस प्राप्त होता है! नीचे हम कुछ पक्तियाँ उद्धृत करते है, सहृदय देखे कि इस बीभत्स दृश्य में बीभत्स रस की अनुभूति कहाँ होती है ?—

आँखे निकाल उड जाते,
क्षण भर उडकर आ जाते,
शव-जीभ खीचकर कौवे
चुभला-चुभला कर खाते ।।

× × ×

गिरि पर डगरा-डगरा कर
खोपडियाँ फोर रहे थे।
मल-मूत-रुधिर चीनी के
शरबत सम घोर रहे थे ।।
भोजन मे श्वान लगे थे
मुरदे थे भू पर लेटे ।
खा मांस, चाट लेते थे
चटनी सम बहते नेटे ।।
लाशों के फार उदर को
खाते-खाते लड जाते ।
पोटी पर थूथुन देकर
चर-चर-चर नसे चबाते ।।
तीखे दाँतों से हय के
दातों को तोर रहे थे ।
लड़-लडकर झगड़-झगड़ कर
वे हाड़ चिचोर रहे थे ।।
जम गया जहाँ लोहू था
कुत्ते उस लाल मही पर !
इस तरह टूटते जैसे
मार्जार सजाव दही पर ।।
लड़ते-लड़ते जब असि पर,
गिरते कटकट मर जाते ।

तब इतर श्वान उनको भी
पथ-पथ घसीटकर खाते।

"हाथी की दृढ खालों में उनके दाँत न धमते थे। कभी वे अरि-दाढ़ी के बालों मे उलझ पड़ते थे। चोटी घसीटकर वे गिरि की उन्नतचोटी पर चढ जाते थे और गुर्रा-गुर्रा कर सडी-गली पोटी पर भिडते थे। लाशों के ऊपर मंडरा-मंडरा कर चीलें बिट कर देती थी और लहू-भरी लोथ को झपट कर अपने चंगुल मे भर लेती थी। गीदड भी लाशो को घसीट-घसीट कर पर्वत-वन और खोहो मे लाते थे और इच्छा-भर खाते थे। दिन के कारण वे तरु और झाड़ियों की ओट मे छिप-छिप कर माँस को इस तरह चुभलाते थे मानों मुख मे मेवे हो। सडा हुआ मेदा खाकर कभी अवनी पर ही उसे हुलककर वमन कर देते थे। तब झट अन्य जम्बुक उसे खीर के समान जी भरकर खा जाता था। पर्वत की चोटियो पर गीधों की पंचायत बैठी थी, वह भी खाने की सायत जानकर सामोद नीचे उतरी। वे बरछी के समान अपनी चोंच घुमाकर उदर की पीव पीते थे। वे मुख मे शवो की नसें घुलाकर आनन्द के साथ घोट जाते थे। घोड़ों के नरम माँस को खाकर, फिर नर के मधुर कंकालो को चुभलाते थे और कर-कर-कर करते हुए हाथियो की खाल फाड़कर खा जाते थे। इस तरह सड़ी लाशें खाकर गीधों ने तुरन्त मैदान साफ कर दिया और युग-युग के लिए महीधर में भय भर दिया।"[1]

कहने की आवश्यकता नही, प्राचीन आचार्यों के अनुसार तो उपर्युक्त वर्णन बीभत्स रस का ही उदाहरण कहा जायगा, परन्तु सहृदय देखें कि इस इतिवृत्तात्मक वर्णन में घृणा स्थायीभाव और उससे अभिव्यक्त बीभत्स रस की अनुभूति कहाँ प्राप्त होती है? अव्वल तो इस वर्णन की काव्योपयोगिता ही संदिग्ध है। ऐसे इतिवृत्तात्मक वर्णन सरस होते ही नही। दूसरे, मास, मज्जा आदि के वर्णन से बीभत्सता तो यहाँ मानी जा सकती है, पर बीभत्स रस कदापि नहीं माना जा सकता। अर्थात् हम यह तो कह सकते हैं कि उस युद्धभूमि का बीभत्स दृश्य कवि ने प्रकट किया है, पर यह नही कह सकते कि कवि ने बीभत्स रस का चित्रण किया है। हम पहले ही निवेदन कर चुके हैं कि बीभत्सता और बीभत्स रस मे अन्तर है। यह अनिवार्य नही है कि प्रत्येक बीभत्स दृश्य बीभत्स रस की अनुभूति कराये।

जौहर (श्री श्यामनारायण पाण्डेय) मे बीभत्स रस का अच्छा निर्वाह हुआ है। इसमें अलाउद्दीन खिलजी हमारी उत्कट घृणा का पात्र बनता है। चित्तौड़गढ मे चारो ओर लाशों का ढेर लगा है, दोनों पक्षो के अनेक सैनिक खेत हुए हैं। वासना का पुतला अलाउद्दीन इस भीषण जन-संहार की ओर कोई ध्यान न देता हुआ, अपनी काम-वासना की तृप्ति के लिए पद्मिनी को प्राप्त करने मे ही व्याकुल दिखाई देता है—

---

१ वही पृ० १५७—१६०

बोल उठा माँ से अभिमानी, कहाँ पद्मिनी रानी है।
मुझे महल का पता बता दो, मेरी विकल जवानी है।[१]

उसकी इस राक्षसी प्रवृत्ति के प्रति उत्कट घृणा जगती है। वह आलम्बन है, उसका जन-संहार कराना, लाशो के बीच खड़े होकर काम-विकलता प्रकट करना उद्दीपन विभाव है। अभिमानी शब्द से तिरस्कार व्यजित है, जो अनुभाव का द्योतक है। डा० गोविन्दराम शर्मा ने अलाउद्दीन के इन वचनो को अस्वाभाविक बताया है। उनका कथन उद्धरणीय है—"चितौड़ के किले मे चारो ओर बिखरी पड़ी लाशो के बीच खड़े अलाउद्दीन के हृदय मे कामवासना की तृप्ति के लिए पद्मिनी को प्राप्त करने की विकलता अस्वाभाविक प्रतीत होती है।"[२] वास्तव मे कामवासना के पुतले अलाउद्दीन के इस चारित्रिक आचरण मे कोई अस्वाभाविकता की बात नहीं है। इन विलासी राजा-महाराजाओ के लिए अपने मनोविनोदार्थ जन-संहार करा देना एक साधारण क्रीड़ा थी।

युग-द्रष्टा प्रेमचन्द

श्री परमेश्वर 'द्विरेफ' का यह नवीनतम प्रबन्ध-काव्य बीभत्स रस की प्रचुर सामग्री देता है। सामाजिक वैषम्य, सामाजिक बुराइयाँ और धार्मिक अंधविश्वासो के प्रति द्विरेफ जी का घृणापूर्ण विद्रोह कई पद्यो मे प्रस्फुटित हुआ है। जीवन के वैषम्य का तिरस्कारपूर्ण चित्रण इन पंक्तियो मे देखिए—

एक ओर फूलो की शय्या,
चाँदी का व्यापार मनोहर।
स्वर्णाभूषण मे ललनाएँ,
सुरा-पात्र देती है भर-भर।
संसृति का ऐश्वर्य चिरन्तन,
इधर-उधर नीचे ऊपर है।

और दूसरी ओर धरा है,
खाने को दो ग्रास नही हैं।
तन की लज्जा ढक रखने को,
फटे वसन भी पास नही हैं।
पीने को जल, सोने को थल,
नहीं कही तिनकों का घर है।[३]

---

१. जौहर, चिनगारी २०, पृ० ११२।
२. हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य, पृ० ४६८।
३. युगद्रष्टा प्रेमचन्द, सर्ग ४ पृ० ६०।

यहाँ दूसरे पक्ष के प्रति करुणा की भावना उत्पन्न होती है, किन्तु सामाजिक विधान के प्रति घृणा का ही अनुभव होता है। सामाजिक और धार्मिक बुराइयों का पर्दा-फाश वे इस तरह करते है—

"मृत शरीर के लिए दी गई,
बलि काले कौवे खाते है ?
मृतकार्पित मिष्टान्न स्वर्ग तक
काले कुत्ते पहुँचाते है ?"

"ऋण ले लेकर, ब्याज-ब्याज पर,
देवो का तर्पण करते है।
आप स्वय तो डूब रहे है,
पर, पितरो को तारेंगे ही॥"[१]

....

"ईश्वर के मन्दिर में वेश्या
का नगा नाच खराब नही,
क्या वे अछूत हैं, पापी है
जिनके मुख पर कुछ आब नही ?"[२]

सामाजिक तथा धार्मिक कुप्रथाओ के ये चित्र तथ्योद्घाटक तो हैं, किन्तु भावमय रसपूर्ण उद्वेलन इनमे कम है। तो भी कवि के हृदय की भर्त्सना इनमे खूब पाई जाती है।

श्री परमेश्वर 'द्विरेफ' के 'मीराँ महाकाव्य' मे राजाओ-महाराजाओ के सुरा-पान, शिकार मे जीव-हत्या, माँस-भक्षण, भोग-विलास आदि के प्रति घृणा प्रकट करती हुई मीराँ कहती है—

ये दासी, कुलटा, वेश्याएँ
नगा विकाम व्यभिचारो का
ये सुरापान की देन गर्ह्य
कुत्सित फल पापाचारो का।[३]

बारहवे सर्ग मे छुआछूत और अन्त्यजो के प्रति कुलीनों के अत्याचार को घृणा का विषय बनाया गया है। अन्त्यजो का कुएँ पर चढ़ना तो निषिद्ध था ही, कुलीन नर-नारी प्यासे अन्त्यज को पानी पिलाना भी अपने धर्म के विरुद्ध समझते थे। एक प्यासा अन्त्यज एक युवती से पानी की याचना करता है। पर वह कुलीनता

१. वही, सर्ग २, पृ० ३७।
२ वही सर्ग ६ पृ० ६४
३ मीरा (प्रथम सस्करण १९५७ ई०) पृ० १२१

की अभिमानिनी उसे नीच, काला-कुरूप कहकर पानी देने से इन्कार कर देती है। बेचारा जेठ की भीषण धूप का प्यासा पथिक अचेत हो कर वहीं गिर जाता है। तब मीराँ उसे होश मे लाती है, उसका उपचार करती है। कहाँ यह नवयुवती, और कहाँ वह दयामयी मीराँ !

> यह भेद-भाव मे मग्न, इसे
> पामर, कुरूप का एक ध्यान
> वह करुणा की प्रतिभा, जग के
> दुख-सुख की उर मे लिये तान
>
> ..
>
> पर वह सचमुच कुत्सित ही है
> जिसने न तृषित को दिया नीर
> त्रुटियाँ न, वहाँ तो अन्धकार
> अभिमान-भरा, मिथ्या अधीर।[1]

इस प्रकार जाति-भेद और छुआछूत के अत्याचारी भूत के प्रति घृणा उत्पन्न की गई है। इस काव्य मे जहर देने वाले तथा मीरा पर व्यर्थ के लाँछन लगाने और उसे भक्ति-मार्ग से रोकने वाले देवर राणा तथा परिवार के अन्य प्राणी घृणा के अच्छे आलम्बन बन सकते थे, पर कवि ने तेरहवे (अन्तिम) सर्ग मे यह प्रसग अत्यन्त संक्षेप मे उठाकर काव्य समाप्त कर दिया। इस रूप मे राणा का विरोध घृणा का विशेष विषय नही बन सका। अच्छा होता यदि लेखक जहर देने, रोकने आदि सघर्ष का सजीव चित्रण करता। तब मीरा की देवर को दी गई यह फटकार बीभत्स रस की तीव्रानुभूति कराती—

> मदिरा के लोभी, जाओ, अपना करो काम !
> रख लो अपने ये माणिक, मुक्ता, धान्य, धाम ![2]

श्री रघुवीर शरण 'मित्र' ने अपने महाकाव्य 'जननायक' मे गाँधी जी के जीवन-चरित्र को पद्यबद्ध किया है। इसमे अफ्रीका के गोरे शासकों और उनकी रग-भेद भावना तथा भारतीय अँग्रेजी राज्य के प्रति पर्याप्त घृणा उत्पन्न होती है। अफ्रीका मे गोरे अँग्रेज भारतीयो के साथ कुत्तों से भी बुरा सलूक करते थे, उन्हे 'कुली' या 'सामी' कहकर पुकारते थे, अपना दास बनाकर उन पर अत्याचार ढाते थे। 'उस गोरी चमडी के आगे—भारतीय इन्सान नही थे।' गाधीजी को फर्स्ट क्लास के डिब्बे में से मार-पीट कर निकाल दिया जाता है, काला आदमी और भारतीय गोरों के

---

१. वही, पृ० २४३।
२. वही, पृ० २६०।

रेल के डिब्बे मे बैठे ! गोरों के बराबर गाड़ी में बैठे ! गोरी चमड़ी भला से बर्दाश्त कर सकती है ?—

'तू हिन्दुस्तानी है, तुझको बता यहाँ किसने बैठाया ?
निकल यहाँ से, बैठ 'थर्ड' मे ! गोरे ने इनको धमकाया ॥
गाधी ने यह कहा नम्र हो—'फर्स्ट क्लास का टिकट पास है।'
गोरे ने यह कहा अकड कर—यह गोरो के लिए खास है ॥
... ...

एक रेलवे अधिकारी ने, आकर गाधी को फटकारा।
निर्दयता से गाधी जी को, धक्के देकर तले उतारा ॥
बिस्तर फेंक दिया गाँधी का सच्चाई का खून कर दिया।
जाड़े की ठिठरी रजनी मे, पाले का अंगार धर दिया ॥[1]

गाधी जी को घोड़ा-गाडी की सीट पर बैठा देखकर एक गोरा आग-बबूला ता है। गांधी जी गोरों की लाल आँखे देखकर कोचवान के पास तख्ते पर बैठ भी वह 'अँग्रेज भून' शान्त न हुआ, वह उन्हे 'कुली' कहकर पुकारता है और बैठने को कहता है। गाधी जी ने तनिक जबान खोली तो गोरे ने उन्हे ार कर बेहाल कर दिया—

उसने कहा—'अरे ओ गाधी ! कुली ! बैठ पैरो में आकर।
जगह हवा के लिए छोड़ यह, अबे ! बैठजा पायदान पर ॥
इस पर गाधी जी यह बोले—'तुम तो गद्दी पर बैठे हो।
तुम गद्दी पर, मै तख्त पर, फिर भी तुम मुझसे ऐंठे हो ॥
मेरी जगह बैठ कर भी तुम, मुझ को नही बैठने देते।
जो मेरा अधिकार उसे तुम, मेरा गला दबा कर लेते ॥
जिस हाँडी मे खाते हो तुम, छेद उसी हाँडी मे करते।
बिना बात झगड़ा करते हो, तुम न तनिक ईश्वर से डरते ॥'
इस पर उस गोरे ने उनको दाँत पीस घूसो से मारा।
बुरी बुरी गालियां सुनाईं, सीमारहित चढ गया पारा ॥

यह शैतान गोरा व्यक्तिगत रूप मे तो हमारी घृणा का आलम्बन है ही, साथ ो की यह रग-भेद की अमानुषीय भावना, जिसके अत्याचारो से यौरुप और के देशो मे मानवता त्राहि-त्राहि कर उठी है, हमारी घृणा का विषय बनती ोला, दक्षिणी अफ्रीका के मोजम्बीक आदि देशो-विदेशों मे पुर्तगाली गोरो की ा से आज भी कौन परिचित नही है ? वहाँ के लोगों से जबरन मजदूरी

---

[1] नायक (१९५८ सस्करण) पृ० ६४

कराई जाती है। मारना-पीटना, भूखा रखना गोरो के साधारण अत्याचार है जननायक गाधी जी के पास एक दिन एक पिटा-छिता मद्रासी आया। गोरे मालिक चाय मेज पर न रखने के कसूर पर उस बेकसूर की मार-मार कर खाल उड़ा दी थी बेचारा आँसू बहाता हुआ गाधी जी के पास आया और गोरे से पिड छुड़ाने व प्रार्थना की।

बूटो से उधेड कर जिसके तन की चमडी-चमडी छीली।
शरण माँगनी थी पुत्रो से—जिस भारत की आँखे गीली ॥
घूँसे मार मार गोरो ने, जिसके दाँत तोड़ डाले थे।
'कुली' कहाने को गोरो से, दर पर पडे हुए काले थे ॥
भारतमाता के शोणित की, उनके ओठो पर प्याली थी।
कानूनों के छुरे भोंक कर, हक की हत्या कर डाली थी ॥
गोरो की थी सडक वहाँ पर, गोरो की थी रेल वहाँ पर।
हमे खिलौना समझ तोड़ना, गोरो का था खेल वहाँ पर ॥[1]

'गिरमिटियो' (हिन्दुस्तानियो) पर 'तीन पौड कर' लगा दिया गया था काले खून-पसीना बहाते थे, गोरे मौज उड़ाते और पेट फुलाते थे। इन गोरों के प्रति तीव्र घृणा इन पक्तियो मे देखिए—

एक सर्प ने 'तीन पौड कर' लदवाया हिन्दुस्तानी पर।
अपने गाल सुर्ख कर डाले, 'गिरमिटियों' का खून चूस कर ॥
यम का कर था या पिशाच का, बच्चो तक पर भी वह कर था।
मानवता की शव-यात्रा मे काले-गोरे का अन्तर था ॥
खून पसीना बहा-बहा कर भारतीय खेती करते थे।
पर भूखे मरते थे काले, गोरे बडे पेट भरते थे।

इस प्रकार अफ्रीका मे गोरो के अत्याचारो का सजीव चित्रण करके लेखक ने उनके प्रति पाठक की घृणा जगाई है। किन्तु भारतीय अग्रेज सरकार और भारतीय गोरो की काली करतूतो का सजीव चित्रण लेखक नही कर सका है। इसी कारण इस आरम्भिक अश को छोड कर आगे बीभत्स रस की सजीव अनुभूति कही नही होती। अधिकाशतः इतिवृत्तात्मक शैली अपनाकर कवि ने गाँधी जी के चरित्र को पद्यबद्ध करके छुट्टी पा ली। भिन्न-भिन्न भाव-स्रोतो की जो अपेक्षा थी, वह सब कुछ नही है। अग्रेजो के बीभत्स कुकृत्यों और अत्याचारो के सजीव चित्रों के अभाव मे े घृणा के विशेष आलम्बन नही बन पाते। लेखक ने भारतीयता के नाम पर व्यर्थ ी उन बीभत्स व्यापारों के चित्रण से छुट्टी पाने की चेष्टा की है—

---

१. जननायक, पृ० ११५।

वह विभीषिका रंगमञ्च पर, कैसे तुम को दिखलाऊँ मैं ?
अंग्रेजों जैसा पत्थर का, कहो कहाँ से दिल लाऊँ मैं ?
मैं भारत माँ का बेटा हूँ, सत्य प्रेम का अमर पुजारी ।
मेरा हृदय मोम-सा कोमल, मेरी नीति नही हत्यारी ।।[1]

रंगमच पर हत्या-रक्तपात, लूट-मार के दृश्य दिखाना भारतीय दृष्टि से वर्जित है । इस परम्परा के प्रति अपने श्रव्य काव्य मे भी निष्ठावान् रहने वाले मित्र जी भारतीय रस-परम्परा को भुला बैठे । भला रस-सचार का निषेध कौन-सी भारतीय परम्परा है ? इतिवृत्तात्मक शुष्क शैली के कारण ही देश-द्रोहियों, अग्रेजीयत के रग मे रगे भारतीयो, गली-सड़ी सामाजिक एव धार्मिक रूढ़ियो, कट्टर साम्प्रदायिक मुसलमानों तथा देश के शत्रु अग्रेजो का सजीव आलम्बनत्व इस काव्य में प्रकट नही हो सका है ।

श्री सोहनलाल द्विवेदी के खण्ड-काव्य 'कुणाल' मे तिष्यरक्षिता का आचरण हमारी घृणा जगाता है । वह अपने ही सौतेले बेटे कुणाल पर रीझ कर उससे कलुषित प्रस्ताव करती है । किन्तु जब कुणाल इस अनुचित प्रस्ताव को अस्वीकार करता है, तो वह कुणाल से बदला लेने के लिए क्रूर सिंहनी बन जाती है । वह राज्याधिकार अपने हाथो में लेकर कुणाल पर झूठा अभियोग लगाती है । वह उसके सुन्दर नेत्र छीन लेने और निर्वासित कर देने की आज्ञा देती है । वह 'चक्रचालिनी' कैसी 'व्यालिनी' निकली ! जब बाद मे अशोक को रानी तिष्यरक्षिता के पापाचार का पता चलता है, तो वे शोक, क्रोध और घृणा से भर जाते हैं । वे रानी को 'कुलघातिनी', 'कुटिनी', 'पैशाच' आदि कहकर फटकारते है—

है कहाँ कुलघातिनी !
कुलनाशिनी वह पाप ?
मौर्यकुल के कीर्तिकेतन
की अमित अभिशाप ?
... .
है कहाँ यमदूतिनी ! वह
काल व्याल कृतान्त ![2]

प्रबन्ध-काव्यो मे अधिकतर ऐतिहासिक-पौराणिक विषयो को ही अपनाया गया है, और यद्यपि इनमें कहीं-कही वर्तमान का स्वर भी सुनाई पडता है, पर वर्तमान जीवन की समस्याओ का पूर्ण चित्रण इनमें नही हो सकता था, नहीं हुआ है । इसी से सामाजिक बुराइयों के प्रति घृणा का वह रूप महाकाव्यों और खण्ड काव्यो

१. जननायक (सन् १९५८ संस्करण), पृ० २१३ ।
२. सोहनलाल द्विवेदी · कुणाल (प्रथम संस्करण १९४५), पृ० १२१-१२२ ।

मे कम मिलता है, जो आधुनिक गद्य कथा-साहित्य मे पाया जाता है। द्विवेदी-युग के आधुनिक मुक्तक काव्य मे घृणा का अधिकतर इतिवृत्तात्मक प्रकाशन हुआ, यह हम पहले देख चुके हैं। छायावादी-रहस्यवादी कविता मे बीभत्सरस का प्रायः अभाव ही रहा। यद्यपि छायावादी कवियो मे भी विश्व-वेदना की उच्च अनुभूति पाई जाती है, और जीवन से निवृत्ति की बजाय प्रवृत्ति का ही मार्ग इन कवियो ने दिखाया, तो भी इनका आदर्शवादी दृष्टिकोण इतना सूक्ष्म बना रहा कि जीवन की यथार्थता उसमे अवलोकित ही नही हुई। जीवन की विषमताओं के प्रति ये कवि अपनी अमूर्त वेदना—भावुकतापूर्ण वेदना—प्रकट करके ही रह गये। महादेवी वर्मा की निम्न पक्तियाँ इस सूक्ष्म मूक वेदना का पूर्ण परिचय देती है—

कहता है जिनका व्यथित मौन, हमसा निष्फल है आज कौन,
निर्धन के धन-सी हास-रेख, जिनकी जग ने न पाई देख,
उन सूखे होठो के विषाद मे, मिल जाने दो, हे उदार!

इससे आगे छायावादी कवि नही बढ सका। न उसने 'सूखे होठो' के कारण की खोज-खबर ली, और न उपाय पर विचार किया। वह जीवन की यथार्थ समस्याओ और उसकी विभीषिका मे संघर्षशील भी नही हुआ। जीवन की वास्तविकता उसे कई बार खिन्न अवश्य बना देती थी, और ऐसे क्षणों मे वह अन्याय, अत्याचार और अनाचार को फटकारता हुआ धक्का-मुक्की से अपना संघर्षमय मार्ग बनाने की बजाय, 'कोलाहल की अवनी' को छोडकर, प्रकृति अथवा अतीत की सुखद छाया मे चला जाना चाहता रहा, अथवा अलग बैठकर भविष्य के स्वर्णिम-स्वप्निल महल बनाता रहा। यही कारण है कि छायावादी कविता मे यथार्थ सामाजिक विकृतियो का स्वरूप चित्रित नही हुआ, और जब स्वरूप या आलम्बन ही नही, तो बीभत्स रस कहाँ होता ?

आधुनिक युग की प्रगतिशील तथा प्रगतिवादी कविता में इस अभाव की पर्याप्त पूर्ति हुई। वस्तु-जगत की पुकार इतनी प्रबल थी, कि पत और निराला-जैसे हमारे छायावादी कवि भी स्वयं 'गगन ताकना' छोडकर 'भू को' देखने-दिखाने लगे। अपनी 'युगवाणी', 'ग्राम्या' आदि रचनाओं में कवि पत ने जीवन की विषमताओं को कठोर वाणी दी। कवि श्रमिकों और किसानों की दलित अवस्था के कारणो की खोज करता हुआ पाता है कि पूजीवादी और जमीदारी पद्धतियों ने ही शोष कर उन्हें जर्जर बना दिया है। अपनी 'धनपति' कविता मे कवि पत ने विलासी, अत्याचारी शोषक पूजीपतियों को जबरदस्त फटकार दी है—

वे नृशस है, वे जन के श्रमफल से पोषित,
दुहरे धनी, जोंक जग के, भू जिनसे शोषित !
नही जिन्हे करनी श्रम से जीविका उपार्जित,
नैतिकता से भी रहते जो अत अपरिचित

शय्या की क्रीडा-कदुक है जिन को नारी,
अहमन्य वे, मूढ, अर्थबल के व्यभिचारी।
सुरागना, सम्पदा, सुराओं से ससेवित,
नर-पशु वे, भू-भार, मनुजता जिनसे लज्जित।[1]

'ग्राम्या' में भी कवि पन्त ने जीवन की विषमता के मूल कारण—पूंजीवादी और जमीदारी पद्धतियो को मृत्यु-दण्ड देने का प्रयत्न किया है। महाजनों और कारकुनो (कारिन्दों) के अत्याचारों की कहानी निम्न पंक्तियों मे पढिए। गाँव के असहाय वृद्ध की दशा कितनी करुणापूर्ण है, साथ ही लाठी बरसाने वाले कारिन्दो तथा सूद खाने वाले महाजनों का रूप कितना घिनौना है—

आँखों ही में घूमा करता, वह उसकी आँखो का तारा,
कारकुनों की लाठी से जो, गया जवानी ही में मारा।
बिका दिया घर-द्वार, महाजन ने न ब्याज की कौड़ी छोड़ी।

'निराला' यद्यपि छायावाद के आरम्भकाल से ही प्रगतिशील रहे है, और दरिद्र भिक्षुक के 'दो टूक कलेजे' का अवलोकन करते आए हैं, तथापि विक्षोभ, विद्रोह और सघर्ष का स्वर उनकी बाद की कविताओ मे ही स्पष्ट सुनाई दिया। सामाजिक और धार्मिक बुराइयों के प्रति तीखे व्यग्य कसकर निरालाजी ने व्यंग्यकार की अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया। निराला जी के व्यग्य अधिकतर घृणोत्पादक ही है, अतः हम उन्हे व्यग्यमिश्रित घृणा के ही उदाहरण मानते है। 'दान' कविता मे निरालाजी ने दान के धार्मिक ढोग का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। भूखे मरते हुए मानव की अवहेलना कर, अपने अन्धे वर्म की झोली से, स्वार्थ-सिद्धि-हेतु, बन्दरो को मालपुए देने वाले विप्रवर की भर्त्सना ही इन पक्तियो मे व्यक्त हुई है—

विप्रवर स्नान कर चढा सलिल
शिव पर दूर्वादल, तन्दुल, तिल,
... ...

झोली से पुए निकाल लिए,
बढते कपियो के हाथ दिए,
देखा भी नही उधर फिर कर
जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर,
चिल्लाया किया दूर दानव,
बोला मैं—"धन्य, श्रेष्ठ मानव!"[2]

---

१. युगवाणी (तृतीय संस्करण), पृ० ३१।
२ अनामिका तृतीय) पृ० २४-२५

'कुकरमुत्ता' कविता मे निराला ने अन्योक्ति शैली मे गरीबो का र चूसकर मोटे और सुर्ख बने धनिकों को फटकारा है। इसमें कुकरमुत्ता जन-साधार का और गुलाब शोषक पूजीवादी संस्कृति का प्रतीक है। कुकरमुत्ता गुलाब व फटकारता हुआ कहता है—

> अबे सुन रे गुलाब !
> भूल मत, गर पाई खुशबू-रगोआब
> खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
> डाल पर इतरा रहा "कैपिटलिस्ट,"
> कितनों को तूने बनाया गुलाम,
> माली कर रखा सहाय, जाड़ा घाम।
> ... .
> शाहों-राजो, अमीरों का रहा प्यारा,
> इसलिए साधारणों से रहा न्यारा ॥—'कुकरमुत्ता'

प्रगतिवादी कविता में पूँजीपतियो, जमीदारो आदि शोषको के अतिरिक्त धार्मिक ढोंग, साम्प्रदायिकता, वर्ग-भेद, सामाजिक रूढ़ियाँ आदि भी घृणा के आलम्बन बने हैं। पुरानी गली-सड़ी परम्पराओं के प्रति इन कवियो ने प्रचण्ड विद्रोह किया है। किन्तु प्रगतिवादी कविता में भी जहाँ-जहाँ आलम्बनों की स्वरूप-प्रतिष्ठा अच्छी तरह नही हो पाई है, कविता अनुभूतिपूर्ण नही बन सकी है। ऐसे स्थानो पर द्विवेदी युग की कविता की तरह इसमे भी इतिवृत्तात्मकता का दोष आ गया है। प्रगतिवाद में व्यंग्यशैली का विशेष विकास हुआ। प्रगतिवादियो का व्यंग्य घृणा का ही एक रूप है, और हम उसे बीभत्स रस के अन्तर्गत ही मानते हैं, हास्यरस में नही।

बंगाल का अकाल भी हमारे कवियों की अनुभूति का विषय बना। एक ओर भूख से बिलखती हुई मानवता का करुण चित्र आँखो के आगे आता है, दूसरी ओर मानव की बेबसी का लाभ उठाकर अपने स्वार्थो की पूर्ति करने वाले पूँजीपति, उनके दलाल बुर्दाफरोश, इस दारुण अवस्था की जिम्मेदार अंग्रेजी सरकार, मुनाफाखोर सेठ-साहूकार आदि हमारी घृणा को जगाते है। 'निराला', 'बच्चन', मिलिन्द आदि अनेक कवियों ने बंगाल के अकाल पर कविताएँ रची। बच्चन की 'बंगाल का अकाल' कविता पर्याप्त मार्मिक रचना है। इसमे बच्चन जी ने शोषको के प्रति खूब रोष प्रकट किया है। परम्परागत भाग्यवाद और संतोष की भावना का विरोध करते हुए बच्चन जी कहते है कि 'रामभरोसे बैठ' और 'रूखी सूखी खाय के ठंडा पानी पी' वाली संतों की वाणी सुनाना धूर्त्तता है—

> पर चालाक तुम्हारे शासक,
> पर चालाक तुम्हारे शोषक

जो दे लम्बे-चौड़े चदे,
करा कीर्त्तन,
कहा हरि भजन,
इन संतो की सरस बानियाँ
हैं तुम पर सरसाते रहते,[१]

कवि ने फ्रांस की क्रांति और फ्रास के नृप-दम्पति के राग-रंग का प्रसंग लाकर वर्ग-विषमता का अत्यन्त मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है, जिससे भारतीयों को भी क्राति के लिए प्रेरित किया गया है। कवि बताता है कि जब पैरिस इसी प्रकार भूखों मरता था और जनसाधारण मे हाहाकार मचा हुआ था, सब ओर 'रोटी-रोटी' की पुकार मची थी, तब फ्रास का राजा जनता के क्रन्दन से कान बन्द किए बैठा था। वह पैरिस से ११ मील दूर वरसाई महल मे राग-रग मनाता था—

जब पैरिस भूखो मरता था
....
तब वरसाई के गातू में
हसी दिल्लगी और मनोरजक
गधो के फौवारों में,
व्हिस्की, ब्रॉडी, शैम्पेन की
बोतल की बोतल के मुँह से
काग उड रहे थे पल-पल पर।[२]

उफ! वरसाई के कुत्ते जूठन खाकर मोटे हो रहे थे, और उधर इन्सान भूख से मर रहा था! कैसी विषमता थी! कवि जन-क्राति की प्रेरणा देता हुआ कहता है—

वरसाइयॉ बहुत है अब भी
शायद क्रूर-कठिन पहले से,
बरसाएंगी तुम पर गोली,
और तुम्हे मरना भी होगा!

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भी आज तक शोषक जमीदारो और पूँजीपतियों को घृणा के आलम्बन-रूप मे प्रस्तुत किया जा रहा है। उच्चवर्ग की विलास-लीला, हृदयहीनता, गरीबों का शोषण, वर्गगत अहकार आदि कवियो की निंदा का विषय बनते जा रहे है। दिनकर जी की 'दिल्ली' कविता मे नई दिल्ली के नग्न विलास, ऐश्वर्य, बाल-डांस तथा विदेशी सस्कृति की चमक तथा गरीबो के खून को चूसकर

---

१ बंगाल का अकाल (दूसरा संस्करण) पृ० २५।
२ वही, पृ० ३९ ४०

होंठ लाल करने वाले वैभव के प्रति घृणा ही जगाई गयी है। कवि इस झूठे, कुत्सित वैभव की निंदा करता हुआ कहता है—

वैभव की दीवानी दिल्ली,
कृषक-मेध की रानी दिल्ली !
अनाचार, अपमान, व्यंग्य की
चुभती हुई कहानी दिल्ली !
... .

परदेसी संग गलबाँही दे
मन में है फूली न समाती !
दो दिन ही के 'बाल-डांस' मे
नाच हुई बेपानी दिल्ली !
कैसी यह निर्लज्ज नग्नता !
यह कैसी नादानी दिल्ली !
... .

झूठा है यह सारा बनाव,
झूठे ये महल-अटारी है।
तुम यहाँ फूँकते हो वसी,
गाँवों मे नाले जारी हैं।[१]

'गरीबों के लोहू पर' जिस दिल्ली की दीवारे खडी है, जहाँ इन्द्रियो के जलते यज्ञ में विषय-तृप्ति की आहुतियाँ पड़ती हैं, सुरा-सुन्दरी की मत्तयौवन से छलकती गगरियाँ जहाँ थिरकती है, उस भौतिक रंग-विलास में लगी दिल्ली की निन्दा कवि की यथार्थ अनुभूति है।

श्री जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद की भी कई कविताओं मे शोषक-वर्ग घृणा का आलम्बन बनाया गया है। एक कविता में मिलिंद जी वर्ग-विषमता से खिन्नता प्रकट करते हुए कहते है कि "आज मानव का मानव ही शोणित पी रहा है। बाहर एक बूद भी दिखाई नही देती, भीतर-भीतर एक पुष्ट हो रहा है, दूसरा कंकाल।" इस सत्ताधारी धनी, पुष्ट मानव के प्रति घृणा व्यंजित करते हुए कवि कहता है—

और पुष्टि से अपनी,
धन सत्ता से होकर
मद्यप से भी अधिक मस्त,
ये शोषक मानव,

---

१ रामधारीसिंह दिनकर 'दिल्ली' (प्रथम संस्करण सन् १९५४) पृ० ४ ५

मानवता के क्षतविक्षत
वक्षः स्थल पर है
किया चाहते ताडव
करके रौरव निर्मित ![1]

'नव सस्कृति' शीर्षक कविता मे मिलिद जी ने गरीबो का शोषण कर रागरग, ऐश्वर्य-बिलास रचने वाली संस्कृति की निंदा की है। 'रह गई चढ़ी बरात'[2] शीर्षक कविता में ठाकुर कुढेरीसिह की खिल्ली उडाई गई है। ठाकुर साहब को चुनाव लडने की सनक सवार होती है। बस वे वोट प्राप्त करने के लिए नोटो की थैली खोल देते है। लल्लू के विवाह मे मिले दहेज के रुपये पेशगी बाँटे जाते है। कवि के इस व्यग्य के मूल मे भी घृणा ही है। पैसो से वोटे खरीदने की वर्तमान कुत्सित प्रवृत्ति और दहेज-प्रथा भी पाठक की घृणा का विषय ही है।

दिनकर जी की कई कविताओ मे 'पापी महलो के अहकार' तथा पूजीपतियो के रजत-विलास को घृणा का विषय बनाया गया है। 'विपथगा' कविता मे गरीबो के शोषण से गुलछर्रे उडाने वाले धनपतियो और जमीदारो को फटकारा गया है—

श्वानों को मिलते दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते है,
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठर जाडों की रात विताते है
युवती के लज्जा-वसन बेच जब ब्याज चुकाये जाते है
मालिक जब तेल-फुलेलो पर पानी-सा द्रव्य बहाते है,
पापी महलो का अहंकार देता मुझको तब आमत्रण।[3]

अणु-अस्त्रों और विज्ञान की शक्ति से अंधा हुआ आज का मानव कितना हिंसावादी हो गया है! वैज्ञानिक शस्त्रास्त्रो से वह मानवता का विध्वंस करने पर ही तुला हुआ है। वर्तमान युग की इस हिंसक प्रवृत्ति को भी हमारे कवियों ने निंदा और फटकार का विषय बनाया है। मिलिद जी की 'पृथ्वी की पुकार' शीर्षक कविता मे स्वय धरती माता अपने विध्वंसक पुत्रो को फटकारती हुई कहती है—

मेरे सुत मानव, जीवनपय
मेरा तूने पान किया,
मेरे ही विनाश को अब अणु-
अस्त्रों का निर्माण किया!
... .

१. जगन्नाथप्रसाद मिलिंद : 'भूमि की अनुभूति' (प्रथम संस्करण), पृ० ११।
२ वही पृ० ७३।
३ (प्रथम सस्करण) पृ० ७२

विकृत और विद्रोही कुछ अणु
लेकर आज, अरे निष्ठुर,
मेरे विस्फोटक विनाश के
आयोजन को तू आतुर ।[१]

पंत जी के काव्यरूपक 'रजत शिखर' में भी वर्तमान युग की पैशाचिक हिंसक प्रवृत्ति की निन्दा की गई है। वैज्ञानिक शक्ति के नशे में चूर आज का मानव युद्धो के विध्वसक बादल हरी-भरी मेदिनी पर प्रस्तुत कर रहा है ! दिनकर जी ने भी 'अभिनव मनुष्य' शीर्षक कविता मे आज के भौतिक-बौद्धिक-वैज्ञानिक युग के मानव का पर्दाफाश करते हुए उसकी पशु-प्रवृत्ति के प्रति घृणा जगाई है—

विश्व मे छाई हुई है वासना की रात।
वासना की यामिनी, जिसके तिमिर से हार,
हो रहा नर भ्रांत अपना आप ही आहार,
बुद्धि मे नभ की सुरभि, तन मे रुधिर की कीच,
यह वचन से देवता, पर कर्म से पशु नीच ।[२]

साराश यह कि आधुनिक हिन्दी कविता मे हमारे युगचेता कवियो की सामाजिक सजगता का पूरा आभास मिलता है। यह सत्य है कि आधुनिक कविता में गद्य-कथा-साहित्य-जैसी बीभत्स रस की व्यापकता नही पाई जाती, और तीव्रानुभूति के स्थल भी अपेक्षाकृत कम है, तो भी राष्ट्रवादी और प्रगतिवादी काव्य मे घृणा के विभिन्न आलम्बनो का चित्रण हुआ है और तदनुसार बीभत्स रस की पर्याप्त व्यजना हुई है, इसमें कोई सन्देह नही।

---

१. भूमि की अनुभूति (प्रथम संस्करण सन् १६५२), पृ० १६।
२. चक्रवाल (प्रथम सं०), पृ० २०७

हिन्दी उपन्यास-साहित्य में बीभत्स रस

हिन्दी उपन्यास की परम्परा यद्यपि भारतेन्दु काल से ही चली, किन्तु १९ वीं
के उपन्यासों में समाज की बुराइयों का यथार्थ चित्रण नहीं हुआ। बालकृष्ण
ला० श्रीनिवास दास आदि इस युग के कुछ लेखकों ने तो कोरे सुधारवादी
प्रधान उपन्यास लिखे, जिनमें नीति या सदाचार का व्यक्तिगत आदर्श
न करना ही उद्देश्य रहता था। कुछ उपन्यास तो यों ही परम्परा से उपन्यास
ते आ रहे है, जैसे बालकृष्ण भट्ट की रचना 'नूतन ब्रह्मचारी' हिन्दी
के इतिहासों मे उपन्यास के रूप मे गिनाई जाती है। सम्भवत. ऐसा अध-
के ही कारण हुआ है। उस रचना को पढने से कोई उसे उपन्यास नही मान
वह एक छोटी कहानी ही है। उपन्यास के तत्वों से उसका कोई वास्ता नही।
मे ला० श्रीनिवासदास के 'परीक्षा गुरु' को छोडकर भारतेन्दु-मण्डल के लेखको
भी तथाकथित उपन्यास औपन्यासिक सज्ञा पाने योग्य नही। 'परीक्षा गुरु'
देश-प्रधान रचना है, जिसमे सामाजिक चित्रण और सामाजिक घृणा का तो
अभाव है ही, व्यक्ति-चरित्रगत घृणा के भी विशेष प्रसंग नही हैं।

१९ वी शताब्दी के घटना-प्रधान उपन्यासो (तिलस्मी और जासूसी) मे भी
क घृणा का अभाव है। कही-कही वैयक्तिक घृणित चरित्र अवश्य प्रकट हुए
चन्द से पूर्व जो दो-चार भाव-प्रधान उपन्यास लिखे गए, उनमे भी घृणा भाव
व है। गोपालराम गहमरी, लज्जाराम महता आदि लेखकों के पारिवारिक
प्रधान उपन्यासो में भी सुधार और उपदेश की ही प्रवृत्ति पाई जाती है।
के सीमित घेरे के बाहर समाज की विस्तृत समस्याओं की ओर इनकी
ी गई। फिर भी 'हिन्दू गृहस्थ', 'सुशील विधवा' (लज्जाराम महता),
होस्टल' (चान्दकरण) आदि कुछ रचनाओ मे बाल-विवाह, विधवा-
ति-भेद- दहेज- छुआ-छूत आदि हिन्दू-जीवन की कुछ समस्याओं के संकेत है

और उनके प्रति कुछ घृणा उत्पन्न होती है। प्रेमचन्द से पूर्व किशोरीलाल गोस्वामी ने कुछ उपन्यासो मे सामाजिक बुराइयों का कुछ खुल कर चित्रण किया है। 'स्वर्गीय-कुसुम' या 'कुसुमकुमारी' मे कुसुम कुमारी की करुणापूर्ण कथा है। तीन वर्ष की अवस्था में ही उसे देवार्पण करना, देवदासी बनाया जाना, पण्डे द्वारा वेश्या को बेचा जाना आदि घृणोत्पादक कृत्य ही हैं। इसमे देवदासी प्रथा की सामाजिक विडम्बना तथा हिन्दू समाज की बुराइयो का तो यथार्थ चित्रण हुआ है, किन्तु लेखक ने अपनी तीव्र प्रतिक्रिया, अपनी तीव्र निन्दा प्रकट नही की, न ही घृणित कुकृत्यो के प्रति तीव्र घृणा जगाने वाली शैली ही, प्रेमचन्द की तरह, अपनाई है। वास्तव मे प्रेमचन्द के पूर्व के उपन्यास-लेखक मे सामाजिक कुरीतियो और अत्याचारों के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला विद्रोह करने तथा उनकी तीव्र निन्दा करने का साहस कम ही था। अतः सामाजिक घृणा का रूप इन उपन्यासों मे बहुत ही कम है, वैयक्तिक घृणित चरित्रो का ही यत्र-तत्र प्रकाशन हुआ है। 'लवग-लता' मे गोस्वामी जी ने सिराजुद्दौला के घृणित चरित्र का सुन्दर प्रकाशन किया है। लवंग लता अपने को उस बदमाश के चगुल से बचाने का सफल प्रयत्न करती है।

इस प्रकार प्रेमचन्द से पूर्व यद्यपि पारिवारिक और सामाजिक विषयों पर रचनाएँ होने लगी थी, किन्तु न तो अभी हमारे उपन्यासो मे उपन्यास-कला का ही विशेष विकास हुआ था, न समस्याओ को गहराई से पकड़ने की क्षमता ही लेखको में दिखाई देती थी, और न जीवन की व्यापक नाना-विध समस्याओ पर ही उनकी दृष्टि जाती थी। वास्तव मे प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यास मुख्यतः दो उद्देश्यो से लिखे जाते थे—एक तो मनोरंजन के लिए, दूसरे कोरे उपदेश और सुधार की खातिर। तिलस्मी, ऐय्यारी, जासूसी, हास्य और प्रेम-प्रधान उपन्यासो मे पहली प्रवृत्ति है, तो पारिवारिक, पौराणिक-धार्मिक तथा सामाजिक-उपदेश-प्रधान उपन्यासो मे दूसरी। यही कारण है कि सामाजिक घृणा का प्रसार प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासो मे नही पाया जाता। व्यक्ति-चरित्रो के प्रति ही कही-कही घृणा जगती है। प्रेमचन्द ने ही सर्वप्रथम समाज की भिन्न-भिन्न बुराइयों की जड़ें खोदी। उन्होंने ही सैकडो वर्षो से प्रचलित हमारी धार्मिक, सामाजिक तथा अन्य सांस्कृतिक विकृतियो का खुल्लमखुल्ला विरोध किया और अपनी प्रतिक्रिया जोरदार शब्दों और आकर्षक शैली मे प्रकट की। समाज की शायद ही कोई तत्कालीन बुराई उनकी निगाह से बची हो। यही कारण है कि प्रेमचन्द के उपन्यासो मे वीभत्स रस या घृणा का खूब प्रसार पाया जाता है।

प्रेमचन्द जी के उपन्यासों मे वीभत्स रस

हम पहले भी कह चुके हैं कि प्रेमचन्द जी के कथा-साहित्य का बीज-भाव घृणा ही है। उनके उपन्यासो और कहानियो मे हमें समाज की विकृतियों के अनेक

पहलुओ का पता चलता है। इतने व्यापक चित्रपट पर सामाजिक समस्याओं का अवलोकन शायद ही किसी अन्य लेखक ने किया हो। हमारी वैवाहिक पद्धति की विकृतियाँ, बेमेल विवाह, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, दहेज-प्रथा, नारी का उत्पीडन, वेश्या-जीवन का कलंक, विधवा-जीवन की विडम्बना, सामंतीय या जमीदारी और पूँजीवादी शोषण, धार्मिक ढोंग, महन्तों और मठाधीशों की दुश्चरित्रता और धूर्तता, छुआ-छूत का कलंक, नशेबाजी और बुर्दाफरोशी, अंधविश्वास, संकुचित-सकीर्ण मनोवृत्ति, उत्कोच, हिन्दूमुस्लिम तथा अन्य सामाजिक और धार्मिक साम्प्रदायिकता, स्वार्थपरता, राष्ट्रवादिता का अभाव, झूठा अहम्, पुलिस वालो के हथकण्डे और अत्याचार, ब्रिटिश नौकरशाही के जुल्म, गाँव का विकृत महाजनी पूजीवाद तथा अन्य अनेक सामाजिक और धार्मिक रूढियाँ आदि अनेक सामाजिक विकृतिया उनके उपन्यासों में उभर कर आई है। इन सब सामाजिक बुराइयो के प्रति घृणा उत्पन्न करके स्वस्थ समाज का निर्माण करना ही प्रेमचन्द का उद्देश्य रहा है।

सेवासदन में बीभत्स-रस

पहले भी निवेदन कर चुके है कि प्रेमचन्द जी का आरम्भिक उपन्यास सेवा-सदन बीभत्स रस-प्रधान ही है। इस उपन्यास मे सामाजिक बुराइयों का ही आरम्भ से अत तक चित्रण पाया जाता है। आरम्भ में ही महन्त रामदास और उसके अखाडे के प्रति तीव्र घृणा पैदा होती है। धार्मिक सामतशाही का प्रतीक यह मठाधीश दुश्चरित्र महन्त बाकेबिहारी के नाम पर गरीबो का शोषण करता है, उनकी मेहनत की कमाई पर मौज उड़ाता है और अपने अखाड़े मे मोटे-मुसटण्डे गुण्डे साधुओ को पालता है। वह गरीबो से बेगार लेता है। बत्तीस रुपया सैकडा सूद वसूल करता है, इजाफा-लगान, ज़बरदस्ती पैसा वसूल करना, हवन-यज्ञ के लिए चदा लेना, पैसे के जोर पर पुलिस-पटवारी सबको गांठ कर गरीब किसानो पर अत्याचार ढाना और यही नही, स्वर्ग का लोभ और नरक का भय दिखाकर अपना उल्लू सीधा करना इसके साधारण कार्य है। वह बाकेबिहारी के नाम पर बेचारे चेतू को पीट-पीट कर जान से मार डालता है। ऐसे घृणित पापी के प्रति घृणा जगना स्वाभाविक ही है।

रिश्वतखोर पुलिस-पद्धति पर भी इस मे घृणा जगती है। पुलिस मे रहकर रिश्वत से कोई बच ही नहीं सकता। सारा वातावरण ही दूषित हो गया है। यदि कोई हाकिम या दारोगा रिश्वत लेने-देने के विरुद्ध हो तो सब पुलिस-कर्मचारी उससे द्वेष करने लगते है। सुमन के पिता कृष्णचन्द्र की ऐसी ही स्थिति थी। उसकी सच्चरित्रता के कारण पुलिस का सारा अमला उसके खिलाफ हो जाता है।

दहेज की प्रथा न-जाने कितनी बुराइयो को पैदा करती है। बेचारे कृष्णचन्द्र के सामने अपनी लडकी की शादी एक भारी बनकर खडी हो आती है

वह दिन-रात इसी चिन्ता मे डूबे रहते है। दहेज का भारी 'दान' देने के लिए उनके पास खास जमा-पूँजी नही है। आखिर करे तो क्या ? विवश होकर उन्हें रिश्वत लेनी पड़ती है। किन्तु रिश्वत लेने पर उनका हृदय आत्मग्लानि और पश्चात्ताप से भर जाता है। आत्मग्लानि या आत्म-घृणा का सुन्दर उदाहरण कृष्णचन्द्र का पश्चात्ताप है। सुपरिटेंडेंट साहब के पूछने पर कि 'तुम अपने बारे में कुछ कहना चाहता है ?' वह उत्तर देता है—"जी हाँ, मैं यही कहना चाहता हूँ कि मैने अपराध किया है और उसका कठोर-से-कठोर दण्ड मुझे दिया जाय। मेरा मुँह काला करके मुझे सारे कस्बे मे घुमाया जाय। झूठी मर्यादा बढाने के लिए, अपनी हैसियत को बढा कर दिखाने के लिए, अपनी बड़ाई के लिए मैंने एक अनुचित कर्म किया है और अब उसका दण्ड चाहता हूँ।"

यद्यपि कृष्णचन्द्र के प्रति पाठक की सहानुभूति बनी रहती है, इसीलिए वह घृणा का आलम्बन विशेष नही रहता, तो भी उसकी आत्म-भर्त्सना बीभत्स रस का ही विषय मानी जायगी, क्योंकि वह अपने घृणित आचरण के प्रति पश्चात्ताप से भर जाता है, और इस पश्चात्ताप से हमारा तादात्म्य होता है। हम भी यही चाहते थे कि रिश्वत लेना उस जैसे सच्चरित्र व्यक्ति को शोभा नही देता।

सम्पूर्ण उपन्यास मे हिन्दू-समाज की घृणित परम्पराओ, रीति-नीति, विकृत आचार-विचार और दूषित प्रवृत्तियों के प्रति घृणा जगाई गई है। जिन परिस्थितियो में सुमन को दाल मण्डी का कोठा सजाना पडता है, वे सब हिन्दू समाज और उसकी दूषित पारिवारिक तथा सामाजिक परम्पराओ के विकृत रूप की ही द्योतक है। सुमन की स्पष्टोक्ति को हम पीछे उद्धृत कर चुके है। हमारा धर्म ढकोसला बन गया है। मन्दिरों मे वेश्याओ के मुजरे होते है। समाज के बडे-बडे धनी-मानी लोग वेश्यालयो में जाते है। एक कुल-कन्या या कुल-वधू का जगह-जगह अपमान होता है, और एक वेश्या स्थान-स्थान पर सम्मान प्राप्त करती है !

ऐसे धर्मधूर्त्तों के प्रति घृणा प्रकट करता हुआ लेखक गजाधर से कहलाता है, "तो तुमने उन लोगों के बड़े-बड़े तिलक-छापे देखकर ही उन्हे धर्मात्मा समझ लिया ? आजकल धर्म तो धूर्त्तो का अड्डा बना हुआ है।"

वर्तमान युग मे मुझे लगता है कि सबसे बड़ी समस्या देश की जनता का यौन-भावनाओं से ग्रस्त होना है। आप जहाँ जाइए, जिस व्यक्ति को टटोलिए—एक रिक्शा वाले से लेकर बडे अफसर तक प्रायः सब लोग यौन के भूखे प्रतीत होते है। ऐसा लगता है कि समूची जाति यौन-ग्रस्त बनती जा रही है। चित्रपट आदि मनोरंजन के आधुनिक साधनो की जहाँ शिक्षात्मक उपयोगिता भी कुछ है, वहाँ गदे और अश्लील चित्रों-द्वारा देश की अपार हानि हो रही है। रिक्शा-तॉगा चलाने वाले ही नहीं, कालेज के युवक, बाजार के व्यापारी, दफ्तरो के अफसर आदि सब यौन के मतवाले और ताक-झाँक के इच्छुक बने हुए हैं इस प्रवृत्ति से अनेक बुराइयाँ फैलती

है। 'सेवासदन' मे प्रेमचन्द जी ने कचहरी के अमलो, वकीलो तथा अन्य कर्मचारियो की इस प्रकार की घृणित और अरुचिपूर्ण चर्चाओ को प्रकट किया है, जो सब के सामान्य अनुभव की वस्तु है और निश्चय ही घृणोत्पादक है।

पद्मसिंह शर्मा के पास कुछ वकील-भाई आकर राग-रंग की बातें करते— "शर्मा जी, सुना है आज लखनऊ से कोई बाई जी आई है, उनके गाने की बडी प्रशसा है, उनका मुजरा न कराइएगा? अजी शर्मा जी कुछ सुना आपने? आपकी भोली बाई पर सेठ चिम्मनलाल बेतरह रीझे हुए है। कोई कहता, भाई साहब, कल गंगा-स्नान है, घाट पर बडी बहार रहेगी, क्यो न एक पार्टी कर दीजिए? सरस्वती को बुला लीजिए, गाना तो बहुत अच्छा नही, मगर यौवन मे अद्वितीय है। शर्मा जी को इन चर्चाओ से घृणा होती। वह सोचते, क्या मैं वेश्याओ का दलाल हूँ जो मुझ से लोग इस प्रकार बातें करते है?.........इन्हीं घृणित चर्चाओं से उकताकर वे दो ही बजे (कचहरी से) लौट आए।"[१]

'प्रेमाश्रम' मे जमीदारी शोषण और ब्रिटिश नौकरशाही की बुराइयाँ खूब खुल कर प्रकट हुई है। ज्ञानशंकर ऐसा ही जालिम जमीदार है। उसके चरित्र का प्रत्येक अश घृणा से ओत-प्रोत है। वह अपनी आसामियों का निर्मम शोषण करता है। वह सारे गाव पर इजाफे का दावा कर देता है और डिप्टी-क्लैक्टर ज्वालासिंह की स्त्री शीलमणि-द्वारा सिफारिश करवाता है, वह लखनपुर की सारी सम्पत्ति का स्वयं मालिक बन जाता है, अपने भाई प्रेमशकर को अपनी आख का काटा समझता है, थोथी धार्मिकता को भडका कर वह स्वाभिमानी प्रेमशकर को घर से निष्कासित करा देता है, यहाँ तक कि उसे मुनाफे मे से भी कुछ नही देता। वह अत्यन्त स्वार्थी और लोलुप है। वह अपने ससुर राय कमलानन्द की भी समस्त सम्पत्ति हड़पना चाहता है, साथ ही अपनी विधवा साली गायत्री को भी झूठे प्रेमपाश में फांस कर उसकी गोरखपुर वाली जायदाद भी हथियाना चाहता है। गायत्री को काबू करने के लिए वह धार्मिकता का स्वांग रचता है। वह अपनी वासना की पूर्ति के लिए दुस्साहस कर बैठता है। तब गायत्री उससे घृणा करने लगती है। रायसाहब भी ज्ञानशकर की चालबाजियो से अवगत हो जाते हैं और अपनी मन शक्ति के प्रयोग से उसकी दुराकाक्षाओ को मनवा लेते है। सच्चे पश्चात्ताप और आत्म-ग्लानि मे गलने की बजाय, वह दुष्ट मगरमच्छ के आसू बहाता है, और एक दिन रायसाहब को भोजन मे विष देकर मरवाने का प्रयत्न करता है। पिता से अपने पति की काली करतूतो का बयान सुनकर ज्ञानशंकर की पत्नी विद्या अत्यन्त दुखित होती है। वह पति के पापों का परिणाम सोचकर विकल हो उठती है और अंत में विष खाकर आत्महत्या कर लेती है। ज्ञानशकर का घृणित आचरण ही गायत्री की भी आत्महत्या का कारण है।

१ सेवासदन पृ० ४७ (दिसम्बर १९५०)

वह इतना पतित और नीच है कि अपने कारिन्दे गौसखाँ की हत्या का झूठा अभियोग लगाकर अपने भाई प्रेमशकर को फसाने की कामना करता है।

इसके अतिरिक्त इस उपन्यास मे गौस खा जैसे कारिन्दो के मनमाने अत्याचार, दयाशंकर—जैसे रिश्वतखोर और जालिम पुलिस-अधिकारियों की धाधली, पुलिस के हथकण्डे, डा० प्रियनाथ-जैसे लोभी व झूठे गवाह, अपनी कायरता और स्वार्थपरता से मुखबिरी करने वाले गाँव के साहू बसेसर, हिन्दू-मुस्लिम इत्तिहाद के नाम पर आडम्बर रचने वाले इजादहुसैन, अफसरों और उनके मातहतो की धाधली, उनका टिड्डी दल की तरह गावो पर आक्रमण, बेगार लेना, मुफ्तखोरी करना आदि अनेक बुराइयों के प्रति स्थान-स्थान पर घृणा उत्पन्न होती है।

इस उपन्यास मे प्राय. सभी बुरे पात्रों को बाद मे अपने पापो के परिणाम की दुश्चिता से ग्रस्त दिखाया गया है। बैरिस्टर इर्फान अली, जो स्वार्थ-लोभ मे पडकर लखनपुर गांव के कितने अभागे लोगो को मृत्यु का शिकार बनने को छोड गए थे, डा० प्रियनाथ, जिन्होंने पुलिस के दबाव तथा ज्ञानशकर के रुपयो के लोभ से झूठी गवाही देकर कितने ही आसामियों के सिर खून का अपराध जड़ दिया था, साहू बसेसर, जिन्होने कायरता और स्वार्थ के वश मुखबिरी की थी, दयाशकर थानेदार, जो जीवन-भर रिश्वत लेने और लूट-खसोट करने मे ही लगा रहा आदि सब बाद में परिवर्तित हो जाते है। जहाँ इन पात्रो का हृदय-परिवर्तन सच्ची आत्मग्लानि का परिणाम है, वहाँ ज्ञानशकर की ग्लानि झूठी है। वास्तव मे उसके द्वारा आत्महत्या के प्रयत्न सर्वथा अमनोवैज्ञानिक प्रतीत होते है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द की चरित्र-चित्रण-कला मे यह दोष ही कहा जा सकता है। दयाशंकर आदि एक-दो पात्रो का एकाएक बदल जाना भी कुछ खटकता है। लगता है, ऐसे पात्रो को लेखक ने जबरदस्ती दुर्जन से सज्जन बनाया है।

'रगभूमि' मे पशुबल के विरुद्ध आत्मबल की अवतारणा की गई है। इसमे भी अंग्रेजी सरकार की कूटनीति, अत्याचार और दमन, अफसरो का स्वेच्छाचार, मिल-मालिकों की ज्यादतियां, देशी राजाओं की ठकुरसुहाती, देशद्रोहियों की स्वार्थ-परायणता आदि घृणा के अनेक विषय प्रस्तुत हुए है।

'गबन' मे अंग्रेजी पुलिस-पद्धति का कुत्सित ताण्डव अत्यन्त सजीवता के साथ प्रकट किया गया है। अंग्रेजी शासन मे भारतीय पुलिस की धाधली मची हुई थी। अपनी कार्यवाही सिद्ध करने के लिए किस प्रकार पुलिस निरपराध व्यक्तियो को अपराधी बनाती है, उचित-अनुचित सब उपायों से निर्दोष व्यक्तियों को तग करना, आतंक जमाकर झूठे गवाह और झूठे मुखबिर जुटाना, अपने स्वार्थ और लोभ से निरीह प्रजा को फसाने के लिए अनेक प्रकार के जाल बिछाना और घर-के-घर चौपट कर देना इस पुलिस के सहज कार्य हैं। यद्यपि इस उपन्यास मे पुलिस पद्धति ही घृणा का मुख्य विषय है तथापि कई स्थानों पर घृणा के अन्य अन्य

आलम्बन भी वर्णित हुए है, जैसे कम्बल बाटने वाले सेठ करोडी मल का यह परिचय, "उसे पापी कहना चाहिए—महापापी ! दया तो उसके पास से होकर भी नही निकली। उसकी जूट की मिल है। मजदूरो के साथ जितनी निर्दयता उसकी मिल मे होती है और कही नही होती। आदमियो को हटरो से पिटवाता है, हंटरों से ! चरबी-मिला घी बेचकर इसने लाखो कमा लिए। यदि साल में दो-चार हजार दान न कर दे तो पाप का धन पचे कैसे ?"

इसमे रमानाथ के चरित्र द्वारा निम्न मध्यवर्ग के पुरुष-समाज की थोथी अहं-वादिता, आत्म-प्रदर्शन और दिखावे की मनोवृत्ति को भी घृणा का विषय बनाया गया है। वह अपने घर की वास्तविक दशा अपनी नव-विवाहिता पत्नी से छिपा कर रखता है और अपना और अपने बाप का ऐश्वर्य जताने और प्रभाव जमाने के लिए खूब जीट उड़ाता है। इसी डींग मारने और आत्मप्रदर्शन की मनोवृत्ति के कारण उसे घूस लेनी पड़ती है, कर्ज लेना पडता है और कर्ज चुकाने के लिए दफ्तर के रुपयो का गबन करना पड़ता है। मध्यवित्त-वर्ग की इस दूषित मनोवृत्ति का मुशी जी ने बड़ा सजीव चित्र प्रस्तुत किया है।

'निर्मला' मे दहेज प्रथा और अनमेल विवाह के कारुणिक परिणामो को प्रकट करके इन सामाजिक बुराइयो के प्रति घृणा जगाई गई है। 'कर्मभूमि' में फिर प्रेमचन्द जी ने विभिन्न सामाजिक विकृतियो का विस्तृत चित्रण किया। छुआ-छूत एव जाति-भेद, दलित किसानो एवं मजदूरों पर अत्याचार, वर्ग-विषमता, सेठ-साहूकारों की धन-लोलुपता और धनार्जन के घृणित उपाय, ब्रिटिश सिपाहियों और सैनिको का भ्रष्टाचार, मठाधीश महंतों और जमीदारो का पतन—उनके अत्याचार, क्रूरता एवं बिलासिता, म्युनिसिपल-कर्मचारियो की स्वार्थपरता, ब्रिटिश नौकरशाही का पतन तथा स्वेच्छाचार एव शिक्षा-सस्थाओ की व्यावसायिक वृत्ति आदि अनेक बुराइयों का प्रकाशन इसमे हुआ है। समाज के इस कोढ के प्रति उपन्यास में तीव्र घृणा उत्पन्न की गई है।

प्रेमचन्द की अंतिम और सर्वश्रेष्ठ रचना 'गोदान' महाजनी शोषण, जमींदारी शोषण, धार्मिक शोषण और वर्ग-विषमता की मुँह-बोलती तस्वीर है। 'गोदान' कृषक-जीवन की अत्यन्त करुण कहानी है। करुण-परिस्थितियां अधिकतर शोषण, अत्याचार और अन्याय का परिणाम हैं। अतः इस उपन्यास में यद्यपि प्रधान रस करुण ही है, किन्तु उसके साथ-साथ बीभत्स रस की व्याप्ति भी आद्योपांत है। इसमे अनेक प्रकार के अनेक आलम्बन है। गरीबो का शोषण करने वाले, बेगार लेने वाले तथा अपने धनुष-यज्ञ आदि धार्मिक या सामाजिक विनोद के लिए गरीबों से चंदा लेने वाले अमरपालसिंह उनके बेईमान आचार भ्रष्ट और गरीबों पर करने वाले लगान वसूली की रसीद न देकर दोबारा

वसूली चाहने वाले, गरीबों से बेगार लेने वाले और दरपर्दा व्यभिचार करने वाले नोखेराम-जैसे कारिन्दे, मगरू शाह, पंडित दातादीन तथा झिंगुरीसिंह-जैसे निर्दयी सूदखोर; पटेश्वरी-जैसे स्वार्थी और लोभी पटवारी, परम्परापंथी अन्यायी और स्वार्थी पंच, रिश्वतखोर, स्वार्थी और अन्यायी पुलिस दारोगा, धर्म की ओट में शोषण करने वाले, चालबाज तथा छुआ-छूत और ऊँच-नीच मानने वाले स्वार्थी पंडित दातादीन और उनके लम्पट पुत्र मातादीन, किसानों की ऊख कम तोलने वाले, मजदूरों का शोषण करने वाले और रसिक-लम्पट बेईमान मिल-मालिक खन्ना, तिलकधारी ढोंगी और लम्पट ब्राह्मण, कश्मीरी गपड्डू की स्वच्छन्द लड़कियां, स्वार्थी और दुर्बल-प्रकृति पत्रकार ओंकारनाथ आदि अनेक पात्र घृणा के पूर्ण आलम्बन हैं। इन विविध आलम्बनों से इस उपन्यास का दूसरा प्रमुख रस बीभत्स रस ही ठहरता है। जबरदस्ती बेगार लेने वाले रायसाहब का एक बीभत्स रूप देखिए। एक चपरासी रायसाहब से आकर कहता है कि "बेगारों ने काम करने से इन्कार कर दिया है, कहते हैं, जब तक हमें खाने को न मिलेगा, हम काम न करेंगे।"

"राय साहब के माथे पर बल पड़ गए। आंखें निकाल कर बोले—चलो, मैं उन दुष्टों को ठीक करता हूँ। जब कभी खाने को नहीं दिया गया, तो आज यह नई बात क्यों? एक आने रोज के हिसाब से मजूरी पर उन्हें काम करना होगा, सीधे करें या टेढ़े।"[1]

हीरा ने ईर्ष्यावश होरी की गाय को जहर दे दिया और स्वयं भाग निकला। पुलिस दारोगा तो ऐसे अवसरों की तलाश में ही होते हैं, खबर पाते ही आ धमके! उन्हें तहकीकात से क्या गरज, अपना हलुआ-मांदा बनाने से ही मतलब है। होरी से पैसा ऐंठने के लिए दारोगा जी तलाशी लेने की बात चलाते हैं। दब्बू होरी अपनी मरजाद रखना चाहता है। गाँव के पंच भी लूट-खसोट में दारोगा के साथ लग जाते हैं। वे होरी को कहते हैं कि निकालो जो कुछ देना हो। यों गला न छूटेगा। पर बेचारा होरी दे तो कहाँ से? जहर खाने को भी उसके पास एक पैसा नहीं। पंचों में सलाह होती है, और दारोगा को देने के लिए तीस रुपये होरी को उधार दे दिये जाते हैं। इन में आधा हिस्सा पंचों का ठहरा। होरी ने रुपये लिए और अंगोछे के कोर में बांध, प्रसन्न-मुख आकर दारोगा जी की ओर चला।

"सहसा धनिया झपटकर आगे आई और अंगोछी एक झटके के साथ उसके हाथ से छीन ली।.........सारे रुपये ज़मीन पर बिखर गए। वह नागिन की तरह फुंकार कर बोली—ये रुपये कहाँ लिये जा रहा है, बता। भला चाहता है, तो सब रुपये लौटा दे, नहीं कहे देती हूँ। घर के परानी रात-दिन मरें और दाने-दाने को तरसें,

---

१. गोदान पृ० १८ (दसवां संस्करण १९४९ ई०)

लत्ता भी पहनने को न मयस्सर हो और अजुली-भर रुपये लेकर चला है इज्जत बचाने !.........दरोगा तलासी ही तो लेगा। ले-ले जहाँ चाहे तलासी। एक तो सौ रुपये की गाय गयी, उस पर यह पलेथन ! वाह री तेरी इज्जत !"

"होरी खून का घूँट पी कर रह गया। सारा समूह थर्रा उठा। नेताओं के सिर झुक गए और दारोगा का मुँह जरा-सा निकल आया। अपने जीवन में उसे ऐसी लताड़ न मिली थी।.........मगर दारोगा जी इतनी जल्द हार मानने वाले न थे। खिसियाकर बोले—मुझे ऐसा मालूम होता है, कि इस शैतान की खाला ने हीरा को फसाने के लिए खुद गाय को जहर दे दिया।

"धनिया हाथ मटकाकर बोली—हाँ, दे दिया। अपनी गाय थी, मार डाली, फिर ?..........तुम्हारे तहकियात मे यही निकलता है, तो यही लिखो। पहना दो मेरे हाथों में हथकड़िया। देख लिया तुम्हारा न्याय और तुम्हारे अक्कल की दौड़। गरीबो का गला काटना दूसरी बात है, दूध का दूध और पानी का पानी करना दूसरी बात।"

"नेताओं ने रुपये चुनकर उठा लिए थे और दारोगा जी को वहाँ से चलने का इशारा कर रहे थे। धनिया ने एक ठोकर और जमाई—जिसके रुपये हो, ले जाकर उसे दे दो। हमे किसी से उधार नही लेना है। और जो देना है तो उसी से लेना। मै दमडी भी न दूँगी, चाहे मुझे हाकिम के इजलास तक ही चढ़ना पड़े। हम बाकी चुकाने को पच्चीस रुपये मागते थे, किसी ने न दिया। आज अंजुली-भर रुपये ठनाठन निकाल दे दिये। मैं सब जानती हूँ। यहाँ तो बाट-बखरा होने वाला था। सभी के मुँह मीठे होते। ये हत्यारे गाँव के मुखिया है, गरीबो का खून चूसने वाले। सूद-ब्याज, डेढी-सवाई, नजर-नजराना, घूस-घास जैसे भी हो, गरीबो को लूटो।"[1]

इस उद्धरण मे रिश्वतखोर बेईमान दारोगा और गाँव के पचों की काली करतूतो का सजीव चित्र उपस्थित हुआ है और बीभत्स रस की पूर्ण व्यजना होती है। होरी की पत्नी धनिया आश्रय है, दारोगा और पच आलम्बन। दारोगा और पचों की साठ-गाठ, दारोगा-द्वारा धनिया को धमकाना आदि उद्दीपक कार्य है। धनिया का झपटना, हाथ मटका कर फटकारना आदि शारीरिक तथा धिक्कारपूर्ण कथन वाचिक अनुभाव है। अमर्ष, क्रोध, व्यग्य, धीरता, साहस आदि संचारी भी स्पष्ट है।

उपर्युक्त सभी आलम्बनो से बीभत्स रस की पूर्ण व्यंजना इस उपन्यास मे स्थान-स्थान पर पाई जाती है। घृणा के अनेक रूप—व्यंग्य-मिश्रित घृणा, जैसे झुनिया-द्वारा एक पण्डित जी के साथ आपबीती सुनाने का प्रसग, हास्यपूर्ण घृणा, जैसे गोबर और अन्य गाव के युवको-द्वारा नोखेराम आदि की नाटक रचकर

१ वही पृ० १५२ १५३

खिल्ली उड़ाना, गोबर और धनिया की अनेक उक्तियो मे क्षोभपूर्ण घृणा आदि 'गोदान' में चित्रित हुए है ।

इस प्रकार प्रेमचन्द के उपन्यासो में बीभत्स रस की प्रचुर सामग्री पाई जाती है। यह बीभत्स रस ही है, जो प्रेमचन्द के उपन्यासो को सबल और सशक्त रचनाएँ सिद्ध करता है। इसी के आश्रय सामाजिक बुराइयों के मूलोच्छेदन की प्रेरणा हमे प्राप्त होती है, यही सब प्रकार के अधर्म, अन्याय और अत्याचार के स्थान पर स्वस्थ मानवता के निर्माण की प्रेरणा देता है।

प्रेमचन्द जी के 'सेवासदन' के पश्चात् सन् १९१६ मे प्रसाद जी का प्रथम उपन्यास 'ककाल' निकला था, जिसमे प्रसाद जी ने वेश्यालयों, बुर्दाफरोशो, लम्पट धर्म-ध्वजियों तथा आचरणहीन पादरियों और स्वयं-सेवकों के पापाचार का चित्रण किया तथा सामाजिक और धार्मिक सस्थाओ का खोखलापन दिखाया।

मेले मे तारा अपनी माता से बिछुड़ जाती है। स्त्रियो का व्यापार करने वाली एक सस्था की कुटनी उसे धोखा देकर ले जाती है। एक वेश्या पेशा कराने के लिए उसे खरीद लेती है। मगल नामक स्वयसेवक उसका वहाँ से उद्धार करता है। तारा उस बीभत्स वातावरण से घृणा करती थी। वह कहती है—'भगवान की दया से नरक से छुटकारा मिला। आह! कैसी नीच कल्पनाओं से हृदय भरा जाता था—संध्या मे बैठकर मनुष्य-समाज की अशुभ कामना करना, उसे नरक के पथ की ओर चलने का सकेत बताना, फिर उसी से अपनी जीविका!" तारा का पिता पुत्री को स्वीकार करने से जवाब दे देता है। बेचारी लाख सिर पटकती है, मंगल उसकी निर्दोषता का विश्वास दिलाता है, पर कुलीन पिता खोई हुई पुत्री को अपनाकर कलक कैसे लगवाये? ऐसा निर्दयी पिता घृणा का ही पात्र है। मंगल भी तारा का धर्म लूटकर, उसे मा बनाकर रफू-चक्कर होता है। धर्म के भण्डारे में गुलच्छर्रे उड़ते है, और बाहर भूखों की भीड़ झूठी पत्तल पर टूटती है, झगड़ती है। प्रसाद जी की व्यग्यमयी शैली का अद्भुत चमत्कार देखिए—"ये भी मनुष्य है और इसी धार्मिक भारत के मनुष्य हैं, जो कुत्तो के मुह के टुकडे भी छीनकर खाना चाहते हैं। भीतर जो पुण्य के नाम पर—धर्म के नाम पर—गुलच्छर्रे उड़ रहे है, उसमे वास्तविक भूखो का कितना भाग है, यह पत्तलों के लूटने का दृश्य बतला रहा है। भगवान्! तुम अन्तर्यामी हो।"[1]

इस उपन्यास मे धर्म-धूर्त्त देवनिरजन, पादरी बाथम, स्वयसेवक मगल आदि सब की धूर्त्तता, नारी पर अत्याचार, धर्म की ओट में व्यभिचार-अनाचार का पर्दा-फाश किया गया है। सस्था-बद्ध व्यभिचार तथा विकृतियों के नग्न चित्रण की प्रवृत्ति आगे चलकर उग्र आदि लेखको मे खूब पाई गई।

---

१ ककाल पृ० ६४ (नवा

'उग्र' जी के उपन्यासों में बीभत्स रस

श्री बेचन शर्मा 'उग्र', श्री चतुरसेन शास्त्री, श्री ऋषभचरण जैन आदि ने हिन्दी मे यथार्थवादी परम्परा का अवलम्ब ले सामाजिक जीवन के अंधकारमय पक्ष का नग्न और यथार्थ चित्रण अपने उपन्यासो मे किया है। इन यथार्थवादी उपन्यासो मे हमें बीभत्स रस की प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। 'उग्र' जी ने मानव तथा उसके सामाजिक कुकृत्यो का खूब पर्दाफाश किया है। उनके उपन्यासों में चित्रित व्यक्तियो और उनकी पाप-लीलाओ के प्रति हमारे मन में तीव्र घृणा पैदा होती है। कुछ आलोचक इस प्रकार के नग्न चित्रण को अश्लील कहकर 'उग्र' आदि इन लेखको की भर्त्सना करते है। पर अश्लीलता क्या है, साहित्य मे उसका कहाँ क्या रूप होता है, इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर हम पीछे विचार कर चुके है। यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि वस्तुत. उग्र के उपन्यासो मे अश्लीलता नहीं है। लेखक ने जीवन की आस्थाओ पर कुठाराघात नही किया है, और न ही वह अपनी अनुभूति में कोई छिछलापन या सस्ती भावुकता ही लाया है। इन उपन्यासो का मूल तत्त्व समाज मे सस्थाबद्ध रूप से चलने वाले नारी-व्यापार, सामाजिक व्यभिचार तथा नारी के प्रति अमानुषिक व्यवहार के प्रति घृणा उत्पन्न करना ही है। उनके पात्रो के घृणित सामाजिक आचरण पाठक का मानसिक स्खलन नही करते। 'घासलेटी आन्दोलन' के सूत्रधार बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे गए महात्मा गाधी के पत्र की ये पंक्तियां 'उग्र' के साथ पूरा न्याय करती है—'मैं पुस्तक का हेतु शुद्ध मानता हूँ। लेखक ने अमानुषी व्यवहार के प्रति घृणा ही पैदा की है।'[1]

'उग्र' जी के 'दिल्ली का दलाल', 'चद हसीनो के खतूत', 'सरकार तुम्हारी आँखों मे', 'बुधुवा की बेटी' (मनुष्यानन्द) आदि उपन्यासो में समाज की विकृतियो का यथातथ्य चित्रण हुआ है। लेखक ने कलाकार की सत्यता का दावा बडे जोरदार शब्दों में किया है—'है कोई माई का लाल जो हमारे समाज को नीचे से ऊपर तक देखकर, कलेजे पर हाथ धरकर, सत्य के तेज से मस्तक तानकर इस पुस्तक के अकिंचन लेखक से यह कहने का दावा करे कि तुमने जो कुछ लिखा है, गलत लिखा है, समाज में ऐसी घृणित, रोमाचकारिणी, काजल-काली तस्वीरें नही है। अगर कोई हो तो सोत्साह सामने आवे, मेरे कान उमेठे और छोटे मुँह पर थप्पड मारे, मेरे होश ठिकाने करे।'

'दिल्ली का दलाल' में 'उग्र' जी ने भोली-भाली युवतियो को फसा कर पेशा कराने वाले दुराचारी व्यक्तियों के प्रति घृणा जगाई है। इसमे स्त्रियों का कुत्सित व्यापार करने वाले नर-पिशाचो का यथातथ्य चित्रण हुआ है। चकला चलाने वाले, नारी के जीवन को नारकीय बना डालने वाले ऐसे नर-पिशाचों और

१ साहित्य सदेश उपन्यास विशेषाक (जुलाई १९५६) पृ० ५२ से उद्धृत

कुटनी नारियो का घृणित पापाचार प्रस्तुत करने वाले अनेक उपन्यास हिन्दी मे रचे गए हैं। श्री ऋषभचरण जैन के 'दिल्ली का व्यभिचार', 'दिल्ली का कलक', 'दुराचार के अड्डे' आदि, विनोद रस्तोगी का 'अधेरी गलिया' आदि उपन्यास इसी विषय को प्रस्तुत करते है। इनमें जहा लेखक सयम को ढीला कर देता है, वहा वासना का तटस्थ और नग्न चित्रण पाठक के मानसिक स्खलन का भी कारण बनता है। 'उग्र' जी ने अपने उपन्यासो मे फिर भी सयम से काम लिया है। उनकी शैली तटस्थ न रहकर, पाठक के मन मे दुराचार के प्रति घृणा ही पैदा करती है।

'सरकार तुम्हारी आंखों में'

इस उपन्यास मे धरमपुर रियासत के महाराज मदनसिंह और उनका नया सेक्रेटरी रगीनखा हमारी तीव्र घृणा के पात्र बनते हैं। गरीबो के परिश्रम पर गुलछर्रे उडाने वाला राजा, अनेक युवतियो को फुसला कर या जबरदस्ती उड़ाकर अपनी काम-वासना को तृप्त करने वाला, कुल-कन्याओ का यौवन लूट कर उन्हे नारकीय जीवन बिताने को बाध्य करने वाला और युवतियो के अभिभावको को जेल या पागलखाने मे सड़ाने वाला पिशाच राजा हमारी उत्कट घृणा का आलम्बन है। ऐसे राजा से पुरस्कार मे प्राप्त किए रुपये भी उस्ताद गुलाबखा की घृणा का आलम्बन बन जाते है। वह रुपयो को गरीबो मे बाटकर कहता है—"राजा के रुपये नापाक थे, उन्ही को पाक करने के लिए नमाज की जरूरत थी। बिना रुपये नमाज की जरूरत वैसे ही नही है, जैसे गदगी-बिना साबुन की।"

हम पहले भी निवेदन कर चुके हैं कि घृणा या बीभत्स रस मे भी सम्बन्ध-भावना का बडा महत्त्व है। जिस प्रकार प्रेम-प्रसग मे प्रिय की वस्तु भी प्रेम का आलम्बन बन जाती है, कृष्ण की मुरली-माधुरी, उसके खेलने के ठौर, उसकी प्यारी गाए भी गोपियो और माता यशोदा के लिए प्रेम का प्रतीक बन जाती हैं, और राधा के लिए—

> निरखत अक श्यामसुन्दर के बार-बार लावती छाती।
> असुवन जल कागद मसि मिलिकै ह्वै गई श्याम श्याम की पांती।।

उसी प्रकार घृणा-पात्र से सम्बन्धित वस्तुए भी बीभत्स रस मे घृणा का विषय बन जाती हैं। राजा के सम्बन्ध से उसके रुपये भी उस्ताद गुलाबखां को गंदे लगे—घृण्य प्रतीत हुए।

राजा मदनसिंह अपने सेक्रेटरी के कहने पर उस्ताद की बेटी फिरोजी को जबरदस्ती उठवा मगाता है। उस्ताद की पत्नी का खून करके राजा के सैनिक फिरोजी को उठा लाते हैं और बूढ़े उस्ताद गुलाबखा को भी पकड़ लाते हैं। उस्ताद राजा के जुल्म से चिल्ला उठता है। उसकी आत्मा से निकला एक-एक शब्द उसके क्षोभपूर्ण घृणा भाव का द्योतक है "मैं आज माफी न चाहूंगा और न माफ

कहूँगा ही। मैं तुझको……तुझको 'तू' कहूँगा। तुफ है! तू राजा है! मैं तेरे बाप का दोस्त, मैं तुझे गोद में खिलाने वाला जईफ कलावत। और शैतान, तू मेरी बेटी पर……राजा! राजा! सुन, कौन बोल रहा है? अब तेरा आखीर करीब है। फीरोजी, याद रख, मेरी नहीं, खुदा की बेटी है। उसको छुआ कि तू दोजख…… नरक……राजा सच मान! नरक में तू जायगा……और उस नरक में जहाँ ताप है, ज्वाला है, विषैला धुँआ है, लेहजा-लेहजा पर मौत है, फिर भी मौत नही है, माफी नही है।' उस्ताद गुलाबखा को उसी पागलखाने मे भेज दिया जाता है, जिसमे 'ज्यादातर ऐसे ही लोग है, जिनकी बहू या बेटी को महाराज के आदमी महलो मे उडा ले गए, और जिन्होने रुपयो पर अपनी कुलीनता बेचने से इन्कार कर दिया।' "एक पागल चिल्लाया—'मैं पागल नही हूँ हुजूर! नया सेक्रेटरी रगीनखां मेरी औरत को भगा ले गया है। न्याय से बचने के लिए उसी ने मुझे पागलखाने भेजा है। दुहाई है!" पर कौन सुनता था! उल्टा उस बेचारे को खूब पिटवाया जाता है। राजा की यातनाओं से पागल बने हुए पागलखाने के बदियो का पागलपन भी घृणा के शब्दो को ही उगल रहा है—'मैं उसकी मा को…… उसकी मा को पकड लाऊगा, जो साला मेरी बीवी को भगा ले गया है। मैं मार डालूँगा, मैं उस बदमाश के बच्चे को।' दूसरा चिल्लाया—'ह ह! बेटी मेरी और राजा के आदमी ले गए। ह हं! प्रजा की बेटी मानो राजा के बाप की बेटी है। हं ह।' एक और बोला—'मुझे……मुझे……पकडकर मेरी इज्जत……मेरे घर की औरतो की इज्जत न लूटो……मुझे छोड़ दो बुजदिलो! मैं तुम्हें गाजर-मूली की तरह काट फेंकूगा।' कहना न होगा कि इस अवश पागलपन की पुकार से भी बीभत्स रस की ही पुष्टि होती है।

गुलाब खा पागलखाने के गोरे आस्ट्रियन प्रोफेसर को भी फटकारता है। गोरा अफसर कहता है—'तुझ मे क्या हुनर है? बस, लड़की तेरी खूबसूरत थी जिसके लिए सरकार दस हजार देने को भी तैयार है। तू भी पागल है जो पैसे लेकर लडकी बेच नही देता। जैसे भी हो, पैसे पैदा करना हम लोगो का व्यापार है।' बूढा गुलाब खां तमक कर कहता है—'लानत है उस व्यापार पर जिसे इज्जत खोकर गोरा या काला करे।' 'मैं हुनरमद कलावत……गैर-मामूली आदमी हूँ। मुझे तुझ-जैसा इज्जत-बेच आदमी नही पहचान सकता।' नफरत से नाक सिकोड़ कर उस्ताद ने गोरे को फटकारा—'अरे जा! मेरा रखवाला खुदा है।'[१]

यही आस्ट्रियन प्रोफेसर जब अपनी पत्नी से राजा के नारकीय कृत्यो की वास्तविकता समझ लेता है, तो स्तभित रह जाता है और राजा की नौकरी पर लानत भेजने लगता है। उसकी पत्नी सुनाती है—"हा, हा! यह राजा नही,

---

१ सरकार तुम्हारी आखों में पृ० ७६ पॉकेट)

राक्षस है। मै इसे बहुत दिनो तक भला आदमी और प्रेमी समझती थी,........मैने देखा एक पूरा महल औरतो का 'सेंट्रल जेल' है। मैने गिना, उसमे हजारों औरते कैदी हैं।.........ऐसा राजा हमारे कांटिनेंट में एक क्षण भी कानूनी जंजीर के बाहर न रहने पाता। वे हजारो औरतें केवल एक बार राजा की सेवा मे रही है, और फिर हरम या जेल मे। उन्हे खाना और कपडे किसी कदर मिलते हैं। और बस!..... ''बेचारिया बेमौसम ही मुरझा-मुरझा कर उस नरक मे मर-खप रही है।' यह सुनकर गोरा साहब बोला—''लानत है ऐसी तनख्वाह पर डियर, जो नामुनासिब काम के लिए मिले।''[१]

बलात्कार करने को प्रस्तुत राजा मदनसिंह से अपनी इज्जत बचाने की कोशिश मे फिरोजी ने उसे दातों से काट-काट कर जख्मी बना दिया, मारे लातों के बंधन ढीले कर दिए। वह छूटकर भागी। भागी कमरे से बाहर, और बाज-सी झपट-कर दासी की छोटी कोठरी मे वह घुस गई। भीतर से दरवाजा उसने बंद कर लिया। फिर महाराज ने लाख धमकिया दी, मगर दरवाजा न खुला, न खुला!....... दरवाजा खोलने को बढ़ने वाली दासी की छाती पर छुरा तानकर उसने ताने से कहा—''चुड़ैल! औरत होकर अगर शैतान की मदद करेगी, तो तेरी नाक काट लूंगी।''[२] फिरोजी की उत्कट घृणा का कैसा मार्मिक चित्रण है। प्रश्न उठता है—यहा वीर रस माना जाय, अथवा बीभत्स रस? निस्सन्देह फिरोजी वीरता के साथ उस दुष्ट के चगुल से निकलती है, पर वास्तव मे उसके मन मे घृणा का भाव ही प्रमुख है। उसी घृणा से क्रोध और आत्मरक्षा की भावना तीव्र हुई है। उत्साह और साहस की स्वतंत्र स्थिति यहा कम है! और फिर पाठक के मन में राजा और दासी के कृत्यों पर घृणा ही जगती है। अतः बीभत्स रस ही प्रमुख है। वीर रस का आश्रय विषय से भागता नही देखा जाता। यही बात रौद्र रस के बारे मे कही जा सकती है। यदि फिरोजी राजा से जूझ-कर उसका गला घोंट देती, या अधमरा करके गिरा देती, तभी वीर और रौद्र रस की पुष्टि होती। उसका आत्म-रक्षा के लिए भागना, घृणा की वस्तु से बचने का ही द्योतक है।

राजा के जाल में फंसी, सताई हुई दुखित औरतो के पत्रों से भी घृणा की गंध प्रकट हुई है। एक पत्र के शब्द थे—'तूने प्रेम का वादा कर धोखा दिया। तू आदमी नहीं, शैतान है।'..... ''दूसरे खत की भाषा थी—'तू मुझे मेरे देश से प्रेम के नाम पर रानी बनाने का लालच दे बहका लाया, और अब दूसरियो को ठगने लगा है। मगर मै हिन्दुस्तानी औरत नहीं, और न तुझ बदमाश की रियाया ही हूँ। इस मामले को मैं ब्रिटिश पार्लियामेंट तक ले जाऊंगी और तेरी रियासत को

---

१. वही, पृ० ७६।

२. वही पृ० ८०।

कौड़ी-दामों पर बिकवा दूगी'। एक पीले लिफाफे के कागज मे लिखा था—"अगर मैं सच्ची हूँ, अगर साधु के साथ ब्रह्मचारिणी-सी रही हूँ तो मदन, तेरा नाश हो जायगा। आज ही मुझे एक लडकी हुई है, जिसे मैने अपना खून पीकर जगल मे काले कोसो दूर फेंक दिया है। वह लडकी तेरी है, अभागे, तुझ प्रजागामी की! मै तो आज मौत के घाट लग जाऊँगी, मगर यह मेरा शाप है: वह तेरी लड़की मरेगी नही, बचेगी और उसी से तेरा सर्वनाश होगा। उस लड़की की गर्दन मे एक तावीज मे उसके बाप—तुझ नारकीय का नाम लिखकर मैंने पहनाया है। मेरा विश्वास है कि रामबाण की तरह अचूक वह तावीज़ जरूर एक दिन तेरी मौत का कारण बनेगा। अरे मदनसिंह, कामुक-कसाई, पापी, भगवान् तेरा नाश करे।"[1]

जोधपुरी साधु की लड़की के उपर्युक्त खत से भेद खुलने पर, जब राजा जान लेता है कि जिसके साथ वह बलात्कार करना चाहता था, वह उसकी ही उक्त पुत्री है, तो वह सिहर उठता है। वह आत्मग्लानि और आत्मभर्त्सना से भर जाता है। उसे अपने कुकृत्यो से, अपने से घृणा हो उठती है, अपने जीवन को वह पापी-कलंकी का जीवन समझने लगता है। 'जैसे गोहत्या लगने से ब्राह्मण श्रीहत नज़र आए, वैसे ही महाराज मदनसिंह फिरोजी-काड से निस्तेज हो उठे।'''''''सारी जिन्दगी विलास में बिताने वाला राजा अपने से घृणा करने लगा। अपनी जान की खुशी के लिए हजारों जानो का गाहक बनने वाले के प्राण आज भार-से मालूम पडने लगे'''' ऊपर नज़र जाते ही एक चित्र पर निगाह गई। '''''''चित्र था सत्यव्रती, धर्मात्मा राजेन्द्र हरिश्चन्द्र का।'''' '' 'आह!' चित्र देखते ही जैसे बिच्छी मार गई मदनसिंह को, "ऐसे पूर्वज थे मेरे! सूर्यवंशी, धर्मव्रती'''''''''और मै? अभागा, कायर, नीच! धिक्कार है ऐसी जिन्दगी पर!" '''' ''''"भगवान रामचन्द्र भी क्षत्रिय थे—सूर्यवशी।" मदनसिंह (कमरे में टगे राम के चित्र को देखकर) सोचने लगा, "और मैं भी वही हूँ। पर कितना अन्तर!'''' '''भगवान् ने देश, धर्म और कुल की मर्यादा स्थिर रखने के लिए सब-कुछ किया, पर मैने उसी मर्यादा, प्रतिष्ठा, उसी इज्जत मे कालिख पोतने में कुछ भी उठा नही रखा। आह! कुलकलंकी!"''''''' पौराणिक काल से लेकर ऐतिहासिक काल तक के क्षत्रिय महापुरुषो के चित्र उस कमरे मे टगे थे। महाराज को ऐसा मालूम पड़ने लगा, मानों एक-एक चित्र उनकी तरफ नफ़रत से निगाह कर अभिशाप दे रहा था। यह धनुर्धारी अर्जुन का चित्र, मानो एक ही तीर से कुल-कलकी को मार डालने की धमकी दे रहा था।''''यह युधिष्ठिर का चित्र, मानो धर्मराज के आसन से मदनसिंह के लिए रौरव नरक की व्यवस्था दे रहा था।''''यह सिसौदिया कुल के प्रतिष्ठापक का चित्र, जिसने धोखे से शराब पी लेने के कारण प्रायश्चित्तस्वरूपेण गर्म सीसा पी लिया था।''''"और मैं''''''''?" महाराज का कलेजा

---

१ वही पृ० ६२।

मारे ग्लानि के मुँह तक आने लगा, "और मै—पुत्रीगामी सूर्यवंशी ! छि. ! धिक्कार है, हजार, लाख मुझ नीच पर !"[1] और महाराज ने आत्मघात कर लिया !

सेक्रेटरी रगीन खा की भर्त्सना करता हुआ गुलाब खा रेजिडेंट को कहता है—"फिरोजी मेरी बेटी है, पाक बेटी—खुदा की दी हुई। उसको इस नापाक पशु रगीन खा ने पकडवा मगाया है, राजा के लिए.........।"

इस प्रकार समस्त उपन्यास मे बीभत्स रस का प्रसार पाया जाता है। इस रस के सम्पूर्ण अवयव और अनेक रूप इसमे प्रकट हुए है। उपन्यास की शक्ति और मार्मिक सफलता का एकमात्र कारण यहा बीभत्स रस ही है। 'उग्र' जी के प्राय सभी उपन्यास बीभत्स रस-प्रधान ही कहे जा सकते है। 'सरकार तुम्हारी आखो मे' उनका एक सशक्त उपन्यास है, जिसमे बीभत्स रस का सशक्त चित्रण हुआ है। बीभत्स रस के आलम्बनत्व की पूर्ण प्रतिष्ठा द्वारा लेखक ने मानव के अमानुषिक कृत्यो के प्रति पाठक की तीव्र घृणा जगाई है। क्रोध-क्षोभ-मिश्रित, भय-मिश्रित, आत्मग्लानि-रूप आदि घृणा के अनेक रूप इसमे स्पष्ट पाए जाते है। अनुभावों और सचारी भावो की भी कोई कमी नही है। निश्चय ही घृणा का उदात्त रूप मानव-आत्मा को सबलता ही प्रदान करता है।

शराबी

'शराबी' मे नायिका जवाहर के पास टिकट न होने पर उसे अपने घर बीभत्स नौकरी पर रखने वाला स्टेशन मास्टर हमारी घृणा का पात्र बनता है। इस उपन्यास मे हीरा अपने पति से बहुत घृणा करती है। पाठक भी उसकी घृणा से तादात्म्य स्थापित करता है। उसका बाल-साहचर्य-सभूत सहज प्रेम मानिकलाल से है, पर उसका विवाह एक मूछिये दुहेजू से कर दिया जाता है, जो नारी को अपनी सम्पत्ति समझता है और 'वासना की विकृत क्रीड़ा को ही प्रेम मानता है।' फलत पति होने पर भी हीरा उससे घृणा करने लगी। —'पति नामक उस पशु के नाम से भी वह दहल जाती। पहले तो वह ऐसी चेष्टा करती कि उससे सामना ही न हो, और इस पर भी यदि सामना होता, तो ग्लानि से, शोक से, घृणा से ऐसे सकुचा जाती जैसे वायु के तीव्र स्पर्श से लज्जावती लता।....पति उसका हफ्तो तक सरेशाम ही से कोठरी में आकर पड़ा रहता, किसी-न-किसी बहाने से उसे पुकारता भी, पर वह न जाती। सास जाने के लिए जोर डालती तो वह बच्चियों की तरह रोने लगती। जेठानियां कुछ बोलती तो उसे क्रोध आ जाता।"[2]

इस बेमेल विवाह से वह अपने पति और उसके व्यवहार से तीव्र घृणा करती है। उसके आलिगन मे वह पानी से निकाली मछली के समान छटपटाती है।

---

१. वही, पृ० १०५—१०७।
२ शराबी (तृतीय संस्करण १९५५) पृ० १११

जवाहर के पिता पारसनाथ बड़े भारी पियक्कड थे, उनका एक चित्र देखिए। उन्होने सारा घर शराब मे लुटा दिया। जवान बेटी के ब्याह की भी चिन्ता नही। इतना पीकर आते कि पचती भी न थी। 'ओ, ओ अ ल ल ल ल ! वह कै कर देते। और ऐमी दुर्गन्धभरी कै कि उससे उन्ही की नाक फटने लगती। उसके पाव पर विष्टा-सा उनके पेट का मल लिपट जाता, बिस्तर नष्ट हो जाता, कोठरी बदबू से भर जाती। वह स्वय उठकर भागते और घर के किसी दूसरे कोने मे ज़मीन पर ही चित होकर बे-होश हो जाते।..........वह (जवाहर) पिता की दुरवस्था पर क्षण-भर के लिए व्यग्र होकर रो तो अवश्य पडती, पर घबराती नही। तुरन्त ही घडो पानी बाहर के कुएँ से काढकर लाती, घटो तक बिस्तर की, कोठरी की, बे-होश पारस (पिता) की दुर्गन्धमयी दाढी और बिगडे कपड़ो की सफाई करती, और बिना घिनाये या माथे पर शिकन डाले, प्रेम से, अपनत्व से !'[1]

प्रेम और घृणा का सह-अस्तित्व

इस उद्धरण मे काव्यगत आश्रय की दृष्टि से देखे तो पारसनाथ और उसकी कै आदि घृणा का आलम्बन नही दीखते, क्योंकि लेखक ने स्वय लिखा है कि जवाहर बिना घिनाये कै आदि को साफ करती। किन्तु वास्तव मे शराबी पारसनाथ और उसका वमन हमारी घृणा का आलम्बन है। यहा दो तथ्य प्रत्यक्ष हुए है, एक यह कि घिनौनी वस्तु भी कुछ जीवन-परिस्थितियो मे घिनौनी प्रतीत नही होती, जैसे इस प्रसग मे जवाहर के पितृ-प्रेम का भाव ही पुष्ट हुआ है, और इस प्रेम के आश्रय मे उसके लिए पिता की कै आदि भी घिनौनी नही रहती। दूसरे, आचार्यों ने बीभत्स और शृङ्गार या प्रेम को परस्पर विरोधी रस बताया है, पर हम देखते हैं कि कुछ जीवन-परिस्थितियों में आश्रय-आलम्बन-भेद से ये दोनो विरोधी नही रहते। इस प्रसग मे यदि हम कर्त्तव्य-विस्मृत, शराबी पारसनाथ को ही अपना आलम्बन रखे, तो उसके प्रति घृणा का भाव जागृत होता है, पर यदि जवाहर (आश्रय) की दृष्टि से देखे, तो उसके प्रेम या स्नेह से भी हमारा तादात्म्य हो जाता है, और पितृ-प्रेम का भाव पुष्ट होता है। आश्रय-आलम्बन-भेद की ऐसी ही परिस्थिति मे शृङ्गार और बीभत्स का अविरोध स्पष्ट दीख पड़ता है। एक नारी का पति मद्यप, वेश्यागामी और व्यभिचारी हो जाता है, वह तब भी उससे प्रेम रखती है और यही चाहती है कि किसी प्रकार भगवान् उसे सुमार्ग पर लाये। वह उसी प्रकार स्नेह जताती है। ऐसे उदाहरण मे शराबी, व्यभिचारी पति या पिता जहाँ हमारी घृणा का आलम्बन होगा और बीभत्स रस की अनुभूति करायेगा, वहाँ उस पत्नी या पुत्री की दृष्टि से

---

१. वही, पृ० १३४-१३५।

शृङ्गार रस या प्रेम की ही अनुभूति होगी। पत्नी या पुत्री के मन मे भी पति या पिता के दुराचरण से घृणा ही होगी, पर यह घृणा व्यक्ति के प्रति करुणा और प्रेम-भाव रहने के कारण वैयक्तिक न होगी, पाप के प्रति ही रहेगी।

उग्र जी का 'जीजी जी' उपन्यास भी बीभत्स रस की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करता है। उसमे दीनानाथ और किशोरी का चरित्र तीव्र घृणा उत्पन्न करता है। 'जीजी जी' की सौतेली मा किशोरी का 'जीजी जी' के प्रति द्वेष-भाव किशोरी को घृणा का पात्र ही बनाता है। वह जीजी जी की उपेक्षा करती है, दीनानाथ जैसे राक्षस के साथ उसकी शादी का आग्रह करती है और अपनी लड़की मनोरमा के लिए अच्छा वर ठीक करती है। यही नही, वह जी जी जी के बाल तक नोचने लगती है। उसका बेटा मुरली उसे धिक्कारता हुआ कहता है—"तुम खत्म होने की नही माँ! मुझे लगता है कि सारे परिवार की शान्ति को समाप्त करने के लिए तुम हो।" इस पर मुरली की मा की उत्तेजना दर्शनीय थी। अगारे-सी जल-कर वह मुरली और जी जी जी पर झपटी।[१]

यह तो हुआ सौतेली मा का परिचित घृणित रूप। दीनानाथ का चरित्र उस शैतान का प्रतिरूप है, जो अपनी कामुकता के कारण नारी-घातक बना हुआ है। यह नर-पिशाच अपनी पहली पत्नी को—अविकसित, बिना खिली कली को—किस प्रकार खा गया, उसका घृणित विवरण उसी की जबानी सुनिए—'मैं प्राचीन ऋषियों का नही, श्वेतकेतु का फालोअर हूँ और अपनी स्त्री को पब्लिक-प्याऊ न मान पर्सनल 'जाम' मानता हूँ। सुरा-पान की तरह स्त्री-पान मे भी एक नशा है कि नही? अत मैं तो उसे 'जाम' ही मानूँगा।.... अजी जब वह साढ़े ग्यारह साल की युवती आयी, मैं एकतीस साल का युवक, सवा-छै फुट लम्बा और वजन में दो मन दो सेर था। व्याह के छ' महीने के अन्दर ही वह स्त्री से मा बनने की योग्यता प्रकट करने लगी। लेकिन वह पेट उसका पाच महीने का होकर बीमारी के सबब से नष्ट हो गया, जिसके बाद मरने तक बुखार तो उसे रोज ही आता। उसी बीच वह धोबिन भाग गई। फिर तो मैने स्त्री या स्वास्थ्य या बुखार का विचार किया नही........ बुखार आता रहा और वह पुन: पेट से हुई। इस बार उसे शायद तकलीफ बहुत हुई—आखें कोटर में धस गयी, हड्डियां—गाल, गले और सीने की नजर आने लगीं।[२] और यह नर-पशु सचमुच उस १३-१४ साल की बालिका को खा जाता है। उसे बुरी तरह मारता है, उसे अपनी सम्पत्ति समझता है, जैसे चाहे बर्त-बर्बाद करे। इस नर-पशु का व्यवहार जी जी जी के साथ और भी अमानुषीय है। वह पूरा लम्पट है। निर्लज्जता से कहता है—'मेरी सास जी अभी बिल्कुल जवान और

---

१. जी जी जी, पृ० २६-३० (संस्करण १६५५)।

२ वही पृ० २३

रसीली है—दो बच्चे हुए तो क्या ? कम-से-कम सेठानी से सौगुनी सुन्दरी और उस बगालिन वेश्या से पचास गुना अधिक नमकीन ! इतनी अच्छी लडकी को मुझ-जैसे पशु को आखिर यह औरत क्यो सौंप रही है ? क्या पशु इसे पसन्द है ? क्या यह स्वयं मुझे चाहती है ? सेठानी और बगालिन की तरह ? मैं कहता हूँ कुछ मर्द औरतो के बारे मे भाग्य के पूरे साढ होते है। कही मास जी फसे तब तो माल ही माल है ! और न भी फसे तो मैने अगर उन्हे फसाया नही तो फिर बात ही क्या ? धर्म ? औरत के लिए ? हिह ! वह तो भोग की वस्तु है—जहा मिले, जिसकी मिले। बस अपनी की रक्षा करनी चाहिए, सो भी अपने मजे-मात्र के लिए !.........आत्मानं सतत रक्षेत दारैरपि धनैरपि याने अपनी रक्षा स्त्री और धन को देकर भी करनी चाहिए। पहले जमाने का एक राजा दूसरे से हारने पर उसे अपनी स्त्री, बहन या बेटी भी आत्मरक्षार्थ देता था।.........आज भी सुना है देसी रजवाड़ों मे बहुत बड़े-बड़े आदमी स्त्रियों के व्यापार पर बड़े बने रहते हैं। उधर तो सुना है कुछ लोग अपनी शादी करते है अपने अन्नदाताओ के लिए। मै इससे यही अर्थ निकालता हूँ कि औरत जरूरत रफा करने-मात्र की चीज है—बेटा, बेटी, धन पैदा कर लेने मात्र की चीज है—जोत-बोकर, कोई पूजा की चीज नही। बगालिन वेश्या से दो बार मुझे गर्मी हो चुकी है। मित्र कहते है, मेरे बच्चो पर भी मेरे रोगो का प्रभाव रहेगा—रहे, बला से मेरी ! मेरे बच्चे क्या ! मै बच्चे नही चाहता—मै तो भोग-आनन्द-मजे मात्र का चाहक हूँ।.........औरत और मर्द के बीच में हर साल चें चें करने वाले ये बच्चे कौन है ? कुछ जानवर अपने बच्चे खा जाते है न ? बहुत अच्छा वे करते हैं मेरे मते।"[1]

और यह नर-पशु जी जी जी के साथ भी पशुता का व्यवहार करता है। वह अपने पड़ौसी रघुवंश से कहता है—"पेट से कर दिया है। स्त्री को भोग का स्वाद देने के बाद स्वतन्त्रता नही, बंधन-पर-बधन देने चाहिएँ—पुत्र-पर-पुत्र, पुत्री-पर-पुत्री कि साली बहक न सके बेड़े के बाहर—बंधी-की-बधी रहे—और सूधी-सधी।"

"तुम्हारी बातो से तो मुझे मितली उठती है दीनानाथ !" तमक कर रघुवश ने कहा—'तुम स्त्री के प्रति महज पशु बन गए हो ! मैंने सोचा अच्छी पत्नी पाकर तुम एक बार अच्छा जीवन व्यतीत करोगे, मगर............छि. !......' रूसमे तुम जैसा स्त्री-विघातक होता तो उसे सोवियट सरकार गोली से उडवा देती।"[2]

निस्सन्देह इस नर-पशु की बातो और उसके कुकृत्यो से ऐसी ही घृणा जगती है। वह जी जी जी को घर में कैद रखता है, रात-दिन उसे घेरे रहता है, सदेह करता है, किसी से मिलने नही देता, भाई से भी पत्र-व्यवहार उसे अच्छा नही

---

१ वही पृष्ठ ५६ ५७

२ वही पृ० ७६ ७७

लगता—"औरतो का सारा पत्र-व्यवहार उनके पति के नाम होना चाहिए.........
विवाह के बाद स्त्री के सारे रिश्ते टूट जाते है और रह जाता है महज एक पति और दासी का।"[१]

इस नारकीय कीडे से उनकी पत्नी, भाग्य की मारी बेचारी जी जी जी भी कितनी घृणा करती है, देखिए—"पति नाम के उस पुरुष के मुँह से ऐसी बदबू आती है कि सच कहूँ तो लोग कहेगे मत गया ! रात-भर उनकी नाक बोलती, ऐसी कि जहर दिए भी नीद न आवे। जागने तो भालू की तरह चिपक जाते, सोते तो नाक से शख बजाते—स्त्री के पतन और पराजय पर। उनके साथ जीवन यों मालूम पड़ता जैसा कुछ चुहिये को बिल्ले के साथ—आखिर बिल्ला भी चुहिया को खेला-खेला कर ही तो खाता है।"[२] वह गर्भवती होने पर भी अपनी पत्नी को तग करता है, उसे मारता है, नरकू को पीटता है। जी जी जी को मुरादाबाद निकाल देता है, और कोई खैर-खबर नही लेता। बच्चा होने के बाद फिर भूखे शेर की तरह उस पर टूट पड़ता है। उस बेचारी के पेट मे चीरा देकर बच्चा पैदा हुआ था और डाक्टरनियों ने सावधान किया था कि माता बनने का मोह छोड़ दे। पर पति महाशय मानने वाले कहाँ—"डाक्टरिने गवी है।" और फिर शक की बाते करने लगते—"औरतें जब किसी और से साँठ-गाँठ बाँध लेती है तब अपना मर्द उन्हे फीका मालूम पड़ता है—तो क्या मुरादाबाद मे भी.........?" और वह बेसाख्ता मुझे गालियाँ देने लगते। सो मैं पुन. गर्भवती हुई। वह पुन कलकत्ता गये। पुन इस बार घोर यातना और चीरफाड का सामना मुझे करना पडा—पुन वह जिम्मेदारी से अलग महज विलास से सटे कलकत्ते ही रहे—इस बार तो मै मरती-मरती बची।"[3] दूसरे बच्चे के पैदा होने के बाद फिर वह पिशाच मुरादाबाद मे जा धमका। "मौके-बे-मौके जबरदस्ती पर तैयार ! फिर भी मैं सावधान रही, बचती।

"मुरादाबाद में ही एक रोज वह दिन-दहाडे बुरी तरह शराब पीकर लड़खड़ाते घर पर आये। मै बच्चो को सम्भाल रही थी। आते ही उन्होने मुझे कोठरी मे अन्दर बुलाया। मैं बच्चों को नौकरानी के हवाले कर यह सोचती उनके पास चली गई कि कोई खास जरूरत होगी—पर उन्होंने तो नशे मे मुझे कसकर बाहो में कस लिया यों कि बदबू और कसावट से मेरा दम घुटने लगा।"[४] इस घृणा के पात्र के प्रति उसकी दृढता, रोष, प्रतिरोध आदि भाव-अनुभाव देखिए। जब वह बलात्कार की धमकी देता है तो वह दृढ़ता से कहती है—"नहीं कर सकते श्रीमान्, दो बच्चों को

१. वही, पृ० ८३।

२. वही, पृ० ८६।

३. वही, पृ० ११७।

४ वही पृ० ११८

रक्तदान देने से आज यद्यपि मैं मरियल नारी हूँ, मगर इच्छा-विरुद्ध अपमान आप क्या एक पलटन भी पुरुषों की जीते-जी नही कर सकती।"

घृणा के आलम्बन से बचने-बचाने के लिए ईश्वर से प्रार्थना और उसका धन्यवाद भी किया जाता है। दीनानाथ के पाशविक व्यवहार का ध्यान करके नरकू भगवान् का धन्यवाद करता है कि उसने उसे कूबडा और वामन बनाया, फिर भी स्त्री नही बनाया। "कामातुर, स्वार्थी, खल पति का व्यर्थ गर्भभार ढोने को लाचार नही किया, यह बडी कृपा की! भगवान! धन्यवाद!!"[1]

इस प्रकार इस उपन्यास मे लेखक ने दीनानाथ का अत्यन्त कुत्सित, घृणित रूप प्रस्तुत करके नारी के प्रति हमारी सहानुभूति जगाई है और ऐसे नर-पशुओं से समाज को सावधान रहने का सन्देश दिया है। इस उपन्यास से एक तथ्य प्रकट हुआ है। प्रायः कहा जाता है कि कुदर्शन से घृणा जगती है, पर लेखक ने नरकू का जोकि कूबड़ा, बदशक्ल वामन है, ऐसा सहानुभूतिपूर्ण चित्रण किया है कि जो उससे घृणा करता है, हमारे मन मे उसके ही प्रति घृणा पैदा होती है, नरकू के प्रति नही। जी जी जी के यहाँ उसके पिता के मेहमान एक राय साहब आये हुए है। वे नरकू को देखकर कहते हैं—"इस कुदर्शन जानवर के सामने", राय साहब ने मुझे (नरकू को) दिखाकर बाबू जी से कहा—"अब तो मुझसे एक घूट भी चाय नहीं पी जाती—बचपन से ही मै भद्दे लोगो से चिढता हूँ, क्या हम कही और नही बैठ सकते?"[2] ऐसी भावना प्रकट करने वाले रायसाहब के प्रति ही हमारी घृणा जगती है।

श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'बयालीस' में भी बीभत्स रस का प्रचुर प्रसार पाया जाता है। अँग्रेजी सरकार के पिठ्ठू, क्रूर जमीदार सर भगवान सिह हमारी तीव्र घृणा के पात्र बनते है। उनका अपनी आसामियों पर गोली चलवाना, उनकी फरियाद न सुनना, जुल्म ढाना, सरकार की मदद करने के लिए देशभक्त गाँव वालो और कार्यकर्त्ताओं पर निर्मम अत्याचार करना, हिन्दू-मुसलमानो मे फिसाद और फूट कराने के लिए षड्यन्त्र रचाना, गाँव वालो से चन्दा लेना आदि ऐसे कार्य है, जो उनके प्रति हमारी उत्कट घृणा जगाते है। कल्याणपुर के आदमियों ने आकर फरियाद की—"अन्नदाता! हम लोग बुरी तरह से सताये गये हैं, हमारा घर लूट लिया गया, हमारी बहू-बेटियो की बड़ी बेइज्जती हुई है……।"

सर भगवान सिह ने सक्रोध कहा—"मुझे मालूम हो गया कि तुम मुझको पाठ पढ़ाने आए हो। तुम शायद काँग्रेस में काम करते हो, तभी बदमाशी तुम्हारे चेहरे से टपकी पडती है। जानते हो, एक इशारे से मैं तुम से आजन्म जेल में चक्की पिसवा सकता हूँ। मेरे खिलाफ तुम बगावत का झंडा खड़ा करना चाहते हो? जरूर

---

१ वही पृ० ११३

२ वही, पृ० २६

मुहम्मद! इन बदमाशों को जूते मारकर निकाल दो।"[1] जूते ही नही, वह दुष्ट गोलियों से उनके सीने भुनवा देता है। अकारण ही झूठा अभियोग लगाकर उन्हे कैद करा देता है। इस नर-पिशाच के काले कारनामो का कच्चा चिट्ठा लेखक ने खोल कर रख दिया है। यह केवल व्यक्ति-चरित्र के प्रति घृणा का रूप नही है, अपितु इस प्रकार के ब्रिटिश नौकरशाही के गुलाम भारतीयो का भी एक बड़ा वर्ग देश मे था, जो अपने देशवासियो और उनके स्वतन्त्रता-प्राप्तिके उद्देश्य का घोर विरोध करने मे कुछ कसर नही छोड़ते थे, और जिन्होंने अँग्रेजो के प्रति अपनी वफादारी दिखाने, 'सर', 'रायसाहब' आदि के खिताब और ऊँचेपद पाने के लिए अपने ही भाइयों पर वे-वे जुल्म ढाये हे, जिनकी कल्पना-मात्र से मानवता सिहर उठती है। अत. इस राष्ट्रवादी उपन्यास मे भी सामाजिक घृणा अर्थात् समाज के एक बीभत्स रूप के प्रति घृणा ही पाई जाती है। व्यक्ति-चरित्र भी वर्गगत ही है।

बीभत्स रस के सचारी रूप मे तर्क का सुन्दर उदाहरण दिवाकर और माधवी का आत्मचिंतन है—'गुलामी का अन्त करना प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है। किन्तु गुलामी क्या है? मानवोचित अधिकारो को जब एक मानव कुचलकर दूसरे के शरीर और मन पर अपना अधिकार स्थापित करता है, उसको अपने अनुकूल चलने के लिए बाध्य करता है—अथवा जिन अधिकारो का वह स्वय भोग करता है, वही जब वह दूसरों को भोगने नही देता, तब यह अनाधिकार चेष्टा ही गुलामी है। मानव अपने स्वार्थ-साधन मे इतना रत रहता है कि वह उसकी पूर्ति के लिए अपने सिद्धान्तो का ....अपनी आत्मा का खून करने मे कोई संकोच नही करता। यही पाप तो आज पापा ने किया है!"[2] नवयुग में राष्ट्र की पुकार पर युवकों में मानसिक द्वन्द्व चला, तर्क-वितर्क उठा, एक ओर पितृभक्ति है, दूसरी ओर देश-भक्ति, देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न—राष्ट्रीय प्रश्न। एक ओर युवक पिता की राष्ट्र-द्रोही मनोवृत्ति से खीज उठता है—'मेरे पिता की मनोवृत्ति दिन-पर-दिन अध.पतित होती जा रही है, इसका कारण समझ मे नही आता! ....उनका यह पतन! मुझे विश्वास नही होता कि वे इतने नीच हो सकते है। क्या उनका अन्त करण क्षणमात्र के लिए भी अनुतप्त नही होता? अपनी नीच वृत्तियों के प्रति उन्हें घृणा नही होती?....... इस युद्ध मे तो मुझे अपने पिता से विरोध करना पड़ेगा, उनसे लोहा लेना पडेगा। वे उस सरकार के विशिष्ट अंग हैं, जिनका नाश करने के लिए मैं तुला हुआ हूँ। यह तो पिता-पुत्र मे युद्ध होगा। ....अब मेरा कर्त्तव्य क्या है? क्या इसी प्रकार अज्ञान की धारा को बहने दूँ? शताब्दियो से इसी अज्ञान की ओट मे राजा और जागीरदार अपना स्वार्थ-साधन करते आये हैं। पूँजीपति के रूप मे उन्होंने अपनी प्रजा का रक्त चूसने मे कोई कसर

१. बयालीस, पृ० १८-१९ (प्रथम संस्करण २००५ वि०)।
२ वही पृ० २७

नहीं की। जहाँ तक बना है, और जैसे भी वे समर्थ हुए है, छल, बल, कौशल सब तरह उन्होंने उनका रक्त-शोषण किया है। पडितों तथा मौलवी-मुल्लाओं-द्वारा उन्होंने अपने को ईश्वर का प्रतिरूप प्रसिद्ध किया और अपने विरुद्ध किसी को बोलने नही दिया।'''''' '''विरोध में उन्होंने उँगली तक उठाई तो पाशविक बल से उनको कुचल दिया। आह! यही तो कल पिताजी ने भी किया है।''[1] इस प्रकार बीभत्स रस में मति, तर्क, शोक आदि सचारी स्पष्ट हैं।

अनवर मियाँ मुसलमानो को हिन्दुओं के विरुद्ध भडकाते है—'तुम यहाँ के मुसलमानो को अपने गोल मे मिला लो, और एक दिन रात के वक्त हिन्दुओ पर हमला कर दो, उनके घर लूट लो, और इस तरह मालामाल हो जाओ। मैं तुमको हथियार दूगा, जिनका इस्तेमाल वक्त पर करना। पुलिस से तुमको डरने की कोई जरूरत नहीं है, अँग्रेजी फ़ौजो से मतलक डरो नही। ये सब तुम्हारी ही मदद करेगे। ऐसा सुनहला मौका तुम्हें हरगिज नहीं मिलेगा। हिन्दुओ के खेत तुम्हारे हो जायेंगे, उनकी बहू-बेटियो को मुसलमान बनाकर अपना गुलाम बनाओ और उनसे काम कराओ।''[2]

अनवर आदि की तरह पडित जागेश्वरदयाल भी, जो हिन्दुओ को मुसलमानो के विरुद्ध भड़काने का काम करते है, हमारी घृणा के आलम्बन हैं। सर भगवानसिंह का जालिम दीवान गोपीनाथ, मौलवी अब्दुलगनी जो मुसलमानो को बहकाने और अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए जिन्न आदि की सिद्धियो का ढोग रचता है, ईदू, भारतीयों पर दमन-चक्र की नीति चलाने वाली अँग्रेज सरकार, जेल के कर्मचारी, घूँसखोर दारोगा मुमताज अली तथा अँग्रेज अफसर आदि सब पात्र हमारी घृणा के ही आलम्बन है।

अहिंसा के नाम पर जब क्रोध को दबाकर मनुष्य खून के घूँट पी जाता है, तब घृणा ही विद्यमान रहती है। अहिंसा के द्वारा शान्तिपूर्वक आजादी की लड़ाई लडने वाले मनोहर और उसके साथी हिन्दुओं को भड़काने वाले पडित जागेश्वर की बातो से उत्तेजित हो जाते है, फिर भी मनोहर अपना क्रोध दबाकर अपने चाचा महिपालसिंह से कहता है—'काका, रुक जाओ। इस पाखण्डी के बहकाने मे मत आओ।''''''''इसका तो काम ही है हिन्दु-मुसलमानो को लड़ाना, और अपनी तनख्वाह पाना। यह सरकारी दूत है।''''''''क्या मुझे क्रोध नहीं आ रहा है अपनी माँ की बेइज्जती होते देख कर? मगर मैं फिर भी सहन कर रहा हूँ, खून के घूँट पी

---

१. वही, पृ० ३०-३२।

२. वही, पृ० ७१।

रहा हूँ। मेरा एक ही घूंसा उसको मौत की नींद में सुला देगा, परन्तु मै पाशविक बल-प्रयोग नही करना चाहता, क्योकि यह समय नही है।''[१]

जिस व्यग्य को विद्वानों ने हास्य रस के अन्तर्गत स्थान दिया है, हम उसे बीभत्स रस का भी विषय मानते है, यह पहले भी निवेदन किया जा चुका है। लेखक की इन पंक्तियो की व्यग्य-ध्वनि घृणा की ही सूचक है—"घूस का साम्राज्य तो सारे ससार में फैला हुआ है, किन्तु भारत मे उसकी राजधानी स्थापित है। राजवर्गी पुरुष घूस लेना अपना परम अधिकार और स्वत्व विचारते है। उनमे से जो विरले एकाध नही लेते है, वह अपने ही कर्मचारियो के चक्षु-शूल होते है, और प्राय. देखा यह गया है कि वही घूस-खोरी के अपराध से दोषी ठहराये जाते है।...... ...भगवान की भाँति घूस के भी सहस्र नाम है, कही यह हक, कही मेहनताना, कही शुकराना, कही इनाम, कही पान-सुपारी, कही सिगरेट-बीड़ी, कही पगड़ी-साफा, कही कपडा-लत्ता, कहीं एवज़ाना, कहीं डाली, कही बच्चों का खिलौना, कही बच्चो की मिठाई आदि नामो से प्रचलित है। सहस्र नाम के अतिरिक्त यह सहस्रमूर्ति भी है। अनेक प्रकार के भाव-भगी, इशारों मे माँगा और दिया जाता है। इसका प्रवेश कही डके की चोट पर, और कही गुप्तातिगुप्त मार्ग से होता है।..........कोई भी सरकारी कार्यालय नही है, जहाँ घूस का अधिकार न हो, भगवान की भाँति वह सर्वव्यापी है।"[२]

अपने कुकृत्यो के प्रति घृणा से भरकर पश्चात्ताप करते हुए जागेश्वर और अनवर मियाँ भी हमारे साथ बीभत्स रस के आश्रय बनकर आते हैं। जागेश्वर पडित कहते हैं—'श्रीमान्, यह ज्ञान उस दिन उदय हुआ, जब मैंने आपके कुँवर को हँसते-हँसते प्राण निछावर करते देखा था। अनवर ने मुसलमानों को, और मैने हिन्दुओं को अपने स्वार्थ से अभिभूत होकर दोनो को लड़ने के लिए आमादा कर दिया।...... ......मेरे दुष्कर्मों के चित्र मेरे सामने आने लगे। पश्चात्ताप की अग्नि मुझे जलाने लगी। तभी से सोच रहा हूँ कि न-मालूम मैंने थोड़े-से रुपयो के लिए कितने निरपराध स्त्री-पुरुषो और बच्चो का खून कराया है, कितने अमानुषिक अत्याचारो का कारण मैं हुआ हूँ। परिताप से मेरा हृदय दग्ध होने लगा। मेरा मन बार-बार कहने लगा कि प्रायश्चित्त की प्रथम सीढी है उन रुपयों को वापिस कर देना जिनके लोभ ने यह अपकर्म मुझ से करवाया। बाल-बच्चे मेरे थे ही नहीं, जो उनकी चिंता होती, घर-बार बेचकर आज आपकी रकम लाया हूँ।"[३]

जागेश्वर-द्वारा सर भगवानसिंह का दिया हुआ रुपया वापिस कर देना, घर-बार त्याग कर विरक्त हो जाना उसकी आत्मभर्त्सना या घृणा के ही अनुभाव है।

१. बयालीस, पृ० १२३।
२. वही, पृ० १७१।
३. वही, पृ० २११।

यह विरक्ति शान्त रस का विषय नहीं मानी जा सकती। इसी प्रकार अनवर रहीम के आगे आत्मभर्त्सना करता हुआ कहता है—'वाकई रहीम काका, मैं अपनी इन्सानियत खोकर शैतान बन बैठा था। लेकिन उस दिन जब मैंने अपने से भी बड़ा शैतान देखा, तो मुझे होश आया। अब छिपाने से क्या फायदा, दरअस्ल मुझे हिन्दू-मुसलमानो मे झगडा कराने के लिए महाराजा-कल्याणपुर (सर भगवानसिंह) ने नौकर रखा था।"" ""मै तो सिर्फ रुपया पैदा करने की धुन में था। उसी हिर्स से हिन्दुओ के खिलाफ मुसलमानो को भड़काने लगा। इन्सान को इन्सान से लड़ाने लगा, और लगा उनके खून मे अपना पैसा बटोरने। इसी गाँव को मैने करीब बरबाद कर दिया था, मगर राजकुमार ने अपना खून देकर मेरे शैतान की प्यास बुझा दी, और गाँव आबाद रह गया। मै सोच रहा था कि महाराजा साहब का एकलौता बेटा मेरी वजह से मारा गया है, इसकी सजा जो न मिले, थोडी है, मगर रहीम काका, जो कुछ मैंने देखा वह इन्सान को पागल कर देने के लिए काफी था। महाराजा साहब अपने इकलौते बेटे के मारने वाले को मुँह-माँगा इनाम देने को तैयार हो गए। उन्होने साफ कहा कि उनके रास्ते का काँटा दूर हो गया है। उसी वक्त से सोच रहा हूँ कि शैतान अगर कही है तो क्या वह महाराजा से ज्यादा खौफनाक है?" रहीम के नेत्रो से विस्मय टपकने लगा।[1] यहाँ आश्चर्य-मिश्रित घृणा स्पष्ट है।

जब सर भगवान सिंह अंग्रेज कैप्टन को कल्याणपुर के निरीह प्राणियो पर फायर करने को कहता है, तब वह विदेशी कैप्टन मारिस भी कह उठता है—"ऐसा करना शायद मेरे लिए असम्भव है। इस जघन्य कार्य को तो बकरो का मारने वाला कसाई ही कर सकता है, हम सैनिक नही। हम भी मानव हैं, और........।"[2] पर सर भगवान सिंह तो महाराजा का स्वतन्त्र पद पाने के लोभ से क्रोध मे पागल हो रहे थे। वे स्वयं ही अपनी पिस्तौल की गोलियो से गाँव वालो को भूनने लगे। "वे गाँव मे चारो ओर दौड़-दौड कर निरीह स्त्री-पुरुषो, बालको और रुग्णों को अपने पिस्तौल का शिकार बना रहे थे। उनके विवेकका सर्वथा लोप हो चुका था, ...उनके नेत्र विस्फारित थे, उनकी मुखाकृति भयंकर, अमानुषिक तथा पैशाचिक थी। रक्त से सराबोर वे साक्षात् प्रलयंकर शंकर की भाँति रौद्र तथा बीभत्स रस की स्थापना मे रत दीख पड़ते थे। उनके चारों ओर रमईपुर निवासियों के शव के ढेर लगे हुए थे। उनके सहचर भूत, प्रेत, पिशाच, गिद्ध, चील और कौवे अपने आह्लादमय गान से उनको पग-पग पर नरमेध यज्ञ करने के लिए उत्साहित कर रहे थे।"[3]

इस उद्धरण में लेखक ने सर भगवानसिंह को 'शंकर की तरह' रौद्र और

---

१. बयालीस, पृ० २२६।
२. वही, पृ० २२८।
३ वही पृ० २३०।

बीभत्स रस की स्थापना में रस कहा है। वास्तव में ऐसा कहना रौद्र, बीभत्स आदि के सम्बन्ध में परम्परागत धारणा का ही प्रतिफल है। हमारे मतानुसार जहाँ शिव-शकर रौद्र रस के प्रतिष्ठापक है, वहाँ बीभत्स रस के नही। और सर भगवानसिंह का कार्य निश्चय ही बीभत्स रस का परिचायक है। वह स्वयं बीभत्स रस का आल-बन है। उसे रौद्र रस का स्थापन-कर्ता नही माना जा सकता, क्योंकि उसके अवि-वेकपूर्ण जघन्य क्रोध से सामाजिक का तादात्म्य नही होता, बल्कि वही हमारी घृणा का पात्र बनता है। भूत-प्रेत-गिद्ध आदि की उपस्थिति यहाँ आलम्बन-भेद से (गाँव वालो के मृतक शरीर के विभावत्व से) करुण रस की ही सिद्धि कराती है, बीभत्स रस की नही।

श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव का नवीन उपन्यास 'वेदना' (१९६०) नाजायज बच्चो की समस्या से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। इस रचना मे लेखक ने समाज की इस समस्या को—अवैध बच्चों के प्रति समाज की उपेक्षा और अत्याचार को—प्रकाशित करके दूषित सामाजिक वृत्ति के प्रति घृणा जगाई है।

आरम्भ में ही जब भैरवदत्त अपनी लडकी और अपनी पत्नी के साथ नर्सिंग होम में जाते है, तो विजयगढ के महाराज भीमसिंह उनके साथ अनाप-शनाप बकने लगते है। भैरवदत्त उसकी बातो मे अरुचि दिखाते है और उससे पिंड छुडाना चाहते है। भैरवदत्त की विरक्ति पाठक के मन में विरक्ति से भी अधिक महाराजा के प्रति घृणा जगाती है।

समाज के अत्याचार और उपेक्षा-भाव का शिकार होकर न-जाने कितने अवैध बालक-बालिकाओं को नारकीय जीवन बिताना पड़ता है। उन्हे माता-पिता के स्नेह से वचित तो होना पड़ता ही है, साथ ही अत्याचारी गुडो या बुर्दाफरोशो के हाथो पडकर नारकीय जीवन बिताना पड़ता है। भैरवदत्त अपनी लड़की के अवैध बच्चे की ओर देखते हैं—"बालक बहुत सुन्दर था, और अपने आयत लोचनो से उनको देख रहा था। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो वह उनसे प्रश्न कर रहा है कि "मेरा भविष्य कैसा होगा ? क्या मैं भी अगणित जारज बालको की भाति अपने प्राकृत माता-पिता के स्नेह से वचित रखा जाऊंगा ? माता-पिता की अवैधता के लिए क्या मुझे दण्डित किया जायगा ?" उनके हृदय मे इस अन्याय के प्रति घोर घृणा उत्पन्न हुई, और वह क्षुब्ध हो गए।"[१]

जीवन के सास्कृतिक परिवर्तन के साथ जीवन की मान्यताए भी बदलती रहती हैं। पहले चाहे नाजायज बच्चो के प्रति घृणा का सस्कार स्वाभाविक माना जाता रहा हो, किन्तु आज के मानवतावादी युग मे पाप और पुण्य-सम्बन्धी धारणाओं का नव-

---

१. वेदना, पृ० ६२-६३ (प्रथम सस्करण)

चिन्तन हुआ है। पाप क्या है? क्या इस प्रकार नाजायज़ औलाद पैदा करना पाप है? वस्तुत पाप केवल वही है जो प्रकृति के विरुद्ध है। समाज की व्यवस्थाएँ सदा बदलती रही है। हिन्दू धर्मशास्त्रो में भी बारह अथवा चौदह प्रकार के पुत्रो का वर्णन है। उनमे से कितने ही पहले के समाज मे मान्य थे और बाद में व्यवस्थाओ के बदलने से कुछ अमान्य ठहराए गए, और अभी तक उनमे कितने ही मान्य हैं। पाण्डु, धृतराष्ट्र तथा विदुर सभी आजकल की व्यवस्था के अनुसार जारज पुत्र ही कहे जायेंगे। इससे निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक रीतिया सदैव काल तथा परिस्थितियो के अनुसार बदलती रहती है। वास्तव मे पाप है इन नाजायज़ बच्चो को भाड मे फेंक देना, इनका बेचा जाना। डा० प्रेमलता के नर्सिंग होम मे नाजायज बच्चो को जनाने का गुप्त प्रबन्ध है। इस पापकर्म की तस्वीर यह है—"प्रेमलता अपने नर्सिंग होम के ऐसे लावारिस लडको-लड़कियो को बेचा करती है। अमूमन लडको को बेऔलाद आदमी ले जाया करते है, उनमे कितने गुडे-बदमाश होते हैं, जो उनको अपने-अपने फनों मे जैसे चोरी, पाकिटमारी, वेश्याओं की दलाली, राहजनी आदि में माहिर करते है और लडकियों को कमवाने के लिए वेश्याए ले जाती है।"[१]

इस उपन्यास में अब्दुल रहमान, दारोगा करीमबेग, उनका अर्दली करामत अली, नेता जी और सबसे बढ़कर लौरा हमारी घृणा के आलम्बन हैं। रिश्वतखोर दारोगा और करामतअली अपने स्वार्थ के लिए दूसरो का गला तक काटने को तैयार रहते है। सौ रुपये के नोटो पर वे चाहे जहां बिक सकते है। इनका आचरण, व्यवहार सब-कुछ दूषित है। बेचारी भंगिन से टकरा गए। बस फिर क्या था दारोगा साहब लगे उसे अश्लील गालियाँ देने। बेचारी मेहतरानी भागकर अपनी बस्ती मे रोई। मेहतरो का झुड एक नेता जी को ले आया और थाने मे आकर चिल्लाने लगा—"अपनी औरतो पर हम लोग यह जुल्म बरदाश्त नही कर सकते। हम भी आदमी है, हमारी भी इज्ज़त-आबरू है।" दारोगा साहब के होश गुम! नेता जी को अलग ले जाकर सत्रा-सौ रुपये के नोट थमा दिए। नेता जी रुपये लेकर थाने के बाहर आए, और मेहतरो के सरपच को एकात मे ले जाकर बीस रुपये उसको देते हुए कहते है—"मै धमकाकर दारोगा से यह रकम वसूल कर लाया हूँ। अब तुम मेहतरो को समझा-बुझाकर ले जाओ। इस रकम को अपनी पचायत मे जमा कर देना। मै अब चलता हूँ। तुम्हारी जीत हो गई।"

लौरा का चरित्र इस उपन्यास मे बीभत्स रस का पुज ही है। वह काम की पुतली स्वय तो कुलटा, निर्लज्ज है ही, उसने अपनी सन्तान को भी बर्बाद करने मे कोई कसर उठा नही रखी। वह अपनी पुत्री शशि और अवैध पुत्र प्रेम को मदिरा-

---

१ वेदना पृ० ७८

पान सिखाती है, उनमें शह्वत (इन्द्रिय हवस) पैदा करती है। शशि की सहेलियो का जीवन भी खराब करती है। गदी किताबे पढने को प्रेरित करती है। लौरा के अद्भुत आचरण की कहानी अपनी पुत्री शशि से सुनकर राजनाथ चकित हो जाते है। "अधिक सुनना उनके लिए दुष्कर हो गया, और बड़ी विकलता के साथ कमरे मे टहलते हुए कहने लगे—"हे भगवान्, यह सब मै क्या सुन रहा हूँ। लौरा, सत्य ही तू शैतान की शैतान है। शायद शैतान भी इस प्रकार का गर्हित कार्य अपनी सन्तान के साथ करने मे सकोच करेगा, किन्तु तूने सत्य ही कर डाला।""""ससार मे माता के उज्ज्वल नाम को तूने कलकित कर दिया।""""उफ! यह मै क्या सुन रहा हूँ?"[1]

जमीला और नसीबन की कहानी अत्यन्त पुरदर्द है। समाज की सडाध का नग्न चित्रण हुआ है। जमीला सुनाती है कि "वालिद के अचानक मर जाने के बाद मेरी मा ने दूसरे आदमी से निकाह कर लिया, और मुझ को एक तवायफ़ के हाथ दो-सौ रुपयो मे बेच दिया। उस तवायफ का नाम था हमीदन। वह बडी जालिम थी, और दया-मया नाम की कोई चीज उसके पास नही थी। वह मेरी छोटी उम्र से ही कमवाने लगी। जिसका नतीजा यह हुआ कि मै एक दिन ऊब कर भाग निकली। हमीदन इतनी बूढी थी कि चलने-फिरने से भी मजबूर थी। मै दूसरे मुहल्ले मे जाकर एक दूसरी तवायफ की सरपरस्ती मे रहने लगी। यह उससे भी जालिम थी, और सारी आमदनी खुद रख लेती थी। खाने को सिर्फ सूखे टुकडे और पहनने को दिन मे फटे-पुराने पैबन्द लगे हुए कपड़े और शाम को सिर्फ एक रगीन धोती देती थी, जिसको सुबह साफ करके रख देना पड़ता था।"

"तुम्हारी मा ने कैसे एक तवायफ़ को दो-सौ रुपयो मे बेच दिया? उसके मन मे थोडी भी ममता अपनी पेट-जाई औलाद के लिए नही थी?" नसीबन ने प्रश्न किया।

"मैं पेट-जाई औलाद नहीं थी। मेरा असली बाप कौन था इसका इल्म मुझको नही है। मेरा पालने वाला बाप, तुम्हारी ही तरह, मुझे कही से उठाकर लाया था।"[2] इस प्रकार नाजायज बच्चो की समस्या को लेखक ने बीभत्स रस के आश्रय स्पष्ट किया है।

भयानक रस और बीभत्स रस का मिश्रित प्रकाशन भी इस उपन्यास मे एक-दो स्थानो पर अच्छा हुआ है। लौरा की प्रेरणा से प्रेमनाथ और किरण का अनुचित सम्बन्ध एक जारज सन्तान की उत्पत्ति का कारण बनता है। होश आने पर प्रेमनाथ आत्मग्लानि से भर जाता है। वह विक्षिप्त-सा हो जाता है। इधर किरण भी आत्म-

---

१. वेदना, पृ० २४६।

२ वेदना पृ० २६१-२६२।

ग्लानि के कारण आत्महत्या करने का कई बार प्रयत्न करती है। वह एक दिन अचानक डा० प्रेमलता के नर्सिग होम में इलाज के लिए लाए गए प्रेमनाथ को देख लेती है। देखते ही भयभीत कपोती की तरह भागती है, लौरा को देखकर तो वह चीख मारकर बेहोश हो जाती है। इन नारकीय कीड़ो से वह कितना डरती है, कितनी नफरत करती है!! किरण डा० प्रेमलता से कहती है—"बहिन जी, वह पूरी राक्षसी है, उसने न-मालूम मेरी कितनी सहेलियो को पथ-भ्रष्ट किया है। मेरा वश चले तो उसे फासी पर लटका दू।"[१] स्पष्ट है कि यहा भयानक और बीभत्स रस का आलम्बन समान है। प्राचीन आचार्यो ने भी इन दोनों रसो का सह-अस्तित्व अथवा मैत्री-भाव स्वीकार किया है। अभिनवगुप्त ने कहा है कि "उन (भयानक और बीभत्स रसो) के विभाव समान हो सकते हैं, इसलिए उसके (भयानक के) बाद बीभत्स रस का उल्लेख किया गया है।"[२]

डा० रागेयराघव के उपन्यास 'दायरे' मे भी रोजालिण्ड को धोखा देने वाला, उससे प्यार-विवाह के वायदे करने वाला डा० सिह, जो बाद मे बेचारी को नाजायज औलाद का भार ढोने के लिए छोड देता है, हमारी घृणा का ही तो पात्र बनता है। रोजालिण्ड के 'नाजायज' पुत्र आर्नल्ड को लड़के स्कूल मे तग करते है। क्रिस्टोफर और मैथ्यू का उसे चिढाना, तग करना, मारना—सब उनके प्रति हमारे मन मे अरुचि पैदा करते है। डा० सिह के प्रति घृणा का रूप वैयक्तिक है तो स्कूल मे आर्नल्ड को 'नाजायज' सतान समझकर अपमानित करना, मारना, स्कूल से निकाल देना आदि कार्य सामाजिक घृणा का रूप धारण कर लेते है। कैसे है हमारे ये समाज के लोग, जो नर-नारी के अनौचित्य का बदला मासूम, निर्दोष बालक से लेना चाहते है। उसे दुत्कार कर उसके भावी जीवन को अभिशाप बना डालते हैं! स्कूल के प्रिंसिपल और मदर आदि, जो आर्नल्ड को 'नाजायज' होने के कारण निकाल देते है, हमारी घृणा के ही पात्र बनते है: सत्यदेव इस्तीफा देकर, और फादर भी ऐसे स्कूल से अलग होकर, इस्तीफा देकर, अपनी ग्लानि ही व्यजित करते है। सत्यदेव कहता है—"बच्चा निर्दोष है। मां भी निर्दोष है। जवानी मे उसे बहकाया गया था। धोखा दिया गया था। मैं समझता था कि ईसाई मत मे मनुष्य का प्रेम जागता है फादर! आज हिन्दू, मुसलमान, ईसाई मत, यहूदी, सिख, जैन सब लकीर के फकीर है। किसी मे भी मनुष्यता का बल नही।"[३]

रोजालिण्ड का डा० सिह के प्रति क्रुद्ध होना स्वाभाविक ही था। क्षोभ और

---

१. वही, पृ० ३१८।

२. 'तद्विभाव साधारण्यसम्भावनात् ततो बीभत्स इति।'—हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४३२ (भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर)।

३ दायरे, पृ० ११७ (पाकेट)

घृणा से भर कर वह डा० सिंह के पास गई तो दो हजार रुपया लेकर तथा डा० सिंह की पत्नी के आँसुओ को देखकर डा० सिंह को क्षमा कर देती है और अपना क्षोभ शात कर लेती है, पर घृणा बनी रहती है। उसके ही शब्दो मे सुनिए— 'वह डाक्टर वही इज्जत रखता है। वह अस्पताल मे भी ऑपरेशन करने की फीस पहले ठहराता है। वह अमेरिका, इगलैड से लौट आया है, इसलिए सब उसके पीछे भागते है। वह मरने वालो की बीमारी और तकलीफ की कभी परवा नही करता। मीठा बोलता है, लेकिन बडी बेमुरव्वती से रुपया तय करता है। मै उसको बरबाद कर सकती थी। मै उसके घर गई। तब उसकी बीवी ने मेरे पाँवो पर सिर रख दिया। मैने उसे माफ कर दिया और एक हरामजादे को जन्म देना भी स्वीकार कर लिया। उसकी कीमत मैने बीस हजार रुपये वसूल किये।"[१] ध्यान रहे, यहाँ रोजा ने अपने क्रोध की ही दो हजार रुपये कीमत वसूल करके शान्ति की है, घृणा की नही। घृणा बराबर बनी रही है।

कृश्न चन्दर का उपन्यास "गद्दार" धार्मिक साम्प्रदायिकता के बीभत्स रूप का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है। धर्मान्धता मानव को दानव बना देती है, इसान से उसे शैतान या हैवान बना देती है। भारत-विभाजन के समय साम्प्रदायिकता की आग मे मानव की मानवता झुलस गई और उसकी दानवता के अनेक बीभत्स रूप प्रकट हुए। आरम्भ में ही गाँव के नम्बरदार के नाम पीर जमानत अली का पैगाम उसके प्रति घृणा को जगा देता है—"पीर जमानत अली शाह ने कहा है, पन्द्रह अगस्त तक गाँव मे जितने हिन्दू जवान हैं, उन सबको कत्ल कर दिया जाय। जितनी जवान औरते हिन्दुओं की यहाँ इकट्ठी हो चुकी है या हो रही है, या आसपास के इलाको से आरही है, उन सब को रख लिया जाए। हाँ, बूढ़े मर्द-औरतो और बच्चो को छोड दिया जाय।"[२]

इस उपन्यास में बीभत्स रस तथा करुणरस का ही प्रसार आरम्भ से अत तक है। साम्प्रदायिकता के, साम्प्रदायिकता को हवा देने वालों के तथा इससे अधे हुए हत्यारों के प्रति तीव्र घृणा इसमें जगती है। साम्प्रदायिकता को हवा देने वाले अग्रेजो और उनकी नीति पर भी कथानायक अपनी घृणा व्यजित करता हुआ कहता है—"वे लोग बडे चालाक है शादा—वे लोग जो हमारे देश के टुकडे करके जा रहे है। सबसे पहले उन्होने हमारे दिलो के टुकड़े किए थे। बंटवारा तो पहले दिलो से शुरू होता है।"[3]

साम्प्रदायिकता का घृणित भूत आशका, भय, शोक आदि कितने ही भावो को

---

१ वही, पृ० ८७।

२. गद्दार, पृ० १० (पाकेट सस्करण)।

३. वही, पृ० १२।

पैदा करता है। लाहौर में अपने मित्र मिया के घर कथानायक एक रात रहता है, किन्तु मुसलमान गुण्डे उसे अपने हवाले करने का आग्रह करते है। मिया नही चाहता। मिया की बीवी ने चिल्लाकर कहा—"तुमने अगर उसे गुण्डो के हवाले न किया तो तुम्हारा और उसका खून पी जाऊँगी।" इस कथन पर कथानायक अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करता हुआ कहता है—"मिया की बीवी ने अपने लम्बे नाखून हवा मे लहराए। वह उस समय मुझे एक चुड़ैल और डायन मालूम हुई। उसने मिया को कालर से पकड लिया……"जाओ, उसे गुण्डो के हवाले कर दो।"[1] पाठक के मन मे यहाँ उसके प्रति घृणा ही जगती है, यद्यपि बाद मे यह जानने पर कि उसका यह चुड़ैल-रूप उसके मातृत्व या वात्सल्य-प्रेम के ही कारण प्रकट हुआ था—हमारी घृणा कुछ कम हो जाती है, क्योंकि गुण्डे मिया के छोटे बच्चे को इसलिए साथ ले गए थे कि जब तक उस हिन्दू को हवाले नही किया जाता, बच्चे को नही दिया जायेगा। फिर भी लोक-व्यवहार की यही मांग है कि शरणागत की रक्षा की जाय—अपने स्वार्थ-त्याग या हानि से भी उसकी रक्षा की जाए। अत लोक-व्यवहार या नीति ही घृणा के औचित्य-अनौचित्य को निर्धारित करती है। कथानायक इस नफरत की दुनिया के प्रति, जहाँ मानव मानव के खून की होली खेलता है, घृणा करता हुआ कहता है—"तुम किधर जा रहे हो सफेद पखो वाले राजहसो ? मुझे भी अपने साथ ले चलो—किसी अनजान झील के किनारे, मनुष्य की दुनिया से बहुत दूर—मुझे वहाँ ले चलो मेरे दोस्त, मै तुम्हारे बच्चो से खेलूँगा और…… ……उन सपनो को याद करूँगा जो सरकण्डो के साए मे कभी मैंने और शादा ने देखे थे …… मुझे यहाँ मत छोड़ जाओ मेरे दोस्तो ! आज इस दुनिया मे बहुत ज्यादा अधेरा है। बहुत ज्यादा अत्याचार है। बहुत ज्यादा तग-नज़री है।"[2]

विस्थापित बने हुए कथानायक के साथ-साथ चलती रहने वाली कुत्तिया ही सभ्य कहाने वाले मानव से अच्छी है, जो अपनी जान की परवाह न करके मानव मे सहानुभूति और स्नेह दिखाती है। कथानायक इस कुतिया के माध्यम से आज के मानव और उसकी मानवता, धर्म, सभ्यता आदि पर व्यग्य करता है। कहना न होगा कि इस व्यग्य मे हास्यरस नही, बीभत्स रस ही व्यजित हुआ है—"तू कहाँ जायेगी कुतिया ! तू कुतिया है। तुझे कोई डर नही है। तू इन्सान थोड़े ही है कि तुझे अपनी जान का डर हो। यह तो सब सभ्यता की बाते है, ऊँचे धर्म और नैतिकता के झगडे हैं। यह तलवार तो बहुत ऊँचे आदर्शो के समर्थन से उठती है। इससे तेरा गला न काटा जाएगा। तू खुशनसीब है कि तू असभ्य है, जाहिल और धर्म-हीन है। तू खुशनसीब है कि तुझे यह नहीं मालूम कि धर्म क्या है ? तूने कभी सध्या नही की, कभी पांच वक्त नमाज नही

१ वही पृ० २६
२ वही पृ० ३७

पढ़ी। तू कभी किसी गिरजे, मन्दिर, मसजिद मे नही गई·········तू खुशनसीब है कि तू कुतिया है—इन्सान नही है।"[1] कुतिया इन्सानी हमदर्दी से भर जाती है—"जब सबने साथ छोड दिया तो क्या तेरी-जैसी तुच्छ कुतिया को ही मेरा साथ देना था? ·········किसके लिए तूने अपनी जान खत्म कर दी? किस हीन निकृष्ट इन्सान के लिए अपने बच्चो की बलि दी (कुतिया बच्चे देने वाली थी)—उस इन्सान के लिए जो आज अपने पथ से हट चुका है? अपने कर्त्तव्यो को भूल चुका है? अत्याचार और जुल्म-ओ-सितम के लहू से अपने भविष्य को लहूलुहान कर रहा है?"

"ज़िदगी बडी ऐश और आराम मे गुजरी थी। इसलिए किसी से गहरी नफरत करने का मौका भी आज तक नही मिला था। नई शिक्षा ने इतना तो कर दिया था कि मेरे दिल से ऊँच-नीच, जात-पांत, धर्म और नस्ल के भेद-भाव मिटा दिए थे। यह बाते मुझे कुछ अच्छी नही लगती थी। उनसे बासी दही-जैसी खट्टी-खट्टी बू आती थी, और जी चाहता था कि जहाँ-कही भी ये चीजें मिले, उन्हे जल्दी से उठा कर किसी गंदी मोरी मे बहा दिया जाए।"[2]

साम्प्रदायिक रूढियो के बीभत्स रूप को यहाँ दुर्गन्धयुक्त बताया गया है। क्या वाकई गदी बातो से घ्राण का भी सम्बन्ध होता है? इस प्रश्न पर हम पीछे विचार कर चुके है। वस्तुतः "बासी दही-जैसी खट्टी-खट्टी बू" की बात औपचारिक कथन ही है।

मानवीय पतन—प्रतिशोध की नारकीय क्रीडा का इससे अधिक नग्न नृत्य क्या हो सकता है कि मानव बिल्कुल दानव बनकर खुले-आम अपनी दानवता का सबूत देने लगे। कथानायक भारत की सीमा मे आया तो एक बडे पीपल के पेड़ के नीचे "क्यू" लगी देखता है। उसने एक व्यक्ति से पूछा—"यहाँ क्या राशन मिलता है?"

वह हसा और बोला—"हाँ भैया, औरत का राशन मिलता है।"

"क्या मतलब?"

वह बोला—"एक मुसलमान लडकी हत्थे चढ़ी है। हम लोग उसकी इज्जत खराब कर रहे है।"

मैंने सामने के "क्यू" मे खड़े हुए लोगों को गिना। मुझ से आगे पच्चीस व्यक्ति थे। देखते ही देखते मेरे पीछे पन्द्रह व्यक्ति और आकर खड़े हो गए।

"यह क्यू कब तक रहेगा?" मैने उस युवक से पूछा।

"जब तक वह लड़की मर नही जाती!"—युवक ने जवाब दिया। थोड़ी देर तक तो मैं "क्यू" में खड़ा रहा। लोग बारी-बारी आगे बढ़ते थे। फिर भी क्यू बहुत लम्बा था, और उस लड़की की चीखें बड़ी प्राण-भेदी थी।

---

१. वही, पृ० ४७-४८।

२ वही, पृ० ५१।

"खड़े-खड़े मेरे दिल को कुछ होने लगा—जैसे कोई मेरे दिल को मुट्ठी में लेकर धीरे-धीरे मसल रहा हो। उस लड़की की चीखें बड़ी दर्दनाक थीं—"वे भ्रावा, मैं तेरी बहिन आ।"

"मैंने अपने दोनो कानो मे उँगलिया दे ली और वहाँ से भाग खडा हुआ।"[1]

"फिर सैकडो आक्रमणकारियों के पग उस जमीन को रौंदते चले गए और एकाएक मेरी आखो में इतने आंसू भर आए कि मैं आगे कुछ न देख सका। घोड़े पर बैठे-बैठे मेरा सारा शरीर कांपने लगा, और मेरे मस्तिष्क मे और शरीर और आत्मा में एक मितलाने वाली ग्लानि का भाव बढता गया। एकाएक मैंने हाथ झुलाकर नेजा जोर से दूर परे फेंक दिया और घोड़ा दौड़ाकर उस बूचड़खाने से बाहर निकल आया।"[2]

इस प्रकार साम्प्रदायिकता के इस हिंसा, अत्याचार, अनाचार, धार्मिक वैमनस्य और क्रूरतापूर्ण विद्वेष के बीभत्स रूप को लेखक ने अत्यन्त सशक्त भाषा-शैली मे सजीव चित्रित किया है। साम्प्रदायिकता के नग्न और बीभत्स रूप को प्रकाशित करने वाली इससे अधिक सशक्त रचना शायद ही कोई और हो। इस उपन्यास मे घृणा स्थायीभाव या बीभत्स रस अपने पूर्ण कलात्मक, सबल एव तीव्र रूप मे प्रकट हुआ है। कथानायक बैजनाथ के मुख से निकला एक-एक शब्द उदात्त घृणानुभूति का परिचायक है। यह उपन्यास बीभत्स रस-प्रधान ही है, यद्यपि करुणा का प्रसार भी आद्योपान्त है, पर लेखक का उद्देश्य मानवता की इस निर्मम हानि पर केवल आंसू बहाना नहीं है, अपितु इससे आगे निर्मम अत्याचारों के प्रति उत्कट घृणा जगाना ही उसका प्रमुख उद्देश्य है।

श्री मन्मथनाथ गुप्त ने अपने **'होटल डी ताज'** उपन्यास में आधुनिक होटलों के कलंकित, दूषित वातावरण का सजीव चित्रण किया है। होटल का मालिक नेमीचन्द, हैडवेटर किशन, होटल में ठहरने वाला बीमा कम्पनी का एजेण्ट, सेठ जगबहादुर, कोठी वाले बाबू साहब आदि सब पात्र तीव्र घृणा के पात्र हैं। पक्का स्वार्थी नेमीचन्द, जो अपनी कमाई ग्राहकों को लड़कियाँ 'सप्लाई' करके करता है, जिसको मानवता छू तक नही गई है, जो शोषक—परले दर्जे का शोषक है, अपने दानव रूप मे हमारी उत्कट घृणा का पात्र बनता है। सेठ जग बहादुर विषय-वासनाओ मे ही अपने धन का व्यय करता है। ल्युकोडरमा का रोगी वह जंगबहादुर रात को दस बजे 'लाल बीबी' की माग करता है। उसे कोढी समझ कर कोई लडकी उसके पास जाने को तैयार नही होती। पर नेमीचन्द अपने इस प्रचण्ड ग्राहक को नाखुश कैसे रखे! अंत में वह वेश्याओं के मुहल्ले से एक अधेड़ उम्र की काली वेश्या को बीस

---

१. वही, पृ० ८९-९०।
२ वही पृ० ११२

रुपये पेशगी देकर ले आता है और जंगबहादुर के कमरे मे दाखिल कर देता है। यह दानव जगबहादुर उस बेचारी के साथ अनुचित व्यवहार करता है। उसकी चीखें, कराहना सुनकर नेमीचन्द उस कमरे मे आता है तो क्या देखता है कि 'वह तवायफ ज़मीन पर आधी नगी पड़ी हुई थी। बुरी तरह कराह रही थी। सेठ ने कहा—"इस बुढ़िया को कहा से ले आये। एक तो बुढिया तिस पर बिमारी।"[1] नेमीचन्द लोहू-लुहान वाकिंग स्टिक को देखकर सिहर उठा। कितना जघन्य अमानुषिक आचरण है! मानव का इससे बीभत्स रूप और क्या होगा?

किशन तारा नामक एक लड़की को एक बाबू साहब की कोठी में बन्द कर देता है और उससे वेश्या-वृत्ति कराता है तथा यही सलूक प्रभा नामक लड़की से करता है। प्रभा के सब गहने नेमीचन्द हजम कर जाता है। किशन एक वकील के घर फैसला कराने का बहाना बना प्रभा को फुसलाकर उसी बाबू साहब की कोठी मे ले जाता है। बाबू साहब पहले ही चढ़ा कर तैयार बैठे होते हैं। किशन चुपके से खिसक जाता है और बाहर की कुण्डी लगा देता है। "थोड़ी देर मे ही बाबू साहब ने अपना असली रूप धारण किया। उसने अपने मुवक्किल को अपने पास घसीट लिया। वह बहुतेरी चिल्लाती रही पर वहाँ तो कोई सुनने वाला नही था, और थोड़ी ही देर मे बाबू साहब ने प्रभा के चिल्लाने को शात कर दिया।" इस प्रकार नारी को पुरुष की कुवासना का खिलौना बनाने वाले नर-पिशाचो के प्रति घृणा उत्पन्न की गई है। यह उपन्यास भी बीभत्स रस-प्रधान है। किन्तु वासना के कई चित्रों मे लेखक-द्वारा सयम को हाथ से छोड़ देना दोष ही है।

विनोद रस्तोगी के "अधेरी गलियाँ" (सन् १९६०) नामक लघु उपन्यास में भी वेश्याओ के बीभत्स जीवन की झाँकियाँ पाई जाती है। यह उपन्यास भी बीभत्स रस-प्रधान है। मोती को स्वय अपने जीवन से नफरत है। वह सोचती है—"रूप और जवानी के खरीदारों का जमघट था। ' ''''' 'बेले के गजरे, आँखों के लाल डोरे, लड़खड़ाते कदम, जलते अधर, प्यासा तन और मन! यही रूप की हाट की वास्तविकता है। मुर्झाए चेहरे, मायूस आँखे, पेट मे धधकती आग और ''''' और उस आग को बुझाने के लिए शरीर की आहुति!

"सोचते-सोचते एक विरक्ति-सी मन मे भर गई। क्या यह बाज़ार हमेशा खुला रहेगा? क्या छज्जों पर जलती हुई हरी-लाल बत्तियाँ कभी नही बुझेगी? हमेशा''''''''हमेशा ''

"मोती बेटी, सेठ जी आए हैं।" मा ने बाहर के कमरे से पुकारा।

मैं उठी नही। लेटे-लेटे ही कह दिया—"मेरी तबियत ठीक नही है, माँ।"

---

१ 'होटल की वाव', पृ० ६८ (प्रथम)

"साथ में सिंह साहब भी है। उठकर मिजाजपुरसी तो कर ले।"

"भाड मे जाये सेठ जी और कुएँ में गिरे सिंह साहब। क्या मुझे आराम करने का भी हक नही? सेठ जी की मिलें चलती हैं, चला करें। सिंह साहब घूस मे हजारो कमाते है, मुझे क्या? मुझे सेठ जी के काले, बदसूरत चेहरे और उनकी थुल-थुल तोंद से घृणा थी, सिंह साहब की तलवार मार्का मूछों और खूनी आँखो से नफरत थी। मैं वैसे ही लेटे रही।"[1] इस उद्धरण मे बीभत्स रस की पूर्ण-सामग्री पाई जाती है। रूप का घृणित बाजार, सेठ जी और घूँसखोर सिंहजी इसके आलम्बन हैं, माता का आग्रह, सेठ जी और सिंह साहब की बदशक्ल मूर्त्तिया उद्दीपन है। वाचिक फटकार और बहाना बनाकर लेटे रहना, घृणित पात्रो से दूर रहना अनुभाव है। और अवहित्था (भाव छिपाना, बहाना बनाना), रोष, उपेक्षा, मति, शोक आदि सचारी हैं।

मोती की माँ भी, जोकि मोती के बाहर न आने से और ग्राहको के लौट जाने मे क्रुद्ध होकर मोती को मारती है, अपनी लड़कियो से पेशा कराती है, हमारी घृणा का आलम्बन बनती है।

बीभत्स रस मे तर्क और मति सचारियो का भी प्रचुर आगमन होता है। समाज के कोढ़ को दूर करने की चिन्ता और विचार-धारा अनेक स्थानो पर प्रकट हुआ करती है। मोती के तर्क और चिन्तन को भी देखिए—"सोचने लगी, हम लोगों का जीवन भी अजीब जीवन है। दिन के उजाले में जो लोग हमारी तरफ घृणा और उपेक्षा से देखते है वे ही रात के अंधकार मे हमारे कोठों की शोभा बढ़ाते हैं। हम गन्दी नाली, समाज का कोढ, पाप की साकार प्रतिमाएँ समझी जाती हैं, हमे सभ्यता और सस्कृति का कलक माना जाता है, फिर भी उस कोढ़ और कलक को दूर करने के लिए कुछ नही किया जाता। समाज के सम्मानित सदस्य ही हमे प्रश्रय देते हैं, कोढ़ और कलंक को निरन्तर बढाते है।"[2]

इस रूप-बाजार में रिश्वतखोर या शोपक ही जाते हैं, जो हराम की कमाई पर, गरीब के खून-पसीने पर मौज उडाते है। इस बीभत्स वातावरण का एक और चित्र देखिए—"वर्मा ने बोतल खोली, बहन ने चारो गिलासो मे थोड़ी-थोड़ी मदिरा डाल कर सोडा मिलाया। मुझे मितली-सी आने लगी। कई बार सिंह साहब और सेठ जी हमारे कोठे पर बैठकर माँ के साथ मदिरा-पान कर चुके थे। मैं हमेशा उठकर अन्दर चली जाती थी। हर बार सोचती थी कि शहर में नशाबन्दी होते हुए भी इन लोगों को शराब कहाँ से मिल जाती है। पुलिस इन लोगों को क्यो नही पकडती? क्या सभी कानून गरीब लोगो के लिए ही हैं? क्या सेठ-साहूकार और सरकारी अफसर कानून से ऊपर हैं?..........

---

१ विनोद रस्तोगी' अंधेरी गलियाँ' पाकेट संस्करण, पृ० ७।

२ वही पृ० १२

"एक घूँट मेरे हाथ से पी लो।" कह कर सिंह साहब ने अपना गिलास बहन के अधरो से लगा दिया। "......." गिलास फिर भर गये। सिंह साहब मुझ से बोले —"आज तुम भी चखकर देखो मोती!"

"शुक्रिया! मुझे जहर पिला दीजिए, मगर यह नहीं।"

वर्माजी ने अपनी ऊँची नाक कुछ और ऊँची करके मुझ से कहा—"पीती नही हो तो अपने हाथों से पिला ही दो। भगवान सौगन्ध, शराब की तेजी चौगुनी हो जायेगी।"

"पिला दे, बेटी!" माँ टूटे स्वर मे बोली।

मैंने माँ की ओर घूरकर देखा। वे अपना खाली गिलास फिर भरने लगी।

मेरी तबियत हुई कि उठकर अन्दर चली जाऊँ, मगर शरीर की शक्ति जैसे लुप्त हो गई हो। उठ न सकी। पत्थर की प्रतिमा की तरह निश्चल बैठी रही और उनका मदिरा-पान टुकुर-टुकुर निहारती रही।[1]

बहन सिंह साहब पर झुकी जा रही थी। सिंह साहब का हाथ उनकी कमर पर था। बहन की निर्लज्जता देख कर मुझे लज्जा का अनुभव होने लगा।

"सरकार, मदनलाल आज फिर आये थे।" वर्माजी ने कबाब का आखिरी टुकड़ा मुँह में रखकर कहा।

"डेम मदनलाल!" सिंह साहब बड़बड़ाये और वे बहन को अपनी ओर खीचने लगे।

बाहर से भोला खाँसा।

मेरा दम टूटने लगा।

"सरकार, एक हज़ार रुपये दे गया है। उसका केस ठीक हो गया तो एक हजार और देगा।" वर्मा जी सिंह साहब की ओर झुक कर बोले। उन्होंने जेब से सौ-सौ रुपये के दस नोट निकाल कर सिंह साहब को दिखाये।

नोट देखकर सिंह साहब का नशा जैसे काफ़ूर हो गया। नोट लेकर जेब मे रख लिये। कहा—'उसका काम हो जायेगा। कल पेशी है न?'

"जी हाँ।"

"ठीक है! कल शाम को एक हजार और पहुँचा देना।"

"इत्मीनान रखे, हुज़ूर! हाँ, मेरा कमीशन!"

"बडे मर-भूखे हो यार! यह लो।" कहकर सिंह साहब ने दो नोट वर्माजी की ओर बढ़ा दिये।

"यहाँ दम घुट रहा है। चलो कही घूम आयें। कार गली मे खड़ी है।" सिंह साहब ने बहन की ओर आँखें दबा कर कहा।

१ बीभत्स के सचारी रूप में जड़ता ग्लानि और व्रीड़ा यहाँ दृष्टव्य हैं

बहन ने माँ की ओर देखा। मतलब की बात सुनकर माँ का नशा भी उतर गया। बोली—"चाहे जहाँ ले जाइए, सरकार! आपकी बाँदी है।"

सिंह साहब ने हँस कर सौ-सौ के दो नोट माँ के आगे रख कर पूछा—"कम तो नही है?"……बहन सिंह साहब के साथ चली गई। भोला ने कुण्डी चढ़ाकर अपना बिस्तर लगा लिया। माँ वहीं लुढ़क गई। मैं कमरे की बत्ती बुझाकर पलग पर लेट गई।

"लेट तो गई, मगर आँखो मे नींद नहीं थी। सोच रही थी बहन के बारे मे, उनके पति के बारे में, सिंह साहब और वर्माजी के बारे में। सौ-सौ के नोट मेरी आँखों के सामने घूम रहे थे। अजीब जादू है इन रगीन टुकडों में। सिंह साहब ने इनके लिए अपना ईमान बेचा था, इन्ही के लिए बहन ने अपनी अस्मत का सौदा किया था।

"कागज के इन रंगीन बेजान टुकड़ो मे कितनी जान है यह मैं पहले भी कई बार देख चुकी थी। इसी कोठे पर सिंह साहब और वर्माजी के बीच कई बार सौदे हुए थे, सेठ जी और सिंह साहब में समझौता हुआ था, चौकी के दारोगा और अपराधियों में सुलह हुई थी, सफेद कलफदार गाँधी टोपी लगाने वाले नेताओ और चरस-अफीम बेचने वालो मे सौदे हुए थे।"[१]

"बहन के आने के बाद रोज ही महफिलें जमने लगी। शराब के दौर चलते और जब माँ नशे में धुत होकर लुढक जाती तो उनकी मुट्ठी मे नोट ठूँस दिये जाते और बहन रात-भर के लिए ग्राहको के साथ चली जाती। यह सब देख कर मुझे ग्लानि होती। जब भोजन करने बैठती तो ध्यान आता कि मैं पाप की कमाई खा रही हूँ। उबकाई-सी आने लगती।"[२]

भोली-भाली लड़कियो को फुसलाकर चकलो के नरक-कुण्ड में झोकने वालो तथा लड़कियों का व्यापार करने वालों का घृणित रूप भी लेखक ने प्रकट किया है। समाज के इन सब नासूरो को व्यंग्य और घृणा के नश्तर से समाप्त करने की ही उत्तेजना उपन्यास से प्राप्त होती है। लेखक ने नेताओ, पुलिस वालो, बाल-निकुंज मे अध्यापिकाओ की नियुक्ति करने वाले, स्कूल की ओट में भोली-भाली युवतियो की इज्जत लूटने वाले लुटेरों के घृणित पापाचार की खूब पोल खोली है।

शेखर में बीभत्स रस

अज्ञेय जी के 'शेखर' मे भी स्थायी भाव घृणा या जुगुप्सा का पर्याप्त प्रसार

१. अँधेरी गलियाँ (विनोद रस्तोगी), पृष्ठ ५४ ५७।
२ वही पृष्ठ ५६

दिखाई देता है। शेखर समाज के या व्यक्ति के जिस-जिस घृणित कोण का साक्षात्कार करता है, वहीं उसकी संवेदना फूट पडती है। अछूतो पर अमानुषीय अत्याचार करने वालो के प्रति, वेश्याओं के प्रति, जेल मे अमानुषीय व्यवहार करने वाले जेल-अधिकारियो के प्रति, अंग्रेजी शासन के अत्याचारों के प्रति, दासता के प्रति, रूढियो से ग्रस्त हृदयहीन समाज के प्रति—सर्वत्र शेखर की घृणा मुखर है।

वेश्यालय : "ज्यो-ज्यों वह उस धुँधले और रग-बिरंगे प्रकाश वाले मुहल्ले मे घूमने लगा, त्यों-त्यो उसका मन अधिक जाग्रत और चौकन्ना होने की बजाय, **शिथिल और अलसाना** होने लगा। उसने मानो अपने को जगाने के लिए अपने मन को झकझोर कर कहा, 'शेखर, जागो, समझो तुम कहाँ हो! यह है वेश्याओ का मुहल्ला, यहाँ शरीर बिकते है, यहाँ तृप्ति बिकती है, यहाँ सुख बिकता है। समझे?'—

"वेश्या, वेश्या, प्रास्टिट्यूट, रण्डी, समझे? जहाँ बन्धन नही है, लज्जा नही है, रोशनी नही है, अन्धकार नहीं है, है रंग—रगे हुए मुँह"………एकाएक कोई औरत उससे टकरा गई, उसने अचकचाकर देखा, वह टक्कर अचानक नही लगी है, औरत ने जानबूझ कर उद्धतता से, अश्लीलता से उसे धकेला है। शेखर एकटक उसकी ओर देखता रहा—बिना क्रोध के, बिना अनुभूति के, और एक ओर हटकरे खडा हो गया। औरत ने अचम्भे-से मे एक गाली दी और बढ़ गई। शेखर ने अपने से पूछना चाहा, वह क्यो वहाँ आया, क्या करने आया, क्या लेने आया……… उसने शायद उम्मीद की थी, कोई सनसनीदार घटना होगी या तीव्र घृणा होगी, या क्रोध होगा, कोई ऐसी विराट् प्रतिक्रिया होगी जो उसे भीतर आन्दोलित कर देगी, उसे दहला देगी—वह इस हल्की—बहुत हल्की! —ग्लानि-भर के लिए प्रस्तुत नहीं था—

"एक चबूतरे पर दो छोटे-छोटे अध-नंगे लडके बैठे हुए थे। वे एक बीभत्स मुद्रा बनाये साथ सटकर बैठे हुए परस्पर गले मे बाँह डाले एक-दूसरे का मुँह चूम रहे थे और प्रत्येक चेष्टा के बाद सामने एक खिड़की की ओर देखकर एक अर्थभरी हँसी हँस देते थे। शेखर ने उनकी दृष्टि का अनुसरण किया—नीले बिजली के अण्डे के प्रकाश मे फालसई रग की साडी पहने एक स्त्री बैठी थी और उस रगीन प्रकाश मे उसका पाउडर से रगा हुआ मुँह ऐसा लग रहा था जैसे—पानी में पड़ी हुई लाश का………

शेखर आगे बढ गया।[1]

एक छोटी-सी लड़की पैसा माँगती है। साथ ही एक कोठरी की ओर इशारा करके कहती है—"दो, नही तो मेरे साथ आओ, पीछे दे देना।"………"एक

---

१ शेखर दूसरा भाग, पृ० २२ (दूसरा)

ओर से आवाज आई, "किन्नो, देख तेरे देश का आदमी जा रहा है...... ....बुला तो ?"...........पर वह रुका नही, न उसने मुडकर देखा, यद्यपि उसने उधर से उसे लक्ष्य करके उत्पन्न की गई चुम्बन की जोरदार ध्वनि सुनी.......

वह "सिर झुकाये, एक हाथ से आँखें छिपाता हुआ भागा—भागा ...."[1]

अँग्रेजी शासन मे ब्रिटिश नौकरशाही ने क्या-क्या जुल्म नही ढाये ? भारतीयो पर किये गये उन जुल्मो की कहानी का स्मरण करते हुए बाबा मदनसिंह अपनी आवेशपूर्ण घृणा यो प्रकट करते है—"शेखर, सुना है कि वहाँ (चटगाँव मे) सैनिक मनमानी कर रहे हैं, गाँव के लोगो को पीट-पीट कर सलामी कराई जाती है, स्त्रियो पर बलात्कार किया जाता है—और.........और.........""एकाएक बाबा (मदनसिंह) का गला रुँध गया, वे कुछ बोल नहीं सके, आवेश में खडे हो गए ....।"[2] आवेश-युक्त घृणा का यह सुन्दर उदाहरण है ।

हास्य-मिश्रित घृणा : "शेखर" मे हास्य-मिश्रित घृणा का उदाहरण देखिये । शेखर अपनी रचना "हमारा समाज" को प्रकाशित कराने की धुन मे है । वह प्रकाशको की घृणित मनोवृत्ति से तग आ चुका है । वह कहता है—"हमारा समाज......... बिकाऊ है— तीन सौ रुपये में हमारा समाज बिकाऊ है--कोई ग्राहक ? शेखर मन-ही-मन हँसा---कौडी मोल का नही है हमारा समाज, उसके तीन सौ रुपये !"[3]

कहने की आवश्यकता नही कि यहाँ घृणा ने ही हास्य उत्पन्न किया है। यह घृणित समाज का उपहास भी घृणा का ही द्योतक है ।

फिल्मी दुनिया की ऊपरी टीम-टाम के नीचे अन्दर कितनी सड़ाँध, कितनी गन्दगी भरी पड़ी है, इसका अनुमान तो आज सब कर सकते है । ख्वाजा अहमद अब्बास के उपन्यास 'अँधेरा-उजाला' मे ऐसे कुत्सित जीवन की घृणोत्पादक झाँकियाँ प्रकट हुई है । एक्स्ट्रा लडके-लडकियो को फिलम मे सप्लाई करने वाला दलाल दादा गजा हमारी तीव्र घृणा का पात्र बनता है । "कुदन को दादा की सूरत से वहशत होती थी । अव्वल तो उसकी सूरत थी ही भयानक । गहरा साँवला रंग, चेहरे पर पचास-साला ऐयाशी की जिन्दगी के गहरे चिन्ह । इस पर दाढी हमेशा तीन-चार दिन से बढी हुई । सर पर गंज और दाद की पपड़ी जमी हुई, जिसमे से कभी-कभी पीला-पीला पानी भी बहता रहता था, बायें गाल से लेकर माथे तक एक पुराने जख्म का निशान । कहते है फारस रोड की किसी तवाइफ के कोठे पर दादा का

---

१. वही, पृ० २३ ।
२. वही, पृ० ६४ ।
३ वही, पृ० १२६ ।

किसी दूसरे मवाली से झगड़ा हो गया था। दोनों मे चाकू चले। दादा को गहरा जख्म आया। दस दिन बाद अस्पताल से घर आ गया। मगर उसके रकीब की लाश रातो-रात कोठे से सीधी श्मशान ले जाई गई। दादा गजा इस जख्म के निशान को बड़े गर्व से दिखाता था।

''वह अक्सर कहता था—''इसे देखकर सब समझ जाते है कि दादा गजा के मुकाबले मे आना कितना खतरनाक है।'' इसके अलावा उसकी आँखो मे हमेशा नशे के लाल डोरे होते थे। और मुँह से ठर्रे और ताड़ी की बू आती थी।

''बावजूद इस हुलिए के, दादा गजा अपने आप को बड़ा रंगीला समझता था। उसका दावा था कि हर रात एक नई औरत उसके पहलू में होती है। सैकडो एक्स्ट्रा लडकियों से वह अपनी कृपा-दृष्टि की कीमत वसूल कर चुका था। उसकी वासना की प्यास बुझाए बगैर किसी एक्स्ट्रा लड़की को काम मिलना नामुमकिन नही तो मुश्किल जरूर था। कहा जाता है कि एक लडकी ने इन्कार कर दिया था तो दादा ने रात के अँधेरे में उसके चेहरे पर तेजाब फेंक दिया था और वह बेचारी उम्र भर के लिए मुँह दिखाने के काबिल न रही थी।

''इन सब किस्सों को सुनकर कुन्दन को दादा की सूरत से घृणा होने लगी थी।''[1]

यही नही, डायरेक्टर, सेठ (स्टूडियो मालिक) आदि भी भोली-भाली लड-कियों को कैसे फंसाते है, उन्हें हीरोइन बनाने का चकमा देकर उनकी इज्जत पर हाथ साफ करते हैं, नाजनीन-जैसी स्टारे कैसे रंग-रेलियो को ही जीवन का सबसे बडा पुरस्कार समझती है, डायरेक्टर, मालिक, हीरो, हीरोइन आदि कुछ को छोडकर फिल्म लाइन मे काम करने वाले मजदूरो और लाइट-कुलियो आदि का कैसे शोपण होता है, ये सब बाते फिल्मी दुनिया और उसके कर्णधारो के प्रति घृणा ही जगाती है।

चतुरसेन शास्त्री के उपन्यासो मे भी समाज के कुत्सित रूप का पर्दाफाश हुआ है। ''लाल पानी'' (१६५६ सितम्बर) मे पथरगढ के जाम रावण सिंह की काली करतूतों और घृणित अत्याचारो का वर्णन हुआ है। रावण सिंह का चरित्र रावण राक्षस को भी मात कर देने वाला है। वह लखियार बियरा (कच्छ) के जाम हम्मीर को सपरिवार अपने यहाँ आमन्त्रित करता है, किन्तु धोखे से सबको मरवा देता है। विश्वासपात्र नौकर छच्छरबूटा की दूरदर्शिता से दो राजकुमार (उत्तरा-धिकारी) बच जाते है। छच्छर उन्हें छुपा कर दूर ले जाता है। किन्तु रावण अपने सेनापति जल्लाद चामुण्डराय को उनके पीछे भेजता है। चामुण्डराय साँडनी के निशानों की खोज करता हुआ मियाँ मियाना के सापर गाँव मे पहुँच जाता है,

---

१ अँधेरा पाकेट पृ० ३३

जहाँ मियाँ मियाना ने बडी उदारता के साथ राजकुमारो की रक्षा के लिए उन्हे छुपा दिया था। चामुण्डराय ने मियाँ से राजकुमारो को माँगा। मियाँ ने अपनी अनभिज्ञता प्रकट की, तो चामुण्डराय ने गाँव को आग लगवा दी। उसका हुक्म हुआ—"गाँव को चारो ओर से घेर कर उसमे आग लगा दो। बूढा-बच्चा जो भी भागने की चेष्टा करे, उसे वहीं काट डालो, जिससे यह बूढा पटेल देख ले कि राज-द्रोह की सजा क्या है ?" देखते ही देखते गाव आग से सुलग उठा। आग की प्रचण्ड लपटो ने आकाश को लाल कर दिया। जलते-झुलसते-तडपते स्त्री, बालक, वृद्ध और बेचारे जानवरो की आर्त्त पुकार से प्रलय का दृश्य उपस्थित हो गया। गाँव के सारे स्त्री, पुरुष, पशु आर्त्तनाद करते-करते जल मरे।[1]

जालिम रावण सिंह जब और अत्याचार ढाने को कहता है, तो मियाँ मियाना हाथ जोड़ कर निवेदन करता है—"महाराजाधिराज, राजाज्ञा हुई सो ठीक है, पर राजाज्ञा पालन करने से प्रथम मेरी प्रार्थना सुन ली जाय। आप हाल मे ही कच्छ के स्वामी बने है, अत आपको आरम्भ मे ही रैयत की हाय लेना शुभ नही होगा। आगे जैसी महाराज की मरजी।"[2] कहना न होगा कि बीभत्स रस में यहाँ विनय और मति सचारी भाव का सुन्दर उदाहरण है। मियाँ मियाना प्रसन्न चित्त से सब अत्याचार सहता है, यह धृति सचारी को प्रकट करता है। किन्तु रावणसिंह तो रावण था, उस पर प्रार्थना का, नेक सलाह का क्या असर होता ? वह पटेल के सब लड़कों के सिर भी अपनी तलवार से उडा देता है—"क्रोध मे उबल कर रावणसिह ने मियाँ के दूसरे पुत्र का सिर भी धड से उड़ा दिया। पटेल की पुत्र-वधुएँ हा-हाकार कर उठी और खूनी हत्यारे सिपाही भी भय से थर्रा उठे। पर राज्य-लोभाध रावणसिह का कठोर हृदय न पसीजा। उसने पटेल को लक्ष्य कर कहा—"अब भी राजकुमारो को देगा कि नही ?"

पटेल ने आँखों से आग बरसाते हुए करारा जवाब दिया—"अरे राजा, जो तू मुझे अपना अपराधी मानता है तो मुझे मार डाल। निरपराध बालको की हत्या से क्यो अपने कुल को कलकित करता है ?"

पटेल की बात पूरी भी न हुई थी कि जालिम रावण ने पटेल के तीसरे पुत्र की छाती मे भाले की अणी भोंक उसे भाले पर अधर मे उठा लिया। रावण ने लाश धरती पर पटक दी और बालक के गर्म लहू की अजली भर पटेल के मुख पर दे मारी।[3]

---

१. लाल पानी, पृ० २२ (प्रथम संस्करण)।
२. वही, पृ० २०।
३ लाल पानी पृ० २६

रावणसिंह के इस भयकर क्रूर कर्म के प्रति उसके ही सैनिक शिव जी लुहाना के मन में "रावणसिंह के प्रति तिरस्कार का भाव उग गया था ।" और इसी कारण वह राजकुमारी को ढूँढ लेने पर भी रावणसिंह को नही बताता । वह रावणसिंह से अलग होकर कुमारो की ओर मिल जाता है । ऐसे क्रूर, जालिम, नृशस शासको और सामन्तों के अत्याचारो से इतिहास भी लज्जा से सिर छिपाए विस्मृति के गर्भ मे दबा रहना चाहता है । आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने अपने "गोली", "सोना और खून" आदि कई अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों मे भी ऐसे दुराचारी शासकों और सामन्तो के काले-कारनामो को निरावरण करके मानव के इस पशुरूप के प्रति मानवीय घृणा जगाई है ।

वर्मा जी के 'कचनार' में बीभत्स रस

वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासों मे भी बीभत्स रस का पर्याप्त प्रसार पाया जाता है । उनके 'कचनार' उपन्यास का नायक दलीपसिंह अपने जाति-वंश-अभिमान से डरू के भाई पर क्रूरता प्रकट करता है—"उसने तलवार निकाल कर हुमक के साथ बैजनाथ पर चलाई और उसके दो टूक कर दिए ।"[1] यही नही, डरू से बदला लेने के लिए दलीपसिंह उसके आश्रितो को सताता है । उसके ढोर-डंगर जब्त करना चाहता है । उसका यह सब कार्य पाठक के मन में उसके प्रति कुछ घृणा ही उत्पन्न करता है । इस उपन्यास मे व्यक्तिगत घृणा का सर्वाधिक पात्र मानसिंह है ।

उपन्यास की नायिका कचनार परम्परागत दास-प्रथा के प्रति घृणा प्रकट करती है । सामाजिक घृणा का यह रूप भी उपन्यास मे बडी सजीवता से प्रकट हुआ है । दलीपसिह की बीमारी और मौत की धारणा के पश्चात् कचनार मानसिंह से तीर्थ-यात्रा के लिए आज्ञा माँगती है । उसका हृदय दलीपसिह की मृत्यु से वैसे भी खिन्न हो उठा था, उस पर मानसिह की पाशविक वृत्ति का ख्याल करके वह उस नारकीय वातावरण से घोर घृणा करने लगी है । पर वासना का पुतला मानसिंह उसे क्यों जाने देता ! वह कहता है कि उसे यात्रा के लिए भेजना गुलाब के फूल अथवा कचनार के फूल को दहकती हुई भट्टी मे फेक देने के समान होगा । इस पर कचनार की विवशतापूर्ण घृणा का रूप उसके इन शब्दों मे देखिए, वह कहती है—"महाराज, हम दासियो के माँ-बाप या हमारे नातेदार जब राजकुमारियों के साथ हम लोगों को लगा देते हैं, तब भाड़ मे तो हम यों ही फेंक दी जाती है । जब राजा लोग दासियो की देह का सर्वनाश कर चुकते है, तब मानों उनकी राख घूरे पर फेक दी जाती है ।"[2]

---

१. कचनार, पृ० ५६ (प्रथम संस्करण) ।
२ पृ० १८५

कचनार मानसिह की वासनापूर्ण दृष्टि से—उसकी कारा मे—मुक्त होना चाहती है। उस वातावरण मे उसका मन घृणा मे भर जाता है। इस घृणा स्थायी भाव के आश्रय भगवद्-वदना-भक्ति के भाव का प्रकाशन घृणा या जुगुप्सा की व्यापकता का सूचक है। कचनार भगवान् मे प्रार्थना करती है—"निस्सहायो के भगवान्, अनाथ दासियों के पिता शकर महादेव, आप ही के हाथ में इस अनाथ की रक्षा है। किसी प्रकार इस कारागार से मुझ को मुक्त करो, नही तो………"[1]

यहाँ दैन्य, आत्मनिवेदन, ईश-भक्ति, ईश-विश्वास, शोक आदि कितने ही संचारी भाव घृणा स्थायी भाव की पुष्टि करते है। ध्यान रहे यह प्रसग घृणा का ही है, शोक का नहीं, क्योंकि कचनार की यह स्थिति करुणोत्पादक इतनी नही है। शोक की अपेक्षा उसमे घृणा की प्रबलता है और उसकी इस तीव्र घृणा से ही हमारा पूर्ण तादात्म्य होता है।

मृगनयनी में बीभत्स रस

वर्मा जी के 'मृगनयनी' में अत्याचारी और विलासी मुसलमान-शासक गयास, नसीर और सिकन्दर लोदी हमारी घृणा के पात्र बनते हैं। गयास को जब उसका खुशामदी टट्टू ख्वाजा मटरू बताता है कि राई गाँव मे निन्नी और लाखी दो खूब-सूरत लड़कियां है, तो वह कामुक विलासी राजा कहता है—"अब तक क्यों नही जाहिर किया तुमने ? इन दिनो इस मौसम मे तो वे दोनो यहां पहलू में होनी चाहिए थी।" और वह सचमुच उन्हें जबरदस्ती उठा लाने के लिए चार सवारो को भेज देता है, नटो को गाँठता है कि लाखी को फुसला कर यहाँ ले आयें। इस प्रकार उसके आचरण, अत्याचार, युद्ध और आक्रमण आदि सब उसके प्रति हमारी घृणा को तीव्र करते हैं। गयास के प्रलोभन देने पर निन्नी तथा लाखी को फुसलाने वाले पिल्ली और पोटा आदि नट भी हमारी घृणा के आलम्बन बने है। जगल में उनका पीछा करने वाले सवारो मे से एक उन्हें कहता है—"एक एक घोड़े की पीठ पर आकर दोनो बैठ जाओ।………ऐसी जगह ले चलेंगे जहाँ जिन्दगी-भर गुलछर्रे उड़ाओगी। निकल आओ झाड़ी में से यहाँ।" वह उनकी ओर बढ़ने लगा तो निन्नी ने फटकारा —"वही खड़े रहो! हमको क्यों छेड़ते है?" इस प्रसंग में यद्यपि लाखी और निन्नी (मृगनयनी) दोनों क्रोध से भर कर सवारो को अपनी बर्छी और तीरो से मीठी नींद सुला देती हैं, तो भी पाठक के लिए यहां स्वतन्त्र क्रोध की अनुभूति का अवसर विकसित न होने के कारण रौद्र रस का आस्वादन नही बन पडा, अपितु बीभत्स रस की ही स्पष्ट अनुभूति होती है। जब निन्नी और लाखी दोनो सवारो को मृत-रूप में पडे छोड़कर गाँव की ओर तेजी से लपकती हैं, तो लेखक ने कहा है—

---

१ वही पृ० १९२

"गाँव के पास पहुँचकर वे धीमी पड़ी। बर्छी और तीरों पर रक्त सूख गया था परन्तु मन के भीतर ग्लानि भरी थी।"[१]

प्रश्न है कि यहाँ उनके मन में ग्लानि का कौन-सा रूप है? निश्चय ही यह ग्लानि आत्मग्लानि या आत्मभर्त्सनारूप ग्लानि नही हो सकती, क्योकि उन्होने कोई बुरा काम नहीं किया है कि उनके मन मे पश्चात्ताप का दुख हो। वे ऐसा अनुभव नही कर सकतीं। ग्लानि का दूसरा रूप घ्राण आदि इन्द्रियो से सम्बन्धित ग्लानि होता है। यद्यपि यहाँ वाक्य का सम्बन्ध अर्थात् ग्लानि का सम्बन्ध लेखक ने रक्त से जोड़ना चाहा है, तो भी हमारा मत है कि रक्त-माँस आदि से उत्पन्न ग्लानि की भी यहा सम्भावना नही है। उनके मन मे उन सवारो के प्रति घृणा ही होगी। और उनके मारने तक की जो नौबत पैदा हुई, उसका ही क्षोभ-सा मन में रहा होगा। अत. यहाँ ग्लानि को घृणा का पर्यायवाची ही समझना चाहिए। उन्हें उन सवारो से, उनके मृत शरीरो से तथा बर्छी-तीरो पर लगे उनके रक्त से घृणा अनुभव हुई होगी।

पोटा-पिल्ली आदि ने लाखी को मालवा के बादशाह गयास के हरम मे दाखिल करने का षड्यन्त्र रचा। पिल्ली इसी कार्य की सिद्धि के लिए नरवर के दुर्ग से रस्सी के सहारे बाहर निकलती है। लाखी की सञ्चित घृणा एक दम छुरी से रस्सी काट डालती है। नीचे खाई मे किसी के गिरने का धम्म से शब्द हुआ और एकाध 'आह! हाय!!' की आवाज के साथ ही पिल्ली समाप्त हो गई।

"यह क्या किया तुमने?" घबराये हुए स्वर में अटल बोला।

लाखी के मुँह से भर्राये हुये स्वर मे निकला, 'डायन! चुड़ैल!! सुल्तान की गोद में बिठलाना चाहती थी!!! अब ले ले नरवर का आधा राज!!!!' यहाँ लाखी की घृणा का विस्फोट स्पष्ट है। पाठक के मन में भी पिल्ली के प्रति उत्कट घृणा का अनुभव होता है। अटल भी लाखी से कहता है—'वह स्त्री थी! घूरे पर मँडराने वाली तितली को स्त्री कहा जाता है? बहुत-से मन्दिरों के द्वारों पर जवान स्त्रियों की जो बेहूदी मूर्तियाँ बनाकर खड़ी कर दी गई है, वे क्या किसी देवता के हुकुम से घड़ कर खडी की गई है? मैं क्या कोई मक्खी हूँ, जो मैले पर जा गिरूँगा।'[२]

नसीर और उसके 'परिस्तान' का बीभत्स रूप और भी अधिक घृणोत्पादक है। वह काम का पुतला पन्द्रह हजार युवतियो से अपना परिस्तान सजाता है। पिता को जहर दिला कर मार डालता है। खवासिन अपने इनाम के लोभ से नसीर के आगे बढ़ती है। पर वह नृशंस तुरन्त तलवार निकाल कर उसका सिर काट देता है। सुल्तान के मारने का राज़ जो उसे मालूम था! सुल्तान बनते ही "नसीर अपनी

१. 'मृगनयनी', पृष्ठ १५५ (चतुर्थ संस्करण १९५२ ई०)।
२ मृगनयनी पृष्ठ २६६।

प्रचण्ड भूख, स्त्रियो की भूख—कामवासना—की तृप्ति मे जुट पड़ा। ख्वाजा मटरू और न-जाने कितने मटरू उसकी सहायता के लिए फट पडे।"

यह कामी नृशस राजा, जिसके हृदय मे मानवी-जीवन का कोई मूल्य नही, जो नारी की इज्जत कुछ समझता ही नही, किस प्रकार खिलवाड़-खिलवाड मे लोगो के प्राणों को हरता है, यह पैशाचिक कार्य देखिए। "मालवे-भर मे उसके आदमी नये-नये रूपो की पकड़-धकड़ के लिए घूमते रहते है।" उसने पन्द्रह हजार परियो को इकट्ठा कर लिया। वह झील में अपनी अप्सराओ को उतार कर जल-विहार करता है। वह उन्हे छुआ-छुअव्वल खिलाता है। कुछ स्त्रियाँ तैरती-खेलती हुई झील मे दूर निकल गई। थक गई, डूबने को हुई और सहायता के लिए चिल्लाने लगी। नसीरुद्दीन भी चिल्लाया—"इनको बचाओ!" किन्तु जब कुछ नौकर कनात मे से घुसकर पानी मे कूद पड़ते है और डूबती हुई परियो को बचा लेते है, तो इनाम पाने के बदले, नसीर के कहर का शिकार बनते है।

"तुम कनात के भीतर कैसे घुस आये?"........"किसने बुलाया था? किसके हुक्म से आये? बोलो! बताओ।" उनकी घिग्घी बध गई। एक ने दबी जबान से कहा—"जहाँपनाह ने हुक्म दिया था कि इनको बचाओ।"

"कमबख्तो! तुम को हुक्म दिया था!!" वह कड़का। और आज्ञा दी—"इनका वह सिर धड़ से जुदा कर दो जिसकी आँखो से यह सब देखा और हाथ भी काट दो।"[१] कनात के बाहर ले जाकर उनको मार दिया गया। "नीली झील ने वह सब (बीभत्स काण्ड) देखा और अपनी अनवरत लहरो के भीतर रख लिया।"

इस नृशस राजा के डूबने का दृश्य हमारी घृणा को ही तोष देता है। एक और दिन वह अपने परिस्तान को झील मे ले गया। इस बार आप भी जल-क्रीडा के लिए पानी मे घुस गया। थोड़ी देर खेलने के बाद उसका दम फूल गया, हाथ-पैर फेंकने लगा। वह चिल्लाया, "बचाओ"। 'कनात के बाहर सिपाहियो ने सुन लिया, परन्तु उनकी हिम्मत नही पड़ी। कौन अपना सिर और हाथ कटवाये, उन्होंने सोचा।' सुल्तान चिल्लाता रहा, खुशामदी मटरू भी दिखावे के लिए चिल्लाता रहा, पर किसी ने सुल्तान को नहीं बचाया। पाठक को उस घृणित पापी के डूबने का हर्ष ही होता है।

धर्मान्ध सिकन्दर लोदी बोधन शास्त्री को निर्ममतापूर्वक मरवा डालता है। वह मुल्ला-मौलवियो के कहने पर उसे इस्लाम कबूल करने को कहता है। किन्तु उसके न मानने पर उसका सिर धड़ से जुदा करा दिया जाता है। मुसलमान सैनिको को उस निरीह ब्राह्मण का कतल नही सुहाया। कुछ मरमराहट हुई। सिकन्दर और मौलवियों में परामर्श हुआ।

---

१ मृगनयनी पृ० ४००

"फिर उसने जो कुछ किया उससे इतिहास के पन्ने सदा के लिए कलुषित हो गये। लूट-मार के अंशो को सिपाहियो मे बाँटा और उनकी भग्मराहट को कुंठित कर दिया।"[१]

इस उपन्यास मे जात-पांत के भूत को खूब विस्तार के साथ घृणा का विषय बनाया गया है। अटल और लाखी प्रेम-पाश मे बध जाते है। अटल गूजर है और लाखी अहीर। गाँव के पच और बोधन शास्त्री उन दोनो के विवाह का विरोध करते है। जात-पॉत की इस कट्टरता से तंग आकर वे गॉव छोडने पर विवश होते है। गाँव के लोग उन दोनो से बोलना छोड देते है। "कुछ स्त्रियों ने लाखी को देखते ही धरती पर बार-बार थूका।" "रात मे चुपचाप, अपना सामान लादकर, वे लोग (लाखी और अटल) चल दिये। जगल की ओर दृष्टि गई तो लाखी ने एक सास भरी—इसमे मेरा कोई शत्रु नही रहना, जगल के पशु गाँव के उन पशुओ से अच्छे।" इस प्रकार जात-पॉत के कट्टर हामी गॉव वालो और बोधन शास्त्री के प्रति लाखी की घृणा से हमारा तादात्म्य होता है और हम भी उनके प्रति घृणा से भर जाते है। राजा मानसिह भी बोधन शास्त्री को इस सम्बन्ध मे खरी-खरी सुनाता है। बोधन जब राजा के सम्मुख भी अपनी कट्टरता पर दृढ़ रहता है और राजा की बात नही मानता तो राजा मानसिह कहता है—हे भगवान्! क्या हमारे समाज के इन अंधे-बहिरो को कभी सूझना-सुनना होगा? या हम सब को डुबोकर ही रहोगे?" परन्तु बोधन कहता है—"शास्त्र तो महाराज शास्त्र ही है। प्राण चाहे चले जाये परन्तु शास्त्र की बात नही जा सकती।"

"तुम्हारे अन्धविश्वास ने उन दो सुन्दर प्राणियों (लाखी और अटल) का विध्वस किया! उनकी हत्या तुम्हारे ऊपर है!!"

लेकिन बोधन अपनी जात-पात की टेक पर डटा रहता है। वह राजा को क्रुद्ध देखकर कहता है कि मैं राई गाँव से चला जाऊँगा, पर जात-पॉत के विरुद्ध अधर्म की बात नही मानूँगा।" राजा क्षुब्ध हो गया। तीव्र स्वर में कहा—"चले जाओ जहां जाना है। एक मूर्ख तो कम हो जायगा इस राज्य मे।" निश्चय ही राजा की घृणानुभूति से हमारा पूरा तादात्म्य होता है।

नरवर मे भी जब एक बुढिया जात-पाँत के नाम पर लाखी और अटल के ब्याह का विरोध करती है, तो वह भी हमारी घृणा का पात्र बनती है। इस प्रसग का संवाद देखिए। बुढिया अटल से परिचय पाती हुई कहती है—"इनकी जाति के अहीर तो यहाँ पड़ोस मे ही रहते है।"

"किनकी जाति के?"

---

१ मृगनयनी, पृ० ४०५-४०६।

उस स्त्री ने दाँत निकाल कर लाखी की ओर संकेत किया। लाखी ने उसको तिरछी करारी दृष्टि से देखा, वह सहमी नही।

अटल के मुँह से प्रश्न निकला—"तुम्हे कैसे मालूम ?"

उसने कहा, "हमें कैसे मालूम ! सच्ची बात कही छिपती है भैया !! अपना बरन क्यों छिपाते हो ? बस्ती भर मे खबर है कि तुम गूजर हो और—"

"मै अहीर हूँ," लाखी ने कड़वे स्वर मे कहा, "किसी अहीर के यहाँ या तुम्हारे यहाँ नातेदारी करने नही आये है हम यहाँ।" लाखी की तीखी घृणा कैसी मार्मिक है !

स्त्री उठ खड़ी हुई। बोली, "राम ! राम !! मुझको क्या करना है। मैंने तो बस्ती की बात सुनाई। तुम्हें यह ठाकुर रखते है सो रक्खे रहें, हमको क्या पडी। ....भगवान्, कैसा घोर कलयुग आ गया है। गूजर और अहीर का ब्याह !!"

जिस जात-पाँत की कट्टरता ने अन्त तक लाखी और अटल के विवाह को वैध स्वीकृत नही किया, उसी के प्रति अपना रोष, अपनी घृणा प्रकट करते हुए वे दोनों प्रेमी-युग्म अपने प्राणों को अपनी गढी की रक्षार्थ न्योछावर कर देते हैं। घायल लाखी ने टूटे स्वर मे अटल से कहा कि मैं जा रही हूँ, ब्याह कर लेना। अपनी जात-पाँत मे ....।" कितने मर्म-भेदी शब्द है ! ये पाठक की करुणा तथा जात-पाँत के प्रति घृणा दोनो को एक साथ जाग्रत और तीव्र करते है। मृत लाखी के शरीर पर से गहने उतार कर अटल एक ओर रख देता है। "अब चाटे इनको जात-पाँत। उसके मन मे आया।"[1]

इस प्रकार लेखक ने उस अतीत युग की कथा से भी आधुनिक जीवन की समस्या—जात-पाँत के भेद-भाव को हमारी घृणा का विषय बनाया है। उपन्यास मे कई स्थानो पर बीभत्स रस का प्रसार पाया जाता है।

इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में बीभत्स रस

जोशी जी की उपन्यास-कला यद्यपि वैयक्तिक चरित्र-प्रधान मनोवैश्लेषिक पद्धति को अपनाती है, तो भी उनके उपन्यासों में हमें वैयक्तिक घृणित चित्रो के साथ ही सामाजिक बुराइयो के बीभत्स रूप भी प्राप्त होते है। जोशी जी अपने उपन्यासों मे उत्तरोत्तर सामाजिक चेतना की ओर बढते गए हैं, यही कारण है कि आरम्भ के 'लज्जा' (घृणामयी), 'पर्दे की रानी', 'सन्यासी' आदि की अपेक्षा 'मुक्ति-पथ', 'जहाज का पंछी' आदि अन्तिम रचनाओ मे सामाजिक बुराइयाँ अधिक उभर कर प्रकट हुई है। 'जहाज का पंछी' तो समाज की सड़ाँध के दृश्यों की ही परतें एक-एक करके खोलता है।

---

१ मृगनयनी- पृ० ४६६।

'लज्जा' में डा० कन्हैया लाल की कामुकता हमारी घृणा का विषय बनती है। राजू उसके घृणित आचरण के कारण ही उसके प्रति मन ही मन घृणा का भाव रखता है। किन्तु अपनी बहन के लगाव के कारण, वह इस घृणा को आत्मग्लानि के रूप में ही प्रकट करता है। वह अपनी डायरी में डाक्टर के प्रति घृणा का स्पष्ट उल्लेख करता है। बहन का उसके साथ सम्बन्ध होने के कारण, वह दुखी हो जाता है, और आत्मघात तक कर लेता है। राजू के आत्मघात का कारण प्रेम और घृणा की मिलीजुली भावना है। वह डा० कन्हैयालाल के प्रति घृणा रखता है और जब उसे यह ज्ञात होता है कि उस लम्पट का सम्बन्ध बहन से भी है, तो वह आत्मग्लानि से भर जाता है। यह आत्मग्लानि बहन के प्रति प्रेम का ही परिणाम है। अतः इसी आत्मग्लानि से भर कर वह आत्महत्या कर लेता है। लेखक ने पुरुष की लम्टपता के प्रति घृणा का भाव अपने सब उपन्यासो में उत्पन्न किया है।

"पर्दे की रानी" में इन्द्रमोहन के घृणित रूप का परिचय हम पीछे दे चुके है। उस के पिता मनमोहन जी भी हमारी उत्कट घृणा के आलम्बन बनते है। वह अभिभावक (Guardian) बना हुआ है। किन्तु अपनी लोलुप दृष्टि के कारण हमारी घृणा का पात्र बनता है। उसका चरित्र और लोलुपतापूर्ण आचरण बीभत्स रस से पूर्ण है। एक शाम वह सुरापान करके निरजना के कमरे मे दाखिल हो जाता है। मदिरा की गन्ध से निरजना का नाक फटने लगता है। वह मदिरा की मस्ती मे अण्ड-बण्ड बकने लगता है और उठकर निरजना के बिल्कुल पास चला जाता है। निरंजना अपनी कहानी स्वयं सुनाती है—"मुझे घबराहट उतनी नही हो रही थी, जितनी घृणा। मनमोहन जी का सारा व्यक्तित्व मुझे अत्यन्त घृणास्पद लग रहा था—उनकी चमकती हुई आँखे, नाक की दोनो ओर ओठो से कानों तक खिची हुई दो अस्पष्ट रेखाएँ, भारतीय प्रायद्वीप की तरह कपाल की ओर बढ़े हुए उनके सिर के त्रिकोणात्मक...... ...मदिरा की दुर्गन्ध.........मै नाक-भौं सिकोड़ कर किसी तरह बैठी रही।"[1]

जब मनमोहन अनुचित प्रस्ताव करने लगता है, तो निरजना घृणा और क्रोध के आवेश में आक्रोशपूर्ण उद्गार व्यक्त करती है—"मुझे खा डालो! जान से मार डालो! नर-पिशाचो! हत्यारो! कमीने कुत्तो! तुम दोनों बाप-बेटे ने मिलकर मेरे जीवन को विषमय बना डाला है। अपने लफंगे बेटे की काली करतूत से चल्लू-भर पानी मे डूब मरने की बजाय, तुम इस अधेड़ अवस्था मे दिन-पर-दिन..........।"[2]

इस प्रकार उसकी फटकार का एक-एक शब्द घृणा से भरा है। इस उपन्यास मे भी बीभत्स रस का पर्याप्त प्रसार पाया जाता है।

---

१. पर्दे की रानी, पृ० ११६-११७।
२. वही, पृ० ११७।

'संन्यासी' मे भी जोशी जी ने पुरुष की अहवादी, आत्मकामी और नारीकामी मनोवृत्ति के प्रति घृणा जगाई है। इस उपन्यास का नायक नन्दकिशोर कई स्थानो पर हमारी घृणा का पात्र बनता है। लेखक ने उसके चेतन-अवचेतन मन के अनेक पहलुओ मे द्वन्द्व का सुन्दर प्रकाशन किया है। वह अपनी चेतनावस्था में हमें प्रिय लगता है, किन्तु अवचेतन की कुप्रवृत्ति के प्रभाव मे आने से जब वह विपरीत आचरण करने लगता है, तो हमारी घृणा का पात्र बनता है। अवचेतन में दबी हुई काम-वासना और अह की वृत्ति के कारण वह शाति और जयन्ती—दो नारी-रत्नो के जीवन को अभिशाप बना देता है। अपने चेतन मे पूर्ण स्वस्थ होने के कारण, वह घृणा का स्थायी आलम्बन नही रहता, क्योकि पाठक अनेक स्थानो पर उसकी चेतन-गत सबल आत्मा का साक्षात्कार करता रहता है। उसके चरित्र की अवचेतनगत अवस्था भी इसी चेतन के स्वास्थ्य के कारण हमारी घृणा को कम ही जगा पाती है। उसकी दुर्बलता के प्रति कुछ सहानुभूति-सी होने लगती है।

इस उपन्यास मे आधुनिक होटल का बीभत्स वातावरण बीभत्स रस के पूर्ण परिपाक का द्योतक है। इलाहाबाद मे पहुँचकर पहले-पहल नन्दकिशोर शाति को लेकर एक होटल में ठहरता है। होटल के बातूनी मैनेजर की घृणित मनोवृत्ति का सजीव चित्रण देखिए। मैनेजर नन्दकिशोर के साथ एक सुन्दर युवती (शाति) को देख-कर अपनी गीधदृष्टि उस ओर बार-बार डालता है। उसने पूछा—"चाय भेजूँ?" नन्दकिशोर उसे दो कप भेजने को कहता है। "बहुत अच्छा, मैं अभी भेजता हूँ।" यह कह कर वह जाने लगा। दो कदम चलकर वह फिर लौटकर दरवाजे पर आ खड़ा हुआ और बडी मिठास के साथ कहने लगा—"इस होटल को अपना घर समझिए। किसी बात का सकोच न कीजिएगा। यहाँ किसी प्रकार का कष्ट आपको न होने दूगा। इस होटल मे ऐसे बहुत से साहब रोज ही उतरते रहते है जो किसी-न-किसी औरत को साथ लेकर रहना चाहते हैं। आज ही एक साहब कानपुर से एक तवायफ को साथ लेकर आए है। नीचे के कमरे मे ठहरे हुए है। परसों एक दूसरे साहब गोरखपुर से एक बाई को पकड लाये थे। ऐसी हसीन औरत मैंने अपनी जिन्दगी में कभी देखी नही। और उसका गाना! क्या तारीफ करूँ, साहब!..........।" यह कहकर वह गद्गद् भाव दिखाकर शाति की ओर घूरने लगा। शाति ने उसकी बातो का रुख देखकर पहले ही मुह फेर लिया था। मैं (नन्दकिशोर) असह्य क्रोध से काँपने लगा था और एक अज्ञात भय से मेरा हृदय जोरो से धड़क रहा था। मैंने यथाशक्ति जोरो से चिल्लाकर कहा—"खबरदार!..........एक भले घर की महिला के सामने इस तरह की बातें करते हुए तुम्हें शरम नही मालूम होती! तुम्हारे होटल में क्या हम लोग इस तरह की ऊल-जलूल बातें सुनने के लिए आए हैं! अगर हमे मालूम होता कि इस होटल मे इस तरह के लोग आया करते हैं- तो हम हर्गिज यहाँ पाव न रखते! हम अभी

यहाँ से चलते है।" यह कहकर मै क्रोध, लज्जा, ग्लानि और भय से तमतमाता हुआ उठ खडा हुआ। शाति की घबराहट का अनुभव मन-ही-मन करते हुए मेरी मानसिक अशाति और बढ गई। मैनेजर ठिठक कर काष्ठमूर्तिवत् खड़ा था। उसका चेहरा एकदम मुरझाकर झुलस-सा गया था। उसने हाथ जोड़ते हुए कहा—"मुझ से गुस्ताखी हुई, माफ कीजिएगा ………।" मैनेजर की ओर न देखकर (असह्य घृणा से उसका मुह भी मैं देखना नहीं चाहता था) झल्लाई हुई आवाज मे मैने कहा—"जाओ।"[1]

यह हुई व्यक्ति के घृणित रूप की झाकी। अब होटल का बीभत्स वातावरण और देखिए—"एक मोटर होटल के दरवाजे पर आकर खड़ी हुई और उसमे से एक गुलाबी रग की साडी से सुसज्जित, पाउडर की चमक और 'लिपस्टिक' की रंगीनी से सुशोभित रमणी तथा चार पुरुषों ने उतर कर भीतर प्रवेश किया। कुछ ही देर बाद वह सारा दल जूतों की फटाफट और 'हा हा हो हो' के अट्टहासात्मक शब्द के साथ ऊपर चढ़कर ठीक हमारे कमरे के बगलवाले कमरे मे जा खडा हुआ।…………कमरे मे बहुत देर तक उच्च शब्द से हास-परिहास चलता रहा। "बाई जी, जरा सुनिए!" "बाई जी जरा मेरी भी सुनिए!" "बाई जी, कि-स्सी की भी न सु-उ-निए! ये सब साले एक नम्बरी है!"

"शाति हल्ला सुनकर घबराहट के कारण उठ बैठी थी। मुझे कमरे मे न देखकर वह हाफती हुई बरामदे के पास आई और बोली—"सुनते हो!"

"मैं भीतर गया। शाति ने पलग पर बैठकर कहा—"क्या कही किसी अच्छी जगह हम लोगो के ठहरने का प्रबन्ध नही हो सकता?"

"बगलवाले कमरे से रमणी-कण्ठस्वर गूज उठा—
या इलाही, मिट न जावे दर्द-दिल!

"असह्य वेदना से विकल होने के कारण शाति "उफ!" कहकर उँगलियो से कानों को बन्द करके लेट गई। बीच-बीच मे "अहहा!", "वाह!" 'क्या खूब!', "बहुत अच्छे!" की आवाज आती थी। मै यह सोचकर व्याकुल था कि भाग्य ने नव-जीवन-यात्रा के प्रथम दिन ही हमें किस विकृत तथा घृणित वातावरण मे लाकर खडा कर दिया है। शाति भी सम्भवत. यही सोच रही थी। किस स्वर्गीय आदर्श को लेकर हम लोग चले थे और प्रारम्भ मे किस नारकीय बीभत्सता मे आ फंसे।

"बहुत देर तक विकृत नारी-कण्ठस्वर का चीत्कार तथा उन्मत्त मद्यपो का कोलाहल जारी रहा। हम दोनो निरुपाय अवस्था मे अपने-अपने पलंग पर छटपटाते रहे। मन की सब सरस सुघड और सुकुमार कल्पनाएँ विरस और तिक्त हो उठी थीं राम राम करके किसी तरह काल रात्रि के समान वह रात काटी

"दूसरे दिन भी......... रुचि के अनुकूल मकान कहीं न मिला। विवश होकर वह रात भी उसी नरक-वास में बितानी पड़ी।

"संध्या के समय एक व्यक्ति को कहते सुना गया—'साला एक नौजवनिया को कहीं से पकड़ कर लाया है! छोकरी है तो हसीन!" सुनकर मेरे रोंगटे खड़े हो गये। शांति ने बिलखते हुए कहा—"अगर इस होटल को आज ही न छोड़ोगे तो मैं गले में फांसी लगाकर मर जाऊँगी।"[1]

स्पष्ट है कि इस प्रसंग में घृणा का पात्र या लक्ष्य व्यक्ति-विशेष इतना नहीं है। वस्तुतः सम्पूर्ण वातावरण ही घृणा का विषय है। वेश्यालयों की तरह, हमारे ऐसे होटल भी नारकीय कुण्ड बनते जा रहे हैं।

जयन्ती के मरने का बीभत्स दृश्य बीभत्स रस का नहीं, करुण रस का विषय है। "जयन्ती चिमनी के नीचे, चूल्हे के ऊपर बैठी हुई थी, और उसका शरीर धाय-धाय जल रहा था। उसके मुँह से और मुह के नीचे सारे शरीर से मांस, चर्बी और हड्डी के जलने और गलने से चटखने का जो शब्द हो रहा था वह ऐसा आतंकप्रद था कि मुझे (नन्दकिशोर को) चक्कर आने लगा।" 'जयन्ती के मुह का रूप ऐसा बीभत्स और विकृत हो गया था कि त्रिपाठीजी की स्त्री ने उस दिन जिस लड़की के जिन्दा जल मरने की कथा वर्णित की थी, वह दृश्य इसके आगे अत्यन्त फीका जंचता था।"[2] स्पष्ट है कि यह दृश्य बीभत्स या अवांछित होते हुए भी बीभत्स रस की अनुभूति नहीं कराता। जयन्ती का यह विकृत और बीभत्स रूप करुणा का ही आलम्बन है। इसी प्रकार मास्टर जी की बहू के जल मरने का वर्णन बीभत्स दृश्य उपस्थित करता है। उसमें भी मास्टरजी की बहू हमारी करुणा का आलम्बन है। उसका साक्षात् प्रेतिनी-सा झुलसा हुआ रूप करुणा ही जगाता है। जो मास्टर साहब अपनी उक्त पत्नी के जल मरने का कारण है, जो उस बेचारी को ताले में बन्द रखते थे, न उसे कहीं जाने देते थे, न किसी से बोलने देते थे, वह अवश्य हमारी घृणा के पात्र बनते हैं। इस प्रकार के अहंवादी, शक्की व्यक्ति घोर नारी-घाती होते हैं, यह लेखक ने इस प्रसंग से भी स्पष्ट किया है। ऐसे पुरुषों के प्रति घृणा जगाना ही उसका उद्देश्य है।

'प्रेत और छाया' में बाबू बैजनाथ, पंडित छगनलाल भुजौरिया आदि पात्र हमारी घृणा के आलम्बन हैं। नायक पारसनाथ का पिता बाबू बैजनाथ बड़ा कामी और धन-लोलुप व्यक्ति है। शराब-कबाब और भूटानी स्त्रियों से वह घिरा रहता है। पारसनाथ को ऐसे पिता के आचरणों से तीव्र घृणा थी। इसी प्रकार भुजौरिया एक नपुंसक, धूर्त्त, अर्थ-पिशाच और नीच व्यक्ति है। वह पारसनाथ से सस्ते दामों

---

१. संन्यासी (पंचम संस्करण) पृ० १२०-१२२।

२. वही पृ० ४१०-४११

चित्र लेकर भारी मूल्य पर राजाओ और रईसो के पास बेचता है। वह धूर्त इस प्रकार 'कलाकारों को पैट्रोनाइज' करने का ढोग रचता है। वह राजाओ और रईसो की खुशामद करता है। अपनी आत्मा को बेचकर उनकी मनमानी सेवा करता है। घर की नौकरानी से अनुचित सम्बन्ध रखने वाले इस धूर्त, अर्थ-लोलुप और नामर्द पति से उसकी पत्नी नन्दिनी भी घोर नफरत करती है। वह बेहया इतना है कि एक बार एक राजा साहब के हाथ कुछ दिनो के लिए बेचकर, वह अपनी पत्नी की भी इज्जत उतरवाने पर उतारू हो गया था—कुछ रुपयो की खातिर। भुजौरिया ने नन्दिनी के साथ विवाह-सम्बन्ध भी इसीलिए स्थापित किया था कि वह नन्दिनी का रुपया-धन-सम्पत्ति हडप लेगा और उससे और धन कमायेगा। इस प्रकार के अर्थ-पिशाच, धूर्त व्यक्ति के प्रति घृणा जगना स्वाभाविक ही है।

इसी प्रकार लखनऊ में नन्दिनी और उसकी बहन हीरा का वेश्यालय, वहाँ का घृणित वातावरण, पारसनाथ के घृणित और पतित आचरण, मरासियो, तबलचियो आदि की अश्लील बाते आदि सब घृणोत्पादक है। उपन्यास मे बीभत्स रस का पर्याप्त प्रसार पाया जाता है। पारसनाथ के प्रति मंजरी की तीव्र घृणा मे भी पाठक का तादात्म्य होता है। ऐसे धूर्त और कामी पुरुष से बोलना तो दूर, मजरी के लिए उसकी ओर आँख उठाकर देखना भी असह्य हो जाता है। युग-युग से पुरुष-द्वारा प्रताडित नारी का अहवादी पुरुष के प्रति विद्रोह और घृणा का भाव प्रदर्शित करना ही जोशी जी ने अपने उपन्यासो का उद्देश्य बताया है। 'आधुनिक हिन्दी साहित्य मे मनोविज्ञान' तथा 'आधुनिक उपन्यास का दृष्टिकोण' नामक निबन्धो मे ('विवेचना' निबन्ध-सग्रह) उन्होने अपने उपन्यासो के सम्बन्ध मे कहा है—"मेरे सभी उपन्यासो का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अहभाव की एकान्तिकता पर निर्भय प्रहार करने का रहा है।.........अपने इस कभी तृप्त न होने वाले अहभाव की अस्वाभाविक पूर्ति की चेष्टा मे जब उसे पग-पग पर स्वाभाविक असफलता मिलती है, तो वह बौखला उठता है और उस बौखलाहट की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह आत्म-विनाश के पहले अपने आस-पास के ससार के विनाश की योजना मे जुट जाता है। उसकी इस विनाशात्मक क्रिया का सबसे पहला और सबसे घातक शिकार बनना पडता है नारी को।......... धीरे-धीरे वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी का दृष्टिकोण यथार्थवादी बनता चला जा रहा है—अर्थात् वह शरत्-युग की नारी की तरह भावुकता के फेर मे पड़ कर अहवादी पुरुष की इच्छा के बहाव मे अपने को पूर्णतया बहाना और मिटा देना पसद नहीं करती, बल्कि स्थिति की वास्तविकता को समझकर व्यक्ति और समाज के अत्याचारों का सामना पूरी शक्ति से करने के योग्य अपने को बनाने की चेष्टा मे जुट रही है।"[1]

---

१. विवेचना (प्रथम संस्करण), पृ० १२३।

इस प्रकार 'प्रेत और छाया' मे पारसनाथ के पिता बाबू बैजनाथ, भुजौरिया और उसके राजा साहब आदि प्राय. सब पुरुषो की बुर्जुआ अहंवादी मनोवृत्ति की चीर-फाड जोशी जी ने की है, और मंजरी आदि के द्वारा उनके अहम् पर निर्मम चोट की है। अपने उपन्यासो मे उन्होंने मानव के अन्तर्मन मे दबी लोभ, कामुकता, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि पशु-प्रवृत्तियों की विकृतियो पर मनोवैज्ञानिक ऐक्स-किरणो के द्वारा सूक्ष्मता से प्रकाश डाला है।

'निर्वासित' मे ठाकुर लक्ष्मी नारायण का राक्षसी चरित्र हमारी घृणा को तीव्रता से जगाता है। वह सामन्तशाही का प्रतीक नृशंस और कामुक नारकीय जीव है। वह बाहर से शराफत का चोला पहने है, किन्तु भीतर से कोरा राक्षस ही है। वह बडा जालिम, भयकर, धूर्त और रगा-सियार है। उस की काली करतूतो को पढ कर रोंगटे खडे हो जाते हैं। धीराज, गौरी, समिधा आदि को सम्पूर्णत तथा शारदा आदि नारियो को अंशत खा जाने वाला यह राक्षस या पिशाच हमारी घृणा का पूर्ण आलम्बन बनता है। शारदा के कथन और धीराज की डायरी के एक-एक शब्द से इस घृणित प्राणी के प्रति घृणा का भाव प्रकट होता है। गरीब जनता के साथ बर्बरता का व्यवहार, अपनी पत्नी नीलिमा के प्रति अमानुषिक दुर्भावना, विलासिता, नृशसता, धूर्त्तता आदि इसके चरित्र के ऐसे घृणित रूप है, जो उसे घोर पापी नारकीय कीडे से भी हेय सिद्ध करते है।

'सुबह के भूले' मे जोशी जी ने उच्च वर्ग के भडकीले किन्तु निरर्थक जीवन के प्रति घृणा जगाई है। गुलबिया आरम्भ में उच्च वर्ग के जीवन से आकृष्ट होती है। उसे अपना निर्धन और अशिक्षित समाज बुरा लगने लगता है। वह गुलबिया से गिरिजा बन जाती है। किन्तु शीघ्र ही उसे उच्च वर्ग की हृदयहीनता, अहकारपूर्ण भेदभाव, बाहरी तड़क-भडक तथा विलास-प्रियता का पता चल जाता है। वह पछ-ताती है कि मैं कहाँ भटक गई, और तभी उच्च वर्ग के दूषित वातावरण से निकल कर वह अपने घर आ जाती है। इस उपन्यास मे जोशी जी ने फिल्मी दुनिया के दूषित वातावरण पर भी प्रकाश डाला है।

'जहाज का पछी' मे जोशी जी ने सामाजिक समस्याओ का और खुलकर चित्रण किया है। पुलिस वालो के हथकडो—निर्दोष व्यक्तियो को फँसाना, झूठी गवाहियाँ भुगतवाना, रिश्वत की ताक मे रहना आदि—का बड़ा ही सजीव चित्रण किया गया है। जीवन की क्या विचित्र विडम्बना है कि एक ओर तो धनी लोग बगलों मे रहते है, ठाठ का जीवन बिताते हैं, दूसरी ओर इस देश के लाखो लोगो को फुटपाथो और पटरियो पर भी सोने की जगह प्राप्त नही होती। अमीर लोग अपने धन, सम्मान, पद और शिक्षा की आड़ में तरह-तरह की चोरी, सीना-जोरी, ठगी और बेईमानी करते है, उन्हें कोई नही पूछता, किन्तु एक दीन-दरिद्र को फटेहाल देखकर ही लोग उसे ठग या पाकेटमार मान बैठते हैं पुलिस भी

इन गरीबो को ही तग करती है। कथानायक पुलिस तथा उच्च वर्ग की इन्ही ज्यादतियो का शिकार होता है। वह स्थान-स्थान की सैर करता हुआ समाज के अनेक नारकीय कुण्डो और विकृत अगो का अनुभव करता और हमे कराता है। वेश्यालयो, चकलो और उनमे नारी के शरीर और आत्मा के निर्मम शोषण का अत्यन्त सजीव और बीभत्स चित्र इस उपन्यास मे मिलता है। भादुडिया-जैसे हृदय-हीन पूँजीपति भी, जो रगे-सियार ही है, हमारी घृणा के आलम्बन है। मोटे-मुसटण्डे ढोंगी-गपोडी महन्त-महात्मा भी घृणा का विषय बने है। वैयक्तिक और सामाजिक अनेक विकृतियो पर इसमे प्रकाश डाला गया है।

राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह के 'राम-रहीम' में भी पुरुष द्वारा नारी के प्रति अत्याचारों की कहानी है। इस उपन्यास मे बाल-विधवा बेला की करुण कहानी है। पति की मृत्यु के पश्चात् उसका देवर उस अबला पर बलात्कार करता है। देवर के जुल्म से जान लेकर भागी तो पुलिस के शिकंजे मे जा पड़ी। थाने मे बेचारी की दुर्गति होती है। जल्लाद अधमरा करके उसे अस्पताल मे भेज देते है। पुरुष की वासना-वृत्ति के प्रति इसमे खूब घृणा जगाई गई है। "पुरुष की तो सूरत से उसे (बेला को) नफरत हो गई थी, चूँकि प्रत्येक की आँखो मे वही एक परिचित चमक थी। वह जिसके आगे दाँत दिखाकर दया के लिए आँचल पसारती थी, वह पहले उसकी सूरत को आँखे गड़ा-गडा कर घूरता········चौकीदार ने, जमादार ने, थानेदार ने, थानेदार के यार जमींदार ने, आबकारी के सरदार ने, अस्पताल के कर्मचारियो ने, सभी ने उसको उसी हिंसा-भरी निगाह से देखा था। पहले सभी ने चिकनी-चुपडी बनावटी बातो के घेरे मे उसे डाला था। और जिसने उसे पकड़ पाया, उसने हाय!········"[१]

बेला जब सुरक्षित स्थान की खोज मे अपने कुल-गुरु के घर चली जाती है, तो वहाँ भी अत्याचारो का शिकार होती है। घर मे उसके साथ छुआ-छूत का बर्ताव किया जाता है। मिश्रानी उससे अकारण द्वेष करने लगती है। और उसी के संकेत पर गनेस बहू, मूगा और नेता सब मिलकर उसे मेले से उड़ा लेने और अपनी स्वार्थ एव वासना-वृत्ति की पूर्ति का असफल प्रयत्न करते है। उन सबका आचरण अत्यन्त घृणापूर्ण है। वे उसे धक्का देकर कुए मे गिरा देते है। यही नही, स्वय मिश्र जी और उनका भतीजा श्रीधर भी उसे अकेली पाकर भेडिए की तरह नोच डालना चाहते है। वासना की आग ही ऐसी है, रक्षक भी भक्षक बन जाता है! धर्म के ठेकेदार और ईश्वर के प्रतिनिधि भी नरक के कीडे ही निकले। "सरकार की छाँह मे आई या गुरु की बाह गही, कोई भेद नही। उधर खासी खाकी वरदी, इधर रामनामे का सन्दली उत्तरीय। उधर सर पर झब्बेदार साफा, इधर सर पर विल्व-पत्र-शोभी

१ राम-रहीम, पृ० १९७ (संस्करण १९५६ ई०)।

शिखा। एक के हाथ में न्याय का डंडा, दूसरे के हाथ मे तुलसी की माला। उधर न्याय की पताका, इधर धर्म की ध्वजा। मगर दोनों एक ही गली के कुत्ते निकले, सरासर काम के कीडे नज़र आये। दोनो के पैंतरे भी एक ही थे। पहले हमदर्दी की बौछार, बादहू तलवार का वार।"[1]

जैनेन्द्र जी के उपन्यासो मे सामाजिक बुराइयाँ और अत्याचार अधिकतर सकेत-रूप मे ही प्रकट हुए है। इन संकेतो के आश्रय जैनेन्द्र जी आत्मपीड़न और करुणा का चित्रण करते है। उनके 'त्यागपत्र' नामक उपन्यास मे मृणाल पुरुष-प्रधान समाज के अत्याचारों का शिकार होती है। उसके चरित्र के सम्बन्ध में शका से भर-कर, कुछ जल्दी-जल्दी में तथा कुछ परिस्थितियो के कारण, उसके भाईभौजी उसका विवाह बडी आयु के एक दुहाजू से कर देते है। शीला के भाई के साथ विकसित होने वाले उसके स्वाभाविक प्रेम को कुचल दिया जाता है। विवाह के पश्चात् उसके पति उसे मारते-पीटते हैं। आखिर घर मे निकाल देते हैं। उसके भाई और भौजाई भी उसकी उपेक्षा करते हैं। वह इस अथाह ससार-सागर मे असहाय अकेली रह जाती है। तब भूखी मरती मृणाल का त्राता बनकर एक कोयले की दुकान वाला आता है और कुछ समय तक अपनी वासना की पूर्ति के लिए उसका साथ देता है। उसे गर्भ का भार देकर वह छोड भागता है। समाज के ऐसे निर्दयी पुरुषो के प्रति घृणा जगना स्वाभाविक ही है। व्यक्ति तथा समाज के इन घृणित आचरणो के प्रति विद्रोह की अपेक्षा जैनेन्द्र जी आत्मपीडन के सिद्धान्त को प्रकट करके इन सामाजिक बुराइयो के प्रति एक करुणा-मिश्रित घृणा जगाते हैं। वे विद्रोह और तोड-फोड़ के हामी नहीं, इसी से क्षोभपूर्ण या क्रोधयुक्त घृणा का अवसर उनके उपन्यासो मे शायद ही कही उपस्थित हुआ होगा। मृणाल स्पष्ट शब्दो मे कहती भी है—"मैं समाज को तोडना-फोड़ना नही चाहती हूँ। समाज टूटी कि फिर हम किसके भीतर बनेंगे? या कि किसके भीतर बिगड़ेगे? इसलिए मै इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मगलाकांक्षा मे खुद ही टूटती रहूँ।"[2]

निश्चय ही 'समाज से अलग होने' के मूल मे समाज के प्रति या कम-से-कम ऐसे बुरे समाज के प्रति घृणा का भाव अवश्य है, किन्तु साथ ही करुणाप्लावित आत्म-पीडन है, जो इस घृणा को क्षोभपूर्ण या विद्रोहपूर्ण बनाने की अपेक्षा एक विशेष प्रकार की दयामिश्रित घृणा का रूप प्रदान करता है। सांकेतिक और करुणामिश्रित घृणा का चित्रण जैनेन्द्र जी के बीभत्स रस-चित्रण की विशिष्टता है। समाज के जो लोग उसका पूर्व-चरित्र जानकर उसकी उपेक्षा करने लगते है, अध्यापिका के पवित्र कार्य से उसे हटा देते हैं, तथा इसी कारण उसके भतीजे प्रमोद से अपनी लड़की के विवाह

---

१. वही, पृ० ४७६।

२ (मस्करण सन् १९५६) पृ० ७३

की बात तोड देते है, उनसे भी वह बिगड़ती नही, लडती नही, चुपचाप अलग हट जाती है, और बडे सन्तोष से दुख झेलती है।

प्रगतिवादी लेखको की रचनाओं मे समाज की रूढियो तथा पूंजीवादी और जमीदारी पद्धतियो, पूँजीपतियो, जमीदारो आदि शोषको के प्रति घृणा का उद्देश्य रहता है, किन्तु बहुत बार यह उद्देश्य सुधारक या प्रचारक का कोरा उद्देश्य-मात्र बन कर रह जाता है, उसमे रस की प्राणधारा नही आ पाती। काव्य-रस को कसौटी न मानने वाले हमारे इन साहित्यकारो से हमारा नम्र निवेदन है कि वे अपनी रचनाओ के शुष्क विवरणो और वर्णनो की व्यर्थता स्वय अपने अंतःकरण मे अनुभव करे, तो उनकी रचनाओ मे अपूर्व सप्राणता आ सकती है, वे अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हो सकती है, और उस अवस्था में उनके सिद्धातो और विचारो या दृष्टिकोण का प्रभाव भी अधिक सम्भव है। रस की अवहेलना से कोई रचना सशक्त नही बन सकती। बीभत्स रस के पूर्ण परिपाक का अभाव ही बहुधा इनकी रचनाओ मे पूंजीवादियो-जमीदारों या सामाजिक परम्पराओं के प्रति तीव्र घृणा न जगने का कारण है।

नागार्जुन के उपन्यास 'बाबा बटेसरनाथ' को लीजिए। १५० पृष्ठो के इस उपन्यास के १०० से अधिक पृष्ठ शुष्क वर्णन और विवरण के सिवा कुछ नही है। यद्यपि लेखक का उद्देश्य इन पृष्ठो मे भी पूंजीवादी-जमीदारी पद्धति का विरोध करना रहा है, पर यह विरोध एक भाषण-कर्ता का विरोध-मात्र बन कर रह गया है। इस इतिवृत्तात्मक शैली मे कोई जान प्रतीत नही होती। पढ-लिख कर शहरी पूंजीवादी या जमीदारी जीवन बिताने वालो के प्रति लेखक अपनी घृणा इस प्रकार के इतिवृत्तात्मक वर्णन से प्रकट करता है—"किस गरीब की जमीन बिकने वाली है, कौन निपूता कितनी जायदाद छोड़कर मरा है, नाबालिग लडके वाली किस विधवा की क्या हैसियत है, शादी या श्राद्ध के मौको पर कौन-सा काश्तकार कितनी रकम कर्ज लेगा, मुकदमा लडने वाले कौन-कौन से लोग अदालती खर्च के लिए अपने खेतो को रहन रखना चाहते है ... इस प्रकार के तथ्यो की आवश्यक जानकारी के अतिरिक्त गाँव की बाकी बातों में उन्हे जरा भी रस नही मिलता।"[1] और हम अपनी बात कहें तो हमे लेखक के विचारो या ऐतिहासिक जानकारी के सिवा इस रचना के इतिवृत्तात्मक कथन से जरा भी रस नही मिलता। बाबा बटेसरनाथ के ऐसे वर्णन रस-परिपाक से बहुत दूर हैं। शुक्ल जी के शब्दों में काव्य-साहित्य में कथन-मात्र से काम नही चलता, बिम्ब-ग्रहण अपेक्षित होता है। काश ! कि नागार्जुन जी अपने पात्रों के आचरण बिम्ब-रूप मे प्रकट करके अपने उद्देश्य की पूर्ति करते। तभी ऐसे शोषको और ऐसी समाज-शोषी शक्तियों के प्रति तीव्र घृणा उत्पन्न होती। हमारा निश्चित मत है कि आलम्बनो की बिम्बात्मक पूर्ण प्रतिष्ठा के अभाव से नागार्जुन

१. नागार्जुन : 'बाबा बटेसरनाथ' (१९५४ ई०), पृ० १३-१४।

अपने ही उद्देश्य मे सफल नही हो सके है। बीभत्स रस का पूर्ण परिपाक न हो सकने के कारण ही उपन्यास रोचक और प्रभावशाली नही बन सका है। क्योंकि प्रगतिवादी लेखकों का मुख्य उद्देश्य समाज की कुप्रथाओ और शोषण-पद्धतियो का विरोध करना होता है, अत इन उपन्यासो का बीज भाव घृणा ही माना जा सकता है। अतएव बीभत्स रस के सचार मे ही इनकी शक्ति निहित है।

'बाबा बटेसरनाथ' मे इतिवृत्तात्मक शैली के कारण हलकी घृणा जगती है। फिर भी जहाँ-जहाँ बाबा बटेसरनाथ बिम्ब-रूप में विवरण देते है, वहाँ कुछ रस-परिपाक हुआ है। राजा बहादुर अपनी आसामियो से बर्बरता का व्यवहार करते है, एक चित्र देखिए—"शत्रुमर्दनराय (आसामी) को बीच आँगन में खडा कर दिया गया। लट्ठ लिए हुए चार सिपाही सामने मुस्तैद थे। बाहो को माथे के ऊपर खडा करके एक सिपाही ने बाँध दिया। दो गज़ के फासले पर दो ईटे डाल दी गई। एक ईट पर एक पैर, दूसरी पर दूसरा पैर। इस तरह रायजी खडे किये गये। यमदूत-सी मूछो वाला एक अधेड भोजपुरिया जमादार कोडा लिये नजदीक आया। दूसरी ओर से एक और आदमी आया जिसके हाथ मे मुँह-बन्द हाँडी थी।

"जमादार का इशारा पाकर वह शत्रुमर्दन के बिलकुल करीब पहुँचा और हाँडी का मुँह खोलकर लाल चीटो का छत्ता निकाल लिया। छत्ते मे डोरी लगी थी। उसने खाली हाँडी नीचे जमीन पर रख दी और बिलबिलाते लाल चीटो वाला आम के अधसूखे पत्तो का वह घोंसला रायजी के माथे पर टिकाया, ऊपर डोरी पकडे रहा ...... । चीटे हज़ारों की तादाद मे देह पर फैल गए।

"माथा हिलाकर बेचारे ने बधे-हाथो को ऊपर-ऊपर झटकने की कोशिश की कि पीठ पर कोड़े पड़े ... सपाक्-सपाक्! चार बार!! ... ...और जिस समय शत्रुमर्दन पर वह बर्बरता ढाई जा रही थी, ठीक उसी वक्त महलो मे राधाकृष्ण की युगल-जोडी के सामने मीठी आवाज वाले एक पुराणपाठी महानुभाव राजमाता साहिबा को श्रीमद्भागवत की रास-पचाध्यायी सुना रहे थे।"[1]

इसी प्रकार पृ० ७४-७५ पर गोरे साहब जौन और उनके गोरे साले के अत्याचारों का चित्र अग्रेज पूंजीपतियो और नील की खेती कराने वाले गोरे साहबो के प्रति घृणा उत्पन्न करता है।

किन्तु 'बाबा बटेसरनाथ' मे लेखक की इतिवृत्तात्मक शैली अधिकांशत ऐतिहासिक तथ्य ही प्रकट करती है, हृदय पर मार्मिक प्रभाव उत्पन्न नही करती। बाबा बटेसरनाथ अनेक व्यक्तियो—गोरे साहबो, जमीदारों, राजाओ, नीलाम्बर पाठक-जैसे अफसरों—की काली करतूतों का जिक्र करते हैं, और जैसा कि कह चुके

---

१ वही पृ० ४२ ४३

हैं, इनमे से अधिकाश वर्णन इतिवृत्तात्मक है, चित्रात्मक नही, दूसरे इनमे कोई क्रम-बद्धता भी नही। इसी से पाठक का मन इनमें विशेष नही रमता।

नागार्जुन जी का उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' भी उपर्युक्त दोष से मुक्त नही है। इसमें भी कई जमीदारो, महाजनों, अफसरों, पुरातनपथी ब्राह्मणो आदि के कुकृत्यो का उल्लेख है, पर मार्मिक चित्रण कम ही है। शोषक जमीदार का वर्णन देखिये—"इस मौजे के मालिक रायबहादुर दुर्गानन्दनसिंह बड़े जमीदार तो थे ही, साथ ही लहना-तगादी का भारी कार-बार भी चलाते थे। आस-पास की पाँच कोस जमीन पर उनकी छत्रछाया थी। तीन लाख रुपये पचीसो बस्तियो के इस समुद्र मे दात निपोड़े पूछ खडी किये मगरो की भाँति टहल-बूल रहे थे। ब्याज का दर प्रति मास डेढ़ रुपये सैकडा था। राजाबहादुर पुराने अगूठे को साल-साल नया करवाते जाते। सूद भी मूर बनता जाता। चक्रवृद्धि का यह क्रम राजा बहादुर की शरीर-वृद्धि के लिए रसायन का काम कर रहा था।"[१]

इसी प्रकार शुभंकपुर के जयदेव पण्डित का चरित्र ऐसे कथनो से घृणा का विषय बनाया गया है—"शायद ही कोई कुकर्म उनसे छूटा हो। तरुणी विधवाओ को प्रेम-पाश मे फसा कर फिर उनकी जायदाद अपने नाम लिखवा लेना, और चूसे आम की गुठली की भाति फिर उन्हें फेंक देना, दो खेत वालो में सिमान का झगडा खड़ा करके मुकदमो में बझा देना और उनमे से एक को खदुका बनाकर लील जाना, सस्ते दामो मे अगूठे (हैन्डनोट) खरीदकर पीछे ज्यादा से ज्यादा रकम चढ़ाकर उन्हें अदालत मे पेश कर देना, अपने घर मे आप ही सेंध डलवाकर पड़ोसी को गिरफ्तार करवा देना—इसी रास्ते से चलकर जयदेव उस मजिल तक पहुँचे थे जहाँ कि चोरो का सरदार और थाने का दरोगा सन्मान-श्रद्धा-भक्ति से स्वागत पाता है।"[२]

"बलचनमा" नागार्जुन की अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित और सवेदनापूर्ण रचना है। इसमे गरीब बलचनमा की दुखपूर्ण कहानी है। जमीदार के अत्याचारो के प्रति तीव्र घृणा उत्पन्न होती है। बलचनमा और उसकी माता-दादी आदि परिवार के सब प्राणी जमीदार के दास बने हुए है। बलचनमा स्वय अपनी विपद सुनाता है—'मझले मालिक सौ कसाई के एक कसाई थे। बाबू मरने पर बारह रुपये उन्होंने मा को कर्ज दिये थे। बदले मे सादे कागज पर अगूठे का निशान ले लिया था। सूद देते-देते हम थक गये, मूर ज्यों-का-त्यो खडा था।' मालिक जमीदार बलचनमा की मा से उसकी सात कट्ठा जमीन जबरन छीन लेते हैं। मालिक का सारा दिन काम करते-करते बेचारा बलचनमा थक कर चूर हो जाता था। साँस लेने की भी फुरसत नही मिलती थी। उसकी 'हड्डी-हड्डी, नस-नस और रोए-रोएं पर उनका (जमीदार)

---

१ रतिनाथ की चाची (द्वितीय) पृ० ६१
२ वही, पृ० ६६

का मौरुसी हक था। पोसने-पालने, सड़ाने-गलाने और मारने-पीटने का भी उन्हे पूरा हक था। मामूली कसूर पर मार-पीट होती और आम की आधी जली चैली से पीठ दाग दी जाती' थी।

छोटे मालिक के प्रति घृणा पराकाष्ठा पर तब पहुँचती है, जब वह बलचनमा की बहन रेवनी को अपनी वासना का शिकार बनाना चाहते हैं। अपनी माँ के साथ मालिक के घर का काम कराने रेवनी आई कि मालिक की गीद्ध दृष्टि उस १५ साल की कन्या पर पड़ती है। मालिक के मन मे "शैतान झिंगुर की तरह झझकार" करने लगता है। वह रेवनी की मा को कुछ काम के बहाने से बाहर भेज देते है और रेवनी को अलग कमरे मे बुला कर जबरन पकडना चाहते है। लोभ का चकमा कारगर न होने पर वह शैतान रेवनी को जबरन जमीन पर गिरा देता है। रेवनी के अन्दर बिजली-जैसी गुस्से की लहर दौड़ रही थी। वह मालिक को दाँतों से काट खाती है, मालिक अचेत-सा हो जाता है और रेवनी बिजली की फुर्ती से उठकर भाग जाती है। जब रेवनी की माँ बाहर से आती है, तो "मालिक ने कसकर चार लात जमायी। आँगन को सूना पाकर मालिक ने उसे पानी भरने की रस्सी से हाथ-पीठ कसके पलंग से बांध दिया। जब वह फूट-फूट कर रोने लगी तो मालिक ने गुर्रा कर कहा—"बोल साली, अपनी बेटी को यहाँ ले आयेगी कि नही ? बोल !"[1] इस प्रकार वह राक्षस बलचनमा की मा को मार-मार कर अधमरा कर देता है। बलचनमा ने भी यह "ठान लिया कि चाहे उजड जाना पड़े, चाहे जहल-दामुल हो, चाहे फांसी चढ़ूं, मगर कभी जालिम के सामने सिर नही झुकाऊंगा।"

इस प्रकार लेखक ने जमीदारो के घृणित पापाचार को प्रकट किया है। उपन्यास के अन्तिम पृष्ठो मे इतिवृत्तात्मक शैली में कांग्रेसियो के विरुद्ध विचार प्रकट किए गए है। कांग्रेसी लोग जमीदार-वर्ग से ही सम्बन्ध रखते है। वे गरीबो के दुख-दर्द को क्या जानें ? फूल बाबू ऐसे ही जमीदार कांग्रेसी है, जो बलचनमा के मालिक से बलचनमा को बचाने में उसकी कोई सहायता नहीं करते और केवल यह कहकर टाल देते है कि यह तुम्हारा आपस का मामला है, मालिक-सेवक का झगडा आपस मे निपटाना अच्छा है, और कि अपने मालिक की खुशामद करके ही उसका मन पिघलाओ। निश्चय ही लेखक कांग्रेस या महात्मा गांधी की नीति की आलोचना करना अपना उद्देश्य रखता है। कुछ कांग्रेसी अकाल-बाढ़ आदि मे पीड़ित गरीबो की सहायता के लिए कुछ चदा इकट्ठा करते है, किन्तु गरीबो मे उसका आधा भी नही बाँटते, आप उड़ा जाते हैं। ऐसे कांग्रेसी लोगो के प्रति भी घृणा जगाने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु इन प्रसंगो मे हलकी घृणा ही जगती है। ये प्रसग कुछ आरोपित-से लगते हैं।

---

१ बलचनमा (द्वितीय संस्करण), पृ० ७८-७९।

लेखक का उद्देश्य अतिम पृष्ठों मे इतना उभर जाता है कि कला की मार्मिकता को चर जाता है।

डा० रांगेय राघव के 'हुजूर' नामक लघु उपन्यास मे अंग्रेजी हकूमत, अग्रेज अफसर और ब्रिटिश नौकरशाही के अत्याचारो तथा "जी-हजुरी करने वाले भारतीयो और जमीदार शोषको के प्रति घृणा उत्पन्न की गई है। अग्रेज कप्तान गॉव वालो पर गोली चलवा देता है, उसके बगले पर फर्याद करने वाले ग्रामीणो तथा कॉग्रेसियो पर "साड माड करके हटर" बजवा देता है। धोबी के निर्दोष लड़के को अपनी गोली का निशाना बना डालता है, और उसे "गुलाम" कहता है। इस पर कप्तान का कुत्ता जैक आँखो-देखी कहानी सुनाता हुआ कहता है—"गुलाम! मेरे दिल ने कहा—रूह गुलाम! खून गुलाम! नमकहराम! जिस धरती का नमक खाते है, उसी से यह लोग दगा करते है।"[१] इस प्रकार जैक के माध्यम से लेखक ने हुकूमत के नशे मे चूर अग्रेज अफसरो के प्रति अपनी घृणा व्यंजित की है।

गरीब किसानो के खून-पसीने की कमाई पर गुलछर्रे उडाने वाले व्यभिचारी रईसों, जमीदारो तथा उच्चवर्ग के लोगो का घृणित जीवन मसूरी की झाँकी में प्रकट किया गया है। वहाँ इतनी दुश्चरित्रता थी कि बयान नही की जा सकती। मुफ्त शराब पीने की नई तहजीब के नाम पर बाप अपनी बेटी की जवानी के लासे मे नये-नये रईस नौजवानो को चिपकाते। ... लडकियो का काम शायद अपनी जवानी की नुमाइश करना ही था। और मेम लोग पी पी कर झूमती। .... देवदारु की छायाओं मे पुरुष स्त्री को धन के बल पर खरीदता।"[२]

श्री अमृत राय के उपन्यास 'हाथी के दॉत' मे ठाकुर परदुमन सिह-जैसे जमीदार तथा पडित रामबिहारी चतुर्वेदी-जैसे पूंजीपति का कुत्सित चरित्र प्रकट किया गया है। इन लोगो के दॉत दिखाने के और, खाने के और है। ठाकुर परदुमनसिह अत्यन्त विलासी, व्यभिचारी और अत्याचारी है। लोगो की बहू-बेटियो का सतीत्व-अपहरण उसके बायें हाथ का खेल है। उसके विरुद्ध जो कोई जरा-सी आवाज उठाता है तो वह उसे रातो-रात मरवा डालता है। नजीर जैसे बदमाश थानेदार भी उसके गुर्गे बने हुए है। वह चन्द्रिका बाबू की पत्नी चम्पा को अपनी वासना का शिकार बनाता है। एक दिन चन्द्रिका बाबू उसे रंगे हाथो पकड़ लेते है। किन्तु ठाकुर साहब आधे दिल वाले चोर थोडे ही थे। उन्होने क्षण भर मे चन्द्रिका बाबू को दबोच लिया और गला घोंट डाला। उन्हे किस का डर था! 'ठाकुर साहब को हुकूमत का बल था, अपने पैसो का बल था, पुश्तहापुश्त चले आते हुए अपने दबदबे का बल था और अपने और दूसरे जागीरदारों के गुर्गो का बल था'। ठाकुर साहब

---

१ डा० रांगेय राघव 'हुजूर' (१९५९ ई०) पृ० २५
२ वही पृ० ४८

अवसरवादी है। कांग्रेसी बन बैठते है। इलेक्शन लडते है। वह अपने प्रतिद्वन्द्वी रावल को इलेक्शन से चार दिन पहले ही मरवा डालते है, और रंगे-सियार इतने कि उसकी मृत्यु पर भारी दुःख प्रकट करते है। उसकी काली करतूतें शैतान को भी मात देने वाली है। पडित रामबिहारी भी दिखावे के नेता बने हुए है, पर उनके मन-मन्दिर मे सदा स्वार्थ की हाँडी पकती रहती है। 'गो-पालन समिति के प्रान खुद पडित रामबिहारी चतुर्वेदी की गाये ठठरी-ठठरी हो रही है, हरिजन मित्रसघ के अधिष्ठाता पडित रामबिहारी चतुर्वेदी चमार-पासियो की छाया मे भी दूर भागते है, यहाँ तक कि अपने पितृहीन भतीजे सरयू की शादी के भोज में इन्होने अपने एक एम० एल० ए० बन्धु तक को सब से अलग एक पीढे पर बिठाल कर खाना खिलाया था, गाधी बनिता आश्रम के संस्थापक प० जी की दृष्टि आश्रम में रहने वाली सरस्वती नाम की एक ब्राह्मणी युवती के प्रति पूर्ण अनासक्त नही थी, जवाहर अनाथालय के छोकरे पढने-लिखने या कोई उपयोगी उद्योग-धन्धा सीखने से दूर उनके घर के टहलुए बन कर रह गये थे ....,'[1] इस प्रकार लेखक ने आधुनिक युग के रंगेसियारो, जमीदारो तथा पुलिस अफसरो आदि की खूब पोल खोली है।

प्रगतिवादी लेखको में यशपाल की साहित्यिक प्रतिभा सर्वोच्च है। यशपाल के कथासाहित्य मे इतिवृत्तात्मक प्रचार की अपेक्षा जीवन की मार्मिक अनुभूतियाँ अधिक पाई जाती है। यद्यपि उनके 'दादा कामरेड','पार्टी कामरेड' आदि कुछ उपन्यासों मे भी कही-कही पार्टी-प्रचार का लक्ष्य स्पष्ट प्रतीत होता है, तो भी यशपाल का साहित्यकार सर्वत्र छाया रहता है। अपने उपन्यासो में यशपाल ने भी सामाजिक और धार्मिक रूढियों, जमींदारी-पूजीवादी अनैतिकता एव शोषण, ब्रिटिश सरकार के अत्याचारो आदि के विरुद्ध आवाज बुलन्द की है। 'पार्टी कामरेड' में भावरिया, पुत्तूलाल जैसे शोहदों के प्रति घृणा उत्पन्न की गई है, जो अपने पैसे के दम पर भोली-भाली लडकियो को फँसाते है और जुआ खेलना, शराब पीना तथा ऐश-विलास करना ही जीवन का एक-मात्र ध्येय मानते है। कम्युनिस्टो के कार्य और कम्युनिस्ट पार्टी की महत्ता जताने के लिए लेखक ने कॉग्रेस दल के कार्यकर्त्ताओ के ओछे हथियारो और विरोधी अनुचित कार्यो की भी निन्दा की है।

'दिव्या' यशपाल की श्रेष्ठ ऐतिहासिक रचना है। इसमे लेखक ने नारी-समस्या पर सफल प्रकाश डाला है। साथ ही प्राचीन दास-प्रथा के बीभत्स रूप को सफलता के साथ प्रकट किया है। उस युग में किस प्रकार नर-नारी पशुओं की तरह खरीदे और दास बनाये जाते थे, इसका सजीव चित्रण इस उपन्यास मे हुआ है। जब धूर्त्त पृथुसेन महत्त्वाकांक्षा के कारण दिव्या के प्रति उपेक्षा का व्यवहार करता है और गणपति की पुत्री सीरो के साथ विवाह कर लेता है तो वचक पृथुसेन के अश को

---

१ हाथी के दाँत (प्रथम संस्करण १९५६ ई) पृ० ८ ५९

अपने पेट मे लिए बेचारी दिव्या लोकापवाद और अपमान के भय मे मारी-मारी फिरती है। उसे रास्ते मे घेरने का प्रयत्न करने वाले मद्यप यवन सैनिक हमारी घृणा के पात्र बनते है। वह धोखे से दासो का व्यापार करने वाले प्रतूल के हाथ लग जाती है। दुष्ट प्रतूल भी हमारी घृणा का आलम्बन है। वह निर्दयी उसे अनेक यत्रणाये देता है, दिव्या की धात्री को न जाने कहाँ लोप कर देता है। सीमा पार ले जाकर वह उसे मथुरा के एक व्यापारी के पास बेच देता है। दिव्या के लिए वचक पृथुसेन और दास-व्यवसायी प्रतूल दोनो ही अत्याचारी सिद्ध हुए। "दास दासियो के रूप मे मनुष्यो का व्यवसाय करते रहने के कारण प्रतूल अनेक श्रेणी के मनुष्यो के शरीरों और स्वभावो की सूक्ष्मताओ मे उसी प्रकार परिचित था जैसे कुम्हार अनेक स्थलो की मिट्टी, उसमे बने पात्रो की उपयोगिता और मूल्य से अवगत रहता है। पाटलिपुत्र मे उसके घर पर चार दासियाँ थी। इन दासियो का काम गृहसेवा या स्वामी के लिए भृत्ति कमाना न था। वे प्रति अठारह मास पश्चात् सन्तान उत्पन्न करती थी। प्रतूल उन्हे न बेच, उनकी सन्तान बेचता।"[1]

दास-दासियो के साथ ऐसा अमानुषिक व्यवहार करने वाले सब व्यक्ति इस उपन्यास मे हमारी घृणा के पात्र है। बिकती-बिकाती बेचारी सद्य प्रसूता दिव्या ब्राह्मण चक्रधर की क्रीत दासी बनती है। चक्रधर की प्रसूता पत्नी रोग-ग्रस्त थी। उसका स्तन नवजात शिशु को देना निषिद्ध था। अपने पुत्र को दिव्या के स्तनो पर पालने के लिए चक्रधर संतान-सहित उसका क्रय करता है। ब्राह्मण और ब्राह्मणी अत्यन्त निर्दयता जताते है। वे दिव्या को आज्ञा देते है कि पहले हमारे शिशु को दूध पिलाए। यह आज्ञा शूल की भाँति उसका हृदय बेध देती है। वह दोनों बालको को समान समझती थी, किन्तु अब द्विज-पुत्र को स्तन-पान करा देने के पश्चात् उसके अपने पुत्र के लिए दूध शेप न रहता। वह चोरी-चोरी अपने पुत्र को दूध पिलाती। द्विज-पत्नी उसके इस व्यवहार पर उसे तरह-तरह की यन्त्रणाये देती है। उसके पुत्र को छीन कर अलग कर देती है और अन्यत्र बेच देने की बात सोचती है। माता दिव्या का हृदय टूक-टूक हो जाता है।

इन दास-दासियो की न राज्य रक्षा कर सकता है, और न ही धर्म इन्हे आश्रय देता है। जब दिव्या असह्य वेदना के कारण ब्राह्मण के घर से भाग कर बौद्ध धर्म की शरण मे जाना चाहती है, तो स्थविर स्पष्ट कहता है—"यदि तुम दासी हो तो क्या अपने स्वामी की अनुमति से धर्म की शरण मे जाना चाहती हो ?" सघ मे वेश्या को शरण मिल सकती है, क्योकि वह स्वतन्त्र नारी है। इस प्रकार इस दास-प्रथा का अत्यन्त बीभत्स रूप उपन्यास में चित्रित हुआ है। युग-युग से नारी पुरुष द्वारा प्रताड़ित होती रही है। पृथुसेन-जैसे वचक तथा बृक आदि जैसे व्यभिचारी उसे अपनी वासना का शिकार समझते रहे हैं। सामन्तो और राजाओं ने उसे भोग्या

---

१. दिव्या, पृ० १६९-१७० (प्रथम संस्करण)।

के अतिरिक्त और कुछ न समझा। धार्मिकों ने उसे पतित और त्याज्या माना, क्रेता स्वामियों ने उसे अपनी इच्छा पर नचाया, अपने शिशुओं के पोषणार्थ उसमे गाय का-सा व्यवहार किया। इसी से अन्त मे जब ब्राह्मण आचार्य रुद्रधीर उसे कुल-वधू और कुल माता के आसन पर बिठाना चाहता है, अपनी अर्द्धांगिणी बनाना चाहता है तो दिव्या स्पष्ट शब्दो मे कहती है—'ज्ञानी आचार्य, कुलवधू का सम्मान, कुलमाता का आदर और कुल-महादेवी का अधिकार आर्य पुरुष का प्रश्रय-मात्र है। वह नारी का सम्मान नही। उसे भोग करने वाले पराक्रमी पुरुष का सम्मान है।.........आचार्य दासी को क्षमा करें। दासी हीन होकर भी आत्मनिर्भर रहेगी। स्वत्वहीन हो वह जीवित नहीं रहेगी।"[१] इसी प्रकार बौद्ध भिक्षु बना हुआ पृथुसेन जब दिव्या से तथागत की शरण ग्रहण करने को कहता है, तो वह स्पष्ट प्रश्न करती है—'भन्ते, भिक्षु के धर्म मे नारी का क्या स्थान है ?" और यह उत्तर पाकर कि भिक्षु-धर्म मे नारी त्याज्य है, वह उसे भी स्पष्ट जवाब देती है—"भन्ते, अपने निर्वाण धर्म का पालन करें, नारी का धर्म निर्वाण नही, सृष्टि है। भिक्षु उसे अपने मार्ग पर जाने दे।" वह चारवाक मारिश को ही अपना हाथ थमाती है, जो ससार के सुख-दुख मे समान भागी बनने का वचन देता है, जो नारी मे अनुभूति का आदान-प्रदान चाहता है। इस प्रकार लेखक ने नारी-समस्या पर पूर्ण प्रकाश डाला है, और नारी के प्रति नाना प्रकार के अत्याचारों और दुर्व्यवहारो की निन्दा की है।

'देशद्रोही' मे यशपाल जी ने अत्याचारी वजीरियो की अमानुषिक यन्त्रणाओ का बीभत्स रूप प्रकट किया है। वजीरी न केवल लूट-मार करते हैं, अपितु डा० खन्ना को भी इस आशय से उठा ले जाते है कि उसके घर वालो से भारी रकम मिलने पर ही छोडा जाये। लूट में आये हुए व्यक्ति के साथ वजीरियो के पाशविक व्यवहार का बडा सजीव वर्णन किया गया है। डा० को जो नारकीय यन्त्रणाये सहनी पडती हैं, उनमे एक ओर उसके प्रति करुणा जगती है, दूसरी ओर पाठक का हृदय अत्याचारी वजीरियो के प्रति घृणा से भर जाता है।

'मनुष्य के रूप' मे यशपाल ने आधुनिक जीवन की विकृतियो तथा सामाजिक बुराइयो और समस्याओं का विस्तृत चित्रण किया है। नारी के प्रति पुरुष के अत्याचार, पहाड़ी क्षेत्रो मे स्त्रियो की दुर्दशा, कामुक पुरुषो का दुराचरण, पूँजीपतियो की अनैतिकता, पुलिस की धाँधली, सन् ४२ मे ब्रिटिश नौकरशाही और पुलिस के अत्याचार, फिल्मी दुनिया का कुत्सित रूप आदि अनेक बुराइयो का सुन्दर प्रकाशन हुआ है। एक तरह से लेखक ने समस्त सामाजिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह प्रकट किया है।

इनके अतिरिक्त हिन्दी के सैकड़ो अन्य उपन्यासो में बीभत्स रस की प्रचुर

---

१ वही पृ० ३१०

सामग्री पाई जाती है। अनेक उपन्यास बीभत्स रस-प्रधान है। अनेकों मे बीभत्स रस का प्रसार आद्योपान्त पाया जाता है तथा बहुतो मे सामाजिक और वैयक्तिक विकृतियो का प्रकाशन बीच-बीच मे बीभत्स रस की अनुभूति कराता है। हिन्दी का शायद ही कोई वर्तमान उपन्यास हो, जिसमे बीभत्स रस का सर्वथा अभाव हो। हिन्दी उपन्यास-साहित्य मे जीवन की अनेक विकृतियों का चित्रण हुआ है, और बीभत्स रस अपने भिन्न-भिन्न रूपों मे प्रकट हुआ है। जिन लेखको तथा उनके उपन्यासों का कुछ विस्तृत अध्ययन हमने ऊपर किया है, उनके अतिरिक्त उपेन्द्रनाथ अश्क के 'गिरती दीवारें', 'गर्म राख', रागेय राघव के 'घरौदे', 'मुर्दो का टीला', 'विषाद मठ' आदि, मन्मथनाथ गुप्त के 'दुश्चरित्र', 'बलि का बकरा' आदि, राहुल साकृत्यायन के 'शैतान की आँख', 'सोने की ढाल' आदि, आचार्य चतुरसेन के 'गोली', 'सोना और खून', 'व्यभिचार' आदि, मोहनलाल महतो के 'शैतान की देन', 'फरार' आदि, गोविन्द बल्लभ पन्त का 'जूनिया', पृथ्वीनाथ शर्मा का 'विद्रूप', अनूपलाल मण्डल के 'वे अभागे', 'ज्योतिर्मयी' आदि, इन्द्रविद्यावाचस्पति का 'जमीदार', जमनादास अख्तर का 'बुर्दाफरोश', हसराज रहबर के 'परेड ग्राउण्ड', 'धरती की बेटी', अमृतराय का 'बीज' आदि अनेक उपन्यासो में बीभत्स रस का सुन्दर प्रकाशन हुआ है।

हिन्दी कहानी-साहित्य में बीभत्स रस

आधुनिक हिन्दी कहानी का वास्तविक उद्भव और विकास सन् १६०० से ही वर्तमान कहानी विषय, भाव, उद्देश्य और शैली आदि सभी बातो मे प्राचीन से भिन्नता रखती है। प्राचीन कहानी मे उपदेश, शिक्षा या नीति का आग्रह ता। आधुनिक कहानी की विषय-सामग्री जीवन की वास्तविकता और स्वाभा- पर आधारित रहती है। जीवन और जगत की यथार्थता से ही वह बँध कर है। जीवन का सजीव और नाना-विध यथार्थ चित्रण आधुनिक कहानी की त विशेषता है। इसी से उपन्यास-साहित्य की तरह हिन्दी कहानी में भी रस का खूब चित्रण हुआ है। वास्तव मे उपन्यास और कहानी-साहित्य मे बीभत्स रस का प्रकाशन हुआ है, उतना साहित्य की अन्य सब विधाओं में कुल र भी नही हुआ। उपन्यास-कहानी की रचना भी अपेक्षाकृत अधिक मात्रा मे ।

हिन्दी कहानी के प्रारम्भिक दस वर्षों (सन् १६०० से १६१० ई०) मे प्राय: ो की ही धूम रही। कुछ कहानियाँ हितोपदेश और ईसपकी कहानियो (Aesop's s) के अनुकरण पर उपदेशात्मक शैली मे रची गई। हिन्दी कहानी का वक मौलिक स्वरूप-विकास सन् १६१० के पश्चात् ही हुआ। प्रसाद, प्रेमचन्द, जी, सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ शर्मा आदि लेखको ने दूसरे दशक मे हिन्दी कहानी वाभाविक घटना-चक्र, अनुकरण या अनुवाद के जाल से निकाल कर जीवन स्तविक भाव-भूमि मे प्रविष्ट कराया। प्रसादजी की कहानियो मे ऐतिहासिक या पूर्ण रोमानी वातावरण, भावुकता, सास्कृतिक गौरव-गरिमा, त्याग तथा आनन्द- ादर्शात्मकता की विशेषता है। प्रेमचन्द की कहानियो मे जैसा सामाजिक यथार्थ ाता है, वह प्रसाद मे कम है। प्रसाद की कहानियों मे समाज की विकृतियो, ाक रूढियो और अत्याचारो का चित्रण अपेक्षाकृत कम हुआ है। इसीसे उनकी

कहानियों मे ऐतिहासिक पात्रो के नीच कर्मो तथा वैयक्तिक घृणित चरित्रों के रूप मे बीभत्स रस का प्रकाशन अधिक हुआ है। जैसे उनकी प्रतिनिधि कहानी 'ममता' मे शेरशाह के अत्याचारो तथा शासकों की यशोलिप्सा के प्रति घृणा उत्पन्न होती है।

प्रेमचन्द की कहानियों में बीभत्स रस

मुँशी प्रेमचन्द की कहानियो में भी उनके उपन्यासो की तरह बीभत्स रस का खूब चित्रण पाया जाता है। उनकी ३०० के लगभग कहानियो मे व्यक्ति और समाज की अनेक समस्याओ के आश्रय घृणा स्थायीभाव का सरस चित्रण हुआ है। समाज की बुराइयों को प्रकट करने मे तो उन्हे आशातीत सफलता मिली ही है, साथ ही वर्तमान युग के घृणित व्यक्ति-चरित्रों को भी सफलतापूर्वक कहानियो मे प्रकट किया है। 'भाडे का टट्टू' नामक कहानी मे एक ऐसे व्यक्ति का चरित्र प्रकट किया गया है, जो मित्र-द्रोह करता है और अपने स्वार्थ के कारण कोरा अर्थ-पिशाच बना हुआ है। यशवत ऐसा ही व्यक्ति है जो अपने बाल-मित्र रमेश की उदारता को भुलाकर अपने स्वार्थ की खातिर मित्र की कोई सहायता नही करता। रुपये कमाना ही उसका, उसकी वकालत का उद्देश्य बन जाता है। जब रमेश पर मुकदमा चलता है, तो वह तीन हजार रुपये प्रतिदिन की फीस तै करके ही रमेश के मुकदमे की पैरवी करता है। जब रमेश बरी होकर आता है, तो वह यशवन्त से बोलने मे भी घृणा करता है। रमेश उससे मुँह फेर लेता है, ऐसे स्वार्थी 'भाड़े के टट्टू' का धन्यवाद करना तो दूर, वह उससे बोलना भी नही चाहता। आज की अर्थ-प्रधान संस्कृति की उपज ऐसे स्वार्थी, पैसे के मीत और हृदयहीन व्यक्ति हमारी घृणा के ही पात्र है।

'विश्वास' शीर्षक कहानी में आधुनिक स्वच्छन्द, शिक्षिता नारी और स्वच्छन्द लम्पट पुरुष के प्रति घृणा उत्पन्न की गई है। मिस जोशी का आरम्भिक रूप स्वच्छन्द नारी का घृणित रूप ही है। मिस्टर जौहरी अत्याचारी ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि है, और मिस जोशी के साथ साये की तरह रहते है। पुरुषो को अपने हाव-भाव, नाज़-अदा से रिझाना कोई मिस जोशी से सीखे। मिस्टर जौहरी मिस जोशी के द्वारा सरकार का विरोध करने वाले देशभक्त आपटे को दबाना चाहते है, पर मिस जोशी आपटे से ऐसा प्रभावित होती है कि न केवल वह अपना स्वच्छन्द आचरण छोड देती है, बल्कि आपटे को अपना प्राणाधार बना लेती है।

'बूढी काकी' मे मशीजी ने मानव की स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति पर प्रकाश डाला है। इसमे बुद्धिराम बूढी काकी की सम्पत्ति हथियाते समय तो उसकी खुशामद करता है, किन्तु काम बन जाने के बाद बुढ़िया को पूछना तक नही। वह बेचारी खाने-पीने से भी तरसती रहती है।

मुँशी जी की ऐतिहासिक वातावरण-प्रधान कहानियो में भी बीभत्स रस अपने कई सुन्दर रूपो में प्रकट हुआ है शतरज के खिलाडी मुँशी जी की प्रसिद्ध कहानी

है, जिसमें उन्होने वाजिदअली शाह के समय मे देश के राजनैतिक और नैतिक अध:पतन की खिन्नता के साथ विलासी तथा आत्मकामी बादशाह और सैनिक-सरदारो के प्रति घृणा व्यंजित की है। देश पर विपत्ति के बादल मडरा रहे थे। अँग्रेजी फौजे अवध पर अधिकार जमाने के लिए बढ रही थी, पर वाजिदअलीशाह के जमाने मे 'लखनऊ विलासिता के रग मे डूबा हुआ था। छोटे-बडे, गरीब-अमीर सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफीम की पिनक ही मे मजे लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-विभाग मे, साहित्य-क्षेत्र मे, सामाजिक व्यवस्था मे, कला-कौशल मे, उद्योग-धन्धों, आहार-व्यवहार मे, सर्वत्र विलासिता व्याप्त थी। राजकर्मचारी विषय-वासना मे, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन मे, कारीगर कलाबतू और चिकन बनाने मे, व्यवसायी सुरमे, इत्र, मिस्सी और उबटन का रोजगार करने में लिप्त थे।'[1] ऐसे जातीय पतन के ही प्रतीक मिरजा सज्जादअली और मीर रोशनअली है, जो देश, जाति तथा राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्य को भूलकर अपनी शतरज की बाजी मे ही हरदम खोये रहते है। उनकी आँखो के सामने ही अग्रेज सेना शहर मे प्रवेश करती है, उनके देखते ही अँग्रेज वाजिदअली शाह को पकड़ कर ले जाते है, किन्तु उन दोनो की आँखों का पानी मर चुका है। उन्हे तो अपने शतरज के बादशाह और वजीर की चिन्ता है। "अपने बादशाह के लिए जिनकी आँखों से एक बूद आँसू न निकला, उन्हीं दोनो प्राणियो ने शतरज के वजीर की रक्षा मे (आपस मे लडकर) प्राण दे दिए।" लेखक ने उन जाति-द्रोहियों, राज्य-भगोड़ो और सामाजिक कायरो की व्यक्तिगत वीरता के प्रति घृणा ही व्यंजित की है। आरम्भ मे उन्हे उपहास का विषय बनाया है, किन्तु बाद में उनकी सामाजिक कायरता और जाति-कर्त्तव्यहीनता को स्पष्ट करके उनके प्रति घृणा उत्पन्न की है।

'राजा हरदौल' मे ईर्ष्यालु जुझारसिंह के प्रति घृणा जगाई गई है। वह अपने भाई हरदौल की वीरता से जलता है और साथ ही उसके चरित्र पर सन्देह करता है। इसीलिए वह उसकी जान लेना चाहता है। हरदौल स्वय अपने प्राण देकर सती अबला (जुझारसिंह की रानी) को बचाता है।

पारिवारिक परिस्थितियो मे भी बीभत्स रसानुभूति कई कहानियो मे होती है। 'बेटो वाली विधवा' नामक कहानी में विधवा फूलमती के बेटो का अपनी माता के प्रति घृणित आचरण प्रकट किया गया है। फूलमती अपने बेटों पर जान देती है, पर वे इतने नीच और स्वार्थी है कि अपनी माँ के सब गहने-पैसे छीन लेते है। फूलमती अपनी लडकी कुमुम के विवाह मे अपने गहने-पैसे खर्च करना चाहती है, पर उसके बेटे साफ शब्दो में कहते है—कानून यही है कि बाप के मरने के बाद जायदाद बेटो

१ मानसरोवर भाग २ (सातवा सस्करण), पृ० २६९

की हो जाती है। माँ का हक केवल रोटी-कपड़े का है।' यही नही, वे कुसुम का भी घर मे कोई हक नही मानते, और उसका विवाह साधारण रीति से कर देते है। लेखक ने पारिवारिक जीवन में उस कानूनी त्रुटि को स्पष्ट किया है जिसकी पूर्ति अब हिन्दूकोड बिल के बनने से हुई है। बेचारी फूलमती का सब अधिकार उसके बेटे छीन लेते है। उसे नौकरानी की तरह घर का सारा काम करना पड़ता है। जिन बेटो को उसने हृदयरक्त पिला-पिला कर पाला था, वे ही उसके हृदय पर आघात करने लगे। बेचारी विधवा की कोई भी परवा नही करता। दिन-रात घर के काम मे ही उसे पिलना पडता है। सावन की झड़ी मे भी वह भीगती हुई बरतन माँजती है और नदी पर पानी भरने जाती है। एक दिन पाँव फिसल जाने से नदी की भेंट हो जाती है। निर्दयी और कृतघ्न पुत्रो के प्रति पाठक का मन घृणा से भर जाता है।

परिवार के अतिरिक्त बिरादरी की रूढ़ियो और दूषित परम्पराओ के प्रति भी 'मृतक-भोज' कहानी मे घृणा जगाई गई है। सेठ रामनाथ की मृत्यु के पश्चात् पच और बिरादरी के लोग ब्राह्मणो और बिरादरी को भोज देने का आग्रह करते है और बेचारी विधवा के हजारो रुपये लुटवा देते है। उसका मकान बिकवा देते है और उसे बेघर, बेसामान करके छोडते है। कुबेरदास, झाबरमल आदि पच और सेठ नरक के कीड़े है। दया, धरम तो इनके पास नाम को भी नही। बेचारी सुशीला को कौडी-कौडी का मुहताज बना कर छोडते है। झाबरमल ५० साल का बूढा है, पर सुशीला की १४ साल की लडकी को व्याहना चाहता है। "सुशीला ने घृणापूर्ण नेत्रो से उसकी ओर देखा। इस पचास साल के बुड्ढे की यह हवस! छाती का मास लटककर नाभी तक जा पहुँचा है, फिर भी विवाह की धुन सवार है। यह दुष्ट समझता है कि प्रलोभनो मे पड़कर मैं अपनी लडकी उसके गले बाँध दूँगी। वह बेटी को आजीवन कवारी रखेगी, पर ऐसे मृतक से विवाह करके उसका जीवन नष्ट न करेगी"। सुशीला की लड़की को इन पिशाचों के अत्याचारो से बचने के लिए आत्महत्या करनी पड़ती है।

समाज मे ऊँच-नीच, छुआ-छूत, वर्ग-भेद तथा उच्चवर्ग के अत्याचारो के प्रति घृणा जगाने वाली कहानियो मे 'ठाकुर का कुआ', 'सद्गति', 'तगादा' आदि उल्लेखनीय है। 'ठाकुर का कुआ' में छुआ-छूत और ऊँच-नीच का घृणित रूप स्पष्ट किया गया है। बेचारे गरीबो को प्रकृति की उन्मुक्त देन हवा और पानी से भी वचित रखा जाता है। ये ब्राह्मण, ये ठाकुर, ये उच्च वर्ण और उच्च वर्ग के लोग निम्न वर्ण वालो को अपने कुओ पर भी चढने नही देते। बेचारे जोखू को बदबू वाला गंदा पानी ही पीना पडता है। उसकी पत्नी गगी रात के नौ बजे चोरी-चोरी, सहमी-सहमी ठाकुर के कुएँ से साफ पानी लेने जाती है पर शूद्र की छाया भी न पड़ने देने वाले ठाकुर यह कब सह सकते थे शेर जैसे अपने शिकार को दूर से ही

सूंघ कर जान लेता है, वैसे ही ठाकुर साहब कुएं की जगत पर खड़ी गंगी को सूंघ लेते है। वे 'कौन है ?' 'कौन है?' पुकारते हुए कुए की तरफ आते है। मारे भय के गंगी के हाथ से रस्सी छूट जाती है, घड़ा-रस्सी धड़ाम से पानी मे पड़ते है। गंगी जगत से कूद कर भागती है। ये है ऊँची जात के भूत ! "गंगी का विद्रोही दिल रिवाजी पाबंदियो और मजबूरियो पर चोटे करने लगा—हम क्यों नीच है और ये लोग क्यों ऊँच है ? इसलिये कि ये लोग गले मे तागा डाल लेते है ? ···चोरी ये करे, जाल-फरेब ये करे। झूठे मुकदमे ये करे। ··इन्हीं पण्डित के घर मे तो बारहो मास जुआ होता है। यही साहू जी तो घी मे तेल मिलाकर बेचते है। काम करा लेते है, मजदूरी देते नानी मरती है। ···· बेचारे महँगू को इतना मारा कि महीनो लहू थूकता रहा। इसीलिए तो कि उसने बेगार न दी थी। इस पर ये लोग ऊँचे बनते हैं !"[1] स्पष्ट है कि गंगी का यह विद्रोह लेखक का ही विद्रोह है, उसी की घृणानुभूति पाठक के मन मे सामाजिक घृणा उत्पन्न करती है।

यह जात-भेद और छुआ-छूत जब धर्म का आश्रय लेकर प्रकट होते है, तो इनका रूप और भी घृणाकारी दिखाई देता है। 'सद्गति' नामक कहानी मे मुंशीजी ने धार्मिक शोषण और जाति-भेद का अत्यन्त करुणाजनक घृणित रूप प्रस्तुत किया है। पंडित घासीराम और उनकी पण्डिताइन का दुखी चमार के प्रति अमानुषिक व्यवहार तीव्र घृणा जगाता और करुणापूर्ण परिणाम प्रकट करता है। दुखिया चमार अपनी बेटी की सगाई के लिए साइत-सगुन विचारने की प्रार्थना लेकर पंडित घासीराम के पास जाता है। पंडित जी उससे बेगार कराते है, द्वार पर झाड़ू लगवाते है, गोबर पुतवाते हैं, ईंधन के लिए लकड़ियाँ चिरवाते हैं और खेत से भूसा उठा लाने का हुक्म देते है। क्यो न हो, धर्म के ठेकेदार ब्राह्मण ने साइत जो निकालनी है ! दुखी बेचारा भूखा-प्यासा सारा काम करता है; थक कर चकनाचूर हो जाता है। जब वह चिलम पीने के लिए थोड़ी आग माँगता है, और जरा आंगन मे अन्दर चला जाता है, तो पण्डिताइन की दुहाई मचती है। वह पण्डित जी से कहती है—"तुम्हे तो जैसे पोथी-पत्रे के फेर में धरम-करम किसी बात की सुधि ही नही रही। चमार हो, धोबी हो, पासी हो, मुंह उठाये घर में चला जाये। हिन्दू का घर न हुआ, कोई सराय हुई। कह दो दाढ़ीजार से चला जाय, नही तो इसी लुआठे से मुँह झुलस दूंगी। आग माँगने चले है !"[2] कितना घृणित कितना अमानुषिक है यह छुआ-छूत, ऊँच-नीच और जाति-भेद का अत्याचार ! यह धार्मिक शोषण जमीदारी और पूंजीवादी शोषण से भी अधिक अमानुषिक है—लेखक इस बात को भी गोंड के शब्दो द्वारा स्पष्ट करता है। बेचारा दुखिया भूखा-प्यास

१. मानसरोवर भाग १ (नवा संस्करण), पृ० १४०।

२. मानसरोवर भाग ४ (आठवा संस्करण) पृ० २१।

ब्राह्मण की लकड़ियाँ फाड़ने में अपनी देह तोड़ रहा है, इतने में एक गोंड आ जाता है और उसकी हालत पर तरस खाकर तथा ब्राह्मण के अत्याचार के प्रति घृणा से भर कर कहता है—कुछ खाने को मिला कि काम ही कराना जानते है। जाके माँगते क्यों नही ?'

दुखी—"कैसी बात करते हो चिखुरी, ब्राह्मण की रोटी हमको पचेगी !"

गोंड—"पचने को पच जायगी, पहले मिले तो। मूँछों पर ताव देकर आप तो भोजन किया और आराम से सोये, तुम्हे लकड़ी फाड़ने का हुक्म लगा दिया। जमींदार भी कुछ खाने को देता है। हाकिम भी बेगार लेता है, तो थोड़ी-बहुत मजूरी दे देता है। यह उनसे भी बढ गये, उस पर धर्मात्मा बनते है !"[१]

गाड़ी-भर भूसा ढोते और लकड़ियाँ फाड़ते-फाड़ते आखिर दुःखी का भूखा, प्यासा, थका शरीर जबाब दे जाता है, वह चक्कर खाकर गिर पड़ता है, और 'गोदान' के होरी की तरह श्रम की अनन्त समाधि ले लेता है। पर हाय ! नाश हो इस धार्मिक क्रूरता का, जिसकी नजरो मे मानव का जरा भी मूल्य नही, जरा भी दया नही। बेचारा दुखी पडित जी का काम करते-करते मर जाता है, पर उनके लेखे कोई बडी बात नही हुई, चमार मरा कि कुत्ता मरा, बात एक-सी ही है। चमारिने रोती है तो पडिताइन को बुरा लगता है—ब्राह्मण के द्वार पर 'चमार का रोना भी मनहूस है', इन "डाइनों ने तो खोपडी चाट डाली"। और अन्त मे दुखी की लाश को पशु की तरह रस्सी से बाँध कर घसीटते हुए खेतो मे छोड दिया जाता है, जहाँ गीदड, गिद्ध, कुत्ते और कौए उसे नोचते है। धर्म के ठेकेदार, स्वर्ग के ठेकेदार मानव द्वारा मानव की यह कैसी सद्गति है !—दुर्गति की भी सीमा के परे यह कैसी सद्गति है !

'सवासेर गेहूँ' शीर्षक कहानी मे भी इस ब्राह्मणी-महाजनी शोषण का कुत्सित चित्र प्रस्तुत किया गया है। मुशी जी ने अपने कथा-साहित्य मे धार्मिक ढोंग और रूढियो की गिन-गिन कर कडियाँ तोड़ी है। इस कहानी मे बेचारा शंकर किसान एक मोटे-ताजे तेजस्वी महात्मा का आतिथ्य निभाने के लिए गाँव के विप्र महाराज से सवा सेर गेहूँ उधार ले आता है—मोहन भोग उड़ाने वाले महात्मा को भला अपनी जौ की रोटी कैसे खिलाता ! वह इस गेहूँ के बदले ब्राह्मण को पसेरी की बजाय डेढ पसेरी खलिहानी दे देता है, बल्कि दो-तीन साल तक सेर-दो सेर गेहूँ खलिहानी मे अधिक देता रहता है। पर ७ साल बाद विप्र जी शकर से कहते है कि तुम्हारे जिम्मे साढ़े पाँच मन गेहू निकलता है, क्या देने की नियत नही है ? शकर सुनकर अवाक् रह जाता है—"ईश्वर ! मैने इन्हे कितनी बार खलिहानी दी, इन्होने मेरा कौन-सा काम किया ? जब पोथी-पत्रा देखने, साइत-सगुन विचारने द्वार पर आते थे, कुछ-न-कुछ दक्षिणा ले ही जाते थे। इतना स्वार्थ ! सवा सेर अनाज को अडे की भाँति सेकर

---

१ वही पृ० २३।

आज यह पिशाच खड़ा कर दिया, जो मुझे निगल ही जायगा।''''बोला—महाराज, नाम लेकर तो मैंने उतना अनाज नही दिया पर कई बार खलिहानी मे सेर-सेर, दो-दो सेर दिया है। अब आप आज साढ़े पाँच मन माँगते है, मैं कहाँ से दूँगा ?" विप्र कहता है—लेखा जौ-जौ, बखसीस सौ-सौ, तुमने जो कुछ दिया होगा, उसका कोई हिसाब नहीं, चाहे एक की जगह चार पंसेरी दे दो। तुम्हारे नाम बही मे साढ़े पाँच मन लिखा हुआ है, जिससे चाहे हिसाब लगवा लो। दे दो तो तुम्हारा नाम छेक दूँ, नही तो और भी बढ़ता रहेगा।"

ब्राह्मण ईश्वर के घर वसूल करने की धमकी देता है, उसका ऋण शंकर कैसे न चुकाता ! जो निकाल दिया, ठीक है। ब्राह्मण उससे ६० रु० का कागज लिखवा लेता है। शकर किसान से मजदूर पहले ही बन चुका था। अब वह दिनरात मज़दूरी करके ६० जोडता है, किन्तु ब्राह्मण तो अब पक्का महाजन बना हुआ है, वह साठ रुपये नही लेता। पन्द्रह रुपये ब्याज और चाहिए तभी पूरा हिसाब हो सकता है। शकर बहुत मिन्नत करता है कि पन्द्रह रुपये भी दो-तीन महीने तक दे दूँगा, किन्तु उस पिशाच की दृष्टि तो शकर को ही निगल जाने—बल्कि उसके बेटे तक को हड़प जाने पर लगी थी। शकर को उसका गुलाम बनना पड़ता है—केवल ब्याज चुकाने के लिए। २० साल तक तो शकर गुलामी करता रहा, उसकी मृत्यु के बाद विप्रजी ने उसके जवान बेटे की गरदन पकडी, शायद जीवन-भर वह गुलामी करता रहे।

'सभ्यता का रहस्य" शीर्षक कहानी मे रिश्वतखोर किन्तु दिखावे की सभ्यता रखने वाले राय रतनकिशोर के प्रति घृणा उत्पन्न की गई है। रायसाहब जिले के बडे मजिस्ट्रेट है, आप बडी सफाई से रिश्वत खाते है। किन्तु बेचारा दमड़ी अपने भूखे बैलो के लिए किसी के खेत मे से थोडा-सा चारा काट लेता है, तो उसे इतने ही कसूर पर रायसाहब ५ मास की कड़ी सज़ा देते है। लेखक आजकल की इस सभ्यता की निन्दा करता हुआ कहता है—'सभ्यता केवल हुनर के साथ एब करने का नाम है। आप बुरे-से-बुरा काम करें, लेकिन अगर आप उस पर परदा डाल सकते है, तो आप सभ्य है, सज्जन है, जेन्टिलमैन है। अगर आप मे यह सिफ्त नही तो आप असभ्य है, गँवार है, बदमाश है। यही सभ्यता का रहस्य है।''[1]

अनमेल विवाह और उसके दुष्परिणामो की निन्दा प्रेमचन्दजी ने अपने कथा-साहित्य में स्थान-स्थान पर की है। 'नरक का मार्ग' शीर्षक कहानी मे कथानायिका अपने जीवन की विषम परिस्थितियों का चित्र प्रस्तुत करती है। लोभी माँ-बाप द्वारा वह एक बूढ़े के गले मढी जाती है। उसे पति की सूरत से ही घृणा है। वह ज़रा बनाव-सिंगार करती हे, कही मंदिर-तीर्थ जाना चाहती है तो पति महोदय सन्देह से भर जाते हैं। बूढा पति जीता भी कै दिन ? पति के मरने का उसे कोई दुःख नही

१. मानसरोवर भाग ४, पृ० २०४ (आठवां संस्करण)।

होता। वह समझती है कि कैद से छूट गई। "जिन लोभी-स्वार्थी माता-पिता ने मुझे कुएँ मे ढकेला, जिस पाषाण-हृदय प्राणी ने माँग मे सेंदूर डालने का स्वाँग किया, उनके प्रति मेरे मन मे बार-बार दुष्कामनाएँ उठती है, मैं उन्हे लज्जित करना चाहती हूँ।"[1] और इसी भावना को लेकर वह घर से चुपचाप निकल जाती है। किन्तु एक पिशाचिनी के हत्थे चढ जाती है, जो नरक की डाइन निकली। वह बुढ़िया उसे वेश्या-वृत्ति के नरक मे धकेल देती है।

उद्धार' कहानी मे विवाह-पद्धति का एक और निन्दनीय चित्र प्रस्तुत किया गया है। इसमे माँ-बाप की उस मनोवृत्ति की आलोचना की गई है, जिससे वे अपने बेटे-बेटी का विवाह करने की उतावली मे वर या वधू के योग्य-अयोग्य होने का कोई ध्यान नहीं रखते। 'निर्वासन' कहानी मे पुरुष के अन्याय को चित्रित किया गया है। मर्यादा मेले मे अपने पति परशुराम से बिछड जाती है। दो-तीन दिन सेवा-समिति के कैम्प में रही, फिर स्टेशन से एक व्यक्ति धोखा देकर उसे अपने घर ले जाता है, किन्तु मर्यादा उसे धत्ता बता कर निकल आती है। जब वह अपने घर आती है, तो पति उसे अगीकार करने से साफ जवाब दे देता है। वह लाख सर पटकती है, अपनी सत्यता का विश्वास दिलाती है, पर पुरुष उसकी बात ही सुनना नही चाहता। सात दिन बाद वापिस आई औरत को वह कैसे रखे! समाज क्या कहेगा, बिरादरी क्या कहेगी!

'एक आँच की कसर' कहानी मे ऐसे लीडरों की पोल खोली गई है, जो रंगे-सियार होते हैं। बाबू यशोदानन्द ऐसे ही व्यक्ति है, जो ऊपर से तो दहेज का विरोध करते है और अपनी लीडरी जमाते है, किन्तु गुप्त रूप से अपने पुत्र का सौदा करते हैं। पोल खुल जाने पर लोग उसे खूब फटकारते हैं—"इसी को लीडरी कहते है, अपना उल्लू भी सीधा करो और नेकनाम भी बनो।"...."शरम आनी चाहिए। यश त्याग से मिलता है, धोखे-धड़ी से नहीं।"

'धिक्कार' शीर्षक कहानी में देशद्रोही पासोनियस हमारी घृणा का पात्र बनता है। वह सेनाओं की प्रत्येक गति की सूचना देश के शत्रु इरानियों को देता था, जिससे यूनानियो के सब प्रयत्न विफल जाते थे। इस देश-द्रोह के पुरस्कार में पासोनियस को मुहरों की थैलियाँ मिल जाती थी। इस कपट से कमाये हुए धन से वह भोग-विलास करता था। उस समय जबकि देश पर घोर सकट पड़ा हुआ था, उसने स्वदेश को अपनी वासनाओं के लिए बेच दिया था। ऐसे विद्रोही को चारों ओर से फटकार मिलती है। स्वयं उसकी माता उसे धिक्कारती और दण्डित कराती है।

'क्षमा' कहानी मे धार्मिक वैमनस्य और असहिष्णुता पर कुठाराघात किया गया है। 'मनुष्य का परम धर्म' शीर्षक कहानी मे मोटेराम शास्त्री-जैसे ब्राह्मणो

---

१. मानसरोवर तीसरा भाग, पृ० २८ (सातवां संस्करण)।

पर व्यग्य किया गया है, जो 'आगरे के मोतीचूर, दिल्ली के हलुआ सोहन और जौनपुरी अमृतियो' को उडाने की ही चिन्ता मे रहते है और ब्राह्मणो को ऐसे स्वादिष्ट भोजन खिलाना ही मनुष्य का परम धर्म बताते है। 'गुरुमन्त्र' कहानी मे गाँजा-भांग पीने वाले ढोंगी साधुओ की खबर ली गई है।

'विचित्र होली' शीर्षक कहानी मे भारतीयो के साथ कुत्तों-जैसा सलूक करने वाले अंग्रेज गोरों के प्रति घृणा उत्पन्न की गई है। अँग्रेज अफसर मि० क्रास अपने नौकरों और अन्य हिन्दुस्तानी लोगों के साथ बहुत बुरा सलूक करता है। उसका खानसामा नूरअली उससे तग आकर नौकरी छोडना चाहता है—'मेरा आज अस्तीफा है, अब इसकी नौकरी न करूँगा।'

अर्दली ने कहा—'ऐसी नौकरी फिर न पाओगे। चार पैसे ऊपर की आमदनी है। नाहक छोडते हो।'

नूरअली—'अजी लानत भेजो! अब मुझसे गुलामी न होगी। यह हमे जूतो से ठुकराये और हम इनकी गुलामी करें। आज यहाँ से डेरा कूच है।'[१]

जब राय उजागरमल तथा अन्य भारतीय कर्मचारी मि० क्रास से होली खेलना चाहते हैं, और उमंग मे आकर उसे रग देते है, तो क्रास आग-बबूला होकर तडातड़ हंटर मारने लगते है। रायसाहब नगर के बड़े आदमी है किन्तु मि० क्रास उन पर भी हंटर बरसाते है। ऐसे सलूक से दु:खी होकर लाला उजागरमल अँग्रेजों का साथ देना छोड़ देते है और असहयोग आन्दोलन में लग जाते है।

मुँशी जी की 'शूद्रा' कहानी मे भारतीयो को बहकाकर मिर्च के टापू मे ले जाने वाले और वहाँ उनके साथ अमानुषिक व्यवहार करने वाले गोरों के प्रति तीव्र घृणा जगती है। वहाँ गोरे अग्रेज भारतीय औरतों को अपमानित करते है। मनमानी चलाते हैं और नर-नारी सबसे पशु-जैसा व्यवहार करते हैं। उनकी गुलामी करते-करते भारतीयों की कमर टूट जाती है। एक बार जो उनके झाँसे में फँसकर मिर्च के टापू आ गया, उसका जीवन-भर छुटकारा नही होता।

मंगरू और उसकी पत्नी गौरा पर ढाये गये अत्याचारों की कहानी बड़ी करुणापूर्ण है। अँग्रेज गोरा मगरू की पत्नी को अपनी वासना का शिकार बनाना चाहता है। वह मंगरू को आदेश देता है कि अपनी पत्नी को मेरी कोठी पर भेज दे। मगरू ऐसा करने से जवाब देता है, तो साहब हटरो से उसकी खाल उतार देता है। इन नर-पिशाचों से तंग आकर मंगरू और उसकी पत्नी दोनो नदी मे कूद कर अपने प्राण दे डालते हैं।

जमींदारों के अत्याचारो को विषय बनाकर भी मुँशीजी ने कई कहानियाँ लिखी हैं। 'पछतावा' कहानी मे एक ऐसे कुँवर साहब का चरित्र प्रकट किया गया है

---

१. मानसरोवर तीसरा भाग, पृ० २३२ (सातवां संस्करण)।

जो अपनी आसामियों को तंग करता है, लगान के रुपये वसूल करके रसीदे नही देता और दोबारा नालिशे करता है। उसका कारिन्दा प० दुर्गानाथ उसकी बेईमा-नियो की निन्दा करता है। कुँवर साहब उसे हटा देते है। किन्तु बाद मे जब वह अपने अबोध बच्चे और पत्नी को निस्सहाय छोडकर मरने लगते है, तो उन्हे प० दुर्गानाथ की याद आती है। वह अपने कुकृत्यो पर पछताते है और प० दुर्गानाथ के नाम वसीयत कर जाते है। 'जेल' कहानी मे गरीब किसानों पर अत्याचार करने वाले जमींदार और पुलिस के कर्मचारियों को घृणा का आलम्बन बनाया गया है।

इनके अतिरिक्त 'अमावस्या की रात्रि' मे स्वार्थी, लोभी और निर्दयी वैद्य को, 'चकमा' कहानी मे स्वार्थी और धूर्त्त दुकानदार को, 'शान्ति', 'कुसुम' तथा 'मिस पद्मा' नामक कहानियो में बेवफा, दुश्चरित्र, लोभी-लम्पट और स्वार्थी पतियों और प्रेमियो को, 'विद्रोही' कहानी में दहेज चाहने वाले लोभियो को, 'नेउर' कहानी मे झाँसा देकर लूट लेने वाले धूर्त्त-ढोंगी साधुओं को; 'पत्नी से पति' मे अँग्रेजो तथा अँग्रेजी सभ्यता के गुलाम हिन्दुस्तानियो को; 'मैकू' कहानी मे ताडीबाजो को घृणा का विषय बनाया गया है। वास्तव मे प्रेमचन्दजी की कहानियो में, उनके उपन्यासो की तरह, घृणा के अनेक आलम्बन है और बीभत्स रस अपने अनेक रूपों में प्रचुरता के साथ प्रकाशित हुआ है।

सन् १९२० के बाद तो हिन्दी कहानी का साहित्य-भण्डार खूब भरने लगा। अनेकानेक लेखक कहानी लिखने मे प्रवृत्त हुए। सभी प्रकार की सामाजिक, ऐतिहा-सिक, पारिवारिक, मनोवैज्ञानिक आदि कहानियाँ लिखी जाने लगीं।

श्री शिवपूजन सहाय ने कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी है, जो उनके 'विभूति' नामक संग्रह मे सकलित है। उनकी 'विषपान' कहानी मे डा० रामकुमार वर्मा के एकाकी 'कलक-रेखा' की भाँति संग्रामसिंह राजपूत कुल-कलकी अजितसिंह को फटकारता है, जिसने कायरता और स्वार्थवश मेवाड के मस्तक पर कलंक लगाया और शत्रुओं का सामना न करके राजकुमारी कृष्णा को आत्महत्या के लिए विवश किया। संग्रामसिंह उसे फटकारते हुए कहते है—'रे कुलागार! नर पिशाच! तेरा मुँह देखने से भी महापाप होगा। क्या तू ही इस शिशोदिया वंश मे कलक का टीका लगाने के लिए अपनी माता के यौवन-वन का कुठार होने को था? निर्लज्ज! चुल्लू भर पानी में डूब मर। ...तेरे अधम शरीर मे राजपूत का एक बूद भी रक्त नही है।...'[1] 'सतीत्व की उज्ज्वल प्रभा' शीर्षक कहानी मे अत्याचारी औरंगजेब हमारी घृणा का पात्र बनता है। वह रूपनगर की राजकुमारी प्रभावती को अपनी वासना का शिकार बनाना चाहता है। प्रभावती के दिव्य रूप की सुगन्ध पाकर वह ''इसी सोच मे

---

१. शिवपूजन-रचनावली (पहला खण्ड), पृ० १२३ (संस्करण फरवरी १९५६ ई०)।

रहने लगा कि 'किस तरह उस बहिश्ती नूर से अपने दिल व दिमाग को रोशन करूँगा ? कैसे उसे अपनी नफ्स-परवरी का सामान बना सकूँगा ?······' उस नारकी शाहशाह के ओछे और गदे दिमाग मे यह पाक खयाल कभी सपने मे भी नही पैदा होता था कि भारत की पुत्रियो का हृदय स्वर्ग से भी सुन्दर, प्रजा-पालक राजाओ के यश से भी उज्ज्वल, ·········कवियो की कल्पना से भी प्रबल और सच्चे भक्त की भावना से भी सरस होता है।"[1] वह रूपनगर के राजा के पास 'डोले का फरमान' भेज देता है। किन्तु 'अजगरो का घमंड चूर करने वाले मेघ-मत्त मयूरो के साथ नाचनेवाली मयूरी क्या श्मशान के गर्हणीय और गदे गीध से चोंच मिला सकती है ?' राजकुमारी उदयपुर के राणा राजसिंह को वरण करती है और इस विपत्ति मे सहायता के लिए प्रार्थना करती है। राणा राजसिंह अत्याचारी औरंगजेब का गर्व चूर करते हुए प्रभावती की रक्षा करते है। 'वीणा' कहानी मे कथानायक वीणा नामक एक सुन्दरी के प्रति अपने जघन्य अत्याचार की कथा सुनाता है और बाद मे आत्मग्लानि और पश्चात्ताप की अग्नि मे स्वय जलता है। वह भारतीय विधवा वीणा को धोखे से गंगा पर ले जाता है और वहाँ एकांत मे बलात्कार करने के लिए उसका हाथ खीचता है। साध्वी वीणा 'हाथ झाडकर झुँझलाती हुई' बडे क्रोध से बोली—'रे नीच ! तू धोखा देकर मेरे साथ अब बलात्कार करना चाहता है ? क्या तू नही जानता कि मुझ अबला का अनाथ-नाथ यहाँ भी मौजूद है ? तेरे जैसे दैत्य के दृष्टि-दोष से दूषित यह देह अब हिन्दू-समाज के योग्य नही रही, जा, तू ही हिन्दू-समाज का कलक बना रह।' यह फटकार देती हुई वह धम से गगा मे कूद पडती है। कथा-नायक चकित-व्यथित, स्तब्ध-सा खड़ा रह जाता है। आत्म-ग्लानि से उसका हृदय क्षुब्ध हो उठता है और प्रायश्चित्त-स्वरूप वह भी गगा की भेट हो जाता है।

श्री विष्णु प्रभाकर की 'धरती अब भी घूम रही है' शीर्षक कहानी में अबोध बालको नीना और कमल पर अत्याचार करने वाले उनके मौसा-मौसी तथा रिश्वत-खोर जज साहब हमारी घृणा के आलम्बन है। अपने पिता को कैद से छुडाने के लिए अबोध बच्चे कमल और नीना जज साहब के पास जाते है और अत्यन्त भोलेपन से लोगो के मुँह सुनी-सुनाई बातो के आधार पर कहते है—'आपने हमारे पिताजी को जेल भेजा है। आप उन्हें छोड़ दे।····।'

कमल ने उसी दृढ़ता से कहा, "हमारे पास पचास रुपये है। आपने तीन हजार लेकर एक डाकू को छोड़ा है···।···रुपये थोड़े हों तो "

नीना बोली, "तो मैं एक-दो दिन आपके पास रह सकती हूँ।"

---

१. वही, पृ० ११३।

कमल ने कहा, "मेरी जीजी खूबसूरत है और आप खूबसूरत लडकियो को लेकर काम कर देते है ।"[१]

कहने की आवश्यकता नही कि इन अबोध बालको का एक-एक शब्द ऐसे चरित्रहीन और रिश्वतखोर अफसरो के प्रति घृणा जगाता है। भोलेपन के इस कथन के पीछे लेखक की कितनी तीव्र फटकार है !

इसी प्रकार 'ठेका' कहानी मे प्रभाकर जी ने ऐसे लोगो पर करारी चोट की है, जो अपनी पत्नियो के माध्यम से ठेका या परमिट हासिल किया करते है। रोशन की पत्नी सतोष और राजकिशोर की पत्नी श्यामा मे इसी बात की होड है कि मि० वर्मा को खुश करके ठेका कौन हासिल करता है। आखिर सतोष बाजी मार लेती है। पहले तो रोशन को अपनी पत्नी का मि० वर्मा के साथ घूमना, होटलों में जाना आदि अखरता है, किन्तु जब सतोष कहती है कि यदि 'मै मि० वर्मा के साथ न रहती तो वह ठेका राजकिशोर को मिल जाता।" तो रोशन उछल पडता है, वह "सब कुछ भूल जाता है, उसका सब सघर्ष निमिष-मात्र मे धुल-पुछ" जाता है। कैसे मर्द हैं ये नामर्द !

'अधूरी कहानी" मे विष्णु प्रभाकर ने हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव तथा छुआ-छूत की बुराई को प्रकट किया है। यशपाल की कहानी "हाय राम। ये बच्चे·· " की तरह इस कहानी मे भी दिखाया गया है कि बच्चों के मन मे कोई भेद-भाव नही होता है। वे अपने बडो से ही भेद-भाव, छुआ-छूत, धार्मिक द्वेष आदि बुराइयाँ सीखते है।

श्री मोहनसिंह सेंगर की कई कहानियाँ बीभत्स रस-प्रधान है। दूषित सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक व्यवस्था के प्रति लेखक का असतोष और सामाजिक घृणा इनमे स्थान-स्थान पर प्रकट हुई है। भिखमंगो की समस्या वर्तमान युग की एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्या है। छोटे-छोटे लडके-लड़कियो को फुसला कर, बहकाकर या उठाकर ले जाने वाले भिखमगे शैतानों के पापाचार की दास्तान लेखक ने 'परीलोक का राजकुमार' नामक अपनी एक कहानी में प्रकट की है। इन भिखमगो की काली करतूत देखिए। एक भिखारी चिकनी-चुपड़ी बाते करके और परिलोक को दिखाने का लोभ देकर सुकान्त को अपने अड्डे पर ले जाता है। वहाँ एक आदमी और एक औरत एक युवती के शरीर पर के कपड़े फाड़ और उसके बालों मे धूल डाल रहे थे और वह हाथ जोडकर गिड़गिडा रही थी—"बस, बस बहुत हो गया। इतने कपड़े फाड देने से तो मैं एकदम नगी दिखने लगूँगी न।"

और पास खड़े पुरुष ने, जो लंगडा कर आगे-पीछे बढ़ रहा था, उसके मुँह पर एक चपत रसीद करते हुए झिड़क कर कहा—"तो इसमे हर्ज ही क्या है ?

---

१ 'धरती अब भी घूम रही है' (प्रथम ' १९५९ ई०) पृ० १२ १३

जवान औरत का नगापन देखकर ज्यादा भीख मिलती है, पगली ! आखिर शौकीन बाबू लोग कोई सिर्फ दया या धर्म से पसीज कर ही भीख थोड़े देते है !"

औरत ने नीचे झुक कर एक कटोरे से थोडा-सा कालौंस-मिला तेल लिया, उसे अपनी दोनों हथेलियो पर फैलाया और फिर युवती के चेहरे पर इस तरह मल दिया कि देखते ही देखते उसका सुन्दर-साँवला चेहरा काला-कलूटा और डरावना हो गया।...

सुकान्त के साथ आये भिखारी ने आगे कदम बढाकर डपटने के स्वर मे कहा, "क्यों बे लगडदीन, क्या हो रहा है ? यह अभी तक भीख माँगने गई नही ?"

लगडे ने सहसा सहमकर कहा—"इसमे मेरा कोई कसूर नही, उस्ताद। सरदार न इसे अभी थोडी देर पहले ही तो छोडा है।.. "

"हूँ !" कहकर उस्ताद ने अपनी आँखे ऊपर उठाई। ऊपर की कोठरी का दरवाजा अधखुला था और वहाँ मे रह-रह कर ही-ही, ठहाके और डपटने के स्वर आ रहे थे। इसी समय लगड़े ने उस्ताद के जरा पास जाकर धीरे से कहा—'कल रात जो दो नई छोकरियाँ आई है न, सरदार उन्ही को लेकर पागल हो रहा है। .."

"और हाँ, इसकी गोद मे देने को बच्चे का क्या हुआ ?"

"क्या कहा ! बच्चा मरा हुआ है ?" उस्ताद ने कडक कर पूछा।

"हाँ, उस्ताद !"—सकपका कर भगती ने कहा—'जब लंगड़े को कोई जिंदा बच्चा न मिला, तो मैं मसान से इसी को चुरा लायी। पर उस्ताद इसकी सिर्फ पलके ही तो नहीं झपती, बाकी चेहरे-मोहरे से देखने मे तो यह बिल्कुल जिंदा-सा लगता है।"

"लेकिन अगर कोई बच्चे को देखकर भी भीख न दे, तो नाखून चुभा कर या हाथ-टाँग मरोड़ कर बच्चे को रुलाना भी तो पडता है।...।" . . दो चार कदम चलकर उस्ताद ने सामने पडी एक काली-सी गठरी को ठोकर मारी। दरअसल यह गठरी नही, एक लड़का था, जो कपडो के अभाव मे सर्दी से बचने के लिए घुटनों के बीच सिर छिपाए सो रहा था। उस्ताद ने कड़क कर पूछा—"क्यो रे ! तू अभी तक पड़ा-पड़ा आराम ही कर रहा है। गया नही आज ?"

उस्ताद कही मार न बैठे, इस भय से एक हाथ सिर पर रख और गर्दन टेढी कर, उस्ताद की ओर तिरछी नजर से देखते हुए, लड़के ने कहा—"आज सुबह से मुझे खाने को कुछ भी नही मिला, उस्ताद ! पेट मे भूख से बड़ी जलन हो रही है। भूखा कैसे जाता ?"

"यह तो बड़ी अच्छी बात है।"—ठहाका मार कर क्रूर हँसी हँसते हुए उस्ताद ने कहा—"कल तू जो सिर्फ साढ़े सात आने लाया था न, यह उसी की सज़ा है। ठीक से काम नही करेगा, तो तुझे खाने को पत्थर मिलेगा ! समझा ?..... आज तेरे लिए एक नया साथी लाया हूँ अभी तैयार किए देता हूँ इसे भी।"

"फिर सुकान्त को घसीटता हुआ लेकर वह एक कोने में आया।…सामने खडा कर पहले उसकी बनियान और फिर नेकर उतार दी। कालौंस-मिले तेल से भीगे कपड़े से उसने उसके सारे शरीर को पोता। फिर पास पडे टेढ़े-मेढ़े मुड़े टीन के एक ढक्कन से उसने उसके गात्र, ललाट और हाथों पर खरोच के निशान बनाए, जिनमे खून चमक आया। अब सुकान्त चुप न रह सका। भय और पीड़ा से वह बिसूरने लगा। उस्ताद ने एक जोर की चपत उसके गाल पर रसीद की और डाँटा—"देख अगर फिर मुँह से आवाज निकाली, तो जान से मार डालूँगा—समझा ?" और यह कहने के साथ ही उस्ताद ने सुकान्त का बायाँ हाथ इस तरह मरोड दिया कि एक कडक-सी हुई और शायद वह कोहनी के पास से उतर भी गया। एक चीख के साथ सुकान्त जमीन पर गिर पडा और पानी से बाहर निकली हुई मछली की तरह तडपने लगा। इसी समय उस्ताद ने एक तेज उस्तरे से उसके दूसरे हाथ की बिचली अगुली का नाखून आधा कच्चा काट लिया, जिससे खून बह निकला। फिर जल्दी से उसने उस अगुली मे एक मैले-से कपड़े की पट्टी बाँध दी, जो देखते-देखते खून से तर-बतर हो गई। इसके बाद सुकान्त के सिर, घुटनो और पाँवों पर भी तेल से सने मैले कपडे की पट्टी बाँध दी गई और उनके नीचे तेल मे घुले सिन्दूर की बूँदें इस तरकीब से टपका दी गई, जिनसे लगता था मानो पट्टियो के नीचे के घाव से खून बह रहा है।"[1]—इस प्रकार लेखक ने क्रूर उपायो से पेशेवर भिखारी बनाने के अड्डे और भिखमंगो के कुत्सित रूप पर प्रकाश डाला है। कितना घिनौना है यह कुरूप ! समाज का यह कोढ़ कितना अमानुषी है !!

अफसरो की खुशामद करने वाले, डालियाँ भेजने वाले और रिश्वत का आयोजन करके अपने स्वार्थो की सिद्धि करने वाले सरकारी कर्मचारी और सेठ-जमीदार हमारी घृणा के आलम्बन है। श्री मोहनसिंह सेंगर की 'नया अफसर' नामक कहानी इसी विषय से सम्बन्धित है। इसमे चुन्नीलाल पेशकार के घृणित चरित्र पर प्रकाश पड़ा है। वह परम्परा से अभ्यस्त होने के कारण, नए अफसर भूदेव के लिए भी इधर-उधर से डालियाँ जुटाता है, घी, सब्जी आदि की व्यवस्था करता है, और हर प्रकार से अपने अफसर को काबू मे करने का प्रयत्न करता है, पर भूदेव बाबू उसकी किसी सौगात को स्वीकार नही करते। चुन्नीलाल इलाके के जमीदार और साहूकारो से मिलकर खूब रिश्वत उडाता है। कचहरी मे मनमानी करता और करवाना चाहता है। पर भूदेव बाबू उसकी धूर्त्तता चलने नही देते। एक दिन एक नौजवान ने भूदेव बाबू की अदालत मे आकर दुहाई दी, गिड़गिड़ा कर बोला—'सरकार, मेरी बहन को बचाइए ! मेरी रक्षा कीजिए।' भूदेव बाबू कुछ कहे, इससे पहले ही चुन्नीलाल ने आगे बढ़कर कहा—'हुजूर यह बदमाश…।' 'चुप रहो चुन्नीलाल,'

---

१ नया स्वर (कहानी संग्रह) पृ० ६१-६६

डपटकर भूदेव बाबू ने कहा—'मैने तुमसे कुछ नही पूछा।' नौजवान काँपते हुए स्वर में अपनी कहानी सुनाता है—'मेरी बहन जमीदार राजेन्द्रकिशोर के यहाँ काम करती है। उनके घर की सब स्त्रियाँ और बच्चे आदि तो पहाड पर चले गए है, पर उस शैतान ने मेरी बहन को अकेले घर मे रोक रखा है और आने नही देता। सेठ चपालाल और आपका यह मक्कार, बेईमान पेशकार चुन्नीलाल भी इस षड्यन्त्र मे शामिल है! आप माँ-बाप हैं, सरकार! मुझे बचाइये।'

इस बार भूदेव बाबू का चेहरा तमतमा उठा। उन्होंने जलती हुई आँखे चुन्नीलाल की ओर उठाकर पूछा—'तो तुम इसीलिए इसे कचहरी मे नही आने दे रहे थे?'

'इस बेईमान की साजिश से दोनो मे से एक भी अभियुक्त कभी अदालत मे नही लाया गया। पहले तो मुझे कुछ पैसे देकर और बाद मे मौत की धमकी देकर चुप करने की कोशिश की गई। पर जब यह न हो सका, तो अब लम्बी-लम्बी पेशियाँ डालकर मुझे हैरान, परेशान और बरबाद किया जा रहा है।''[1]

इस प्रकार के अम्लेदारों और सरकारी कर्मचारियो की समस्या भी समाज की एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। रिश्वत लेकर ऐसे व्यक्ति अनेक प्रकार के अमानुषीय पापाचार मे प्रवृत्त होते है या उसके कारण अथवा सहायक बनते है।

ससार मे स्वार्थी आदमियो की कमी नही। 'गाडी का सिगनल' कहानी मे श्री मोहनसिंह सेंगर ने जगदीश बाबू का ऐसा ही घृणोत्पादक चरित्र प्रकट किया है। जगदीश बाबू स्टेशन-मास्टर हैं। जोखू वहाँ सिगनल-मैन है। जगदीश बाबू जोखू से हर समय अपने घर का काम कराते है, यहाँ तक कि बहुत बार उसे अपने घर के काम मे लगा रहने देते है, और गाड़ी का सिगनल भी स्वय कर देते हैं। कई बार गाडी बाहर खड़ी रहती है, जोखू भाग कर सिगनल करता है। जगदीश बाबू के कारण वह अपनी ड्यूटी भी पूरी तरह निभा नही पाता। इतनी जिम्मेदारी के काम को भी जगदीश बाबू अपने घरेलू काम से कम महत्त्वपूर्ण समझते है। एक दिन जोखू जगदीश बाबू का खाना बना रहा था, कि एक मालगाड़ी आ गई। उसके सिगनल गिराने को जगदीश बाबू स्वय गए, जोखू को उन्होंने खाना बनाते रहने का आदेश दिया। जल्दी में एक नम्बर का सिगनल कर दिया गया, जबकि एक नम्बर प्लेटफार्म पर पहले ही एक मालगाड़ी का इन्जन खड़ा था। परिणाम यह हुआ कि दोनों इन्जनों मे टक्कर हो गई। दोनो इन्जनो के ड्राइवर मर गए, एक का खलासी भी। दुर्घटना के कारणो की जाँच हुई। 'जगदीश बाबू ने अपने हलफ़िया बयान मे कहा कि सिगनल-मैन बड़ा लापरवाह और गुस्ताख है तथा उनका कहना नही मानता। इस बारे मे उसे कई बार चेतावनी भी दी गई। जोखू को बड़े बाबू की बातें सुन और उनका

---

१ नया स्वर पृ० २३ २४

यह करतब देखकर जैसे अपनी आँखो और कानों पर विश्वास नही हुआ। लज्जा और घृणा से उसका सिर और भी झुक गया।"[१]

दुखित और असहाय लड़कियों को बहका कर नरक में झोंकने वाले पिशाचों का तो अनेक उपन्यासो और अनेक कहानियों मे चित्रण किया गया है। श्री मोहनसिंह सेंगर की 'नरक के बाहर' कहानी मे भी एक युवती के धोखे मे पड़कर चकले मे बिक जाने और अपने साहस तथा सूझ-बूझ से उस नरक से बाहर निकलने की कहानी है। सरजू नाम का एक ऐसा ही व्यापारी रुनू को धोखा देकर कल्याणी नामक वेश्या के घर ले जाता है और पचास रुपये मे बेच देता है। रुनू बेचारी फँस जाती है। जब उसे जबरदस्ती एक युवक के सामने ठेला जाता है, तो वह अपना साहस और बुद्धि-सचय करके उस युवक से कहती है—"क्या तुम्हारी अपनी कोई माँ-बहन नहीं है ?"

"इसका मतलब ?"

"मतलब यही कि क्या तुम उन्हे वेश्या बनाना पसन्द करोगे ?·· मैं जीते-जी तुम्हे अपना शरीर नही छूने दूँगी। मेरा सतीत्व नष्ट कर शायद क्षण भर के लिए तुम्हारी पशुता को तृप्ति मिले, पर मेरा या समाज का इससे क्या भला होगा ?· मै तो अपने भाई से एक भीख माँगती हूँ, क्या वह शरणागत बहन पर इतना भी एहसान नही करेगा ?"[२] और वह उस घृणित नरक से भाग निकलती है।

शासकों की कला-प्रियता अथवा विलास-प्रियता की तुष्टि के लिए न जाने कितने कलाकारो ने अपने रक्त की एक-एक बूँद डालकर, अपने प्राणो का कण-कण देकर ये ताजमहल बनाये, मान-मन्दिर और कला-कुंज बनाए, पर इतिहास के पृष्ठो पर शासकों, राजाओ और रानियों का नाम ही आता है, कलाकार बेचारे मानो भावना बनकर ईंट-पत्थर-चूने मे ही दबे पड़े है। उनकी कला का पुरस्कार चन्द चाँदी के ठीकरो तक ही सीमित रहा है। उनकी आत्मा को, उनकी भावनाओं को खरीद कर ही शासक लोग सदा महान् बने है, उदार कहलाए है। उग्र जी की 'कला का पुरस्कार' कहानी ऐसी ही घृणित सामतीय मनोवृत्ति को प्रकट करती है। कलाधर ने राजा और राजकुमारी की इच्छा पर 'कला-कुंज' के निर्माण में अपनी जान लगा दी। राजकुमारी ने मन-चाहा पुरस्कार माँगने को कहा। वे कलाकार कलाधर की भावनाओ को क्या जाने ! वे तो चाँदी के कुछ टुकडो से ही उसका मूल्य आँकते थे। कलाधर किसी प्रकार के धन-पैसे की इच्छा नही रखता। वह केवल दो चीजें माँगता है। एक तो वह केवल एक बार राजकुमारी के सुन्दर चरण चूमकर धन्य होना चाहता है, क्योंकि राजकुमारी का अद्भुत सौन्दर्य ही उसकी

---

१. नया स्वर (कहानी-संग्रह), पृ० ६०।
२ नया स्वर पृ० ११४

कला-कुँज-निर्माण की प्रेरणा रहा है, दूसरे वह चाहता है कि उसी कला-कुँज के एक कोने में अपना शेष जीवन व्यतीत करे। राजकुमारी के कुछ उत्तर देने से पहले ही वह उसके चरणों पर अपना भद्दा माथा रख देता है और भावावेश में चरणों पर दो चुम्बन अंकित कर देता है। राजकुमारी आग-बबूला हो उठती है। इस सड़ियल कलाकार की इतनी धृष्टता ! कहाँ कन्दर्पपुर की राजकुमारी के चरण और कहाँ उसके असुन्दर ओठ ! "महाराज ने उसकी गर्दन को अपने कठोर पजो में जकड लिया। क्रुद्ध राजा की आज्ञा हुई—"मारो कोडे से इस नारकी को। राजकुमारी का अपमान करने का ऐसा दुस्साहस !" कलाकार बेचारा बहुत गिड़गिडाया—"मैंने राजकुमारी का अपमान नही किया है, दीनबंधो ! मैं तो उन्हीं की इच्छा से अपनी अद्‌भुत कला का पुरस्कार माँग रहा था। इस याचना में कालिमा की परछाई भी नहीं थी धर्मावतार ! कलाकार की इच्छाएँ भी, उसकी कला की तरह, असाधारण हुआ करती हैं।" पर राजमद कहाँ सुनता था, वह कलाकार की भावनाओं को कहाँ समझ सकता था ! "मारो इसको।" महाराज गरजे, "कलाकुँज के एक-एक कोने मे घुमाकर, इसकी एक-एक रचना के आगे अपमानित करो।...मारो ! मारो !! मारो !!!"

"कुरूप कलाकार को, भावुक कलाधर को, कला-प्रेमी कलाधर को यह कहाँ मालूम था कि उसकी सर्वोत्कृष्ट रचना पर ऐसा भयानक पुरस्कार दिया जायगा। उसने तो समझा था कि उसकी अलौकिक कला के लिए मनुष्य उसे सब-कुछ देगा और मुग्ध होकर देगा, प्रसन्नता से नाचकर देगा। अगर उसे अपने कलेजे के खून को पानी करने के बदले मे इन घातक कोडों की मार मिलने की खबर होती, तो वह जाता ही क्यो यह अमर महाकाव्य रचने।..." अभागा और कुरूप कलाधर तब तक—'मेरी कला !' 'मेरी कला !' चिल्लाता रहा जब तक कोडों की मार से राजभक्त राज-सेवको ने उसकी मुट्ठी भर की 'घृणित काया' को निर्जीव नही कर डाला।'... "श्यामा मदिरा के तट पर वह अलौकिक 'कलाकुँज' आज भी उसी तरह उज्ज्वल और प्रसन्न है जैसा अब से दो सौ वर्ष पूर्व था। मगर, उसके निर्माण के बारे में पूछे जाने पर लोग कन्दर्पपुर के राजा और राजकुमारी की ही चर्चा करते हैं। कहते हैं कि दयालु महाराज ने अपनी एकमात्र पुत्री के लिए उसको बडे खर्च से बनवाया था। कुरूप कलाधर और उसके घृणित प्राणों का किसी को भी पता नहीं।"[१]

पति-पत्नी का सम्बन्ध पारस्परिक रक्षा, प्रेम, विश्वास और निश्छल व्यवहार का सम्बन्ध होता है। उल्फतराय, जो अपनी पत्नी रमा को हजार बार 'मेरी जान' कहते नही थकते थे, आपत्ति आने पर पत्नी को गुण्डो के हवाले ऐसे कर देते हैं, जैसे उससे कोई सम्बन्ध ही न हो। अपनी जान बचाने के लिए जिसने अपनी

---

१ कला का पुरस्कार (कहानी सग्रह) पृ० १८ १९

पत्नी की रक्षा का जरा भी ध्यान नही किया, वह घृणा का पात्र क्यो न बने ! भारतीय पुलिस-द्वारा बरामद किए जाने पर जब उल्फतराय कमान से तीर की तरह छूटकर सीने से मिलने को सनकते हैं, तो वह घृणा से एक ओर मुडकर खडी हो जाती है—"दूर हटो !" तडपकर उसने कहा, "तुम कायर हो ! महाशय उल्फ़तराय ! मेरी तरफ मत सनको ! अब मै तुम्हारी कोई नही । ' इधर गुण्डों ने मुझे स्ववश करना शुरू किया इनके सामने और पाँच लाख बार प्राणेश्वरी कहने पर भी यह साहब ऐसे बैठे रहे गोया मेरा इनका कोई रिश्ता ही न था ! उधर गुण्डे मुझे नोचने लगे, इधर हज़रत मोटर लेकर नौ-दो-ग्यारह हो गये।"[1] लम्पट, स्वार्थी पुरुष के प्रति तीव्र घृणा यहाँ जगती है।

उग्रजी के उपन्यासो की तरह, उनकी कई कहानियो मे सामन्तों और राजाओं के विलास तथा विलास-भावना की तृप्ति के लिए अनेक अमानुषीय अत्याचार हमारी तीव्र घृणा जगाते है । 'चाँदनी' कहानी (कला का पुरस्कार-सग्रह) मे एक रियासत के राजाधिराज की विलास-लीला का कुत्सित रूप प्रकट हुआ है। पेरिस की नर्तकी मिनी भी जो राजा के विलास-भवन की नायिका है और राजा की विलास-अग्नि मे घृत डालने का काम करती रहती है, हमारी घृणा का पात्र ही है। उक्त राजाधिराज अपनी फ्रांस-यात्रा मे मिनी को लाए थे और सिंघल-यात्रा मे एक दिन अपनी मोटर मे से उन्होने एक सिंहालिनी सुन्दरी लडकी को देखा। बस फिर क्या था, राजा का दल उस लड़की चाँदनी के घर चढाई करके बरबस हर लाया। पुलिसवालो की जेब गरम कर दी गई थी। राजाधिराज बलात्कार करने लगे, तो उसने प्रबल प्रतिरोध किया—ताबडतोड भरपूर हाथ मदहोश महाराज के मुँह-सिर पर पडने लगा। क्रुद्ध हो, महाराज उसे गोली का निशाना बना देते है। यह है घृणित आचरण इन पापाचारियों का। अपनी काम-वासना की तृप्ति के लिए न जाने कितनी नारी-आत्माओ का ये खून किया करते थे। इनका पैशाचिक अट्टहास कितना बीभत्स होता होगा !

प्रसाद जी की 'सलीम' कहानी में धर्मान्ध और लोलुप सलीम तथा अत्याचारी वजीरी हमारी घृणा जगाते है। सलीम कट्टर मुसलमान है। वह जब पठान युवकों को प्रेमकुमारी द्वारा दिया गया देवता का प्रसाद खाते देखता है, तो धार्मिक कट्टरता के कारण जल-भुन जाता है। वह प्रेमकुमारी के प्रति अपनी लोलुप दृष्टि डालता है, और गाँव के पठान लडको को कहता है कि तुम मुसलमान होकर उस काफिर (प्रेमकुमारी) का प्रसाद खाते हो ? वह अपने 'धर्मोन्माद के नशे मे चूर' होकर लुटेरे वजीरियों से मिल जाता है। वह नन्दराम का घर जानने के लिए, भूखे परदेशी का स्वाँग रचकर, नन्दराम के साथ हो लेता है। नन्दराम अपने निष्कपट

१. वही पृ० ६२ (रमा बी० ए० नामक कहानी)

और उदार हृदय से उसे अपने ऊँट पर बिठा लेता है। ऊँट पर बैठा हुआ सलीम सोचता था—"न हुआ पास मे एक छुरा, नहीं तो यहीं अपने साथियो का बदला चुका लेता।" नन्दराम के घर पहुँचकर सलीम सोच रहा था घर देखकर लौट जाने की बात। "परन्तु यह प्रेमा! ओह, कितनी सुन्दर! कितना प्यार भरा हृदय! इतना सुख! काफिर के पास यह विभूति! तो वह क्यो न यही रहे? अपने भाग्य की परीक्षा कर देखे।" सलीम नन्दराम के यहाँ रहने लगता है। धर्मान्धता और प्रेमा की लालसा—इन दोनो ज्वालामुखी भावनाओ से भरकर वह एक रात वजीरियो को आक्रमण के लिए बुला लाता है। वजीरियों की दनदनाती गोलियाँ उस छोटे-से गाँव—विशेषकर नन्दराम के घर—पर बरसने लगती है। नन्दराम और अमीर आदि गाँव के युवक वजीरियो का डटकर मुकाबला करते है। सहसा नन्दराम के घर में से चिल्लाहट सुनाई पड़ती है। अमीर और नन्दराम उधर भागते है। अन्दर देखते है कि "प्रेमा के बाल खुले है। उसके हाथ मे रक्त से रंजित छुरा है। एक वजीरी वहाँ घायल पडा है।" वजीरी और सलीम प्रेमा को खींचकर उठा ले जाना चाहते थे कि उस रणचण्डी ने भी अपना खेल दिखा ही दिया। अमीर सलीम की छाती पर चढ़कर उसे छुरा मारना चाहता है, पर नन्दराम उसे बचा लेता है। फिर भी सलीम ने जिन हाथो से प्रेमा को खींचना चाहा था, अमीर उसके वे हाथ काट डालता है। इस प्रकार कहानी मे सलीम और वजीरी हमारी घृणा के पात्र बने है। उनके आचरणो से बीभत्स रस की श्रेष्ठ सिद्धि हुई है।

श्री ऋषभचरण जैन की 'दान' कहानी मे गरीब रमजू की उपेक्षा करने वाले बाबू ज्योतिप्रसाद, हुकूमतराय तथा ढोंगी संन्यासी हमारी घृणा के पात्र बनते है। लेखक ने इन पात्रों की मनोवृत्तियो का व्यंग्य-चित्र बडी सफलता के साथ प्रकट किया है। ज्योतिप्रसाद एक दफ्तर मे हैडक्लर्क है, रेशमी कपडे पहनते हैं, बढ़िया सिगरेट पीते है, सेकिंड क्लास मे सफर करते हैं और बीसों रुपये अपनी और अपने बच्चों की सेहत की खोज में डाक्टर-वैद्यो को अर्पण करते है। पर बेचारा रमजू चिल्लाकर रह जाता है, उनकी जेब से फूटी कौड़ी नही निकलती। उधर यही बाबू साहब चन्दे के नाम पर पच्चीस रुपया देने को तैयार हो जाते है। इसी प्रकार रायसाहब हुकूमतराय गरीब रमजू की टेर जरा नहीं सुनते। रमजू जब उनके पाँव पडता है, तो हुकूमतराय क्रोध से जल उठते हैं। 'उस नाचीज की इतनी हिम्मत! उनकी आँखों से चिनगारियाँ छूटने लगी। आँखे निकाल कर और दाँत पीस कर उन्होने पीठ फेरी। रमजू आशा और भयपूर्ण नेत्रो से देख रहा था। पर उनका तो विवेक नष्ट हो चुका था, उसके कातर भाव को लक्ष्य करने लायक भावुकता उनमे कहाँ से आती? शरीर में जैसे ज्वाला भर गई। उन्होंने पूरे वेग से एक लात रमजू पर चलाई और पास से एक पत्थर का टुकड़ा उठा कर उसके सिर पर दे मारा।

'रमजू की पहली चीख हवा में विलीन हो गई। फिर वह दहाड़ मार कर रो उठा। सिर से खून की मोरी-सी वह निकली। लात की चोट भी पूरी बैठी थी।

'हाथ-पैर का काम खत्म हुआ, तो मुँह का शुरू हुआ। गन्दी-से-गन्दी गालियों की बौछार-सी होने लगी।···बिलखते हुए रमजू की तरफ किसी का ध्यान न था।'[१]

यही रायसाहब जब घर पर पहुँचकर कमिश्नर की चिट्ठी पाते है, तो खुशी से उछल पडते है। वायसराय ने बादशाह के अच्छे होने की खुशी मे 'थैंक्सगिविंग फंड' खोला है। उसी की सूचना इस चिट्ठी द्वारा रायसाहब हुकूमतराय को दी गई है।

'इस छपी हुई चिट्ठी को रायबहादुरी के स्टेशन का टिकट समझकर रायसाहब उसी वक्त एक हजार रुपए का चैक 'थैंक्स-गिविंग-फंड' मे भेजने की व्यवस्था करने लगे।'[२]

इस प्रकार लेखक ने समाज के ऐसे लोगों की मनोवृत्ति पर करारा व्यंग्य किया है और उसके प्रति पाठक की घृणा ही जगाई है।

समाज में हट्टे-कट्टे मोटे ढोंगी सन्यासी भी है, जो रौब गाँठ कर रुपये माँगते है। रामचन्द, जो गरीब रमजू को एक धेला भी नही देता, जब एक सन्यासी की कडी आवाज सुनता है, तो सहम जाता है। 'सन्यासी के भडारे के लिए तुरन्त सवा रुपया दे,' संन्यासी ने आँखे निकाल कर कहा—'तेरी जेब में है, अभी निकाल, कल्याण होगा।'

रामचन्द क्षणभर ठिठका, तो संन्यासी ने जमीन पर पैर पटक कर कहा—'नही देता ? अच्छा ले, जाता हूँ, याद रख, तेरा सर्वनाश हो जायगा।'

रामचन्द एडी से चोटी तक लरज जाता है, और सवा रुपये का मोह त्याग देता है। इस ढोंगी सन्यासी से जहाँ धर्म-भीरू रामचन्द डर जाता है, वहाँ बाबू ज्योतिप्रसाद की त्यौरी से सन्यासी को अपना-सा मुँह लेकर रह जाना पडता है। सन्यासी नर्मी से बोलता है—'बाबू···।' ज्योतिप्रसाद ने कड़क कर कहा—"क्या है बे ?"

संन्यासी की घिग्घी बँध गई। लड़खड़ाती जीभ से बोला—'बाबू भूखा हूँ।'

ज्योतिप्रसाद चिल्ला उठे—'भूखा है, तो क्या मुझे खायेगा ? जाकर कुएँ में डूब मर।' निश्चय ही ज्योतिप्रसाद की इस फटकार से हमारा तादात्म्य होता है और ऐसे ढोंगी सन्यासियों के प्रति मन मे घृणा ही पैदा होती है।

श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की 'गरीब हृदय' नामक कहानी मे मजदूरो से दब कर काम लेने वाला ठाकुर हमारी घृणा का पात्र बनता है। वह किसी को पानी-तम्बाकू पीने भी नही देता। एक बुढ़िया दो-तीन बार पानी पीने जाती है, तो

---

१. कहानी की कहानी (कहानी-संग्रह, प्रथम संस्करण), पृ० १३३-१३४।
२. वही, पृ० १३६।

ठाकुर साहब उसके थप्पड़ रसीद करते है और उसकी मजदूरी ही दाब लेना चाहते है। ठाकुर की इस मनोवृत्ति को धिक्कारता हुआ मनोहर कहता है—'वाह ठाकुर साहब ! वाह ! खूब न्याय किया ! यह (बुढिया मजदूरिन) दो-चार दफे पानी पीने गई तो तुम्हें मजूरी दाब लेने का बहाना मिल गया ? उचित तो यह था कि यदि इसने कुछ कम काम भी किया था तो पूरी मजूरी दे देते। यह गरीब है, अनाथ है।'

मनोहर के कहने-सुनने से ठाकुर बुढिया को मजदूरी दे देता है, पर छः पैसे फिर भी काट लेता है। बुढिया तकरार करती है, तो मनोहर घृणापूर्वक कहता है—'ठीक है, काकी ! पैसे उठा लो और घर चलो—जो मिला सो सही।'

निश्चय ही यहाँ मनोहर के कहने का अभिप्राय यह है कि इस अर्थपिशाच से जो मिला वही गनीमत मानो। यहाँ से चलो, इस कमीने के पास अब क्या लेना है !

श्री रामवृक्ष बेणीपुरी की 'माटी की मूरतें' नामक संग्रह की 'रूपा की आजी' कहानी में समाज के अन्धविश्वासों के प्रति पाठकों की घृणा जगाई गई है। हमारे अंध-विश्वासी ग्रामीण जीवन में किस प्रकार नजर लगने-लगाने की, तथा भूत-प्रेत, डायन-भूतनी, जादू-टोने आदि की अन्ध-विश्वासपूर्ण धारणाएँ जमी हुई है, और किस प्रकार एक विधवा नारी को चुड़ैल और डायन का खिताब मिल जाता है, इस घृणित मनोवृत्ति पर बड़ी सजीवता के साथ प्रकाश डाला गया है। रूपा की आजी जब पहले-पहल नव-वधू बनकर आई थी, तो अचानक उसके ससुरजी चल बसे। कुछ समय बाद पति भी परलोक सिधार जाते है। उनकी आकस्मिक मृत्यु को लोकापवाद रूपा की आजी से सम्बद्ध कर लेता है। 'रूपा के दादा जी एक बरात से लौटे, थकेमादे। नवोढा पत्नी—रूपा की आजी ने हँसकर एक गिलास पानी पीने को दिया। पानी पीते ही सिर धमका, ज्वर आया, उसी से तीन दिनों के अन्दर स्वर्ग सिधारे।' यही नहीं, वह अपने पुत्र, पुत्र-वधू आदि कितने ही प्राणियों को खाने वाली चुड़ैल बन गई ! वह बेचारी आफत की मारी वैसे ही अपनी व्यथाओं को संभाल नहीं पाती थी, और उस पर यह लोकापवाद ! उसका अतृप्त प्रेम यदि किसी बालक पर दृष्टि जमाता, तो लोग नजर लगने का भय खाते। उसे सब उपेक्षा की दृष्टि से देखते, अवांछित प्राणी समझते थे और उसके साये से भागते थे। जादू-टोने चलते, ओझे बुलाये जाते। आखिर समाज के अन्धविश्वासपूर्ण अत्याचार ने उसके जीवन को विषमय बना डाला। यही नहीं, जल्लाद की न्याई उसे समाज ने मार ही डाला। वह मेले मे एक बच्चे को प्यार से निहारती है, किन्तु लोग चिल्ला पड़ते हैं—'डायन, डायन, डायन', 'मारो, मारो, मारो !' वह बेचारी मार-पीट से बचने के लिए भागती है। स्त्रियाँ, बच्चे, मर्द सब उसके पीछे भागते है, ढेले मारते है। इसी भगाभगी में वह एक ऐसी जगह पहुँचती है, जहाँ पहले एक कुँआ था। अब उसकी मत खराब हो गई थी वह भथ रहा था। भागने में व्याकुल उसका ध्यान उस ओर न रहा धड़ाम से उस कुएँ में जा रही वह समाज के

अत्याचार का शिकार बनती है। 'घटनाओं ने उसके साथ साजिश की, लोगों ने जल्लाद का काम किया।' इस प्रकार सामाजिक अन्धविश्वास के अमानुषिक आचरण के प्रति इस कहानी मे घृणा ही उत्पन्न की गई है।

श्रीमती होमदेवी की 'माँ' कहानी मे विमाता की निर्दयता और अत्याचार के प्रति घृणा जगाई गई है। 'कृपाशंकर के सामने दो युग पीछे का संसार घूमने लगता है। किस प्रकार उसे मार-मार कर कपड़े धोने के लिए बाध्य किया जाता था। पिता की आँखो में भी खून उतर आता था। उसे देख-देख कर कितनी शिकायतें प्रतिदिन सामने खडी रहती थी। उसे गिन-गिनकर रोटियाँ मिलती थीं खाने को। गिन-गिन कर कपडे दिये जाते थे पहनने को।' कृपाशकर इसी डर से दूसरी शादी कराना नही चाहते, कि कही उनके पुत्र शिशु अनुराग को भी विमाता के अत्याचारो का शिकार न होना पड़े। पर घर के लोग और समाज उसकी कैसे चलने देते! भामा के साथ उनकी दूसरी शादी हो जाती है। वही होता है। भामा अनुराग की उपेक्षा करती है। बालक अनुराग भी दिन-दिन भर घर जाता ही न था। कही किसी के घर खा लेता और खेलता रहता। शाम को जब कृपाशकर कचहरी से आते, तो उसकी ढूँढाई होती। विमाता अपने बच्चे की पहली होली पर तागा बँधवाने के लिए पडौस की स्त्री को बुलाती है। पडौसिन 'सोचती ही रह गई—यह तीसरी होली है, इसने पिछले दो वर्षों से तागा क्यो नही बाँधा? आखिर लडका तो आगे था ही—अपना या पहली का।'

इस प्रकार की उपेक्षा का परिणाम यह होता है कि उसी रात अनुराग को तेज बुखार चढ जाता है। उसकी हालत खराब हो जाती है। कृपाशंकर बडी परेशानी के साथ कभी उसकी नाडी टटोलते है और कभी धडकन देखते हैं। 'नई माँ गोद के बच्चे को कलेजे से चिपकाए आँगन मे खर्राटे ले रही थी।' अनुराग बराबर बुडबुड़ा रहा था—'अम्माँ···अम्माँ। मुझे गोद मे ले लो।···रोटी · रोटी···जल्दी ···आओ 'अम्माँ ··अम्माँ।' कृपाशंकर ने आँगन मे पड़ी गृहिणी को झकझोर कर कहा—'उठो, देखो तो अनुराग कब से अम्माँ-अम्माँ पुकार रहा है? अरे भामा, उसकी हालत बडी खराब होती जा रही है।'

"पर युवती जैसे अपने भीने स्वप्नो को भंग नही करना चाहती थी। बोली—सोने दो, मेरे पेट मे बड़ा दर्द है।" कृपाशकर स्तभित रह जाते है। इस प्रकार लेखिका ने विमाता की निष्ठुरता के प्रति घृणा उत्पन्न की है। इस कहानी मे करुणा और बीभत्स दोनों का सुन्दर परिपाक हुआ है। विमाता भामा के आलम्बनत्व से बीभत्स रस और शिशु अनुराग से करुण रस की सिद्धि होती है।

सरूपकुमारी बख्शी की कहानी 'लुटेरे का दान' मे सेठ रामप्रसाद हमारी घृणा का पात्र बनता है। लाखो रुपयों का मालिक वह सेठ दान का दंभ भी भरता

है। किन्तु उसका सब दान गरीबो के सिर पर होता है। वह अपने मजदूरो और कर्मचारियों का पेट-तन काटकर दान-धर्म करता है। वह किसी तुच्छ व्यक्ति को दान नही दे सकता। कमिश्नर की पत्नी की अपील पर ही दान-चन्दा दे सकता है। दान-चन्दा इकट्ठा करने वाली महिलाओ के आने पर वह अपने मुन्शी को बुलाकर कहता है—'मैं पूछना हूँ, तनख्वाह कब बटेगी ?'

"हुजूर कल।"

"ये बहनें अत्यन्त शुभ कार्य-हेतु आई है—हमारा परम कर्त्तव्य है कि हम इनकी सहायता करें। बहिनो को खाली हाथ लौटा देना अधर्म है।" सेठ जी ने आदेश के स्वर मे कहा।

"जी", मुन्शी जी बोले।

"मेरा विचार है कि कारखाने मे जितने भी कर्मचारी काम करते है, उनके वेतन मे ५ फीसदी काट लिया जाय और परोपकार मे अर्पण कर दिया जाय।"

रमाशंकर (मुन्शी) घबराकर कॉप उठे और बोले—"जी।"

"जाइये, तुरन्त हिसाब लगाकर दीजिए। जो रकम कम पड़ेगी, मैं अपनी जेब से दूँगा।" सेठजी ने अत्यन्त गर्व के साथ दोनो नारियो की ओर देखकर कहा।

सुनन्दा हक्की-बक्की रह गई। सेठ के आचरण से वह चकित रह जाती है और साथ ही उसके प्रति घृणा से भर जाती है। वह आत्मग्लानि का भी अनुभव करती है। रात को वह नीद नही ले सकती। उसने ऐसा चन्दा क्यों लिया ? रात को स्वप्न में भी गरीबो की आहे उसे दबा लेती है। 'दूसरे दिन सुनन्दा सब रुपये सेठजी की मेज पर पटक आई और सस्था को त्याग-पत्र दे दिया।'

इस प्रसग मे सेठ जी के चरित्र से बीभत्स रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। सेठ से यह चदा ले लेने वाली सुनन्दा को मानों लेखिका की आत्मा धिक्कारती है या स्थिति का बोध होने पर स्वय सुनन्दा की आत्मा फटकारती है—तुमने ये रुपये चदे में क्यो लिये ? बोलो, क्या अधिकार था तुम्हे गरीबो के हक को कटवाने का ? उस पापी सेठ के रुपये तुरन्त वापिस करो ! ऐसी सस्था को त्याग दो। इन नारकीय कीड़ों के घृणित पापाचार का विद्रोह करो !' लेखिका की या सुनन्दा की इस घृणा-पूर्ण अनुभूति ने ही सुनन्दा को रुपये लौटाने और त्याग-पत्र देने के लिए प्रेरित किया है।

यशपाल जी की 'डरपोक काश्मीरी' कहानी में पटवारी हमारी घृणा का पूर्ण आलम्बन बनता है। वह अत्याचारी और दुराचारी है, रिश्वतखोरी उसका प्रमुख कार्य है। वह गरीब कश्मीरी किसान हफ़्जा की मुश्कें बधवा देता है। उसके खेत मुन्तकिल कराने के लिए कह देता है। वेचारा हफ़्जा उसकी इन्तजार मे बहुत कष्ट सहता है। वह सरदी से ठिठुर कर मौत के मुँह में पहुँचता-पहुँचता बचता है

इस कहानी में लेखक ने गरीब कश्मीरियों की दरिद्रतापूर्ण अवस्था को

चित्र देते हुए स्पष्ट किया है कि उन्हे जमीदारी प्रथा और सरकारी नौकरशाही कितनी यातनाओं का शिकार बना रही है। साथ ही पठान लुटेरों के हमले का दर्दनाक चित्र प्रस्तुत किया है। पटवारी तो घृणा का पात्र है ही, साथ ही पठान हमलावर भी हमारी घृणा को तीव्रता के साथ जगाते है। वे 'अल्ला अकबर' के नारे लगाते आ जाते है, और लोगों पर जुल्म ढाते है। वे पटवारी को उजाड देते हैं। माल-मसाला लूट लेते हैं। सब का 'कत्लेआम' करते है। मरदों और बूढी औरतो को गोली से उड़ा देते है। जवान औरतो को ले जाते है। वे हफ्जा को गुलामो की तरह पकड़ कर ले जाते है। उनसे जबरदस्ती बोझ उठवाते हैं। पठान आक्रमण-कारियो के ये सब कुकृत्य घृणोत्पादक है। उनसे बीभत्स रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। "पटवारी साहब की भैंस जिब्ह कर दी गई। माँस के बड़े-बड़े टुकडे भूने जाने लगे और रोटियाँ सिकने लगी।" पठान अत्याचारियों के चारित्रिक कृत्यो के साथ यह बाह्य बीभत्स व्यापार घृणा को और भी उत्तेजित करता है।

'गुडबाई दर्देदिल' कहानी मे यशपाल जी ने उच्चवर्ग (पूँजीपतियों) की हृदयहीनता के प्रति घृणा उत्पन्न की है। मसूरी मे अमीर घर के दो शिक्षित युवक एक रिक्शा में सवार होने है। रिक्शा वाले कुली गरीब दुर्बल-शरीर है, तेजी से रिक्शा नही चला पाते। दोनों सवार कुलियो को बार-बार जल्दी चलाने को कहते हैं, उनके आमोद-प्रमोद के समय में देरी जो हो रही है! 'ऐ कुली' चलता क्यो नहीं? तमाशा करता है? (तेज) नही चलेगा तो हम अभी उतर जाएगा···क्यो तुम कमजोर आदमी लाता है? देखो, कितनी रिक्शा आगे चली गई?" इस डॉट-फटकार से कुली हाँपते हुए जोर लगाते हैं। सहसा एक बेहोश होकर गिर पडता है। दोनो अमीरज़ादे उतर कर पहुँचने की फिकर करते हैं। वे मरते गरीब की ओर देखते भी नही। झट दूसरी रिक्शा मे बैठ कर चल देते है। पहली रिक्शा का एक कुली "हुजूर हमारा पैसा?" की पुकार मचाता है। रणजीत देने से जवाब दे देता है—"तुम्हारा पैसा कैसा? तुमने हम को रास्ता में छोड़ा—हमारा वक्त खराब किया···कोई पैसा नहीं।" बेचारा कुली भागा-भागा पीछे आया और कोठी मे पहुँचने पर फिर पैसे माँगने लगा। किन्तु पहले तो रणजीत साफ जवाब देता रहा और उसे डाँटता रहा, किन्तु जब उसकी प्रेमिका शशि उसकी हृदयहीनता देखकर उस स्थान से हटना चाहती है तो स्थिति को संभालने के लिए रणजीत कुली को पाच रुपये दे देता है। ये रुपये वह गरीब के प्रति दर्देदिल से भरकर नही देता, अपितु रोमांस के कृत्रिम दर्देदिल मे विघ्न की आशका से देता है। दर्द-दिल का दावा करने वाले ऐसे दिल-फेंक व्यभिचारियो को शशि खूब फटकारती है। वह अपने भैया के व्यभिचार की निन्दा करती है, साथ ही रणजीत को भी फटकारती हुई कहती है—"यह (पैसा) दर्द-दिल की दवा है' यह इन्सान के दिल और जिस्म का मोल है।···सब कुछ खरीदा जा सकता है······।"

रणजीत—"शशि, मेरा यह दर्द से भरा दिल तुम्हारे कदमो मे ·····।"

शशि—"हाँ, और तुम्हारे कदमो मे पाँच रुपये में खरीदे हुए आदमी की लाश·····?"

और यह कहकर शशि उस घृणित पात्र को व्यंग्य की एक और ठोकर लगाती हुई—'गुडबाई दर्दे-दिल !' कहती हुई उसके पास से चली जाती है।

'साग' कहानी में यशपाल जी ने भारतीय विद्रोहियो पर अत्याचार करने वाले अग्रेज अफसरो और उनके पिट्ठुओ के प्रति पाठक की घृणा जगाई है। दो भारतीय विद्रोहियों को फाँसी दी जाती है। अग्रेज अफसर उनकी लाशें उनके सम्बन्धियो को नहीं देने देता। वह हुक्म देता है—दोनो बागियो की लाशें जेल के भीतर ही दफनाई जाएँ। और दात पीसकर साहब ने कहा—"और इनकी लाशों पर मर्सा का साग बोया जाए। साग तैयार होने पर सब साहब लोगो के यहाँ भेजा जाए।" मर्सा का साग जल्दी तैयार हो जाता है, और सब अग्रेज अफसरों के यहाँ भेजा जाता है। बारकों मे बन्द प्रत्येक कैदी के मन मे साग की बात थी। प्रत्येक कल्पना कर रहा था—हिन्दुस्तानी को अंग्रेज खा रहा है !"

'हाय राम ! ये बच्चे !' कहानी मे यशपाल जी ने साम्प्रदायिक भेद-भाव और छूत-छात को फटकारा है। बडो के व्यवहार से ही बच्चे भेद-भाव सीखते है।

यशपाल, नागार्जुन, मन्मथनाथ गुप्त, रागेयराघव आदि की कहानियों मे जमीदारों और पूँजीपतियो के घृणित अत्याचारो का चित्रण भी खूब हुआ है। अनेक कहानियो मे अग्रेजी सरकार और उसकी शासन-प्रणाली का घृणित रूप चित्रित किया गया है। उग्रजी की 'उसकी माँ' कहानी मे अग्रेजी राज्य और पुलिस के अत्याचारों के प्रति घृणा उत्पन्न की गई है। अश्क जी की 'सभ्य-असभ्य' कहानी मे अपने को सभ्य कहने वाले शिक्षित लोगो की हृदयहीनता पर प्रकाश डाला गया है। कौशिक जी की 'अशिक्षित का हृदय' कहानी में ठाकुर शिवपालसिह-जैसे सूदखोर, लोभी और हृदयहीन पूँजीपतियो के प्रति घृणा उत्पन्न की गई है। चन्द्रगुप्त विद्यालकार ने अपनी 'काम-काज' कहानी मे आज के स्वार्थी जीवन की व्यस्तता के तीन अत्यन्त सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए है। पहला चित्र एक दुकानदार का है, जो अपने ग्राहकों को सौदा देने में इतना व्यस्त है कि अपने बहनोई की क्वेटा के दगे मे हुई मृत्यु, तथा अपनी बहन के हस्पताल में दाखिल होने की सूचना पाकर भी काम में उसी तरह जुटा रहता है—"उनके चेहरे पर इस समय हद दर्जे की उदासी छाई हुई थी, परन्तु उनकी (अपने काम में) तत्परता पर इस उदासी का कोई प्रभाव नहीं पड़ने पाया था।" दूसरा चित्र एक स्वार्थी जेलर का है जो यूसुफ नामक एक चौकीदार को छुट्टी नही देता यूसुफ अपने मरणासन्न ससुर द्वारा बुलाने का तार पाकर छुट्टी के लिए बार-बार प्रार्थना करता है मगर हृदयहीन जेलर उसे पहले तो

छुट्टी से साफ जवाब दे देता है, किन्तु फिर जेल-इंसपैक्टर को भेंट भेजने का ख्याल आते ही वह कहता है—'तुम्हारी छुट्टी मंजूर होने मे दो दिन अवश्य लग जायेंगे।' 'यूसुफ और क्लर्क दोनो हैरान ! छुट्टी इसने ही मंजूर करनी है, फिर दो दिन लगने की बात कैसी ?' अपनी कमीनगी पर मुस्कराहट का परदा डालते हुए जेलर ने कहा—'यार, तुम्हें मेरी सेबों की पेटी पेशावर तक अपने साथ ले जानी होगी और वह पेटी परसो से पहले यहाँ नही पहुँच सकती।' इस कहानी के तीसरे चित्र मे दिखाया गया है कि किस प्रकार एक फर्म का कर्मचारी सड़क पर मरणासन्न पडे हुए आदमी की सहायता करने की बजाय, बैंक से बिल्टी छुडा कर लाना अधिक महत्त्व-पूर्ण कार्य समझता है। बैंक बन्द होने मे बीस मिनट ही तो बाकी हैं ! अगर वह उसे अस्पताल भिजवाने के चक्कर में पड़ गया, तो बैंक का समय चूक जायगा, मालिको को क्या जवाब देगा ! डा० लक्ष्मीनारायणलाल की 'धीरे चलो डोलिया' कहानी मे नारी पर पुरुष के अत्याचार का चित्रण है। यदि दुर्भाग्य से नारी को सन्तान नही होती, तो उसकी उपेक्षा की जाती है और उसकी छाती पर मूग दलने के लिए सौत लाई जाती है। अब एकाधिक पत्नी बनाना कानूनन निषिद्ध है, किन्तु नारी की यह समस्या अभी भी बनी हुई है।

सन् १९४३ का बगाल का अकाल भी हमारे लेखकों की अनुभूति का विषय बना। भूखी बिलखती हुई मानवता का हाहाकार जहाँ करुणा की अजस्र अश्रु-धारा प्रवाहित करने लगा, वहाँ मानव की बेबसी और बेकली से लाभ उठाने वाले बुर्दा-फरोशो, स्त्रियो की दलाली करने वालो तथा चोरबाजारी और नफाखोरी करने वाले मानव-पिशाचो के प्रति घृणा भी सैकडो कविताओ, कहानियो मे प्रकट हुई है। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी की 'नये धान से पहले', 'रंग, तूलिका और अकाल', 'कब्रों के बीचों-बीच', 'लावारिस', 'रांगामाटी' आदि कई कहानियों में तारापद ('नये धान से पहले' कहानी का) जैसे दलालो और मुनाफाखोर बनियो के प्रति घृणा उत्पन्न होती है।

साराश यह कि हिन्दी कहानी साहित्य में भी, उपन्यास-साहित्य की तरह, बीभत्स रस का खूब प्रसार पाया जाता है। हमारे सामाजिक और वैयक्तिक जीवन की अनेक विकृतियो, अनेक सामाजिक समस्याओ को कहानियो मे प्रकट किया गया है। हिन्दी की अस्सी प्रतिशत साहित्यिक कहानियाँ सामाजिक कहानियाँ ही है। उनमे किसी-न-किसी सामाजिक बुराई का अवश्य चित्रण रहता है। घृणा के विविध आलम्बनों की अवतारणा इन कहानियों मे हुई है। अत. बीभत्स रस की नानाविध प्रचुर सामग्री हिन्दी कहानी साहित्य मे पाई जाती है। हिन्दी कथा-साहित्य में बीभत्स-रस-चित्रण शृंगार और करुण-जैसे प्रमुख रसो से किसी प्रकार कम नहीं हुआ है।

हिन्दी नाटक-साहित्य में बीभत्स-रस

हिन्दी नाटक का जन्म आधुनिक युग मे ही हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को ी साहित्य की इस विधा का जन्मदाता माना जाता है। भारतेन्दु बाबू और हयोगी लेखको ने अपने अनेक प्रहसनो तथा नाटकों में युग की बदलती हुई वेचारधारा और नवजागरण को प्रकट किया। इस काल के प्रहसनो और यो मे जीवन की यथार्थता का चित्रण नाटको की अपेक्षा अधिक हुआ है, अत और एकाकियो में बीभत्स रस का खूब प्रसार पाया जाता है। नाटको मे ाज-सुधार का स्वर यत्र तत्र मिलता है। अत परम्परागत रूढ़ियो, सामाजिक तथा दुष्ट व्यक्तियो के चित्रण में कही-कही बीभत्स रस भी प्रकट हुआ है। ल मे पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक आदि सभी प्रकार के नाटको की ा चली। स्वय भारतेन्दु ने सब प्रकार के नाटको की सृष्टि करके हिन्दी नाटक ों प्रशस्त किया। पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटको मे दुष्ट और राक्षस- के पात्रों के प्रति घृणा उत्पन्न की गई।

भारतेन्दु जी के ऐतिहासिक गीतिरूपक 'नीलदेवी' मे धर्मान्ध मुसलमान शासक शरीफ खाँ और उसके मुसाहिब तथा काजी आदि हमारी घृणा के आलम्बन ोसरे दृश्य में ही राजा सूर्यदेव और नीलदेवी आदि उनके प्रति घृणा प्रकट ए कहते है—

"सूर्यदेव—कहो भाइयो! इन मुसलमानों ने तो अब बडा उपद्रव मचाया है।

. . . .

राजपूत—महाराज! सब सावधान हैं। धर्म-युद्ध मे तो हमको जीतने वाला कोई पृथ्वी पर नही है।

नीलदेवी—पर सुना है कि ये दुष्ट अधर्म से बहुत लड़ते है।"

नवाबों और अमीरों की चापलूसी करने वाले चपरगट्टू और पीकदान अली

के प्रति भी हम व्यंग्यात्मक घृणा से भर जाते हैं। ये लोग कोरे स्वार्थी है और अपनी आत्मा को बेचकर राजाओं-अमीरों से इनाम प्राप्त करते है। उनका निम्न गीत उनकी घृणापूर्ण स्थिति को प्रकट कर देना है—

पिकदानो चपरगट्टू है बस नाम हमारा।
इक मुफ्त का खाना है सदा काम हमारा॥
उमरा जो कहे रात तो हम चाँद दिखा दे।
रहता है सिफारिश से भरा जाम हमारा॥
कपड़ा किसी का खाना कहीं सोना किसी जा।
गैरों ही से है सारा सरजाम हमारा॥
हो रंज जहाँ पास न जाएँ कभी उसके।
आराम जहाँ हो, है वहाँ काम हमारा॥
जर दीन है कुरआन है ईमाँ है नबी है।
जर ही मेरा अल्लाह है जर राम हमारा॥[1]

अमीर अब्दुलशरीफ खाँ के आदमी धोखे से राजा सूर्यदेव को पकड़ लाते है। उनका इस्लाम को छल-बल से फैलाने का दावा, अत्याचार, अधर्मपूर्ण युद्धनीति, विलासिता आदि सब दुर्गुण उनके प्रति घृणा को उद्दीप्त करते है। अपने अत्याचारों के बल पर इस्लाम का डंका बजाने वाले और सफलता के लिए खुदा का शुक्र बजा लाने वाले काजी और सर्दार हमारी घृणा के ही पात्र बनते है—

काजी—खाली किया इक आन मे दैरों को सनम से, शमशीर दिखाके,
बुतखान. गिरा करके हरम तूने बनाया।
सब—अलहम्द उलिल्लाह।
काजी—इस हिंद से सब दूर हुई कुफ्र की जुल्मत, की तूने वह रहमत,
नक्कारए ईमां को हरेक सिम्त बजाया।
सब—अलहम्द उलिल्लाह।[2]

राजा सूर्यदेव को असहाय अवस्था में यवनों की कैद में मूर्च्छित पड़ा देखकर एक देवता भारतवासियों की असमर्थता, आलस्य, स्वाभिमानहीनता, कायरता, विदेशियो की चापलूसी आदि बुराइयों की भर्त्सना करता हुआ कहता है—

तजि सुपथ सबहि जन करिहै कुपथ विलासा।
अब तजहु बीर-बर भारत की सब आसा॥
अपनी वस्तुन कहं लखिहै सबहि पराई।
निज चाल छोड़ि गहिहैं औरन की धाई॥

---

१. भारतेन्दु ग्रथावली, पृ० ५२६ (प्रथम संस्करण)।
२. वही पृ० ५३०।

तुरकन हित करिहैं हिन्दू संग लराई।
यवनन के चरनहिं रहिहै सीस चढ़ाई ॥
तजि निज कुल करिहै नीचन संग निवासा।
अब तजहु बीर-बर भारत की सब आसा ॥

पागल बना हुआ बसंत अत्याचारी, दुष्ट धर्मान्ध यवनों के प्रति घृणा से भरे उद्गार ही निकालता है—

पागल—"मार मार मार—और मार दे मार—जाय न जाय न—दुष्ट चाण्डाल गोभक्षी जवन—अरे हाँ रे जवन लाल दाढ़ी का जवन—बिना चोटी का जवन—हमारा सत्यानाश कर डाला। हमारा हमारा हमारा। इसी ने इसी ने-लेना, जाने न पावे। दुष्ट मलेच्छ—हूँ ! हम को राजा बनावेगा। छत्र-चवर मुरछल सिंहासन सब—पर जवन का दिया—मार मार मार—शस्त्र न हो तो मंत्र से मार। मार मार मार। ...टूटी से मार। ढेले से मार। हाथ से मार। मुक्का जूता लात लाठी सोटा ईंट पत्थर—पानी सब से मार।"[१]

मुसलमानों के अत्याचार और राजा सूर्यदेव की वीरता के वृत्तांत सुनाता हुआ बसंत (पागल बना हुआ) कहता है—"कल उन दुष्ट यवनों ने महाराज से कहा कि तुम जो मुसलमान हो जाओ तो हम तुमको अब भी छोड़ दें। इस समय वह दुष्ट अमीर भी वहाँ खड़ा था। महाराज ने लोहे के पिंजड़े में से उसके मुँह पर थूक दिया, और क्रोध करके कहा कि दुष्ट ! हमको पिंजड़े में बंद और परवश जानकर ऐसी बात कहता है ! क्षत्री कहीं प्राण के भय से दीनता स्वीकार करते हैं ! तुझ पर थू और तेरे मत पर थू।"[२]

स्पष्ट है कि यहाँ बीभत्स रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। आक्रमणकारी धर्मान्ध अत्याचारी अमीर शरीफ और उसके मुसाहिब-सर्दार तथा काजी आलम्बन हैं। उनका धोखे से राजा सूर्यदेव को पकड़ लेना, धर्म-परिवर्तन के लिए कहना, गोभक्षी होना उद्दीपन है, 'पागल' के वाचिक अनुभाव तथा राजा सूर्यदेव का अमीर पर घृणा से थूक देना, थू-थू करना, धिक्कारना-फटकारना आदि अनुभाव हैं और क्रोध, क्षोभ, गर्व, शोक आदि संचारी भी स्पष्ट हैं। जब नीलदेवी गायिका के वेश में यवन अमीर के पेट में छुरा मार कर उसे ठण्डा कर देती है, तब हमारी घृणा को तोष मिलता है। इस प्रकार इस नाटक में बीभत्स रस का खूब प्रसार पाया जाता है।

'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटक में श्मशान के दृश्य को बीभत्स रस का उदाहरण बताने की परम्परा बहुत पुरानी है। परन्तु जैसाकि हम पहले भी निवेदन कर चुके हैं, श्मशान के ऐसे दृश्य शारीरिक ग्लानि से ही सम्बन्ध रखते हैं, और 'सत्य-

---

१ वही, पृ० ५२२।
२ वही, पृ० ५२५

हरिश्चन्द्र' में ये वर्णन शांत रस के ही सहायक प्रतीत होते है। भारतेन्दु जी के सत्यहरिश्चन्द्र मे भी राजा हरिश्चन्द्र श्मशान के दृश्य से शोक, वैराग्य और ग्लानि का ही अनुभव करते है—"हाय-हाय! कैसा भयंकर श्मशान है! दूर से मंडल बाँध-बाँध कर चोंच बाए, डैना फैलाए, कगालों की तरह मुर्दों पर गिद्ध कैसे गिरते है, और कैसा मास नोच-नोच कर आपस मे लडने और चिल्लाते है। ··चट-चट करती चिताएं कैसी जल रही हैं, जिनमें कही मे माँस के टुकडे उड़ते है, कही लोहू व चरबी बहती है।···अहा! देखो वही सिर, जिस पर मत्र से अभिषेक होता था, कभी नवरत्न का मुकुट रखा जाता था, जिसमें इतना अभिमान था कि इन्द्र को भी तुच्छ गिनता था, आज पिशाचो का गेंद बना है और लोग उसे पैर से छूने में भी घिन करते हैं।"[१]

युद्ध और श्मशान-भूमियों मे पिशाचों की क्रीड़ा का वर्णन भी कवि-परम्परा मे प्रचलित रहा है। परन्तु हम पहले ही निवेदन कर चुके है कि इस प्रकार के वर्णन विशेष काव्योपयोगिता नही रखते। वर्तमान बौद्धिक युग के पाठक को तो ये वर्णन हास्यास्पद ही प्रतीत होते हैं। 'सत्यहरिश्चन्द्र' मे पिशाच और डाकिनीगण का आमोद इस प्रकार प्रकट किया गया है—

पि०—हम कड कड कड़ कड कड कड़ हड्डी को तोड़ेगे।
हम भड़ भड धड धड़ पड पड सिर सबका फोडेगे॥
डा०—हम घुट घुट घुट घुट घुट घुट लोहू पिलावेगी।
हम चट चट चट चट चट चट ताली बजावेंगी॥[२]

इसमें सन्देह नही कि पिशाचो-भूतों का यह वर्णन जुगुप्साकारक है, पर इससे हमारी मानसिक घृणा का कम ही सम्बन्ध है। इनके इस बीभत्स वर्णन को भयानक और बीभत्स रसों के उदाहरण-स्वरूप उपस्थित किया जाता है, पर हमने इनसे मानसिक घृणा की सिद्धि कम ही मानी है। राजा हरिश्चन्द्र इस दृश्य को देखते हुए कहते है—'अहा! यह कैसे काले-काले झाडू से सिर के बाल खडे किए लम्बे-लम्बे हाथ-पैर, विकराल दाँत, लम्बी जीभ निकाले इधर-उधर दौडते और परस्पर किलकारी मारते है, मानो भयानक रस की सेना मूर्तिमान होकर यहाँ स्वच्छन्द विहार कर रही है। हाय-हाय! इनका खेल और सहज व्यौहार भी कैसा भयकर है। कोई कटाकट हड्डी चबा रहा है, कोई खोपड़ियो मे लहू भर-भर करके पीता है, कोई सिर का गेंद बना कर खेलता है, कोई अन्तडी निकाल गले मे डाले है और चन्दन की भाँति चरबी और लहू शरीर मे पोत रहा है, एक दूसरे से माँस छीन कर ले भागता है··।"[३]

'प्रेमजोगिनी' मे काशी के निठल्ले, दुश्चरित्र, मद्यप और आलसी पंडों,

---

१ भारतेन्दु ग्रंथावली पृ० २९५ २९७
२ वही पृ० २९९
३ वही, पृ० ३००

पुरोहितों तथा दुश्चरित्र व्यक्तियों के प्रति घृणा जगाई गई है। काशी की दुर्दशा की निन्दा करता हुआ एक परदेशी कहता है—

देखी तुमरी कासी, लोगो, देखी तुमरी कासी।
... ...
आधी कासी भाड-भडेरिया ब्राह्मण औ संन्यासी।
आधी कासी रंडी मुंडी रॉड खानगी खासी॥
लोग निकम्मे भंगी गजड लुच्चे बे-बिसवासी।
महा आलसी झूठे शुहदे बे-फिकरे बदमासी॥
आप काम कुछ कभी करैं नहीं कोरे रहैं उपासी।
और करे तो हँसैं बनावैं उसको सत्यानासी॥
... ...
साहब के घर दौडे जावैं चंदा देहिं निकासी।
चढ़ै बुखार नाम मदिर का सुनतहि होय उदासी॥
घर की जोरू लडके भूखे बने दास औ दासी।
दाल की मडी रंडी पूजैं मानो इनकी मासी॥[1]

शेक्सपियर के 'मर्चेंट ऑव वेनिस' का रूपान्तर '**दुर्लभ बंधु**' भी बीभत्स रसकी पर्याप्त सामग्री प्रदान करता है। इसमे सूदखोर शैलाक्ष हमारी तीव्र घृणा का पात्र बनता है। इस अर्थ-पिशाच से इसकी पुत्री जसोदा और इसका नौकर गोप तक घृणा करते है। रुपये की तुलना मे यह दया-धर्म, पुत्र-पुत्री, मान-सम्मान आदि सबको तुच्छ समझता है। भारी सूद पर रुपया उधार देता है। वह महाकजूस है, अपने नौकर को खाने तक को नही देता। गोप कहता है—'मेरा स्वामी पूरा जैन है। उसे भेंट दोगे! हुँह, उसे फाँसी दो। मैं उसकी नौकरी में भूखों मरता हूँ—नेक मेरी दशा तो देखो कि कोई चाहे तो मेरी नसों की हर एक अँगुली को गिन ले।'''बाबा यदि अब मैं एकदम भी जैन की नौकरी करूँ तो मैं उससे अधम।"[2] इसी प्रकार शैलाक्ष की पुत्री जसोदा अपने पिता और उसके घर से घोर घृणा करती है—

जसोदा—(गोप से) मुझे खेद है कि तू मेरे बाप की नौकरी छोड़ता है। यह घर मुझे नरक-समान लगता है, पर तुझ ऐसे हँसमुख के कारण थोड़ा-बहुत जी बहल जाता था। अच्छा विदा हो सुहृद गोप! हाय! मेरे लिए कैसे यह पाप की बात है कि मैं अपने बाप की लड़की होने से लज्जित होऊँ! परन्तु यद्यपि मैं उसके रक्त से उत्पन्न हूँ, पर मेरा चित्त उसका-सा नही है।"[3]

---

१. वही, पृ० ३३३-३३४।
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ५७४।
३ वही, पृ० ५७६।

जसोदा अपने प्रेमी लवंग के साथ भाग जाती है और अपने साथ कुछ धन भी ले जाती है। शैलाक्ष को लडकी से अधिक अशरफ़ियों और रत्नो के जाने का दुख है। वह 'मेरी अशरफियाँ, मेरी अशरफियाँ !' चिल्लाता है। उसके घृणोत्पादक शब्द सुनिए—"अच्छा होता कि मेरी लडकी मेरी आँखो के सामने मर गई होती और वह रत्न उसके शरीर पर होते। अच्छा होता कि उसका शव मेरे पाँवो के नीचे गडता और अशरफियाँ उसके कफ़न मे होतीं ! उनका कुछ पता नही लगा ? यही परिणाम हमारे प्रयत्नो का है और विदित नही कि इस खोज मे कितना व्यय पड़ा, हाय यह हानि पर हानि !"[१]

अनत से बदला लेने के लिए वह क्रूर उसे रुपये उधार देकर उसके प्राणों का ग्राहक बन जाता है। वह तमस्सुक की शर्त के अनुसार अवधि पर रुपया न लौटा सकने के कारण अनत के शरीर से आध सेर माँस काटने पर तुल जाता है। अनत भगवान् का वास्ता देता है, पर उसके पास तो दया-धर्म नाम की कोई वस्तु नही, केवल तमस्सुक से ही उसे काम हे। वह कहता भी है, "मुझे अपने तमस्सुक से काम है, मैं कदापि तुम्हारी बात न सुनूँगा, मुझे केवल अपने तमस्सुक से काम है, ..."

सलारन—मनुष्य की आकृति मे ऐसा पाषाणहृदय कुत्ता काहे को निकलेगा।'

आखिर वह किसी की नही सुनता, और अनत के शरीर से माँस काटने के लिए अपनी छुरी तेज करता है। गिरीश उस निर्दयी को फटकारता हुआ कहता है—

गिरीश—अरे निर्दयी जैनी, तू अपनी जूती के तल्ले पर छुरी को क्यो तेज करता है, तेरा पाषाण-तुल्य हृदय तो प्रस्तुत ही है। पर कोई शस्त्र यहाँ तक कि बधिक की तलवार भी तेरी शत्रुता के वेग को नही पहुँच सकती। क्या तुझ पर किसी की बिनती काम नहीं आती ?

शैलाक्ष—नही, एक की भी नही, जो तू अपनी बुद्धि से गढ सकता हो।

गिरीश—हा ! ओ कठोर कुत्ते, ईश्वर तेरा बुरा करे, यह केवल न्याय का दोष है जिसने अब तक तुझे जीता रख छोड़ा है, तूने तो आज मेरे धर्म मे बट्टा लगा दिया, क्योकि तेरे लक्षणों को देखकर मुझे गोरक्ष के इस विचार को कि पशुओं की आत्मा मनुष्य के शरीर मे प्रवेश करती है, मानना पडा। तेरी हिंसक आत्मा एक भेड़िए की छाया में थी जो कितने मनुष्यो के जीव-वध के लिए सूली चढ़ा दिया गया था। इस अवस्था को पहुँचने पर भी उस नारकी आत्मा को तोष न हुआ और वहाँ से भाग कर जिस समय तू अपनी माता के अपवित्र गर्भ मे था, तुझ में पैठ गई, क्योंकि तेरा मनोरथ भी भेड़ियों की भाँति घातक हिंसक है।"[२]

---

१. वही, पृ० ६०० ।

२. वही, पृ० ६२७-६२८ ।

इस प्रकार शैलाक्ष का आचरण इस नाटक में घृणा का विषय है। उसके आलम्बनत्व से बीभत्स रस की पूर्ण सामग्री यहाँ प्राप्त होती है। भारतेन्दु और उनके मण्डल के लेखकों के प्रहसनो मे भी हास्य रस के माध्यम से तत्कालीन बुराइयों और सरकार की काली करतूतों के प्रति घृणा उत्पन्न की गई है। 'अंधेरनगरी' मे चूरनवाला अपनी व्यंग्योक्तियों में ऐसी ही फब्तियाँ कसता हुआ कहता है—

चूरन अमले सब जो खावें। दूनी रिशवत तुरत पचावें॥
चूरन सभी महाजन खाते। जिससे जमा हजम कर जाते॥
चूरन साहब लोग जो खाता। सारा हिन्द हजम कर जाता॥
चूरन पुलिसवाले खाते। सब कानून हजम कर जाते॥[१]

यहाँ घृणा हास्यरस का सचारी ही है। ब्राह्मण की निम्न स्वीकारोक्ति मे घृणा का ही रूप स्पष्ट है, इसमें हास्य बीभत्स रस का संचारी बना हुआ है—

जातवाला (ब्राह्मण)—जात ले जात, टके सेर जात। एक टका दो हम अभी अपनी जात बेचते है। ... टके के वास्ते झूठ को सच करे। टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान, टके के वास्ते हिन्दू से क्रिस्तान। टके के वास्ते धर्म और प्रतिष्ठा दोनो बेचे, टके के वास्ते झूठी गवाही दे। टके के वास्ते पाप को पुण्य मानें, टके के वास्ते नीच को भी पितामह बनावे। बेद, धर्म, कुल-मर्यादा, सचाई-बड़ाई सब टके सेर।"[२]

भारतेन्दु काल के अन्य नाटको मे भी बीभत्स रस की प्रचुर सामग्री मिलती है। बालकृष्ण भट्ट के पौराणिक नाटक 'वेणु-सहार' मे राजा वेणु हमारी घृणा का आलम्बन है। उसके अत्याचारो से प्रजा दुखी है। भट्ट जी ने वेणु के खुशामदियो और बुरे सभासदों का ऐसा चित्रण किया है कि ब्रिटिश राज्य के खुशामदियों की ओर सकेत स्पष्ट प्रतीत होता है। प्रथम अंक के प्रथम गर्भांक की ये पक्तियाँ खिताब प्राप्त करने वाले अंग्रेजों के पिट्ठुओ की ओर लक्ष्य रखती है—

जे छूंछे खिताब को लोभी करैं जाति अपमान।
स्वारथ-वश नित करैं खुशामद त्यागि देश-अभिमान॥

देश-काल का ध्यान छोड़कर लेखक ने कोट-पैंट पहनने वाले साहब लोगों की आवारगी को भी अपनी घृणा का विषय बनाना चाहा है, परन्तु देश-काल के अनौचित्य से यहाँ रस-व्याघात ही हुआ है। ये पक्तियाँ पौराणिक युग के स्थान पर आधुनिक युग का ही चित्र प्रस्तुत करती है—

बनें साहब पहन कर कोट पतलून,
मजा इसमे बड़ा है जिन्दगी का।

---

१. वही, पृ० ६६२।
२ वही, पृ० ६६३

है कोरे अक्ल के बेदुम के टट्टू,
हुए ऐसे नए फैशन पे लट्टू।

फिर भी राजा वेणु के प्रति तीव्र घृणा जगती है। ऋषियों द्वारा वेणु के लिए मरण-मंत्र का प्रयोग घृणित वस्तु को समाप्त करने का ही प्रयत्न है।

श्री राधाचरण गोस्वामी के 'सती चन्द्रावली' नाटक मे औरंगजेब और उसका पुत्र शाहजादा अशरफ हमारी घृणा के पात्र है। शाहजादा अशरफ़ हिन्दू युवती चन्द्रावली को जबरदस्ती उठा ले जाता है। दुष्ट पुत्र का दुष्ट पिता औरंगजेब भी चन्द्रावली को मुक्त करने से जवाब दे देता है। ऐसे अत्याचारी शासक के सामने हिन्दू जनता की प्रार्थना व्यर्थ जाती है। औरंगजेब हिन्दुओं पर अनेक अत्याचार ढाता है। चन्द्रावली को अपना सतीत्व रखने के लिए अग्नि मे प्रवेश लेना पड़ता है। वह भस्म होकर सती का गौरव पाती है।

पारसी नाटक-मण्डलियों के लिए जो नाटक लिखे जाते थे, उनमें भी व्यक्ति-चरित्रों के रूप मे यत्र-तत्र बीभत्स रस की सामग्री पाई जाती है। जैसे 'रूप-बसंत' मे रानी का घृणित चरित्र और रूप-बसंत के प्रति अत्याचार हमारी घृणा का विषय बनता है।

प्रसाद जी के नाटकों में बीभत्स रस

भारतेन्दु के पश्चात् मन्द होती हुई हिन्दी नाटक-परम्परा को नई ज्योति प्रदान करने का श्रेय श्री जयशंकर प्रसाद को है। प्रसाद जी ने कई सुन्दर ऐतिहासिक नाटकों की रचना की। इनके ऐतिहासिक नाटकों मे विदेशी आक्रमणकारियों, अत्याचारी शासकों, घृणित व्यक्ति-चरित्रों तथा पाखण्डी धर्म-ध्वजियों के प्रति उत्कट घृणा उत्पन्न होती है। 'राज्यश्री', 'अजातशत्रु', 'स्कंदगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' आदि नाटकों मे षड्यन्त्र, विद्रोह, छल-कपट, राष्ट्र-द्रोह, हत्या, रक्तपात, धार्मिक विद्वेष, स्वार्थपरता आदि की विद्यमानता बीभत्स रस की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करती है। आरंभिक एकांकी-रूपक 'प्रायश्चित्त' मे जयचन्द की आत्म-ग्लानि प्रकट की गई है। ऐतिहासिक परम्परा से भिन्न रूप मे प्रसाद जी ने इसमे जयचन्द को अपने कुकर्मों पर पश्चात्ताप करते तथा गंगा मे डूब मरते दिखाया है। यद्यपि जयचन्द की यह अन्तिम परिणति प्रसाद जी की कल्पना द्वारा ही प्रसूत हुई है और ऐतिहासिक परम्परा के विरुद्ध है, तथापि इससे आत्मग्लानि के रूप मे बीभत्स रस की सिद्धि अवश्य हुई है।

'राज्यश्री' मे मालवराज देवगुप्त तथा भिक्षु शांतिदेव विशेष रूप से हमारी घृणा के पात्र हैं देवगुप्त कामी और है वह सुरमा मालिन तथा राज्यश्री के प्रति लोलुप दृष्टि रखता है और राज्यश्री को हस्तगत करने के लिए

छल-बल का प्रयोग करता है। दुर्ग पर अधिकार जमाकर वह सुरमा को तो अपनी 'नई रानी' बना ही लेता है और राज्यश्री पर इस प्रकार डोरे डालता है :

देव०—राज्यश्री ! अपनी इन दासियो को मना करो। मै तुमसे बात करना चाहता हूँ।

राज्यश्री—तुम देवगुप्त ? मुझ से बात करने के अधिकारी नही हो—मैं तुम्हारी दासी नहीं हूँ। एक निर्लज्ज प्रवचक का इतना साहस !

देव०—सुन्दरी !

राज्यश्री—बस मैं सचेत हूँ देवगुप्त ! मुझे अपने प्राणो पर अधिकार है ! मैं तुम्हारा बध न कर सकी, तो क्या अपने प्राण भी नही दे सकती ?

देव०—तब तुम इस राज-मन्दिर को बन्दीगृह बनाना चाहती हो ?

राज्यश्री—नरक मे रहना हो सो भी अच्छा !"[1]

इस प्रकार राज्यश्री कामुक देवगुप्त को फटकार देती है। अन्त मे राज्यवर्धन और उसके सैनिक उसकी खबर लेते है। कन्नौज के दुर्ग से उसका अधिकार समाप्त हो जाता है और राज्यवर्धन से युद्ध करता हुआ वह मारा जाता है।

भिक्षु बना हुआ रगा-स्यार शातिदेव भी अपने दुश्चरित्र से हमारी घृणा जगाता है। वह भी लोलुप-कामी है। राज्यश्री और सुरमा दोनों पर उसकी भी दृष्टि है। वह अपने स्वार्थ, कामुकता और धन-लोभ के लिए दस्यु बन जाता है। वह निर्दय हत्यारा बनता है ! महाकुमार राज्यवर्धन के बध का जघन्य कार्य उसके पतन की पराकाष्ठा है। धन के लोभ से वह महाश्रमण पर घातक आक्रमण करता है। वह सुएनच्वाग से कहता है—"या तो धन दे या रक्त। जो मुझे धन नही देता, उसे मेरी देवी को रक्त देना पडता है।"

सुएन०—रक्त से किसकी प्यास बुझती है, जानते हो ?—पिशाचो, पशुओ की तुम तो मनुष्य हो।"[2]

अन्त में वह पकडा जाता है और अपने कुकर्मो पर पश्चात्ताप करता हुआ कहता है—"मेरे वध की आज्ञा दीजिए। ओह ! प्राण जल रहे हैं। रोम-रोम से चिंगारियाँ निकल रही है······दण्ड ! दण्ड ! हे भगवान् !"

इस प्रकार इस नाटक मे बीभत्स रस की पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। प्रसाद जी के प्राय. सभी नाटको में बौद्ध-भिक्षुओं के पतन की कहानी का आभास मिलता है। 'राज्यश्री' का शातिदेव, 'विशाख' के सत्यशील तथा अन्य भिक्षु, 'स्कदगुप्त' का प्रपचबुद्धि आदि ऐसे ही पतित भिक्षु है, जिनके कारण बौद्ध धर्म का ह्रास हुआ। 'विशाख' में तो बौद्ध विहारों और भिक्षुओ के पतन की विस्तृत कहानी है। "कानीर

---

१ राज्यश्री (८सवाँ संस्करण सं० २०१८ वि०)- पृ० ३८।

२ वही पृ० ६१

विहार का बौद्ध महन्त जिसे राज्य की ओर से बहुत-सी सम्पत्ति मिलती है, प्रमादी हो गया है। दीन-दुखियों की कुछ नही सुनता। मोटे निठल्लों को एकत्र करके विहार में विहार कर रहा है। एक दरिद्र नाग की कन्या को अकारण पकड़कर अपने मठ मे बन्द कर रखा है। उसका वृद्ध पिता दुखी होकर द्वार-द्वार विलाप कर रहा है।''[१] सत्यशील एक कामुक स्थविर है। उसे फटकारता हुआ तथा समस्त बौद्ध विहारो के नाश का आदेश देता हुआ राजा नरदेव कहता है—''किन्तु सत्यशील, तुम तो अधम कीट हो। तुम्हारे लिए यही दण्ड है कि तुम लोगो का अस्तित्व पृथ्वी पर से उठा दिया जाय, नही तो तुम लोग बड़ा अन्याय फैलाओगे। सेनापति, सब विहारों को राज्य भर में जलवा दो।''[२] इसमे प्रायः सब भिक्षुओ का चरित्र घृणा उत्पन्न करता है। एक भिक्षु धन उड़ाने के लिए 'इचिलु मिचिलु खिचिलु बयुजारे श्वयुनश्वे खिचिटि-खिचिटि फट्' आदि मंत्र-जाप का ढोंग रचता है और एक नारी तरला के समस्त आभूषणों को चुरा कर भाग जाता है।

इस नाटक में पहले राजा नरदेव भी अपने अत्याचारो से हमारी घृणा का पात्र बनता है। वह नाग जाति की स्त्री चन्द्रलेखा का उपभोग करना चाहता है और छल-बल से उसका अपहरण भी कर लेता है। किन्तु बाद मे उसका हृदय-परिवर्तन हो जाता है, तब वह आत्मग्लानि की अग्नि मे जलता हुआ आत्मभर्त्सना करता है। तृतीय अंक मे वह चन्द्रलेखा से भी क्षमा-याचना करता है। 'हाय-हाय! मैंने क्या किया, एक पिशाच-ग्रस्त मनुष्य की तरह मैंने प्रमाद की धारा बहा दी'—इस प्रकार पश्चात्ताप की अग्नि में जलकर वह शुद्ध हो जाता है। आत्मग्लानि के रूप मे बीभत्स रस का यहाँ सुन्दर प्रकाशन हुआ है।

'अजातशत्रु' मे देवदत्त, मागन्धी, विरुद्धक आदि पात्र अपने षड्यन्त्रो तथा कुचक्रों के कारण हमारी घृणा जगाते है। देवदत्त गौतम से ईर्ष्या करता है, गौतम का प्रतिद्वन्द्वी बनकर वह उसके विरुद्ध प्रचार करता है। गौतम को मस्त हाथी से मरवाने का षड्यन्त्र रचता है तथा चंचा नामक वेश्या के साथ विलास और श्यामा की हत्या का लाञ्छन लगा कर गौतम को बदनाम करना चाहता है। वह अजातशत्रु को भी कुमार्ग पर चलाता है। उसके सब आचरण घृणोत्पादक ही है। इसी प्रकार आरम्भ से ही उद्धत, नृशंस, अपने पिता बिम्बसार और विमाता वासवी को कैद कर लेने वाला मूर्ख अजातशत्रु भी आरम्भ मे हमारी घृणा का ही पात्र बनता है। रूप की गर्वीली, महत्त्वाकांक्षा और प्रतिशोध की पुतली मागन्धी भी हमारी घृणा का ही आलम्बन बनती है। वह भी छल-प्रपंच मे पटु है। पद्मावती को अपने षड्यन्त्र से लांछित करती-करती वह स्वयं ही अपने कुचक्र में फँस जाती है किन्तु बड़ी कुशलता

से महल में आग लगाकर भाग निकलती है और श्यामा वेश्या बन जाती है। उसका यह छल-छद्म आरम्भ में उसके प्रति घृणा ही जगाता है। बाद में वह अपना कुत्सित आचरण सुधार लेती है। महात्मा बुद्ध और उनकी प्रेरणा से मल्लिका आदि की करुणा, ममता और अहिंसा की मन्दाकिनी से सभी पात्रों की क्षुद्रता विगलित होकर बह जाती है। इस प्रकार आत्मग्लानि के रूप मे भी बीभत्स रस का प्रकाशन हुआ है। करुणा-विगलित हृदय की कोमल भर्त्सना के रूप मे बीभत्स रस का उदाहरण मल्लिका की निम्न उक्ति मे देखिये। वह राजकुमार विरुद्धक को मीठी फटकार देती हुई कहती है—'राजकुमार! तुम्हारा कलकी जीवन भी बचाना मैंने अपना धर्म समझा। और यह मेरी विश्वमैत्री की परीक्षा थी।''''विरुद्धक, तुम्हारा रक्त-कलुषित हाथ मैं छू भी नही सकती। तुमने कपिलवस्तु के निरीह प्राणियों का, किसी की भूल पर, निर्दयता से बध किया, तुमने पिता से विद्रोह किया, विश्वासघात किया, एक वीर को छल से मार डाला और अपने देश के, जन्मभूमि के विरुद्ध अस्त्र-ग्रहण किया। तुम्हारे-ऐसा नीच और कौन होगा? किन्तु यह सब जानकर भी मैं तुम्हे रणक्षेत्र से सेवा के लिए उठा लाई।'''तुम इसलिए नही बचाए गये कि फिर भी एक विरक्त नारी पर बलात्कार और लम्पटता का अभिनय करो। जीवन इसलिए मिला है कि पिछले कुकर्मों का प्रायश्चित्त करो। अपने को सुधारो।"[1]

अपनी भूल पर पछताती हुई छलना धूर्त देवदत्त को इस प्रकार फटकारती है—पाखड! जब तूने धर्म के नाम पर उत्तेजित करके मुझे कुशिक्षा दी, तब मैं भूल मे थी। गौतम को कलकित करने के लिए कौन श्रावस्ती गया था? और किसने मतवाला हाथी दौड़ा कर उनके प्राण लेने की चेष्टा की थी? ओह! मैं किस भ्राति मे थी! जी चाहता है कि इस नर-पिशाच-मूर्त्ति को अभी मिट्टी मे मिला दूँ! प्रतिहारी!"[2]

'जनमेजय का नाग-यज्ञ' मे अत्याचारी तक्षक और काश्यप-जैसे अर्थ-लोलुप पाखडी ब्राह्मण पुरोहित हमारी घृणा के आलम्बन है। इस नाटक में प्रसाद जी ने लोभी, व्यभिचारी और दुश्चरित्र पाखण्डी पुरोहितों के पतन की ओर ध्यान आकर्षित किया है। ऐसे धर्म के ठेकेदार बने हुए पापाचारी पण्डे-पुरोहितों की घृणापूर्ण स्थिति प्रसाद जी के युग अर्थात् आधुनिक युग की भी एक बड़ी समस्या मानी जा सकती है। इस नाटक में काश्यप का चरित्र अत्यन्त घृणित है। वह पूर्ण स्वार्थी, लोभी, अर्थ-लोलुप और ईर्ष्यालु ब्राह्मण है। वह दूसरे ब्राह्मणो का राजा-द्वारा सम्मान तथा आर्थिक सहायता प्राप्त करना सहन नही कर सकता। ईर्ष्या से जलकर वह उत्तंक को मिले मणिकुण्डल को छल-बल से छीनना चाहता है। इसके लिए वह अनार्यों (नागों)

---

१ (तिरसठवाँ २००८ वि०), पृ० ११६ १२०।
२ वही, पृ० २०६

से मिलने मे भी कोई संकोच नहीं करता। वह इतना पतित हो जाता है कि शत्रु अनार्यो के साथ मिलकर राजा जनमेजय की स्त्री वपुष्टमा के अपहरण का षड्यन्त्र भी रचता है। ऐसे कुत्सित कुकर्मी पुरोहितों की भर्त्सना करता हुआ ही जनमेजय उन्हे देश से निर्वासित कर देता है—'तुम सरीखे पुरोहितो की अब इस देश मे आवश्यकता नही। जाओ, तुम सब निर्वासित हो।'

'चन्द्रगुप्त' मे देशद्रोही आम्भीक, विदेशी आक्रमणकारी सिकन्दर और सिल्यूकस, विलासी नृशंस राजा नन्द तथा चरित्रहीन फिलिप्स हमारी घृणा के पात्र बनते है। आम्भीक विदेशी सिकन्दर से उत्कोच लेकर उसके लिए भारत-प्रवेश का द्वार खोल देता है। सिंहरण उसे फटकारता हुआ कहता है—'हा, हाँ, रहस्य है! यवन-आक्रमणकारियों के पुष्कल स्वर्ण से पुलकित होकर, आर्यावर्त्त की सुख-रजनी की शांतिनिद्रा मे उत्तरापथ की अर्गला धीरे से खोल देने का रहस्य है।'[1] यही देश-द्रोही आम्भीक बाद मे अपने कुकृत्य पर पछताता है, तथा आत्मग्लानि से भर देश की बलि-वेदी पर प्राण न्यौछावर कर देता है। फिलिप्स जब कार्नेलिया के साथ दुष्टतापूर्ण व्यवहार करना चाहता है, तो हमारी घृणा का पात्र बनता है। 'वह कार्नेलिया का हाथ पकडना चाहता है। वह चिल्लाती है—रक्षा करो! रक्षा करो!—चन्द्रगुप्त प्रवेश करके फिलिप्स की गर्दन पकड कर दबाता है। वह गिरकर क्षमा मांगता है, चन्द्रगुप्त छोड़ देता है।' नृशंस, विलासी, प्रजागामी राजा नन्द का घृणित चरित्र भी नाटक मे बीभत्स रस की सामग्री प्रकट करता है। वह अपने विलास-कानन मे 'सुन्दरियों के कुटिल कटाक्षो' मे ही मग्न रहता है। सुरा-सुन्दरी मे अन्धा हुआ वह देश के भावी सकट को भी नहीं देख पाता। वह राक्षस की धरोहर सुवासिनी पर भी बलात्कार करना चाहता है।

इस प्रकार के दुश्चरित्र मद्यप, विलासी राजा की उसके नागरिक भी निन्दा करते हैं। एक ब्रह्मचारी कहता है—'मगध को उन्माद हो गया है। वह जनसाधारण के अधिकार अत्याचारियो के हाथ मे देकर विलासिता का स्वप्न देख रहा है।' नन्द के अत्याचारों की कहानी अत्यन्त बीभत्स और परिणाम मे अत्यन्त कारुणिक है। वह शकटार और उसके पुत्रो को अन्धकूप मे डाल देता है। सेनापति मौर्य, वररुचि तथा अन्य अनेक मंत्रियों और नागरिको का उत्पीडन करता है—उन्हे कारागार मे ठोस देता है। शकटार के निरपराध सातों पुत्र नन्द की निष्ठुरता का शिकार होते हैं। अत्याचारो से पीडित जनता विद्रोह कर उठती है। चाणक्य, चन्द्रगुप्त, वररुचि, मौर्य, शकटार आदि सब जनता के सामने राजा नन्द से उसके कुकृत्यो का हिसाब लेते हैं—

चाणक्य—(राजसिंहासन के पास जाकर) नन्द! तुम्हारे ऊपर इतने

---

१. चन्द्रगुप्त, प्रथम अंक, प्रथम दृश्य (पृ० ५७)।

अभियोग है—महापद्म की हत्या, शकटार को बन्दी करना, उसके सातो पुत्रो को भूख से तड़पा कर मारना। सेनापति मौर्य की हत्या का उद्योग, उसकी स्त्री को और वररुचि को बन्दी बनाना। कितनी ही कुलीन कुमारियो का सतीत्व-नाश, नगर भर मे व्यभिचार का स्रोत बहाना! ब्रह्मस्व और अनाथो की वृत्तियो का अपहरण! अन्त मे सुवासिनी पर अत्याचार—शकटार की एकमात्र बची हुई सन्तान, सुवासिनी, जिसे तुम अपनी घृणित पाशव-वृत्ति का . ।

नागरिक—(बीच मे रोक कर हल्ला मचाते हुए)—पर्याप्त है! यह पिशाच-लीला और सुनने की आवश्यकता नही, सब प्रमाण यहाँ उपस्थित है।" (वध करो! हत्या करो!'—का आतंक फैलता है)।"[1]

इस प्रकार 'चन्द्रगुप्त' नाटक मे घृणा स्थायी भाव जगने और उद्दीप्त होने की कई परिस्थितियाँ पाई जाती है। घृणित पात्रो के कुकर्मों से बीभत्स रस का इसमे सुन्दर परिपाक हुआ है।

'स्कंदगुप्त' मे पुरगुप्त को उत्तराधिकार दिलाने मे षड्यन्त्र रचने वाले भटार्क, पुरगुप्त और उसकी माता अनन्तदेवी हमारी घृणा के ही पात्र बनते है। परम योग्य और वास्तविक उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त को राज्याधिकार से वंचित करने वाले ये सब हमारी घृणा जगाते है। उद्धत पुरगुप्त को सुनाता हुआ पृथ्वीसेन कहता है—'कुमार! तुम्हारे दुर्बल और अत्याचारी हाथो मे गुप्त-साम्राज्य का राजदण्ड टिकेगा नहीं। संभवत तुम साम्राज्य पर विपत्ति का आवाहन करोगे।'

अत्याचारी हूण हमारी उत्कट घृणा के आलम्बन हैं। हूण सैनिक निरीह नागरिको को उत्पीडित करते है, लूटते है, अपमानित करते है :

नागरिक—हम निरीह प्रजा है। हम लोगो के पास क्या रह गया जो आप लोगों को दे? सैनिकों ने तो पहले ही लूट लिया है।

हूण-सेनापति—तुम लोग बाते बनाना खूब जानते हो। अपना छिपा हुआ धन देकर प्राण बचाना हो तो शीघ्रता करो, नही तो गरम किये हुए लोहे प्रस्तुत है—कोडे और तेल मे तर कपड़े भी। उस कष्ट का स्मरण करो।

नागरिक—प्राण तो तुम्हारे हाथो में है, जब चाहे ले लो।

हूण-सेनापति—(कोडे से मारता हुआ) उसे तो ले ही लेंगे, पर धन कहाँ है?

नागरिक—नही है निर्दय! हत्यारे! कह दिया कि नही है!

हूण-सेनापति—(सैनिको से) इनके बालको को तेल से भीगा हुआ कपड़ा डालकर जला दो और स्त्रियो को गरम लोहो से दागो।

१ वही तृतीय अंक नवा दृश्य पृ० १७१

(स्त्रियो को पकडकर हूण खीचते हैं)

मातृगुप्त—हे प्रभु !···इन निरीहो के लिए प्राण उत्सर्ग करना धर्म है। कायरो ! स्त्रियो पर यह अत्याचार !!"[1]

इस नाटक मे प्रपचबुद्धि, शर्वनाग, भटार्क और अनन्तदेवी अपने षड्यन्त्रो के कारण हमारी घृणा के आलम्बन बनते है। बौद्ध भिक्षुक प्रपचबुद्धि भटार्क और अनन्तदेवी को महादेवी देवकी के मार डालने की सलाह देता है।

प्रपचबुद्धि कहता है—'धर्म की रक्षा करने के लिए प्रत्येक उपाय से काम लेना होगा।' उसकी बातो पर पहले तो शर्वनाग उस पर व्यग्य कसता है :

प्रपचबुद्धि—महादेवी देवकी के कारण राजधानी मे विद्रोह की सभावना है, उन्हे ससार से हटाना होगा।

शर्वनाग—ठीक है, तभी आप चौकते हैं, और तभी धर्म की रक्षा होगी। हत्या के द्वारा हत्या का निषेध कर लेगे—क्यो ?

भटार्क—ठहरो शर्व! परन्तु महास्थविर! क्या इसकी अत्यन्त आवश्यकता है ?

प्रपंचबुद्धि—नितान्त।

शर्वनाग—बिना इसके काम ही न चलेगा, धर्म ही न प्रचारित होगा !"[2]

शर्वनाग के ये व्यग्यपूर्ण कथन घृणा के ही परिचायक है। किन्तु बाद मे जब प्रपंचबुद्धि उसे शराब पिलाकर, स्वर्ण, कामिनी और कादम्ब का लोभ देता है, तो वह महादेवी देवकी की हत्या करने के लिए तैयार हो जाता है। वह तब हमे नीच और घृणित प्राणी प्रतीत होने लगता है।

शर्वनाग—कादम्ब, कामिनी, कचन—वर्णमाला के पहले अक्षर ! करना होगा, इन्ही के लिए कर्म करना होगा। कादम्ब ! ओह प्यास ! (प्याले मे मदिरा उँडेलता है) लाल—यह क्या रक्त ? आह ! कैसी भीषण कमनीयता है ! ···देख, सामने सोने का ससार खडा है !

रामा—पामर ! सोने की लका राख हो गई।

शर्वनाग—उसमे मदिरा न रही होगी सुन्दरी !

रामा—मदिरा का समुद्र उफन कर बह रहा था—मदिरा-समुद्र के तट पर ही लंका बसी थी।

शर्व०—तब उसमे तुम-जैसी कोई कामिनी न होगी। तुम कौन हो···?

·· ··· ···

रामा—दुर्वृत्त मद्यप ! तू अपनी स्त्री को भी नही पहचानता है—पर-स्त्री समझ कर उसे छेडता है !'

---

१. स्कंदगुप्त, पृ० ४२-४३ (दसवाँ संस्करण, २००६ वि०)।
२. वही, पृ० ५८।

जब रामा को विदित होता है कि उसका पति षड्यन्त्रकारियो के प्रलोभन मे आकर महादेवी देवकी की हत्या करने को प्रस्तुत है, तो उसकी घृणा उत्तेजित हो उठती है। रामा—ओह ! मै समझ गई ! तूने बेच दिया—पिशाच के हाथ तूने अपने को बेच दिया। अहा ! ऐसा सुन्दर, ऐसा मनुष्योचित मन, कौडी के मोल बेच दिया। लोभ-वश मनुष्य से पशु हो गया है। रक्त-पिपासु ! क्रूरकर्मा मनुष्य ! कृतघ्नता की कीच का कीडा ! नरक की दुर्गन्ध ! तेरी इच्छा कदापि पूर्ण न होने दूंगी। मेरे रक्त के प्रत्येक प्रमाणु मे जिसकी कृपा की शक्ति है, जिसके स्नेह का आकर्षण है, उनके प्रतिकूल आचरण ! वह मेरा पति तो क्या, स्वय ईश्वर भी हो, नही करने पावेगा।"[1]

वह अन्धकामुक अपनी स्त्री को ही मारने लगता है। अनन्तदेवी, प्रपचबुद्धि और भटार्क उसे उत्तेजित करते है, पद-वृद्धि और पुरस्कार का लोभ देते है। वे सब महादेवी देवकी को मारने चलते है। देवकी अनन्तदेवी से कहती है—क्या तुम मेरी हत्या करोगी ?

प्रपचबुद्धि—हॉ ! सद्धर्म का विरोधी, हिमालय की निर्जन ऊँची चोटी तथा अगाध समुद्र के अन्तस्तल मे भी नही बचने पावेगा, और उस महाबलिदान का आरभ तुम्हीं से होगा। शर्व ! आगे बढो।

रामा—एक शर्व नही, तुम्हारे-जैसे सैकडो पिशाच भी यदि जुट कर आवे, तो आज महादेवी का अंगस्पर्श कोई न कर सकेगा।

रामा अपने पति शर्व को भी बार-बार फटकारती है—'स्वामी ? नही, नही, तू मेरे स्वामी की नरक-निवासिनी प्रेतात्मा है। तेरी हत्या कैसी—तू तो कभी का मर चुका है। ' टुकडे का लोभी ! तू सती का अपमान करे, यह तेरी स्पर्धा ? तू कीडो से भी तुच्छ है। पहले मैं मरूँगी, तब महादेवी।"[2]

इस प्रकार शर्वनाग, अनन्तदेवी, प्रपचबुद्धि और भटार्क हमारी घृणा के आलम्बन बनते है। भटार्क के कुकृत्य और देशद्रोह पर उसकी माता कमला भी ग्लानि और शोक से अभिभूत होकर कहती है—'इसलिये (ग्लानि इसलिए है) कि तू देशद्रोही है। तू राजकुल की शान्ति का प्रलय-मेघ बन गया, और तू साम्राज्य के कुचक्रियो मे से एक है। ओह ! नीच ! कृतघ्न !! कमला कलकिनी हो सकती है, परन्तु यह नीचता, कृतघ्नता, उसके रक्त मे नही (रोती है)।'

घृणा के आश्रय क्षमा सचारी की सुन्दर अनुभूति स्कन्दगुप्त की शर्वनाग के प्रति क्षमा में कीजिए—

"स्कन्दगुप्त—परन्तु मैं तुम्हे मुक्त करता हूँ, क्षमा करता हूँ। तुम्हारे अपराध

---

१. वही, पृ० ६४।
२ वही पृ० ६७-६८।

ही तुम्हारे मर्मस्थल पर सैकडो बिच्छुओ के डक की चोट करेगे। आजीवन तुम इसी यन्त्रणा को भोगो, क्योंकि रामा—साध्वी रामा—को मैं अपनी आज्ञा से विधवा न बनाऊँगा।"[1]

विजया पहले स्कन्दगुप्त पर रीझती है, बाद मे भटार्क को देखकर उसकी ओर झुक जाती है। वह देवसेना से ईर्ष्या करने लगती है और उसके प्राणों की शत्रु बन जाती है। देवसेना को फुसलाकर वह प्रपचबुद्धि के पास ले जाती है, जो उसे अपनी उग्र तारा देवी की भेट चढाना चाहता है। विजया वहाँ से खिसक जाती है। प्रपचबुद्धि खड्ग से देवसेना पर वार करना चाहता है कि पीछे मे मातृगुप्त और स्कन्दगुप्त आकर उसे बचाते हैं।

बौद्धों और ब्राह्मणो के धार्मिक द्वेष को भी प्रसाद जी ने इस नाटक मे घृणा का विषय बनाया है। प्रख्यातकीर्ति बौद्ध भिक्षु और कट्टर ब्राह्मण दोनों को फटकारता हुआ कहता है—'धर्म के अन्ध भक्तो!...हम लोग एक ही मूल धर्म की दो शाखाएँ हैं।' एक युद्ध करने वाली मनोवृत्ति की प्रेरणा से उत्तेजित होकर अधर्म करना और धर्माचरण की दुन्दुभी बजाना—यही आपकी करुणा की सीमा है? जाइये, घर लौट जाइए। (ब्राह्मण से) आओ रक्तपिपासु धार्मिक! लो, मेरा उपहार देकर अपने देवता को सन्तुष्ट करो!"[2]

विलासिता के मद मे डूबी हुई जाति को भी इस नाटक मे फटकार दी गई है। एक नागरिक 'विदेशियों से उधार ली हुई विलासिता नाम की इस सभ्यता' की कटु आलोचना करता है। पर्णदत्त देवसेना के साथ विपन्न अवस्था में जीवन बिताता है। वह भिक्षा माँग कर अपना और पुत्री-तुल्य देवसेना का पेट भरता है। नागरिको की लोलुपता का घृणित चित्र देखिए—

पर्ण०—बाबा! कुछ दे दो।

नागरिक—और वह तुम्हारी कहाँ गई वह...(सकेत करता है)

पर्ण०—मेरी बेटी स्नान करने गई। बाबा! कुछ दे दो।

नागरिक—मुझे उसका गाना प्यारा लगता है, अगर वह गाती, तो तुम्हे कुछ अवश्य मिल जाता। अच्छा, फिर आऊँगा। (जाता है)

पर्ण०—(दाँत पीस कर)—नीच, दुरात्मा, विलास का नारकीय कीडा! बालो को सवार कर, अच्छे कपड़े पहनकर, अब भी घमण्ड से तना हुआ निकलता है? कुलवधुओ का अपमान सामने देखते हुए भी अकड़ कर चल रहा है, अब तक विलास और नीच वासना नही गई। जिस देश के नवयुवक ऐसे हो, उसे अवश्य

---

१. वही, पृ० ८१।
२ वही पृ० १२४ १२५

दूसरो के अधिकार मे जाना चाहिए। देश पर यह विपत्ति ! फिर भी यह निराली धज !···विलास के लिए उनके पास पुष्कल धन है, और दरिद्रों के लिए नही ?"[1]

इस प्रकार समस्त नाटक में बीभत्स रस का स्थान-स्थान पर चित्रण हुआ है। पर्णदत्त की उपर्युक्त फटकार देश की आधुनिक युग की स्थिति का भी स्पष्ट आभास देती है। अंग्रेजियत के रंग मे रंगे विलासी युवको के प्रति घृणा का भाव यहाँ स्वत ही ध्वनित हो जाता है।

ध्रुवस्वामिनी मे विलासी, कायर, निर्लज्ज और दुश्चरित्र रामगुप्त हमारी तीव्र घृणा जगाता है। वह पूर्णत अयोग्य शासक है। वह अत्याचारी शको के आक्रमण से भयभीत हो जाता है और उनसे युद्ध करने की बजाय, सुरासुन्दरी मे ही लगा रहता है। वह इतना निर्लज्ज "और कुल-कलकी है कि शकराज से जान छुडाने के लिए सधि-रूप मे अपनी पत्नी ध्रुवस्वामिनी को शकराज के हाथो मे समर्पित करना स्वीकार कर लेता है। वह ध्रुवस्वामिनी को शकराज के पास जाने की आज्ञा देता है। भारतीय सती यह बात सुनकर काँप उठती है, वह गिडगिडाती है। परन्तु कायर और नीच रामगुप्त कहता है—'तुम मेरी रानी ! नही, नही। जाओ तुमको जाना पड़ेगा। तुम उपहार की वस्तु हो। आज मैं तुम्हे किसी दूसरे को देना चाहता हूँ। इसमे तुम्हे क्या आपत्ति है।"[2] रामगुप्त का यह कथन कितना घृणित है !

जब शकराज को चन्द्रगुप्त मार डालता है और ध्रुवस्वामिनी अपने कापुरुष रामगुप्त को त्याग कर धर्मरक्षक चन्द्रगुप्त की ओर झुक जाती है, तो पुनर्विवाह का निर्णय देने वाले पुरोहित भी रामगुप्त की भर्त्सना करते हुए कहते है—"यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नही पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से क्लीव है। ऐसी व्यवस्था मे रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नही।"

इस प्रकार रामगुप्त का चरित्र घृणित है। वह धोखे से अपने भाई चन्द्रगुप्त का ही वध करने को प्रस्तुत होता है। तभी एक सामन्तयुवक उसकी जान ले लेता है।

प्रेमी जी के 'छाया' नाटक मे 'हलाहल' के सम्पादक रजनीकांत हमारी घृणा के पात्र बनते है। वह शराबी, व्यभिचारी और निरा स्वार्थी बना हुआ है। वह अपनी पत्नी को पीटता है, चाबुको से उसकी पीठ छलनी कर देता है, उससे भी रुपया कमाना चाहता है। उसकी पत्नी ज्योत्स्ना पति-परायणा होते हुए भी अपने सतीत्व पर दृढ रहती है। वह अपनी पत्नी से कहता है—अरे, तुझे करना ही क्या है, एक झलक दिखा कर उसे पागल कर देना है। तुम जानती हो, ज्योत्स्ना, इससे अधिक तुम्हे कुछ न करना पडेगा। सरदार को हम ले चलेगे होटल। बाजार

---

१. वही, पृ० १३६-१३७।
२ ध्रुवस्वामिनी पृ० २७।

मे औरतों की क्या कमी है ? शराब के नशे मे उसे प्रत्येक युवती ज्योत्स्ना नजर आवेगी। तुम्हारे सतीत्व पर आच भी न आवेगी।"[१]

कितना नीचतापूर्ण कार्य है उसका ! उसके कमरे की दीवारो पर नंगे चित्र टगे हुए है. ऐसे बीभत्स वातावरण मे सत्कवि प्रकाश का दम घुटा जा रहा है, वह तीव्र घृणा से भर जाता है—

प्रकाश—शंकरदेव, मेरा यहाँ दम घुटता है। देखते हो इन दीवारो पर क्या है ? ये नगी तस्वीरें ! ज्योत्स्ना यह सब कैसे बर्दाश्त करती है ? पुरुष नारी का इतना अपमान करने का साहस कैसे करता है ?"

शंकर भी उसे फटकारता है—"उसमें आत्मा है ही नहीं। स्त्री के सतीत्व का उसकी आँखों में कोई मूल्य नहीं, चाहे वह उसकी पत्नी हो, चाहे और किसी की, और चाहे बाजार मे बैठने वाली वेश्या। उसे शराब की बोतल चाहिए, और एक बाज़ारू औरत। वह नर नही है, नर-पिशाच है।"[२]

घृणित-से-घृणित कार्य करने वाले व्यक्ति के प्रति भी जब कवि या लेखक हमारी सहानुभूति जगा देता है, तो वह घृणा का आलम्बन नही रहता। इस नाटक के माया या 'नसीम' नामक नारी-पात्र के चरित्र से यह तथ्य प्रकट हुआ है। वह अपना शरीर बेचने पर विवश होती है, पर फिर भी अपनी आत्मा की सबलता नही खोती। वह अपना शरीर बेचकर भी एक महान् कवि की मान-प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखती है। कवि प्रकाश की पत्नी उसके सम्बन्ध मे कहती है—"देखिए शकर बाबू, देखिए भवानी बाबू ! इन्ही के विषय मे आप कहते थे न कि प्रकाश बाबू इनके यहाँ अपनी आत्मा कलंकित करते है और रुपया बर्बाद करते है। इस औरत ने अपना शरीर बेचकर एक कवि के मान की, जीवन की और उसके परिवार की रक्षा की और एक मित्र ने क्या किया ?······अधकार का चश्मा लगाए हुए सभ्य पुरुषो, जरा अपनी आँखों का इलाज कराओ। जिन्हे आप पाप का पेड़ कहते है, उनमे भी पुण्य के फल उगते है।"[३]

प्रेमी जी के ऐतिहासिक नाटको मे तात्कालिक जीवन की कुछ समस्याएँ उभरी हुई दिखायी देती हैं। वस्तुत: यह आधुनिक युग के प्रभाव से ही सभव हुआ है। प्राचीनकाल मे इस प्रकार जीवन-समस्याओ का अवलोकन करने की प्रवृत्ति बहुत कम थी। 'विष-पान' नाटक मे लेखक ने उस राजपूती युग मे भी ऊँच-नीच, सामंतीय शोषण आदि समस्याओं पर प्रकाश डाला है, जो इस युग की सत्य समस्याएँ भी है और उस युग की सच्चाई भी। राधा उच्चकुल के लोगों की विलास-

---

१. हरिकृष्ण प्रेमी : छाया (दूसरा संस्करण १९५०), पृ० २०।
२. वही, पृ० २६।
३. वही, पृ० ७७-७८।

भावना पर नाकभौं चढ़ाती हुई कहती है—"इन उच्चकुलाभिमानी लोगो के पास धन है और प्रभुता। प्रलोभन और धमकी के शस्त्रों से वह हमे अपनी वासना का शिकार बनाते हैं।" राजकुमारी कृष्णा राजपूतो की अहं-भावना तथा हिंसा को फटकारती है :

कृष्णा—हम राजपूत हजारो आदमियों की जानें लेते है, तब कही हमारी प्रभुता की प्यास बुझती है।

कलुआ—राजपूत अपने देश के लिए लडते है।

कृष्णा—नही, कलुआ, वह जमाना गया। अब तो टको पर जिंदगियाँ बेचते है। स्वार्थी लोगो की इच्छाओ का खिलौना बनते है।"[1]

इसी प्रकार पुत्री को जन्मते ही मार डालने की राजपूती-प्रवृत्ति के प्रति घृणा जगाता-जगाता, लेखक आज की दहेज-प्रथा पर भी कुठाराघात कर जाता है। रमा कहती है कि राजपूत बेटियो को इसलिए मार डालते हैं कि उनके विवाह मे बहुत खर्च करना पडता है और योग्य वर नहीं मिलता। यदि मिलता है, तो दहेज बहुत माँगता है। कृष्णा इस सामाजिक या जातिगत बुराई के प्रति नफरत से भरी हुई है।

इस नाटक मे अमीरखाँ हमारी घृणा का पूर्ण आलम्बन बनता है। वह राजपूतो को लडाकर अपना उल्लू सीधा करना चाहता है। वह मेवाड़ के महाराणा को धमकी देता है कि राजकुमारी का विवाह जयपुर के महाराज की बजाय जोधपुर नरेश मानसिंह के साथ करो, अन्यथा मेवाड की ईंट से ईंट बजा दी जायगी। महाराणा से छल करके जब अजीतसिंह कृष्णा के मारने का पत्र महाराणा से लिखवा लेता है, तो सिसोदिया वीर संग्रामसिंह उत्तेजित होकर अजीतसिंह को धिक्कारता है। अजीतसिंह कहता है—"किन्तु संग्रामसिंह जी, राजकुमारी का बलिदान आवश्यक है। इसके सिवा मेवाड के मान की रक्षा नहीं हो सकती।"

संग्रा०—"धिक्कार है अजीतसिंह जी, एक चूडावत के मुँह से ऐसे कायरता-पूर्ण शब्द निकल रहे है ! तुम उन चूड़ा जी की सन्तान हो, जिन्होंने अपने छोटे भाई के लिए मेवाड़ के राजसिंहासन को लात मार दी थी। ..अब तुम अपने पूर्वजो के यश को कलंकित करने पर उतारू हो ?"[2]

नवीन नाटक 'साँपों की सृष्टि' (१९५९) मे गुजरात की अभागिन महारानी, जिसे अलाउद्दीन अपने हरम में दाखिल कर लेता है, अलाउद्दीन और उसके पैशाचिक कार्यों तथा महलों के वातावरण से घोर घृणा करती है। वह अपनी दासी माला के सम्मुख अपना हृदय खोल देती है—

---

१. हरिकृष्ण प्रेमी : विषपान (तीसरा संस्करण), पृ० ४४।
२. वही, पृ० ९०।

कमलावती—(भावनाओ से अभिभूत होकर) माला ! मेरे वक्ष मे राजपूतनी का हृदय है, वह मरा नही है । आज भी मेरा जी करता है कि मैं दिल्ली के सुनहरे किन्तु जहरीले सीखचों को काटकर उड जाऊँ । भारत भर की जवानी को विदेशियो से लोहा लेने की चुनौती दूँ, किन्तु कौन है जो मेरी चुनौती सुनेगा ? भारतीयो की पाखडपूर्ण पवित्रता और अभिमानी सस्कृति मुस्लिम हरम से आई हुई रानी के मुँह पर थूकेगी ।"[१] लेखक ने इस नाटक मे एक ओर तो विलासी, कामी, अत्याचारी अलाउद्दीन और काफूर के प्रति घृणा जगाई है, दूसरी ओर छुआ-छूत जैसी भारतीय बुराइयो के प्रति भी घृणा व्यंजित की है और साथ ही कायर बनकर छिप जाने वाले राजपूतों को भी घृणा का आलम्बन बनाया है। कमलावती के पति ने ऐसी ही कायरता का सबूत दिया था । कमलावती का रोम-रोम अपने पति के प्रति घृणा से भरा हुआ है । जब देवल अपनी माता को बताती है कि मैं देवगिरि के यादव महाराजा रामचन्ददेव के प्रति अपना हृदय हार बैठी हूँ, किन्तु पिता जी यादवो को बघेलो से हीन समझते है, इसलिए उनके हठ के कारण हमारा विवाह नही हो सका, तो उसकी माता कमलावती उत्तेजित होकर कहती है—'रस्सी जल गई लेकिन अकड नहीं गई । आज तेरे पिता यादवों की दी हुई भूमि पर निर्वाह कर रहे है और उन्हे अपने से हीन समझते है ! कायर की भाँति शत्रु की आँख बचाकर भाग जाने मे उनकी हेठी नही हुई । पराई नारी को अपने मनोरजन का साधन बनाने मे उनकी उच्चता को आँच नही आई । उनकी पत्नी को शत्रु लूट ले गए, तब भी उनकी राजपूती कायम है ।"[२]

सुरा, सुन्दरी और सल्तनत के लिए पैशाचिक अत्याचार ढाने वाले अलाऊद्दीन और उनके सेनापति मलिक काफूर भी हमारी तीव्र घृणा जगाते हैं । देवल मलिक काफूर का नाम सुनते ही कहती है—'माँ, मुझे उस भयानक आदमी से नफ़रत है । मैं जाती हूँ । उसने दक्षिण मे ऐसे पैशाचिक काण्ड किए है, जिनकी याद से ही प्राण काँप उठते है । मेरा बस चले तो मैं उसे कुत्तो से नुचवा दूँ ।' कमलावती भी कहती है—'ये सभी बादशाह अपने आपको इस्लाम का सेवक ही कहते आए है—किन्तु इनकी करतूते इस्लाम तो क्या मनुष्यता को भी लज्जित करने वाली है ।'[३]

अलाऊद्दीन स्वय अपने कुकर्म पर पश्चात्ताप-सा करता हुआ कहता है—अपने बीस वर्षों के शासन मे कितना रक्त मैंने बहाया है, कितने गाँवो मे आग लगाई है ! कितनी हिन्दुस्तानी और मुगल स्त्रियो को तुर्कों के हवाले किया है ! दिल्ली की गद्दी पाने और उसे सुरक्षित रखने के लिए कितने बीभत्स और कुत्सित कार्य मैंने

---

१. हरिकृष्ण प्रेमी : सांपों की सृष्टि (प्रथम सस्करण), पृ० ११-१२ ।
२. वही, पृ० २५-२६ ।
३ वही पृ० ४६

किए है। मेरे दिल और दिमाग पर शैतान ने अधिकार कर लिया था।"[1] इस प्रकार अलाऊद्दीन और उससे भी बढ़कर मलिक काफ़ूर के अत्याचारो के प्रति घृणा खूब जगाई गई है। उसके पैशाचिक कार्य अत्यन्त भयानक है। वह बडी क्रूरता के साथ शाहज़ादे खिजर की आँखे निकलवा देता है, उसे और देवल को कैद मे डाल देता है। अनेक प्रकार के उत्पात मचाता है। इस नाटक मे बीभत्स रस का पर्याप्त प्रसार दिखाई देता है।

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के नाटक 'अलग-अलग रास्ते' मे यथार्थ सामाजिक रूढियो के प्रति घृणा-भावना जगाई गई है। लेखक ने ऐसी विवाह-प्रथा को घृणा का विषय बनाया है जिसमे लडके-लड़की की स्वीकृति के स्थान पर मा-बाप रुपये-पैसे, दहेज तथा अन्य बातो को प्रमुखता देते है। ताराचन्द कहता है कि 'मुझे पता न चला कि उनके मकान गिरवी रखे हैं, अन्यथा मै रानी का विवाह उनके यहाँ कभी न करता।' पिता की यह बात सुनकर पूरन कहता है—'इस बात का पता चल जाता तो कोई और बात पर्दे मे रह जाती। ब्याह तो आजकल अँधेरे मे तीर मारने के बराबर है। निशाने पर लग गया तो ठीक, नहीं हाथ से निकला तीर तो वापिस आता नही। जब दोनो पक्ष झूठ बोलने मे एक-दूसरे से बाज़ी मारने पर तुले हों तो सच का पता पाना मुश्किल है।'[2]

त्रिलोक के साथ रानी की शादी कर दी गई। पर त्रिलोक और उसके माँ-बाप रानी को पल-भर भी घर मे नही टिकने देते। शुरू-शुरू मे त्रिलोक ने रानी को उसके पिता की कजूसी के लिए कोसा और कहा कि उसे धोखा दिया गया है। उसे आशा दिलाई गई थी कि एक मोटर और मकान दहेज मे दिया जायगा।' "उसकी सास ने, उसके ससुर ने, उसकी जेठानियों और ननदो ने उसे दहेज की कमी के ताने दिये। त्रिलोक ने कई बार उन लड़कियो की चर्चा की जिनके पिता उसे कही अधिक दहेज देने को तैयार थे ...।' इस प्रकार बेचारी रानी रोज़-रोज के तानों, गालियों, लडाई-झगड़े और मार-पीट का शिकार होती है। वह पिता के घर छोड दी जाती है। वह अपने ससुराल जाना नरक मे जाने के बरावर मानती है। पर उसके पिता पुराने विचारो के आदमी है, जो 'पति को ही पत्नी का परमेश्वर समझते है।' रानी दुख प्रकट करती हुई कहती है—'सब कुछ बता देने पर भी, मेरी बात मान लेने पर भी, वे फिर मुझे उसी नरक मे भेजने का यत्न कर रहे है।' पूरन और रानी के हृदय मे इस घृणित सामाजिक मनोवृत्ति के प्रति तीव्र घृणा है। पूरन इस पुरुष-प्रधान समाज को फटकारता हुआ कहता है—'वकील साहब (त्रिलोक) ने तुम्हे छोड दिया, क्योंकि पिताजी ने दहेज मे मकान और मोटर नही दी, किन्तु इसमे तुम्हारा क्या दोष है ?...

---

१. वही, पृ० ७० ।

२ उपेन्द्रनाथ 'अश्क' अलग-अलग रास्ते तीसरा सस्करण- पृ० ६५ ।

इस देश में पुरुष कभी गलती नहीं करता, यहाँ केवल नारी गलती करती है। उसी का दोष होता है और नारी का दोष उस निरीह गाय के दोष जैसा है, जिसको उससे पूछे बिना, उसकी इच्छा जाने बिना, कसाई के हाथ मे सौप दिया जाय। वह कसाई उसे एक झटके मे मार दे या तिल-तिल कर उसकी हत्या करे, भूखा मारे या चारे से भरे स्थान पर बाँध दे !"[१]

त्रिलोक को अलग हो जाने पर मकान और मोटर देने का आश्वासन दिलाया जाता है, तो वह तुरन्त रानी को लेने आ उपस्थित होता है। किन्तु पूरन और रानी दोनों उसे आड़े हाथों लेते हैं। पूरन के व्यंग्य-वाक् उसकी घृणा को ही व्यंजित करते है। रानी भी उस लोभी कुत्ते को फटकारती हुई कहती है—'तो आप मोटर और मकान के लिए अलग हो रहे है ! मैं भी सोच रही थी कि आज रानी पर इतना मोह क्यों उमड आया "।"

··· 'क्या आपका विचार है कि उस अपमान, निरादर और घोर मानसिक यत्रणा के बाद, जो आपने दो बरस मुझे दी, मैं इतनी भोली हूँ कि आपकी इन झूठी-मीठी बातो के भुलावे मे आ जाऊँगी और समझ लूँगी कि आप एकदम पत्थर से मोम हो गये है, 'मुझे न आपका फ्लैट चाहिए, न पिताजी का मकान। आप जाइए !"[२]

जब राज अपनी दुखद कहानी त्रिलोक को सुनाने लगती है, तो रानी उसे मना करती हुई त्रिलोक को इस प्रकार धिक्कारती है—'चल, चल, इन्हे अपनी विपदा सुनाने का कोई लाभ नहीं, ये सब एक-सरीखे क्रूर और निर्दयी हैं।"

इस प्रकार त्रिलोक तो, जो पक्का स्वार्थी, लोभी और कमीना है, हमारी घृणा का पात्र है ही, साथ ही ताराचन्द भी अपने पुराने विचारों और अमानुषीय व्यवहारों से हमारी घृणा के आलम्बन बनते हैं। वे अपने दामाद का दूसरा ब्याह पढाने वाले ब्राह्मण की ही टाँग तोड़ डालते है। वे रानी को त्रिलोक के साथ जाने पर जोर देते है। जब रानी कहती है कि 'जिस व्यक्ति के समीप चन्द हजार के एक मकान का मूल्य मेरे मान से कही अधिक है, जो मुझे नहीं, मकान को चाहता है, मै उस लोलुप की शक्ल तक नही देखना चाहती।' तो इस पर ताराचन्द क्रुद्ध हो उठते है और गरजकर कहते हैं—'तू अपने पति से घृणा करती है !'

रानी · (निर्भीकता से) मेरा रोम-रोम उससे घृणा करता है।"[३]

जब उसके पिता बौखला कर कह उठते है कि इस घर मे तेरे लिए कोई जगह नहीं, तो रानी स्पष्ट शब्दो मे कहती है—'मैं इस घर को भी नमस्कार करती हूँ।' पूरन भी घृणा से भरकर कहता है—'चलो रानी, इन पिताओ और पतियो मे

१. वही, पृ० १०१।
२. वही, पृ० १२३।
३ वही पृ० १४५

कोई अन्तर नही ।' इस प्रकार सम्पूर्ण नाटक बीभत्स रस से ओत-प्रोत है । लेखक ने वैवाहिक प्रथा, दहेज-प्रथा तथा पुरुष की नारी के प्रति निर्दयता को घृणा का विषय बनाया है । हमारे बुजुर्गो के गले-सडे पुराने विचार आज कितने अनुपयुक्त, कितने बीभत्स हो गए है, यह इससे स्पष्ट हुआ है ।

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या नाटक 'सिंदूर की होली' मे रायसाहब भगवन्तसिंह और डिप्टी कलेक्टर मुरारीलाल हमारी घृणा के पात्र है । रायसाहब भगवन्तसिंह अपने ही भाई की जमीन-जायदाद हडप करना चाहता है । अपने इलाके मे उसका बडा आतंक छाया हुआ है । उसने 'लाखो रुपये रैयत को लूटकर जमा कर लिए है ।' वह अपने ही भतीजे रजनीकान्त की जायदाद-सम्पत्ति सब हडपने के लिए उसे मरवा डालना चाहता है । इसके लिए वह मुरारीलाल को पचास हजार रुपय की रिश्वत देता है । वह हरनन्दनसिंह को गाँठकर मुरारीलाल मजिस्ट्रेट के पास ले जाता है और उसे सिखाता है कि रजनीकान्त को वह भोजन मे संखिया देकर मार डाले और डिप्टी साहब के पास उसकी बुराई कर दे । वह हरनन्दनसिंह से कहता है—"जिस दिन तुम उसे संखिया दे दो' 'उसी दिन ' हाँ, जी, उसी दिन, तुम्हारे दरवाजे पर हाथी बँधवा दूँगा ।"[1] वह कुछ लठैतो को जुटा कर रजनीकान्त का सिर फुडवा देता है । रिश्वतखोर मुरारीलाल भी उसके ऐसे आचरण को देखकर कहता है—"तुम्हारी तरह का व्यक्ति तो मेरे देखने मे नहीं आया । नाहक उस लड़के की जान लेना क्यो चाहते हो ? तुम्हारे वंश मे पैदा हुआ है, अभी उसके बाप को मरे साल भर हो रहा है,' तुम्हारी तबीयत तो शैतान की'' तुम समझौता करने को भी तैयार नही ?"[2]

चन्द्रकला, माहिर अली आदि पात्र रायसाहब को शैतान कहते है और उसके कुकृत्यो से घृणा करते है । चन्द्रकला की उक्ति है—"हाँ, अगर मैं मर्द होती तो जरूर वह देती और देखती कि किस तरह यह कमीना रायसाहब '' ''राक्षस की तरह तो वह दुष्ट देखता है । देखो तो बाहर ।"

डिप्टी कलैक्टर मुरारीलाल रुपयो के लालच मे अपने मित्र को मार डालता है । माहिर अली से पता लग जाने पर मनोजशंकर अपने पिता की ऐसी विश्वासघाती मृत्यु के कारण मुरारीलाल को फटकारता हुआ कहता है—"आपने अपने मित्र को भाँग पिलाकर नाव से नदी में ठेल दिया था । केवल आठ हजार रुपया पचा लेने के लिए ।' '''उसी रुपये से आपने यह मोटर ली थी और गाँव पर एक बंगला बनवाया था ।"

रायसाहब और मुरारीलाल दोनो ही अर्थ-पिशाच है । मुरारीलाल रायसाहब

---

१ सिंदूर की होली (चतुर्थ संस्करण), पृ० २७ ।
२ वही पृ० ३२

से पचास हजार रुपया रिश्वत लेता है। उसका मुंशी माहिर अली उसके लिए रिश्वत लेना हुआ व्यंग्य से कहता है—'साहब लोग अपने हाथ से नहीं लेते (हाथ हिला कर धरती की ओर संकेत करते हुए और उसी क्षण ऊपर हाथ उठा कर) यहाँ और वहाँ जवाब देने को भी तो कुछ चाहिए। जिस दिन हिसाब होगा'''उस दिन। उसी दिन के लिए अपने हाथ से नहीं लेते।" वह भगवतसिंह को भी फटकारता हुआ कहता है—'कहिए भी कितना है? यहाँ चढ आने पर आप झूठ नहीं कह सकते। झूठ का रोजगार तो आप लोग देहातों मे करते है। लगान वसूल करने के वक्त और बिरादरी मे ' ।"[1]

डिप्टी मुरारीलाल बाल-विधवा मनोरमा पर डोरे डालता है। उसकी लोलुप दृष्टि से मनोरमा को तीव्र घृणा है। वह मनोरमा का संरक्षक-आश्रय बनकर भी अपनी वासना की पूर्ति चाहता है। चन्द्रकला अपने पिता के घृणित पापाचार से व्यथित होकर उसके लिए स्वयं प्रायश्चित्त करना चाहती है। उसका प्रायश्चित्त सुनिए, वह अपने पिता मुरारीलाल से कहती है—"लेकिन मैं तो सदैव आपके लिए प्रायश्चित्त करती रही हूँ। (मनोजशंकर की ओर हाथ उठाकर) इनके बाप की हत्या आपसे हुई और उसका बदला ये लेते रहे मुझ से बार-बार मुझे ठोकर मार कर। अस्पताल मे मैं गई थी जैसाकि आप देख रहे है'' मेरे सिर पर'''यह सिंदूर'' उस पचास हजार का प्रायश्चित्त है। "[2]

वह अपने पिता और उसके घर से घृणा करती है। जो पिता उसके स्वेच्छा-पूर्वक माँग मे सिंदूर भरने को कलंक मानता है, वह उसके घर मे क्या रहे! मुरारीलाल पूछता है—तुम यहां रहना भी नहीं चाहती?

चन्द्रकला—नहीं। यहाँ रहने पर मैं आपके लिए, आपकी मर्यादा के लिए कलंक रहूँगी और यहाँ से हट जाने पर'''और फिर पिता के घर मे रहना अब तो उचित भी नहीं ।"

पौराणिक रचनाओं मे मानसिक घृणा का प्रकाशन वैयक्तिक चरित्रों के रूप मे प्राय होता है। दुश्चरित्र, लम्पट, पैशाचिक प्रवृत्ति वाले पात्रों के प्रति घृणा जगना स्वाभाविक ही है। श्री गोविन्द वल्लभ पंत के 'वरमाला' नाटक मे वैशालिनी को वन मे पकड़ने वाला राक्षस हमारी घृणा का आलम्बन बनता है। जब वैशालिनी कहती है कि दूर रह, अन्यथा मैं नदी मे कूदकर प्राण-विसर्जन कर दूँगी, तो राक्षस कहता है—'आत्म-हत्या पाप है।' इस पर वैशालिनी उसे फटकारती हुई कहती है—"तुझे धर्म का ज्ञान है! पर-स्त्री को हाथ लगाना भी पाप है, क्या यह तूने उसी के

---

१ वही पृ० २२
२ वही पृ० ११६

साथ नही सीखा ?"[१] राक्षस का उसे पकडने को बढना और आलिगन की आकांक्षा प्रकट करना—सब उनके प्रति हमारी घृणा उत्पन्न करते है ।

श्री हरिकृष्ण प्रेमी के 'रक्षाबन्धन' में हुमायूँ को कर्मवती की सहायता करने से रोकने वाले कट्टर मुसलमान सैनिक हमारी घृणा के पात्र बनते है । हुमायूँ स्वर्गीय महाराणा साँगा की पत्नी कर्मवती की आक्रमणकारी बहादुरशाह से रक्षा करना चाहता है, कर्मवती ने भगिनी बनकर जो राखी हुमायूँ को भेजी थी, उसकी लाज हुमायूँ रखना चाहता है, पर उसका सेनापति तातारखॉ उसे मना करता हुआ कहता है—'एक काफिर कौम को मुसलमानो के खिलाफ मदद दे रहे है, क्या यही खुदा की हिदायत है ?' इस प्रकार धर्मकट्टर सेनापति हमारी घृणा के ही आलम्बन बनते है । हुमायूँ उनके विरोध की परवा न करके चित्तौड जाता है ।

प्रेमी जी के 'आहुति' नामक नाटक मे अलाऊद्दीन हमारी तीव्र घृणा जगाता है । वह लम्पट दुश्चरित्र शासक भारतीय ललनाओं को कुदृष्टि से देखता है । नलहार-गढ के पास एक ग्रामयुवती की ओर सकेत करता हुआ वह अपने सैनिक मीर माहिम से कहता है—उस धानी साडी वाली लडकी को देखते हो, बोलो, तुम मेरा काम करोगे उस लडकी से···।" मीर माहिम उसकी इस दुष्टता को फटकारता हुआ कहता है—'मीर माहिम ऐसी बात सुनना पाप समझता है, जहॉपनाह ! एक बहादुर सिपाही किसी औरत की इज्जत और शान के खिलाफ कोई बात नहीं सुन सकता' । किन्तु हिन्दू कुमारियो के सतीत्व की रक्षा के लिए मीर माहिम को दुष्ट अलाऊद्दीन के कोप का भाजन बनना पडता है । बादशाह उसे अलग कर देता है और उसका शत्रु बन जाता है । रणथम्भोर के वीर हम्मीर उस असहाय मीर माहिम को आश्रय देते है । इससे चिढ कर दुष्ट अलाऊद्दीन हम्मीर पर आक्रमण करता है । मीर माहिम भी उस दुष्ट का मुकाबला करता है ।

'शिवासाधना' मे अफजलखॉ का अपनी बेगमों को पानी मे डुबो देना बीभत्स कार्य ही है । इसी प्रकार उदयभानु आदि भी अपनी स्त्रियों को तलवार के घाट उतार कर रण मे कूदते है । पहले यह प्रथा चाहे वीरता की निशानी मानी जाती रही हो, पर आज का पाठक इसे पैशाचिक कार्य ही मानेगा, और फिर ये तो है भी शत्रुपक्ष के घृणित पात्र । इनके प्रति घृणा जगना स्वाभाविक है ।

प्रेमी जी के 'शतरज के खिलाडी' नामक ऐतिहासिक नाटक मे भी बादशाह अलाऊद्दीन, रहमानखॉ तथा देश-द्रोह करने वाले सुरजनसिंह आदि राजपूत हमारी घृणा के आलम्बन बनते है । अलाऊद्दीन जैसलमेर पर आक्रमण करता है । अपने सेनापति महबूबखॉ और जैसलमेर के युवराज रत्नसिह की मैत्री उसकी ऑखो मे

१ गोविन्द वल्लभ पत वरमाला प्रथम १९८२ वि०) पृ० ६९

खटकती है। वह जैसलमेर पर अधिकार प्राप्त करने के लिए महबूब को मित्र-द्रोह करने की प्रेरणा करता है।

अलाऊद्दीन की रक्त-पिपासा, हत्या-प्रवृत्ति और दुराचार के प्रति विद्रोह की भावना प्रकट करता हुआ एक सैनिक कहता है—

"पहला सैनिक—लेकिन भाई, राजाओं के व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए हम लोग क्यों अपनी जान लुटाएँ। दुनिया में जो खून की होली खेली जा रही है, वह रुक सकती है—यदि हम थोडा-सा साहस बटोरें।"

दूसरा सैनिक—कैसा साहस ?

पहला सैनिक—यही कि हम दूसरों के इशारे पर नाचना छोड दें। इस दुनिया में सबको रहने-बसने के लिए स्थान है—सबका पेट भरने के लिए अन्न है। फिर किस लिए यह हत्या-काण्ड चालू है ? थोड़े-से व्यक्तियों ने सारे ससार को नरक बना रखा है। हमें इसके विरुद्ध विद्रोह करना चाहिए।[१]

रहमान भी अलाऊद्दीन की तरह कट्टर मुसलमान है और राजपूतों को छल-बल से नष्ट करना चाहता है। वह कुछ राजपूतों को फुसला कर उनसे देशद्रोह कराता है। वह धोखे से रत्नसिंह और उसके अबोध पुत्र गिरिसिंह को मारने का प्रयत्न करता है। वह अलाऊद्दीन की कूटनीति का स्तम्भ बनता है। किन्तु अन्त में महाकाल इस कुचक्री को अपनी तलवार के एक वार से ठिकाने लगा देता है। इस प्रकार इस नाटक में धार्मिक द्वेष, राज-लिप्सा, देशद्रोह आदि जघन्य प्रवृत्तियों के प्रति घृणा उत्पन्न की गई है।

अश्क जी के प्राय सभी समस्या-नाटकों में सामाजिक समस्याओं के आश्रय बीभत्स रस का प्रकाशन हुआ है। 'अन्धी गली' नामक नाटक में अश्कजी ने जीवन की सामान्य समस्याओं और यथार्थ दैनिक चित्रों को प्रकट किया है। यद्यपि नाटक अधिकाशत. सघर्षहीन है, और जीवन की मार्मिक परिस्थितियों के अभाव में विशेष रोचक नहीं बन पाया है, तथापि कहीं-कहीं सामाजिक बुराइयों के व्यग्यात्मक प्रकाशन में रोचकता पाई जाती है। 'दो कैप्टन' नामक दृश्य में कैप्टन लीकू और कैप्टन मिश्र अपने-अपने अधिकार का अनुचित उपयोग करते है। एक शरणार्थी अफसर है, तो दूसरे के हाथ मे बेकारों को नौकरियाँ दिलाने की कुंजी है। बस दोनों खूब तोहफे उड़ाते है, रिश्वत का माल हज्म करते है, और अपनी वासना के डोरे डालते है। जोशी नामक एक व्यक्ति एक सफेद थुल्मा लिए लीकू की सेवा में उपस्थित होते है, उन्हें अपने लड़के को नौकरी जो दिलानी है ! लीकू वह थुल्मा कैप्टन मिश्र के लिए ले लेते है, और कहते हैं—'(मिश्र से) देखो भाई हमें तो सिलाई की मशीन

१ शतरज के खिलाडी (सस्करण १९५८) पृ० ९९

दिलाओ। थूल्मे और गम्भे जितने कहो मैं तुम्हे मँगा दूँगा। मैने तुमसे बनारस में भी कहा था।'

मिश्र : बनारस मे हम दिला देते। पर एक तो वहाँ कुछ शोर मच गया, दूसरे तुम्हारी बदली हो गई।[1]

इस प्रकार के दुश्चरित्र अफसर जो विधवाओ और असहाय शरणार्थी स्त्रियों को दी जाने वाली मशीने अपने घरो मे सजाते हैं, जो सरकार को, राष्ट्र को धोखा देते है, निश्चय ही हमारी घृणा के पात्र बनते है। मिश्रजी शरणार्थी श्याम को ऋण दिलाने तथा उसकी पत्नी को नौकरी दिलाने का झाँसा देकर उसकी सुन्दर पत्नी पर डोरे डालते है।

समस्या-नाटकों के अतिरिक्त अश्क जी के 'जय-पराजय' नामक ऐतिहासिक नाटक मे भी बीभत्स रस की प्रचुर सामग्री पाई जाती है। इस नाटक मे मंडोवर का निर्वासित राजकुमार रणमल हमारी तीव्र घृणा का आलम्बन बना हुआ है। वह चित्तौड के राणा की शरण प्राप्त किये हुए है, किन्तु तो भी चित्तौड़ के राणा के विरुद्ध षड्यन्त्र रचता है। वह मंडोवर और चित्तौड़ दोनों पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहता है। भारमली नामक गायिका को जबरदस्ती पकड़ने का प्रयत्न करता है तथा चित्तौड़ के राजकुमार राघवदेव को मरवा डालता है। उस कृतघ्न, विलासी, कपटी और अत्याचारी के प्रति घृणा से पाठक का मन भर जाता है। वह अपनी सौतेली बहन हंसाबाई का बूढ़े महाराणा से विवाह-सम्बन्ध कराने और पूर्व राजकुमारो के स्थान पर हंसाबाई के भावी पुत्र को ही चित्तौड का महाराणा बनने के अधिकार की प्रतिज्ञा कराने की चाल चलता है। जिसके परिणामस्वरूप युवराज चड के स्थान पर हंसाबाई का शिशु पुत्र मोकल चित्तौड़ का अधिकारी बनता है। वह हंसाबाई को बहका कर चड को भी निर्वासित करा देता है और इस प्रकार चित्तौड़ का सेनापति और शासक बन जाता है। मडोवर के अनेक राठौरों को वह अपनी सेना मे भरती कर लेता है, और सिसौदियो के स्थान पर राठौरों को ही उच्च पदों पर नियुक्त कराता है। एक दिन चुपके से वह अपनी सेना को साथ लेकर मडोवर पर आक्रमण कर देता है और इस प्रकार अपनी सौतेली माँ और सौतेले भाई की हत्या का कारण बनता है। मडोवर और चित्तौड दोनो का राजा बनने की उसकी लालसा उसे अत्याचारी बना देती है। चित्तौड मे उसके अत्याचारों से आतक फैल जाता है। यही नही, वह अपनी बहन के पुत्र—भावी महाराणा मोकल—को भी अपनी आँखो का काँटा समझता है और उसकी निर्मम हत्या करना चाहता है। जब हंसाबाई को कृतघ्न भाई के कुचक्रों का पता चलता है तो उसका हृदय भी उसके प्रति घृणा से भर जाता है। वह धाय से अपनी व्यथा सुनाती हुई कहती है—

१ अंधी गली (प्रथम संस्करण १९५६) पृ० ७२।

'तुमने देखा नहीं, रणमल की नीयत साफ नहीं। वह जब भी मोकल की ओर देखता है, उसकी दृष्टि उसके मुकुट पर जम जाती है। उसकी आखो में लालसा कॉंपा करती है। मै डर जाती हूँ।' 'उसने मेरे भाई और मॉं की हत्या कर दी हाय! उसे यहाँ क्या प्राप्त नहीं था? क्यो न उससे अपने छोटे भाई का मुख देखा गया? मै उस पर प्रकट नहीं होने देती। मै अपने व्यवहार मे अन्तर नहीं आने देती, किन्तु मा, तुम जानती हो, मेरे हृदय मे कैसा बवण्डर उठ रहा है, इस हत्यारे के प्रति मेरे हृदय मे घृणा की कैसी आग जला करती है?"[1]

निश्चय ही रणमल के प्रति घृणा की यही आग पाठक या दर्शक के मन में भी प्रज्वलित रहती है, यही आग इस नाटक की शक्ति है। सम्पूर्ण नाटक छल, हत्या, प्रतिशोध, उत्पीडन, युद्ध और संघर्ष से भरा हुआ है। हम तो कहेंगे कि यह ऐतिहासिक नाटक, वीभत्स रस के इस प्रकार पूर्ण परिपाक के कारण, अश्क जी के कई समस्या-नाटको से अधिक सशक्त रचना है। रणमल के अत्याचारो के प्रति आक्रोश व्यजित करते हुए दो सिसौदिया पहरेदार वार्तालाप करते है—

पहला—युवराज (चण्ड) नहीं आये। यह अत्याचार अब असह्य हो रहा है। कुचक्रों की बेडियो मे जकडा हुआ मेवाड़ आर्त्तनाद कर उठा है।...किसी बहिन-बेटी की इज्जत सुरक्षित नहीं। अत्याचारियो की क्रूरता के कारण मेवाड़ की ललनाएँ आत्म-हत्याएँ कर रही है। दिन-दहाडे डाके पड़ते है। जहाँ खुले दरवाजे कोई न आता था, वहाँ दिन को भी लूट का बाजार गर्म रहता है।

दूसरा—और डाकू कहीं बाहर से नहीं आते—रक्षक ही भक्षक है!"[2]

रणमल भारमली को जबरदस्ती पकड मॅंगाता है। वह भी उसे चालाकी से खूब शराब पिला देती है और मदहोश करके उसकी पगडी से ही उसे बाँध देती है और—

भारमली—(कमर से छुरा निकालती है) मडोवर के नारकीय कीडे, नीच पापी, नराधम! अब तेरा अन्तिम समय है। आज अपने अपमान का, नगर की निर्बोध, निरीह ललनाओ के अपमान का, कुमार राघव के अपमान और हत्या का—सबका इकट्ठा बदला चुकाऊँगी। प्रतिशोध मे जलती हुई मेरे हृदय की ज्वाला आज शान्त हो जायगी।"[3]

और पाठक के मन में धधकती हुई घृणा की ज्वाला भी उसकी मृत्यु से ही शान्त होती है। घृणा की इस पूर्ण तुष्टि के रूप मे ही नाटक की समाप्ति होती है।

अश्क जी के उपर्युक्त नाटक मे ऐतिहासिक नाटको की परम्परा का अच्छा

---

१. जय-पराजय (आठवॉं संस्करण, १९५६) पृ० १७३।
२. वही, पृ० १९७।
३ वही पृ० २०६

निर्वाह हुआ है। उन्होंने अधिकतर समस्या-नाटक या वर्तमान जीवन से सम्बन्धित नाटक लिखे हैं, और उनमें भी सामाजिक समस्याओं या कुरीतियों के प्रति तीव्र घृणा पैदा करने की बजाय वे हास्य-व्यंग्य का उद्देश्य अधिक रखते हैं। यही कारण है कि 'अलग-अलग रास्ते' जैसे एक-दो नाटकों को छोड़कर उनके प्रायः सभी नाटकों में हास्य का अधिक प्रयोग घृणा की तीव्रता को चर जाता है। और सच तो यह है कि इसी कारण उनके 'पैंतरे', 'अन्धी गली' आदि नाटक जीवन की समस्याओं के प्रति गम्भीर प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पाते। ऐसे नाटकों में हास्य भी विशेष रोचक नहीं बन पड़ा है।

सेठ गोविन्ददास ने अपने 'कर्त्तव्य' नाटक में राम-द्वारा शूद्र शम्बूक का वध कर्त्तव्य की पुकार बताया है। राम इसलिए तपस्या-रत शम्बूक को मारते हैं कि 'शूद्र का तपस्या करना प्रचलित धर्म के विरुद्ध है।' किन्तु जिस ढंग से राम का यह कर्त्तव्य-पालन प्रकट किया गया है, उससे राम के प्रति पाठक के मन में घृणा ही जगती है। शम्बूक स्पष्ट शब्दों में राम से कहता है—"सुनो राम, मुझे ज्ञात है कि राज्य में एक ब्राह्मण का पुत्र मरा है। मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे ब्राह्मण कुल-गुरु ने इसका कारण मेरी तपस्या बतलाया है, पर इसका यथार्थ कारण तुम्हारे राज्य की ब्राह्मण सत्ता है। ब्राह्मण यह मानते हैं कि हम शूद्रों को तप का अधिकार नहीं है। मैंने यह तप इसी मत के खण्डन के लिए किया है।...मैं योगबल के कारण जानता हूँ कि तुमसे इस जन्म में समाज की अनुचित मर्यादाएँ भी न टूटेंगी।"

कुछ संकल्प-विकल्प के पश्चात् राम अपना यही कर्त्तव्य ठहराते हैं कि मुझे शूद्र का वध करना चाहिए। शम्बूक के निकट जाकर वह फिर पूछते हैं, "तप छोड़ना तुम्हें स्वीकार नहीं है?"

शम्बूक—कदापि नहीं।

राम—सोच लो, अच्छी प्रकार विचार लो।

शम्बूक—(घृणा से मुस्कराकर) न जाने कितने काल से सोच और विचार लिया है।"[1]

राम प्रहार करके उसकी हत्या कर देते हैं। उनका यह कर्त्तव्य-पालन पाठक के मन में उनके प्रति घृणा ही उत्पन्न करता है। इस अनुचित कार्य को कर्त्तव्य कैसे माना जाय? स्वयं राम हत्या करने के पश्चात् कहते हैं—"लक्ष्मण, आह! लक्ष्मण, यह कैसी विडम्बना है? यह कैसा कर्त्तव्य है?"

उनके 'हर्ष' नाटक में बौद्ध धर्म और आर्य धर्म का संघर्ष प्रकट किया गया है। शशांक बोधिवृक्ष को गिरा देता है, बौद्ध भिक्षुओं पर अत्याचार करता है।

---

१ सेठ गोविन्ददास : नाटक-संग्रह (प्रथम संस्करण), पृ० ७५।

"(बोधिवृक्ष की दो शाखाएँ शब्द करती हुई गिरती है। उनके गिरने से एक भिक्षु चिल्लाकर रोने लगता है।)

शशाक—(उस भिक्षु के निकट जाते हुए निकट खडे सैनिक से चिल्लाकर) खीच लो इसकी जीभ और भर दो इसके मुँह मे धूलि। आर्य धर्म के शत्रुओ! अधर्मियो! पामरो! अभी क्या हुआ है, इस वृक्ष के पश्चात् तुम सब की यही दशा होगी, जो इस वृक्ष की हो रही है।"[1]

इस प्रकार के क्रूरतापूर्ण आचरण हमारी घृणा ही जगाते है।

'प्रकाश' नाटक सेठ गोविन्ददास का आधुनिक जीवन से सम्बन्धित नाटक है। इसमें सेठ जी ने वर्तमान जीवन-कुरीतियों को प्रकाशित किया है। राजा अजयसिंह अपनी पहली पत्नी पर कुलटा होने का आरोप लगा कर उसे घर से निकाल देते है। वे अपने विलासी जीवन और कुकृत्यो पर पश्चात्ताप करते हुए आत्म-भर्त्सना करते हैं :

अजयसिंह—आह! कल्याणी, वह सारी घटना आज फिर आँखो के सम्मुख घूम रही है। (जल्दी-जल्दी) उन ज्योतिषियो के झासे में आ, कि मुझ से उसे पुत्र न होगा, इन्दु-सदृश सुन्दर और विदुषी स्त्री के रहते केवल ३६ वर्ष की अवस्था मे तुमसे विवाह किया। उसके दो वर्ष के पश्चात् जब इन्दु के ही गर्भ रह गया तो उस पर व्यभिचार का सदेह कर, उसे घर से निकाल दिया। (हाथ मलते हुए) कल्याणी, कल्याणी, मैं स्वयं तो चरित्रहीन था ही, सारी सम्पत्ति नष्ट कर ही डाली, पर हाय! उस पतिव्रता पर सदेह का पाप क्यो किया?"[2]

इस नाटक मे सरकारी भ्रष्टाचार और स्वार्थी लोगो को खूब फटकारा गया है। सेठ दामोदरदास, मिनिस्टर धर्मपाल आदि हमारी घृणा के पात्र है। प्रकाशचन्द्र जनता का नेतृत्व करता हुआ कहता है—

प्रकाशचन्द्र—सुना है, दामोदरदास ने ग्राम-वासियों के लाभ के लिए एक नहर की योजना सरकार के सम्मुख उपस्थित की है। यह भी सुना है कि उसका ठेका उन्ही की कम्पनी को मिलेगा और कदाचित् पानी तक उस नहर में यथेष्ट न आवे?

कुछ जनता—धिक्कार है! धिक्कार है!

कुछ जनता—शेम-शेम! शेम-शेम!

प्रकाशचन्द्र—और आपके मिनिस्टर माननीय धर्मपाल भी इसमे मिले हुए है। इस सरकार की दशा तो आप जानते ही होगे।......सभी जगह अनर्थ ही अनर्थ हो रहा है!"[3]

१. नाटक-संग्रह (प्रथम संस्करण), पृ० ३०८।
२ वही पृ० ३४६।
३ वही पृ० ४०१ ४०२

अँग्रेजी शिक्षा-दीक्षा-प्राप्त दामोदरदास अपने माँ-बाप को ही गालियाँ सुनाता है, उन्हें मारने-पीटने पर उतारू हो जाता है। वह पक्का स्वार्थी है। प्रकाशचन्द्र के सच्चे भाषणों से चिढ़ कर वह उसके विरुद्ध झूठा अभियोग लगवाता है। अपने रुपयों के दबाव में डालकर राजा अजयसिंह से प्रकाशचन्द्र के विरुद्ध दरख्वास्त पर दस्तखत कराता है। वह विलासी और व्यभिचारी है। उसकी पत्नी रुक्मिनी को जब उसके चरित्र का हाल पता चलता है, तो वह उसे फटकारती है—

रुक्मिनी—(क्रोध से) मैंने आपसे कह दिया कि मुझे डियर न कहिए।······ नहीं मानेंगे, क्या आपके कारण मुझे यह घर भी छोड़ना पड़ेगा? मुझे अकेली पड़ी रहने दीजिए, आप जो चाहें, कीजिए, मेरे निकट न आइए। जाइए यहाँ से।"[1]

इस प्रकार 'प्रकाश' नाटक में भी बीभत्स रस का पर्याप्त प्रसार पाया जाता है।

'कुलीनता' नाटक में सेठ गोविन्ददास ने इतिहास के माध्यम से जातिगत ऊँच-नीच, भेद-भाव के प्रति पाठक की घृणा जगाई है। इस नाटक में धूर्त चण्डपीड हमारी तीव्र घृणा का आलम्बन है। वह अपने स्वार्थ की खातिर योग्य सैनिक यदुराय को इसलिए निर्वासित करा देता है कि वह अकुलीन होते कुलीन राजकुमारी से प्रेम करता है। वह परम भट्टारक को बहका कर कुतुबुद्दीन एबक की अधीनता स्वीकार करने के लिए राजी कर लेता है और महामन्त्री सुरभीपाठक को बन्दी बनाना चाहता है। वह रेवासुन्दरी से विवाह करके स्वयं कोशल का अधिपति बनना चाहता है। वह देवदत्त को महासेनापति बनाने का लोभ देकर उसकी पत्नी द्वारा रेवासुन्दरी को अपने पक्ष में कराना चाहता है। जब सुरभीपाठक यदुराय का साथ देता है, तो चण्डपीड ब्राह्मणों की एक सभा बुलाकर अकुलीन यदुराय की सहायता करने के कारण ब्राह्मण सुरभीपाठक को भी शूद्र घोषित करा देता है। कोशल के ब्राह्मण भी भय और लोभ से खरीद लिए जाते हैं। चण्डपीड अकुलीन गोंडों पर आक्रमण करता है, पर बुरी तरह हरा दिया जाता है। अन्त में यदुराय कोशलाधिपति बनता है और रेवासुन्दरी का उससे विवाह सम्पन्न होता है। देश से कुलीनता-अकुलीनता का भेद-भाव समाप्त करने का प्रयत्न किया जाता है।

मिश्र जी के 'गरुडध्वज' में यवन-कन्या का अपहरण करने वाला देवभूति तथा काशी की राजकुमारी वासन्ती को जबरदस्ती ब्याहने का अभिलाषी यवन मनेन्द्रि तथा विदेशी अत्याचारी हमारी घृणा के आलम्बन हैं। **'दशाश्वमेध'** में अंगारक और उसके साथी कुषाण सैनिक हमारी घृणा के पात्र हैं। अंगारक मथुरा की कुषाण राजकुमारी कौमुदी को हथियाना चाहता है। वह काशी छोड़कर मथुरा में ही रहने लगता है और राजकुमारी को अपनी भेंट तथा आग्रहों से तंग करने

---

१ वही पृ० ४७८-४७९

लगता है। किन्तु राजपुत्री का स्वाभाविक अनुराग वीरसेन नाग से होता है। वीरसेन अत्यन्त चरित्रवान् और प्रबल वीर है। अगारक द्वेषवश उसे मारने का षड्यन्त्र रचता है, किन्तु वीरसेन अपनी वीरता और बुद्धिबल से बच जाता है। वह अगारक को द्वन्द्वयुद्ध के लिए ललकारता है और द्वन्द्वयुद्ध मे पछाड देता है। अचानक अगारक के साथी कृपाण सैनिक वीरसेन पर आक्रमण कर देते है। किन्तु वीरसेन और उसके कुछ सहयोगी शत्रुओ का सहार कर डालते है। और इस प्रकार विजयी होकर वीरसेन अपनी प्रतिज्ञानुसार काशी मे गगा-तट पर अश्वमेध-यज्ञ करता है।

श्री उदयशंकर भट्ट के 'शक-विजय' नाटक मे अत्याचारी शक शासक, सैनिक और न्यायाधीश हमारी घृणा के आलम्बन है। अपने निजी और धार्मिक स्वार्थों के लिए देशद्रोह करके शको को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित करने वाला जैनाचार्य कालक भी हमारी तीव्र घृणा का पात्र बनता है। वह शको को बुलाने के लिए उनके पास जाता है और आर्यवर्त्त का राजाधिराज बनने का लोभ देता हुआ कहता है—

"मै तुम्हे हिन्दुग् देश का राजाधिराज बनने का आमत्रण देता हूँ साहि! सारी जैन प्रजा तुम्हारा स्वागत करेगी। तुम मज्दद्दान के राज्य से अपने अन्य साहियो के साथ भाग चलो। मै तुम्हे अवन्ती देश का राजाधिराज बनाऊँगा।"[1]

भारत को गुलामी की बेडियों मे जकडवाने वाले ये देशद्रोही कालक—ये जयचन्द हमारी घृणा के आलम्बन ही है। वरद देशद्रोही कालक को धिक्कारता हुआ कहता है, "शक विदेशी है। हम उनका अधिकार भारत पर सहन नही कर सकते। आचार्य कालक ने अपने लघु स्वार्थ के लिए महान् अनर्थ किया है। उन्होने ज्ञानी होते हुए भी देश की सस्कृति को, देश के धर्म को नही पहचाना। वे घोरतम अपराधी है।''' 'तुमने प्रतिहिंसा के लिए, आत्मज्ञान खोकर, विवेक को तिलॉजलि देकर, देश की छाती पर एक विदेशी को लाकर शासक बना दिया। तुम्हारे इस पाप का फल सारे देश को भोगना पडेगा। भारतवर्ष के इतिहास मे तुम्हारा यह घोर जघन्य कृत्य है। देश तुमको कभी क्षमा नही करेगा।"[2]

परन्तु जब कालक शक शासक साहि के अत्याचार देखता है, वह देखता है कि साहि उसकी पुत्री सरस्वती को भी अपने अन्त पुर में रखने की बात करता है और कहता है—"हम इस देश पर राज्य करेगे। सब विद्रोहियो को मार डालो। सारी सुन्दर स्त्रियो को हमारे हरम मे ले आओ। साहि की आज्ञा है।"—तो उसके ये शब्द सुनकर कालकाचार्य घोर पश्चात्ताप की अग्नि मे जलने है। आत्मग्लानि के रूप में उनकी घृणा और शकशासक को फटकार सुनिए—"तुम मेरी भूल के परिणाम हो अयोग्य व्यक्ति, तुम्हारा पतन निश्चित है। तुम मनुष्यता के शत्रु हो। मैं स्वय

१. उदयशकर भट्ट- 'शक-विजय' (प्रथम संस्करण १९४९) पृ० ७९।
२ वही पृ० १०१ १०२

तुम्हारा नाश करूँगा। मैंने कितना बड़ा पाप किया! धर्म के नाम पर देश को नरक बना दिया। मैं विभीषण बन गया। मैं पापी हूँ! पापी हूँ!! मैंने पाप किया है!"[1]

चतुर्थ अंक के द्वितीय दृश्य में शक न्यायाधीश, सैनिकों और साहि के अत्याचारों को सुनकर मानवता ही त्राहि-त्राहि कर उठती है! शक मन्दिर तोड़ डालते हैं, स्त्रियों पर मन-माना अत्याचार ढाते हैं, न्यायाधीश निरीह और निरपराध जनता को मनमाने दण्ड देता है, 'प्रत्येक नागरिक साहि के क्रोध में भस्म हो रहा है।' चन्द्र देश की शक्ति को संगठित करता है। वह धार्मिक विद्वेष में उलझे जैनों-कापालिकों, बौद्धों और ब्राह्मणों को सही मार्ग पर लाता है, और शकों को देश से मार भगाता है। तभी हमारी घृणा को तोष प्राप्त होता है।

श्री विष्णु प्रभाकर के मनोवैज्ञानिक नाटक 'डाक्टर' के अन्तिम पृष्ठों में नारी-समस्या का स्पष्टीकरण हुआ है। डा० अनीला के नर्सिंग होम में एक ऐसी मरीजा इलाज के लिए आती है, जिसके पति के साथ डा० अनीला (पहले मधुलक्ष्मी) का विवाह हुआ था, और तब कम पढ़ी होने के कारण, पति इंजीनियर शर्मा ने उसे छोड़ दिया था। इस नाटक में डा० अनीला के मानसिक द्वन्द्व को लेखक ने सफलता-पूर्वक प्रकट किया है। वह अपने पति से बदला लेने की स्थिति में होती हुई भी, अपने डाक्टरी आदर्श को निभाती है और पूरी दृढ़ता और लगन के साथ मरीजा का ऑपरेशन सफलतापूर्वक करती है। किन्तु अपने पति—उस दुष्ट व्यक्ति के साथ बोलना तो क्या, उसका मुँह देखना तक नहीं चाहती, जिसने उसके जीवन को अंधकारमय बना डाला था। जब इंजीनियर शर्मा को पता चलता है कि डा० अनीला उसकी परित्यक्ता पत्नी मधुलक्ष्मी ही है, तो वह उसे पुकारता रह जाता है, पर अनीला बात तक नहीं करती। तब दादा (अनीला का भाई) उसे धिक्कारता हुआ कहता है—"यही थी डा० अनीला, तुम्हारी पहली पत्नी मधुलक्ष्मी शर्मा, जिन्हें तुमने पन्द्रह वर्ष पहले इसलिये छोड़ दिया था कि तुम्हारे अफसर बन जाने के बाद वह तुम्हारे योग्य नहीं रही थी। कम पढ़ी-लिखी थी। सोसायटी में घूम-फिर नहीं सकती थी, बैठ-उठ नहीं सकती थी, खा-पी नहीं सकती थी''!

"मधुलक्ष्मी मर चुकी है। यह डा० अनीला है, और तुम्हारे लिए केवल डाक्टर।"[2]

इस प्रकार नारी-समस्या के साथ इस नाटक में ऐसे व्यक्तियों के प्रति घृणा उत्पन्न की गई है, जिनके अत्याचारों का नारी शिकार होती है।

श्री जगदीशचन्द्र माथुर के प्रसिद्ध नाटक 'कोणार्क' में महामात्य चालुक्य हमारी घृणा का पात्र है। वह उत्कल-नरेश महाराज नरसिंहदेव के यवन-विजय के लिए जाने पर स्वयं सब अधिकार ले लेता है और महाराज के विरुद्ध षड्यन्त्र रचता

१. वही, पृ० १०४।

२. विष्णु प्रभाकर डाक्टर (प्रथम संस्करण मई १९५८)-पृ० १३०।

है। वह कोणार्क के शिल्पियों और मजदूरो के प्रति अत्याचार करता है, उनको पुरस्कार की मुद्राएँ देना बन्द कर देता है। उसके अत्याचारों से 'ग्रामो मे रहने वाले सैंकड़ों-हजारों किसान, वन और अटीविका के शबर और वे अगणित मजदूर जिनके ढोये हुए पाषाणों को शिल्पी रूप देते हैं, सभी त्राहि-त्राहि कर उठते हैं।' वह स्वय महादण्डपाशिक बन कर कोणार्क मन्दिर मे महाराज को भी घेर लेता है। वह अत्याचारी, विश्वासघाती और उद्दण्ड बन जाता है। उसके विरुद्ध क्रोध और घृणा मे भरे शिल्पी धर्मपद के ये शब्द पाठक के मन मे उसके प्रति घृणा ही तीव्र करते है—"हाँ, मैं जा रहा हूँ। जिस नीच से आप भीख माँगते मै उसे भीख दूँगा, अपने प्राणों की भीख।' ··· आज शिल्पी पर अत्याचार का प्रहार हो रहा है, कला पर मदान्धता टूट पड़ी है। सौन्दर्य को सत्ता पैरो के तले रौंद रही है।··· ' कोणार्क एक पामर, पापी, अत्याचारी के हाथ का खिलौना बन जायगा। आतक के हाथो मे जकड़ी हुई कला सिसकेगी।"[1] और वह तथा उसका पिता विशु स्वय आत्मबलिदान देकर अत्याचारी चालुक्य को कोणार्क मन्दिर में ही मीठी नीद सुला देते है—वे 'शिल्पी का बदला' ले लेते है।

श्री वृन्दावनलाल वर्मा के 'ललित विक्रम' नामक नाटक मे दासप्रथा के प्रति घृणा जगाई गई है। नीलमणि एक वणिक है। वह अपने दास कपिजल को मारता है, उसके साथ अमानुषीय व्यवहार करता है और खाने को कुछ नही देता। यह विदेशी व्यापारी हमारी घृणा का पूर्ण पात्र बनता है। वह स्पष्ट कहता है कि हम भारत के कपिजल-जैसे दासो का शोषण करने आये है न कि पोषण करने। बेचारा कपिजल उस निर्दयी की मारपीट से तग आकर भाग निकलता है। उसकी सूजी हुई पीठ तथा दुरवस्था जहाँ उसके प्रति करुणा जगाती है, वहाँ ऋण देकर दास बनाने और अत्याचार करने वाले मणि के प्रति घृणा उत्पन्न होती है।

इस नाटक मे दभी और ढोगी ब्राह्मणों के प्रति भी घृणा जगाई गई है। मेघ एक ऐसा ही ब्राह्मण है, जो अपने दभ के कारण राजा के विरोध मे झूठा प्रचार करता है। वह कपिजल के विरुद्ध नीलमणि का साथ देता है, और अनापशनाप बक कर अपना प्रभुत्व जमाना चाहता है। ललित ऐसे व्यक्तियो के प्रति अपनी घृणा व्यजित करता हुआ कहता है—"पाखण्डी, बुरे कर्म वाले, बिल्ली और बगुले के ऐसे व्रत का रूप धरे हुए, वेदविद्या से शून्य ब्राह्मणो से बात भी न करे। इस प्रकार के ब्राह्मण बक और मार्जार-वृत्ति के नीचे अपने पाप छिपाकर अल्पबुद्धि और अबोध नर-नारियों की वचना और ठगी करते फिरते है। इनको तो पानी भी न दे। ये झूठे ब्राह्मण अधे नरक में गिरेगे।"[2]

---

१. जगदीशचन्द्र माथुर: कोणार्क (प्रथम संस्करण), पृ० ७०।
२ वर्मा (द्वितीय सस्करण १९५७) पृ० २७

वर्मा जी के 'हंस-मयूर' में नर-बलि करने वाले कापालिकों और धार्मिक विद्वेष के कारण शकों को आमंत्रित करने वाले देशद्रोही कालक के प्रति घृणा उत्पन्न की गई है। इस नाटक में धार्मिक द्वेष, पारस्परिक फूट, भेद-भाव आदि अनेक ऐसी बुराइयों के प्रति घृणा जगती है, जो भारत की दासता का कारण बनी।

इस प्रकार हिन्दी के अनेक नाटकों में बीभत्स रस की प्रचुर सामग्री पाई जाती है। पौराणिक नाटकों में अधिकतर व्यक्ति-चरित्रों के रूप में ही घृणा का प्रकाशन हुआ है। ऐतिहासिक-सांस्कृतिक रचनाओं में अधिकतर विदेशी आक्रमणकारी, राष्ट्र-द्रोही तथा अन्य खल पात्रों को घृणा का विषय बनाया गया है। वर्तमान सामाजिक बुराइयों का प्रकाशन नाटकों में अपेक्षाकृत कम हुआ है। वर्तमान युग में एकांकी बहुत लिखे जा रहे हैं। अतः हम आगे हिन्दी एकांकी साहित्य में बीभत्स-रस का अध्ययन करेंगे।

हिन्दी एकांकी में बीभत्स रस-चित्रण

●

हिन्दी एकाकी मे हिन्दी नाटक मे भी अधिक बीभत्स रस-चित्रण हुआ है। एकाकी का जन्म ही यथार्थवाद की क्रोड़ मे हुआ। इब्सन, जार्ज बर्नार्डशा पाश्चात्य लेखको के प्रभाव से हिन्दी एकाकी अपने जन्म से ही यथार्थ जीवन प्रस्तुत करने लगा। जीवन की अनेकानेक समस्याओ का प्रकाशन हमारे कारो ने किया है। पश्चिम से प्रभावित होते हुए भी हिन्दी एकाकी की मनो- र्वथा भारतीय है। भारतीय जीवन की ही अतरग झाकिया हमारे लेखको ने की है।

यद्यपि आधुनिक एकाकी का स्वरूप-विकास सन् १६३० के आसपास हुआ, कुछ प्राचीन ढग के प्रहसन और एकाकी नाटक भारतेन्दु युग से ही प्रचलित थे। जैसा कि कहा जा चुका है, भारतेन्दु युग नव-जागरण का सदेश लेकर राष्ट्रीय, सामाजिक और सास्कृतिक नवोत्थान के इस युग मे हमारे नाटक- ों जो प्रहसन और एकाकी लिखे, उन सब मे सामाजिक विकृतियो का ही न हुआ है। भारतेन्दु काल के अन्य नाटकों की तरह, प्रहसनो मे भी सामाजिक मद्यपान, जूआखोरी, वेश्यागमन, धार्मिक पाखण्ड, व्यभिचार, छुआछूत, गली- ढियाँ, सकीर्णता, पुरातन-पथी दृष्टिकोण, अग्रेजी सभ्यता और फैशन का हसा आदि कुरीतियो की आलोचना ही हमारे लेखको का उद्देश्य रहा। अन्तर इतना ही है कि इन एकाकियो और प्रहसनों की प्रवृत्ति हास्य-व्यंग्यात्मक अधिक गथ ही यह स्पष्ट है कि इस हास्य-व्यग्य के बीच मे बुराइयो के प्रति घृणा ही लेखकों का उद्देश्य है। भारतेन्दुकाल के नाटको की अपेक्षा एकाकियो हसनो मे यह सामाजिक उद्देश्य अधिक प्रकट हुआ है। भारतेन्दु के 'भारत- , 'वैदिकी हिंसा हिसा न भवति', 'भारत जननी', 'पाखंड-विडम्बना,' 'विषस्य- षधम्' आदि, प्रतापनारायण मिश्र के 'भारतदुर्दशा' तथा 'कलिकौतुक', ोलाल गोस्वामी का 'चौपट चपेट', राधाचरण गोस्वामी का 'तनमन धन गुसाई अपण तथा बूढ़े मुह मुहासे त्रिपाठी के कलियुगी विवाह तथा

'वेश्याविलास', कार्तिकप्रसाद खत्री का 'रेल का विकट खेल' आदि तत्कालीन समाज मे व्याप्त बुराइयो के प्रति घृणा ही जगाते है।

इन लेखको की प्रवृत्ति सुधारवादी थी। उन्होंने सामाजिक अनाचार के अनेक पहलुओ पर प्रकाश डाला। 'तन मन धन गुसाई जी के अर्पण' मे श्री राधाचरण गोस्वामी ने ढोगी महन्त-गुसाइयो की पोप-लीला का पर्दाफाश किया है। उनके 'बूढे मुँह मुँहासे' मे भगवद्भक्त लाला नारायणदास हमारी घृणा का पात्र बनता है। उसकी बूढी लोलुपता का अच्छा व्यग्य-चित्र प्रस्तुत किया गया है। प्रतापनारायण मिश्र ने अपने 'कलिकौतुक' मे तथा देवकीनन्दन त्रिपाठी ने 'सैकडो मे दस दस' मे बडे लोगो की चरित्रहीनता, व्यभिचार, मद्यपान, ढोग आदि को घृणा का विषय बनाया है। श्री देवकीनन्दन त्रिपाठी ने समाज की अनेक सामाजिक कुप्रथाओ कुरीतियों, दोषो, व्यसनो और अनाचारो पर निर्मम व्यग्य किया है। झाड-फूँक, जादू-टोना, अशिक्षा, बहुविवाह, बालविवाह, अनमेल विवाह, वेश्यावृत्ति, मद्यपान, बेईमानी, अधविश्वास, पुरोहितगिरी, लोभ, अपव्यय आदि अनेक सामाजिक दोषो पर व्यग्य से आक्रमण किया है और उनके व्यग्य-बाण इतने पैने है कि हृदय मे पैठते चले जाते है।[1]

इन लेखको का उद्देश्य नाटको मे सामाजिक और वैयक्तिक आचरण के घृणित रूप का चित्रण करके पाठको का चारित्रिक सुधार करना था। लाला काशीनाथ खत्री ने अपने 'ग्राम-पाठशाला' एकाकी की भूमिका मे नाटक पर चर्चा करते हुए कहा है—"नाटक की रचना के द्वारा मदिरापान, वस्त्र व्यसन, परस्त्रीगमन, असभ्य व्यवहार, बहुविवाह, चोरी, काम-क्रोध-लोभ-मोह दुशीलता, लम्पटता आदि की निन्दा ऐसी रीति से की जाती है कि बहुतेरे दुष्ट स्वभाव वाले इस के प्रभाव मे सुधरकर और कुछ-के-कुछ होकर नाट्य-भवन से निकलते है।"

भारतेन्दु जी के 'पाखड-विडम्बना' मे भिन्न-भिन्न धर्म-पाखडियो का बीभत्स रूप चित्रित किया गया है, जो अपने-अपने विकृत धर्म मे कट्टरता दिखाते हुए आपस मे झगडते है। भिक्षुक बुद्धागम का घृणित रूप देखिए, वह कहता है—'अले अले अहाहा!—इछ धलम्म मैं दोनो लोक का छुक है।"

"लहने को मिला घल छुँदलछा, अलु भोगन को मिली छु दल नाली।
लद्दु अनेकन भोजन को निले, छैन के हेत ए छेज छुखाली॥"[2]

इसी प्रकार कापालिक का रूप और भी बीभत्स है। बाह्य-आभ्यंतर दोनो की बीभत्सता मिलकर यहाँ बीभत्स रस का सुन्दर परिपाक बनाती है—

कापा०—अरे छपनक, सुन जो हम लोगो का धर्म्म है—

---

१. डा० रामचरण महेन्द्र : हिन्दी एकाकी—उद्भव और विकास। (प्रथम स०), पृ० ७५।
२ ... ली पहला खण्ड (नागरी प्रचारिणी सभा प्रथम सस्करण) पृ० ८९

"नित सीस के काटे लहू सौ भरे चरबी लगे मास को हौम करै ।
पुनि खोपडी ब्राह्मण जात की लाइकै पारन के हित मद्य भरै ।।
अरु काटि कै कठ कठोर तुरन्त के रक्तन कुम्भ भराइ धरै ।
मम देवता भैरवनाथ जू है, जिन्हें पूजत लोग अनेक तरै ।।"

वह दिगबर साधु के प्रश्न का उत्तर देता हुआ सासारिक भोग को ही मोक्ष बताता है—

"है न कछू बिन भोग के या जग, कौन जो दूसरो सुक्ख बतावै ।
मानि कै वेद न ज्ञानहि छाडि कै ह्वै पथरा निज मुक्ति बनावै ।।
पारबती सम प्यारिन सो बिहरै रति मै मुख सो मुख लावै ।
ह्वै शिव नाचै अनंद भरो जग मै मुख सो निज काल बितावै ।।"[1]

वह भिक्षुक और दिगंबर दोनो को अपने धर्म मे घसीटने के लिए कापालिनी का लोभ देता है और उनकी सगत कापालिनी से कराता है । उन पाखण्डियो को और क्या चाहिए था ! भिक्षुक खुशी से नाच उठता है—"वाहले, कपालिनी का लपतने का छुख !" कापालिक, भिक्षुक और दिगम्बर मद्यपान करते है और इस प्रकार अपने पाखडपूर्ण धार्मिक जीवन का बीभत्स रूप प्रकट करते है ।

'बैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में मांसाहारी मद्यप लोगो के व्यभिचारपूर्ण बीभत्स रूप का प्रकाशन हुआ है । ऐसे लोग शास्त्रो के आधार पर मास-भक्षण और मद्यपान को उचित बताते है । गृध्रराज ऐसे लोगों के महाराज है, जो 'कोटिन लवा बटेर के नाशक, वेद-धर्म प्रकाशक, मन्त्र से शुद्ध कर के बकरा खाने वाले, दूसरे के मास से अपना मास बढाने वाले' है । इनका पुरोहित मनु की साक्षी देकर कहता है—"न मास भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने" तथा—

"एहि असार संसार मे चारि वस्तु है सार ।
जूआ मदिरा मास अरु नारी-सग बिहार ।।"[2]

यह इन धर्म-ध्वजियो का सिद्धान्त है । ऐसे पुरोहितो, गुरुओ, ढोगियो को इस प्रहसन मे आड़े हाथो लिया गया है । चित्रगुप्त यमराज के सामने इन का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता हुआ कहता है—"महाराज, ये गुरु लोग है, इनके चरित्र कुछ न पूछिए, केवल दभार्थ इनका तिलक-मुद्रा और केवल ठगने के अर्थ इनकी पूजा, कभी भक्ति से मूर्ति को दडवत् न किया होगा पर मन्दिर मे जो स्त्रियाँ आई, उनको सर्वदा तकते रहे; महाराज, इन्होने अनेको को कृतार्थ किया है । और समय तो मैं श्री रामचन्द्र जी का, श्री कृष्ण जी का दास हूँ पर जब स्त्री सामने आवे तो उससे कहेगे मैं राम तुम जानकी, मै कृष्ण तुम गोपी और स्त्रियाँ भी ऐसी मूर्ख कि फिर इन लोगो

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ६० ।
२ वही, पृ० ७२

के पास जाती हैं, हा ! महाराज, ऐसे पापी धर्म-वंचकों को आप किस नरक में भेजियेगा।"[1]

उस युग में लोग मास-मदिरा-भक्षण को शास्त्रोक्त सिद्ध करके अपने अनाचार को उचित ठहराने का प्रयत्न करते थे, और मजे की बात यह कि यह सब धर्म की ओट मे किया जाता था। जब पुरोहित जी को यम के दूत पकड़ कर लाते है तो वह दुहाई मचाता हुआ अपनी सफाई पेश करता है—"दुहाई-दुहाई, मेरी बात तो सुन लीजिए। यदि मास खाना बुरा है तो दूध क्यो पीते है, दूध भी तो मास ही है—वैसे ही सुरापान बुरा है तो वेद मे सोमपान क्यो लिखा है और महाराज, मैंने तो जो बकरे खाए वह जगदंबा के सामने बलि देकर खाए,.........और महाराज, मै अपनी गवाही के हेतु बाबू राजेन्द्र लाल के दोनो लेख देता हूँ, उन्होने वाक्य और दलीलो से सिद्ध कर दिया है कि मास की कौन कहे, गोमास खाना और मद्य पीना कोई दोष नही, आगे के हिन्दू सब खाते-पीते थे। आप चाहे एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल मगा के देख लीजिए।"

इस पर यमराज उसे फटकारते हुए कहते हैं—"बस चुप, दुष्ट ! जगदंब कहता है और फिर उसी के सामने उसी जगत् के एक बकरे को अर्थात् उसके पुत्र को बलि देता है ! अरे दुष्ट, अपनी अबा कह, जगदंबा क्यो कहता है, क्या बकरा जगत् के बाहर है ? चांडाल सिह को बलि नही देता.........कोई है ? इसको सूचीमुख नामक नरक मे डालो। दुष्ट कही का, वेद पुराण का नाम लेता है। मास-मदिरा खाना पीना है तो यो ही खाने मे किसने रोका है, धर्म को बीच मे क्यो डालता है, बाँधो !"[2]

निश्चय ही यह अनुभाव-विधान बीभत्स रस का पोषक है। इस प्रसग मे व्यग्य भी घृणा स्थायीभाव के आश्रय प्रकट हुआ है। भारतेन्दु काल के उपर्युक्त सभी प्रहसनो और एकांकियो मे व्यग्य घृणा भी उत्पन्न करता है।

द्विवेदीकाल मे भी पूर्व-परम्परा पर कुछ प्रहसन और एकांकी लिखे गये, जिन मे बहुतों का विषय सामाजिक बुराइयो का प्रकाशन ही रहा। समाज की प्रचलित कुप्रथाओ पर व्यंग्य करने वालो मे जी० पी० श्रीवास्तव का नाम उल्लेखनीय है। उनका 'बंटाधार' और 'लकड़बाघा' सूदखोरो की चरित्रहीनता और घृणित छलयुक्त मनोवृत्ति को प्रकट करते है। डा० सत्येन्द्र का 'बलिदान' दहेज की सामाजिक बुराई के प्रति घृणा जगाता है। प० हरिशकर शर्मा का 'बिरादरी विभ्राट' छुआछूत और वर्ग-भेद की बुराई को प्रकाशित करता है। उनका 'बुढाऊ का ब्याह' अनमेल विवाह और दहेज-प्रथा पर चोट करता है। सुदर्शन जी ने 'आनरेरी मजिस्ट्रेट'

१. वही, पृ० ६०।
२. वही पृ० ६२-६३।

मे जनता के तथाकथित सेवकों के खोखलेपन का मजाक उड़ाया है। इसी प्रकार फैशन-परस्ती, भोगवाद, व्यभिचार, धार्मिक पाखण्ड, कन्या-विक्रय, अंधविश्वास, सकुचित धार्मिकता आदि के प्रति हमारे लेखको ने अपनी घृणा व्यजित की है। विदेशी शासन का कुचक्र भी इस समय घृणा का विषय बनने लगा था। अत. कुछ ऐतिहासिक और राष्ट्रीय एकाकियो मे विदेशी मुसलमानो तथा वर्तमान अग्रेजो की चरित्र-हीनता, अत्याचार, दमन-चक्र और भारतीयो के प्रति अमानुषीय अत्याचारों का खाका खीचा गया है। प्रेमचन्द जी ने अपने मौलिक एकाकी 'प्रेम की वेदी' मे धर्म की सकीर्ण प्राचीरो, रूढियो, वर्ण-भेद और सामाजिक ढकोसले पर तीखा व्यग्य करके उनके प्रति हमारी घृणा ही जगाई है।

द्विवेदी युग के अथवा सन् १६३० के पूर्व एकाकीकारो मे पाडेय बेचन शर्मा उग्र का विशेष महत्त्व है। उन्होने खूब जमकर समाज की पोल खोली है और उसकी घृणित परतो को एक-एक करके दिखाया है। कही हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य से उत्पन्न साम्प्रदायिक दगो की तुच्छता और मूर्खता का प्रकाशन हुआ है, तो कही अछूतो के प्रति अमानुषीय व्यवहार प्रदर्शित किया गया है। डा० नगेन्द्र के शब्दों मे "यह विद्रोह तामस की शक्ति लेकर आया, या यो कहे कि तामस मे सत् और महत् का अन्वेषण और अवतरण उनका प्रयत्न रहा है।"[१]

सन् १६३०-३५ के पश्चात् तो हिन्दी एकांकी मे सामाजिक चेतना बहुत ही उभर आई। जहाँ पूर्व-युग के लेखकों ने सामाजिक विद्रूपताओं के सामान्य सतही रूप का ही अधिकतर प्रकाशन किया था, वहाँ वर्तमान लेखको ने समाज के कोढ का आन्तरिक अन्वेषण किया और हास्य-व्यग्य के रूप मे ही नही, तीव्र क्षोभपूर्ण घृणा के रूप मे सामाजिक बुराइयो का पर्दाफाश किया। पूर्व-युग के लेखकों ने सामाजिक विद्रूपताओ का ही अवलोकन किया था, यही कारण है कि उनकी घृणा व्यग्य या हास्य के रूप मे प्रकट होकर अपना प्रभाव शिथिल ही कर देती थी, बाद के लेखकों ने सामाजिक कुरूपताओ का चित्रण किया और उनके प्रति पाठक की तीव्र क्षोभपूर्ण घृणा जगाई। सामाजिक समस्याओ को इन लेखको ने कुछ गहरे जाकर पकडा। पहले उपदेश देने की प्रवृत्ति के कारण भाव-सवेदना भी छिछल जाती थी, आज का लेखक सीधा उपदेश देने के पक्ष मे नही है, वह अपनी सवेदनाओ को तीव्र करता है।

हमारे एकाकीकारो ने जीवन की अनेक समस्याओं तथा सामाजिक और वैयक्तिक कुरूपता के अनेक पहलुओं को चित्रित किया है। अनेक सामयिक बुराइयो के बीभत्स रूप को प्रकट किया गया है। हमारी धार्मिक और सामाजिक संस्थाओ की पोपलीला का पाखण्डपूर्ण रूप भी लेखको की घृणा का विषय बना है। इन तथा-

---

१ डा० नगेन्द्र आधुनिक हिन्दी नाटक पृ १३७।

कथित सार्वजनिक संस्थाओं के खोखलेपन पर व्यंग्य के तीखे नश्तरों द्वारा आक्रमण करके हमारे लेखकों ने इनके प्रति हमारी घृणा जगाई है। श्री विष्णु प्रभाकर ने अपने 'शिव और शैतान' में तथाकथित नारी-उद्धारकों, ढोंगी समाज-सुधारकों की खबर ली है। अपहृत नारियों के उद्धार के नाम पर उनके भ्रष्टाचार की पोल इस एकांकी में अच्छी तरह खोली गई है। इसी प्रकार श्री रामचन्द्र तिवारी के 'श्री श्री नारी उद्धारक लिमिटेड' में विधवा-आश्रमों में होने वाले पापाचार का पर्दाफाश किया गया है। फिल्मी जगत् के बीभत्स रूप का चित्रण करने वाले भी कुछ एकांकी प्रणीत हुए है, जैसे श्री मधुकर खेर का 'फिल्मी दुनिया' जिसमें लेखकों का शोषण करने वाले सिनेमा के निर्देशक हमारी घृणा के आलम्बन बनते है।

ढोंगी साधुओं, महंतों, और धर्म-ध्वजियों का भंडाफोड तो कई एकांकियों में हुआ है। श्री मधुकर खेर का 'कलियुगी अवतार' भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। इसी प्रकार 'नीम हकीम' और ढोंगी डाक्टरों की भी कई एकांकियों में खबर ली गई है, जैसे, अश्क जी के 'आपस का समझौता', श्री रामगोपाल शर्मा के 'पत्थर-तोड भस्म' मे स्वार्थी और ढोंगी वैद्यों तथा डाक्टरों की दुष्प्रवृत्ति और छल-कपट का चित्रण हुआ है। इसी प्रकार श्री चन्द्रकिशोर जैन का 'अस्पताल का कमरा', डा० रामचरण महेन्द्र का 'रोगी तर गया' आदि आज के अस्पतालों के दूषित वातावरण, घूँस, पक्षपात, तथा लूट-खसोट का चित्रण करते है। स्वास्थ्य-लाभ कराने की बजाय ये अस्पताल रोगी को मार ही डालते है।

आधुनिक समाज में स्वार्थी और ढोंगी व्यक्तियों के अनेक रूप-प्रकार विकसित हुए है। कोई नेतागीरी का ढोंग रचता है, और झूठी बाते बनाकर, नीति और आदर्श की डींगे मारकर जनता से वोट लेता फिरता है। नेतागीरी एक पेशा ही बन गया है। इसी की आड मे डिपो उड़ाना, रिश्वत खाना तथा अन्य स्वार्थसाधना ही ऐसे नेताओं का काम रह गया है। कोई मिनिस्टर बनने के ख्वाब लेता है, चाहे पढा एक अक्षर न हो। सेठ गोविन्द दास का 'सुदामा के तंदुल', अश्क का 'अधिकार का रक्षक' तथा उदयशंकर भट्ट का 'नेता' आदि एकांकी ऐसे ढोंगी नेताओं की ही पोल खोलते है।

हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक झगडों, धार्मिक कट्टरता और विद्वेष तथा धर्मान्धता की विभीषिका भी अनेक एकांकियों मे प्रकट हुई है। धार्मिक विद्वेष से अन्धा होकर मानव कैसे दानवीय कार्य करने लगता है, इसका बीभत्स रूप अश्क जी के 'तूफान से पहले', सेठ गोविन्ददास के 'ईद और होली', उदयशंकर भट्ट के 'पिशाचों का नाच' और 'एक ही कब्र में' आदि में प्रकट हुआ है। वैवाहिक जीवन और काम-सम्बन्धी समस्याओं तथा पारिवारिक जीवन की कुरूपताओं के अनेक चित्र अनेक एकांकियों मे मिलते है। 'लक्ष्मी का स्वागत' (उपेन्द्र नाथ अश्क) में पुत्र की पहली पत्नी की मृत्यु पर दूसरी लक्ष्मी के स्वागत की उत्सुकता में माँ-बाप की हृदय-हीनता

'शाप और वर' (सेठ गोविन्ददास) मे पुरुष का नारी के प्रति अत्याचार आदि सामाजिक विकृतियो पर प्रकाश पडा है। इसी प्रकार दहेज की प्रथा, विधवा-विवाह, अनमेल विवाह आदि अनेक समस्याओ को एकाकियो मे उतारकर हमारे एकाकीकारो ने सामाजिक बुराइयो के प्रति घृणा जगाई है। शोषण—विशेषकर जमीदारी शोषण की घृणित पद्धति को प्रकाशित करने वाले एकाकियों की भी कमी नहीं है।

मुनाफाखोरी, कालाबाजारी और घूँस या रिश्वत के बीभत्स रूपो का प्रकाशन भी कम नही हुआ है। रिश्वत और घूँस-खोरी के कलक को भी विश्वनाथ धवन ने अपने 'घूँस' एकाकी मे प्रकट किया है। बगाल के अकाल की सामाजिक समस्या पर भी संवेदनाये जगाने का प्रयत्न कई एकाकियो मे हुआ है। शिवदानसिंह चौहान का 'मरने दो', श्री शम्भूनाथसिह का 'मृत्यु की छाया' आदि एकांकी उल्लेखनीय हैं। ऐतिहासिक और राष्ट्रीय रचनाओ मे देश-द्रोहियो, कायरो, विदेशी आक्रमणकारियो और उत्पीडको तथा जातीय भेद-भाव रखने वालो के प्रति घृणा उत्पन्न की गई है।

सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि हिन्दी एकाकियों मे व्यक्ति और समाज की विकृतियो तथा अनेक जर्जरित सामाजिक रूढियो का प्रकाशन हुआ है। बीभत्स रस का पर्याप्त प्रसार इन एकाकियो में स्पष्ट है। अनेक एकाकी ऐसे है, जिनमे आद्योपात बीभत्स रस की ही प्रधानता है। आगे हम कुछ एकाकियो से बीभत्स रस के उदाहरण प्रस्तुत करेंगे, ताकि पाठको को हिन्दी-एकाकी मे बीभत्स-रस-प्रसार स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाए।

श्री विनोद रस्तोगी के लगभग सब एकाकियो मे बीभत्स रस का चित्रण हुआ है। कई एकाकी जैसे 'दो चॉद', 'पुरुष का पाप', 'पैसा, जनसेवा और लडकी' आदि तो बीभत्स रस-प्रधान ही है। 'पैसा, जनसेवा और लड़की' मे रस्तोगी जी ने अनाथालयों, आश्रमो तथा नारी-उद्धार-सदनो मे होने वाले व्यभिचार के प्रति घृणा जगाई है। 'सोना और मिट्टी' मे उच्च कहलाने वाले वर्ग की उस घृणित मनोवृत्ति का चित्रण हुआ है, जिसके कारण वे निम्न वर्ग के लोगों को बुरा और बेईमान समझते है। उनकी निम्न वर्ग के प्रति घृणा ही हमारी घृणा का विषय बनती है। 'प्यार और पैसा' में आधुनिक भोगवादी सस्कृति और उसका प्रतिनिधित्व करने वाली एक आधुनिक महिला को घृणा का आलम्बन बनाया गया है। उक्त आधुनिक नारी अपने सच्चे प्रेमी को केवल इसलिए ठुकरा देती है कि वह गरीब है, और उसे कार, कोठी, नौकर, ठाठ-बाठ का जीवन प्राप्त कराने मे असमर्थ है। ऐसी विलासितापूर्ण संस्कृति पर लेखक ने इस मे करारा व्यग्य किया है। "पैसा, पत्नी और बच्चा' मे पुरुष-प्रधान समाज मे पैसे से खरीदी गई एक धनी वृद्ध की ऐसी पत्नी का चित्र है, जो अपने पति और पुरुष-समाज से बदला लेने के लिए स्वय पैसे से पुरुषो को खरीदती है, अपनी वासना की तृप्ति करती है और पुरुषों को अपना दास बनाती है तथा अपने वृद्ध पति को रुलाती है

'पुरुष का पाप' संग्रह के तथा 'कालादाग', 'कसम कुरान की', 'मालवी विजय' गदि एकाकी ऐतिहासिक धरातल पर रचे गए है। 'कालादाग' मे अकबर की कूट-नीति को घृणा का विषय बनाया गया है। अकबर किस प्रकार छल-बल-रिश्वत आदि से गढ जीतता था, यह इस एकांकी मे प्रकट किया गया है। 'कसम कुरान की' मे शेरशाह के छल की कहानी है। उसने कुरान की कसम खाकर गढ-पति पूरनमल को धोखा दे कर गढ़ जीता था। 'पुरुष का पाप' सग्रह के 'दो चॉद', 'आकाश पाताल', 'सौन्दर्य का पश्चात्ताप' आदि एकाकियों मे विदेशी आक्रमणकारियो के अत्याचार, छल, कूटनीति आदि का घृणित रूप प्रकट किया गया है। उनके 'पुरुष का पाप' नामक एकाकी मे राजा दण्ड हमारी घृणा का आलम्बन है। वह अपने राजमद से ऋषि-कन्या 'अरजा' पर बलात्कार करता है। अरजा क्षोभ और घृणा से भर जाती है :

दण्ड—मेरे पास व्यर्थ का उपदेश सुनने का अवकाश नही है। देवि ! आओ और मधुर आलिंगन मे मुझे तृप्त करो !

अरजा—(पीछे हटकर) आप मेरे शरीर के भूखे है, मेरे मास के भूखे हैं। आप मनुष्य नही, मनुष्य के वेश मे मास-भक्षी हिसक पशु है।[1]

लोलुप दण्ड जबरदस्ती पकडना चाहता है। वह बेचारी छूटने का निष्फल प्रयास करती हुई उसे दुष्ट ! पापी ! पामर ! कामी कुत्ते, भूखे भेड़िये आदि शब्दो द्वारा फटकारती रह जाती है !

दण्ड के साथ ही आश्रमवासी और ऋषि भार्गव भी हमारी घृणा के ही पात्र बनते है। वे उसे पतिता मानकर आश्रम से निकालना चाहते है।

एक आश्रमवासी— उसे न छुओ जया ! वह अपवित्र है, भ्रष्टा है !

दूसरा आश्रमवासी—हॉ जया ! दूर हट जाओ ! अरजा अब इस आश्रम मे रहने योग्य नही है।

भार्गव (अरजा की ओर मुडकर)—ओ कुल-कलकिनी ! जन्म के साथ ही तूने मृत्यु का आह्वान क्यो न कर लिया ?

अरजा—(भीगे स्वर मे) पिताजी........!

भार्गव—चुप रह ! तेरे पाप का यही प्रायश्चित्त है कि तू इसी आश्रम मे एकाकी रह कर कठिन तप कर। यही तेरे लिए उचित दण्ड है।

अरजा—पाप ? मैने कोई पाप नही किया है ! दण्ड के पाप के लिए आप मुझे दण्ड दे रहे है ! पुरुष के पाप के लिए नारी को दण्ड दिया जा रहा है ! क्यो ? क्योंकि आप भी पुरुष है।"[2]

---

१ विनोद रस्तोगी पुरुष का पाप एकाकी सग्रह (द्वितीय १९५३) पृ० ११
२. वही, पृ० १५ १६

रस्तोगी जी के 'दो चांद' एकाकी मे ऐतिहासिक वृत्त के सहारे मुहम्मद बिन कासिम और दमिश्क के खलीफा वलीद के प्रति तीव्र घृणा जगाई गई है। कासिम अपने काले कारनामो की डीग मारता हुआ वलीद के सम्मुख अपनी बहादुरी का इस प्रकार वर्णन करता है—

'कासिम—हजूर का फरमान पाते ही मै हिन्दोस्तान पर उसी तरह टूट पड़ा जैसे परिन्दों के झुण्ड पर बाज टूटता है। हम जिधर जाते थे, उधर काफिरो का सफाया हो जाता था। हमने खून के दरिया वहा दिये आली जाह! और उन दरियाओ में सर ही सर तैरते दिखाई देते थे।

वलीद—बहुत खूब कासिम, बहुत खूब! दास्तान जारी रहे!

कासिम—देबुल...... शहर पर हमारा कब्जा हो गया। शहर वालो ने चूंकि इस्लाम को कबूल करने से इन्कार किया, इसलिए ११ साल से ऊपर के लोगो को मौत के घाट उतार दिया और बच्चो व औरतो को गुलाम बना लिया, आलीजाह!

वलीद—(उत्सुकता से) और उस मन्दिर का क्या हुआ?

कासिम—उसे तोड कर वहाँ एक मस्जिद बनवा दी है, आली जाह!

वलीद—(सतोष से) ठीक किया। आगे का बयान जारी रहे।

कासिम—"...हिन्दोस्तान वाकई हिन्दोस्तान है। हजारो मन सोना, सैकडो बेश-कीमती हीरे और लाखों गुलाम लाया हूँ अपने साथ। गुलाम दमिश्क के बाजार मे बेचे जायेगे। करोडो दीनार शाही खजाने मे बढ जायेगे।

"......हिन्दोस्तान हर मानी मे जन्नत है। जन्नत मे भी वैसी हूरे न होगी जैसी वहाँ है......मैं हुजूर के हरम के लिए हिन्दोस्तान से दो नायाब मोती लाया हूँ।"[१]

कासिम लुटेरे की यह सारी कैफियत उसके तथा वलीद के प्रति हमारी तीव्र घृणा जगाती है। जब सूर्यदेवी और परमलदेवी अपनी युक्ति से कासिम को वलीद के हुक्म से मरवा देती है, तभी हमारी घृणा को तोष प्राप्त होता है। वे दोनो कासिम की लाश को ठुकराती हुई कहती है—"नीच, पापी, कमीने! मिल गया तुझे अपने कर्मों का फल!" इस प्रसग मे मति, व्यग्य, धृति, क्रोध, भय, उत्सुकता, विस्मय, साहस आदि अनेक संचारी भाव प्रकट हुए है।

उनके 'प्यार और प्यास' एकाकी में जयसिह हमारी घृणा का विषय बनता है। वह बडी क्रूरता से सोरठ पर अधिकार पा लेता है, राणा खगार और उसके अबोध बच्चो को बेरहमी से कत्ल कर देता है और रानी रानकदे को पाना चाहता है।

१ पुरुष का पाप पृ० ४६ ५२

"जयसिह—ले जाओ इन विषैले कीडो को और कर दो धड से इनके सिर अलग। खगार का वश ही मै नष्ट कर दूँगा।

(सैनिक कुमारो को पकड़ कर बाहर ले जाते हैं। रानकदे रोकने के लिए उठकर दौडती है। जयसिह उसे पकड़ लेता है। बाहर से कुमारों की चीख आती है।)

रानकदे—दुष्ट! उन अबोध बच्चो ने क्या बिगाडा था तेरा जो उनकी हत्या करवा दी? हत्यारे, यदि तुझे रक्त की ही प्यास थी तो मेरा सिर काटता।

जयसिह (हंसकर)—युद्ध और प्यार में सब कुछ उचित है।

रानकदे—(घृणा से) थू है तेरी राजनीति पर!

जयसिह—(हँसकर) रुष्ट हो गई? मैने तो कुमारो को यह भूलने के लिए मार्ग से हटाया कि मेरी रानक दो बच्चों की मां है। मैंने तो तुम्हारा कौमार्य तुम्हे लौटा दिया है। अब तुम अखण्ड-यौवना रहोगी।

रानकदे—(क्रुद्ध स्वर मे) नीच, पापी, दुष्ट! धिक्कार है तुझ पर! तूने इसलिए मेरे अबोध कुमारो की नृशस हत्या की कि मैं अखण्ड-यौवना रहूँ! जा मै तुझे शाप देती हूं कि तेरी पत्नी सदैव अखण्ड-यौवना रहेगी, उसका यौवन नष्ट करने के लिए उसकी कोख में कभी कोई पुत्र न आयेगा।"[१]

यहाँ थू करना (थूकना), धिक्कारना, फटकारना तथा अभिशप्त करना आदि अनुभाव स्पष्ट है।

'सौन्दर्य का प्रायश्चित्त' नामक एकाकी मे चित्तौड के एक सरदार की वीर पुत्री विद्युत् अपने भावी पति को उसके देशद्रोह पर धिक्कारती है। समर एक वीर सैनिक है, पर अपने स्वार्थ के लिए—वजीर बनने के लिए—यवनो के साथ मिल जाता है। समर तेजी के साथ विद्युत् के पास आता है और उसे तुरन्त भाग चलने को कहता है। उनका वार्तालाप सुनिये—

विद्युत्—तुम कहते हो भाग चले। पर नगरवासियो को इस विपत्ति मे छोड़कर? जन्मभूमि को शत्रुओ के अपावन पैरो से दलित होते छोडकर? क्या यही हमारा क्षात्र धर्म है? यही हमारी पुरातन गुरुता है?

समर—तर्क न करो प्रिये,..........कही दूर चलकर विश्व के एकान्त कोने मे प्रेम की वंशी बजायेंगे, मुक्त विहग की भॉति स्वच्छ नीलाकाश मे उड़ेंगे।

विद्युत—चुप रहो समर! तुम चुप रहो!! रण-बेला मे शृगार का गीत न गाओ गायक!.........यह जघन्य कृत्य मुझ से नही हो सकेगा। प्रियतम! आँखे खोलो। यदि आप आज कर्त्तव्य से विमुख हो गए तो इतिहास पुकार-पुकार कर कहेगा कि प्रेम मे अंधा होकर एक राजपूत देश-द्रोही बन गया। देशद्रोही? हाँ, मैं

---

१ पुरुष का पाप पृ० ७१ ७

इसे देश के प्रति विश्वासघात ही कहूँगी।..........धिक्कार है तुम्हे ! उतार डालो अपने ये सैनिक वस्त्र और पहन लो ये चूड़ियाँ।..........तुम्हारी माँ-बहनो का सतीत्व-रत्न लुटेरे लूट लेंगे और तुम्हारी आँखे..........। चले जाओ यहाँ से। कायर हो तुम। नीच, कुत्सित !"[1]

जब विद्युत को पता चलता है कि समर ने ही यवनों को गुप्त मार्ग तथा अन्य भेद बताकर जेय कराया है, तो उसकी घृणा और भी प्रचण्ड हो जाती है।

विद्युत—(क्रोध से काँपती हुई) अब समझी। पापिष्ठ ! नीच !! तूने अपने हित के लिए अपने देश को परतन्त्रता की बेड़ियाँ पहना दी। अपनी कामनापूर्ति के लिए सहस्रो नर-पुगवो को मृत्यु के घाट उतरवा दिया। क्यो ? क्या यही तेरा प्रेम था ? यही तेरी साधना थी ? जा, पहन जाकर वजीरी का मुकुट। झुका जाकर अपने स्वामी के चरणो मे सर। चुप क्यो है ? तुझे तो हसना चाहिए ! हस ! अत्यन्त जोर से हंस ! विजय की रागिनी छेड, दिवाली मना। (विद्युत घृणा भाव से पृथ्वी पर थूकती है)।"[2]

समर अब भी प्रणय-याचना करता है। वीर नारी का हृदय घृणा और क्रोध से जल रहा है। वह उसे स्पष्ट सुनाती है—"भूल जाओ वह सपना ! मेरा समर तो मर गया। तुम समर नही, उसकी प्रेतात्मा हो ! दूर हो जाओ मेरी दृष्टि के आगे से।" समर क्षमा-याचना करता है। विद्युत की घृणा-भरी वाणी फूटती है :

विद्युत—क्षमा ? (हंसती है) क्षमा माँगो जाकर अपने महाराणा से, जिन के साथ तुमने विश्वासघात किया, क्षमा माँगो पावन चित्तोड़-भूमि से जिसे तुमने नरक मे भी भयकर बना दिया, क्षमा माँगो उन नारियो के आँसुओ से जिनके भाई, पति, पुत्र अथवा सम्बन्धी काल के कौर बने, क्षमा माँगो उन अनाथो से जिन्हें तुमने महानाश की ज्वाला मे फेक दिया, क्षमा माँगो जाकर देशवासियो से जिनके गृह-द्वार तुमने लुटवा दिये, क्षमा माँगो अपने क्षत्रित्व से जिसे तुमने कलकित कर दिया। मै कौन हूँ क्षमा देने वाली ? मै तो स्वय पाप की ज्वाला मे दग्ध हुई जा रही हूँ। तुम्हारे कलक की कालिमा से मेरा सौदर्य भी कलंकित हो गया है। अब उसे रक्त की धारा ही पवित्र कर सकेगी।"

प्रेमी-हृदय अपने प्रिय को जघन्य कार्य करते देखकर आत्मग्लानि से भर जाता है। घृणा के सचारी रूप मे यहाँ लज्जा, आत्मग्लानि, क्रोध आदि भाव स्पष्ट है। "मुझ से क्षमा माग कर क्या अब सौदर्योपभोग का स्वप्न पूरा करना चाहते हो ? यदि क्षमा ही मागनी है, तो उन सबसे मागो जिन-जिन के तुम अपराधी हो।"—और

---

१ पुरुष का पाप- पृ० १०७-१०८।

२ वही पृ० ११०

इस फटकार, इस शक्तिपूर्ण भर्त्सना को समर सह नही सकता था। वह पश्चात्ताप और ग्लानि से भर कर आत्महत्या कर लेता है।

'आकाश पाताल' एकाकी मे उच्च के दुर्गपति की पत्नी (रानी) आक्रमणकारी गौरी से गुप्त सधि या मत्रणा करके पहले सेनापति को भडकाकर महाराज को मरवा देती है और फिर सेनापति को बन्दी बना लेती है। उसकी पुत्री राजकुमारी शालिनी अपनी माँ के इस कुकृत्य पर कहती है—मैं स्वप्न देख रही हूँ या जागती हूँ माँ ?

रानी—(मृदु स्वर मे) तू जाग रही है ! तेरे ही सुख और भविष्य के लिए मै यह सब कर रही हूँ।

शालिनी—मेरा भविष्य ?

रानी—हाँ, अब तू मुहम्मद गौरी-जैसे साहसी और वीर पुरुष की पत्नी बनेगी। गौरी ने तुझ से विवाह करने का वचन दिया है।

शालिनी—वचन.........?

रानी—हाँ, बेटी ! इसी सौदे पर ही तो मै तैयार हुई थी। दुर्ग का गुप्त द्वार भी खोल दिया और महाराज को भी मार्ग से हटा दिया।

शालिनी—(उठकर) मैं जन्म लेते ही मर क्यो न गई ? आपने मेरे लिये—केवल इसलिए कि मै गौरी की दासी बन सकू, इतना महगा सौदा किया ! देश के साथ द्रोह, पति की हत्या, शेरसिह के साथ विश्वासघात ! आपको माता कहने मे भी मुझे लज्जा आती है।"[1]

मुहम्मद गौरी को जब रानी शालिनी के साथ विवाह करने को कहती है तो वह हसकर उत्तर देता है—बहुत भोली हो तुम ! क्या तुमने यकीन कर लिया था कि मैं तुम्हारी दुख्तर से शादी कर लूगा ? तोबा, तोबा ! एक काफिर लडकी से शादी !

रानी—(घबराकर) ऐसी हसी ठीक नही ! मैने अपना वचन पूरा कर दिया। अब आपकी बारी है।

मुहम्मदगौरी—करूँगा, जरूर करूँगा। यह नाज़नीन मुझे पसद है। (कठोर स्वर मे) पर मैं इसे मल्का नही, बाँदी बनाऊँगा। यह मेरे हरम मे रहेगी !

रानी उसकी भर्त्सना करती है, किन्तु गौरी उसे कैद कर लेता है। फिर वह शालिनी की ओर बढता है। कहता है—चलो जाने-मन ! आज की फ़तहयाबी की खुशी मे मेरी आगोश तुम्ही आबाद करो !

शालिनी—(भयंकर स्वर मे) चुप रह कुत्ते ! मै भारतीय नारी हूँ। मुझे अबला न समझ ! मुझे छूने से पहले तू भस्म हो जायगा।

पर गौरी लोलुप क्यो बाज़ आने लगा ! भारतीय ललना कटार के एक हाथ

---

१ पुरुष का पाप, पृ० ८६–७

से ही आत्महत्या कर लेती है। इस एकाकी मे रानी और मुहम्मद गौरी दोनो हमारी घृणा के आलम्बन बने है।

सेठ गोविन्ददास के कई एकाकियो मे बीभत्स रस का सुन्दर प्रकाशन हुआ है, उनके मोनो ड्रामा 'शाप और वर' का सम्पूर्ण पूर्वार्द्ध बीभत्स रस से ओत-प्रोत है। इसमे मरणासन्न प्रसूता अपने क्रूर पति और घृणित हिन्दू समाज को खरी-खरी सुनाती है। उसकी घृणा भारतीय नारी-आत्मा का स्वत स्फुरित भावोच्छ्वास है।

"स्त्री—(घृणा से मुस्कराकर) क्रोध आता है? मेरी भावना-मात्र पर क्रोध! क्यो न आयगा? स्त्री तो अन्य साम्पत्तिक वस्तुओ के समान पुरुप की खरीदी हुई चीज है न? फिर जीवन रहते हुए भी तुम पुरुप उसे निर्जीव मानते हो। उसके हृदय मे काम की उत्पत्ति पाप है, क्रोध का प्रादुर्भाव अक्षम्य, पर क्यो.......आखिर क्यो?

"........सतान न होने मे मेरा दोष, तुम्हारा नही? सास कई दफा कहती मुझे—बांझ, पत्थर, खुडपगी। कुछ दिनो के बाद ससुर जी भी कहने लगे—मा के जब एक ही लड़की है, कोई लड़का नही, तो हमारा बंश ही इस बाझ से कैसे बढेगा? यह अपनी मा से एक कदम और बढ गई!' मुझ पर ही नहीं, अब मा-बापो पर भी यह प्रहार हुए (फिर कुछ ठहर कर) तब.......तब जानते हो मेरे मन मे क्या उठा? .....मेरे मन मे यह उठा कि सतान न होने मे किस का कसूर है, मेरा या तुम्हारा, यह तो मैं बहुत जल्दी सिद्ध कर सकती हूँ।

"...... मुझे मालूम था, तुम आते हो बिना किसी तरह के प्रेम के, मेरी हड्डियों, मास और खून से एक पुतला उत्पन्न कराने, जिसकी तुम्हारे वश के लिए, तुम्हारी सपत्ति, तुम्हारे वैभव के उत्तराधिकार के लिए जरूरत है........उस कुटुम्ब, उस घर, जिसके लिए मेरे हृदय मे स्नेह और अनुराग के अवशेष का अवशेष भी शेष नही था। उस समय..... उस तुम्हारे आने से मेरे हृदय में विरक्ति, महान विरक्ति की उत्पत्ति हुई।

"........आश्चर्य होता है? क्यो न हो? पुरुप हो न पुरुष!........मुझे मरुभूमि बना, उस पर प्रणय की वर्षा बरसाये बिना, उससे तुम फसल चाहते थे? तुम्हारी मशीन-सी मुद्रा मुझे उसका एक पुर्जा बना सकती थी, सच्ची स्त्री नही। जब यह पुर्जा न चला, मशीन जाम हो गई, तब नये पुर्जे लाने की बात चली। तुम्हारा दूसरा विवाह! ऐसे पतित, ऐसे अधम, ऐसे राक्षस के हाथ मे एक और आत्मा, एक और हृदय देकर उसके विनाश का यह विकट आयोजन! धनवानो मे सतति की यह चाहना और उसके लिए यह हृदय को कपा देने वाला बलिदान!........एक पत्नी रहते हुए भी उसकी और शादियाँ हो सकती हैं! क्यो नही? सम्पत्ति के

को उत्पन्न करने वाली स्त्री भी जावित सम्पत्ति ही तो है धन से व

खरीदी जा सकती है न ? रे पतित समाज, मानो जीव जड के लिए है, जड जीव के लिये नही। मेरे सदृश नारी का बलिदान करने के बाद किसी और कोमलांगी अबला की आहुति की इस राक्षसी यज्ञ के लिए इस राक्षसी इच्छा ने मुझे कपा दिया और इसी कारण······ शायद इसी कारण, उसी समय मुझे गर्भ रह गया।

"··· ···स्त्री को सतान की कितनी चाह होती है, माता बनने का कितना चाव होता है, यह मैंने सुना और पढा था, लेकिन जानते हो, सास, ससुर और तुम्हारा यह उत्साह देखकर मेरा क्या हाल हुआ ?···· ···उसकी प्रतिक्रिया। अब तक तुमने, तुम्हारे मा-बाप ने मेरी सारी सद्भावनाओ को कुचलकर उनका सहार कर डाला था। यह धन, यह वैभव मेरे हृदय पर बोझ के रूप मे रखे थे। तुम्हारे कुटुम्ब का गौरव, वश की प्रतिष्ठा मुझे विडम्बना जान पडती थी। मुझ से इन सब के उत्तराधिकार की उत्पत्ति हो, यह मेरे आनन्द तथा उत्साह का नही बल्कि क्लेश एव उन्माद का विषय था। सब का नाश चाहती थी, रक्षा नही।·······मुझ मृतक को जीवित सतान की साध ही न रह गई थी। जैसे-जैसे वह मेरे पेट में बढ़ने लगी, मुझे ऐसा लगने लगा मानो तुम्हारी मा ने मुझे जो पत्थर शब्द से सम्बोधित किया था वह पत्थर मेरे पेट में बढ रहा है।

"····· ···प्रसव का समय आया। आह ! कितनी भीषण पीडा! और उस वक्त जब डाक्टरो ने कहा कि मेरे प्राण बचाना हो तो बच्चे को सिर तोड़ कर निकालना होगा और बच्चे को बचाना हो तो पेट चीरने से मेरी जान जायगी, तब·······तब तुम सब कसे फुटबाल-से उछल पड़े। पहले तो यही चाहा कि दोनों किसी तरह बच जाये !·······अत मे·······अन्त मे निर्णय हुआ, मेरा पेट चीरा जाय। अधमो ! पतितो ! बच्चे की इतनी नारकीय चाह ? सम्पत्ति के उत्तराधिकारी की यह घृणित लालसा ! मैंने पेट चिरवाने से इनकार कर दिया। तब-तब······ कुछ फुसफुस सलाह हुई। यह कहकर कि बच्चा सिर तोड कर ही निकाला जायगा, मुझे धोखा देकर बेहोश किया गया। जब मुझे होश आया तो मालूम हुआ, मेरा पेट चीरा गया है। ·······जो पहला स्वर मैने सुना वह तुम्हारी मा का था. 'लडकी हुई है'। उस स्वर में कैसी वेदना भरी थी और वह वेदना कैसी विडम्बना थी ! लड़की हुई है ! मानो भूकम्प हो गया है ! आग बरसी है ! बिजली गिरी है !·······मेरा एकाएक पैदा हुआ सम्मान क्षण-मात्र में धूल में मिल गया था। मेरी मां के भी तो मैं लड़की ही हुई थी, मेरे और क्या हो सकता था ! पत्थर, ककर, कोयला नही हुआ यही ताज्जुब की बात थी ! लडकी इतनी तिरस्कृत वस्तु है, इतनी बुरी कि कोई उसकी तरफ आँख उठाकर ही न देखता था !

"·······मुझे तुम्हे, तुम्हारे मा-बाप को, इस धन-वैभव को, इस कुटुम्ब को, किसी को छोडने का दुख नही है हाँ इस बच्ची को छोडने का अवश्य दुख है।

"" ""जाते-जाते भगवान् से अनुरोध करती हूँ कि मैं हिन्दू जाति मे पैदा न होऊँ ""'यह तो श्मशान है, यहा तो मुर्दा चाहिए;

"देखो""""देखो"""""शायद मैं जा रही हूँ। सुनो"""""' 'सुनो जाते-जाते शाप"""'हां, शाप देती हूँ। तुम्हारा बश निर्वंश हो जाय। कोई जीव इस जड मे गडने के लिए उत्पन्न न हो। यह सोना, चादी, ये हीरे, मोती, यह निर्जीव वैभव, यह सारा हृदय, भावनाओ और आत्मा से हीन आयोजन""""' मेरे शाप से भस्म "" ""'

ऐसा है क्षोभ से भरा शाप— एक व्यथित, पीड़ित नारी का अभिशाप ! जिस का हृदय पुरुष और पुरुष-प्रधान समाज की हृदयहीनता के प्रति घृणा से भरा हुआ है। उसके एक-एक शब्द का एक-एक स्वर पुरुष के अत्याचार की घृणित कहानी स्पष्ट कर रहा है।

सेठ जी के 'व्यवहार' एकाकी में जमीदारी शोषण के प्रति घृणा उत्पन्न की गई है। जमीदार अपनी पुत्री के विवाह मे किसानो को निमन्त्रित करता है, पर उन बेचारे अकाल-पीड़ितो को 'व्यवहार' के तौर पर दस-बीस रुपये प्रति घर देने होते है। गरीब किसान कहाँ से दे ? जमीदार ऊपरी सहानुभूति और दया दिखाकर किसानों को और अधिक लूटते है। इस एकांकी मे क्रातिचन्द्र एक सम्पन्न किसान का पुत्र है और कालेज मे पढ़ता है। वह जमीदार की धूर्त्तता का अच्छी तरह पर्दाफाश करता है। जमीदार के निमत्रण और भोजन की कलई खोलता हुआ वह कहता है—"जमींदार के निमन्त्रण मे जाकर गदे घी की मिठाई, चोकर की पूड़ियाँ और सड़े साग खाना छोटी बात नही तो कोई बडी बात है ? फिर यह सब भी किस अपमान से किया जाता है। मुझे अपने छुटपन के एक ऐसे ही निमत्रण का स्मरण है। महल के फाटक से ही हमारा अपमान आरंभ हुआ था। सदर फाटक मे तो हम लोग घुसने ही न पाये। एक पुराना टूटा-फूटा फाटक हमारे लिए खोला गया था।""""हम लोगो को घुड़साल मे खिलाया गया था, घुड़साल मे ! घोड़ो की लीद और मूत की दुर्गन्ध से नाक सड़ी जाती थी। उस दुर्गन्ध को इतने वर्षो के पश्चात् भी मेरी नाक तो नही भूली है। फटी पत्तलो और फूटे सकोरो मे हमें परसा गया था। परसगारी करने वाले हमे इस प्रकार परसते थे, मानों हम कगाल हो और वह भोजन करा कर हम पर महान् उपकार किया जा रहा हो !""""कह नही सकता, घी में मिठाई बनी थी या किसी गन्दे परनाले के पानी मे, दही का रायता था या छुही मिट्टी का, साग था कदाचित् सप्ताहो का सड़ा हुआ और पूरियाँ आटे की तो नही थी, लकडी के बुरादे की हो सकती है। ऐसे भोजन के पश्चात् हमारे गरीब भाइयों को जो खनाखन व्यवहार का रुपया देना पड़ा था उस का शब्द अभी भी मेरे कानो मे गूँज उठता है

"........दूसरो के श्रम पर बिना कोई श्रम किए जो तरह-तरह के गुलछर्रे उडाते है, वे लुटेरे नही तो क्या है ?"[1]

इस प्रकार किसानो की विषमतापूर्ण स्थिति का प्रदर्शन करते हुए लेखक ने उनका शोषण करने वाली जमीदारी प्रथा के प्रति घृणा जगाई है। नर्मदाशकर ऐसे ही घृणित जमीदार हैं जो ऐसी जमीदारी पद्धति का प्रतिनिधित्व करते है। उनके प्रति घृणा उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है।

श्री उदयशकर भट्ट के 'वापसी' एकाकी मे स्वार्थी और धन-लोलुप या अर्थ-पिशाच सम्बन्धियो के घृणित आचरण का चित्र प्रस्तुत किया गया है। रायसाहब रामप्रसन्न बर्मा मे नौकरी करते थे। वही उन्हे रायसाहब का खिताब मिला। उन की पत्नी का देहान्त हो जाता है। तब वे अपनी एक-मात्र लडकी और एक विधवा साली को साथ लेकर अपने धन-माल समेत बर्मा से देश लौट आते है, और अपने भाई-बंधुओं मे रहने लगते हैं। दीनानाथ और अंबिका दोनों रायसाहब के साथ अपनी घनिष्ठता सिद्ध करने की होड मे आरभ से ही हमारी घृणा के आलम्बन बन जाते है। उनकी धन-लोलुपता उन्हे मानव नही रहने देती। एक दिन रायसाहब अधिक बीमार हो जाते है और बेहोशी अख्तियार कर लेते है। उनके तथाकथित भाइयो को उनकी बीमारी की कोई चिंता नही होती, वे तो रायसाहब का धन हथियाने के लिए उनकी मौत का ही इन्तजार करते है। रायसाहब को सज्ञाहीन और कुछ देर का मेहमान समझ कर दीनानाथ, अम्बिका और कृपानाथ उनके धन-माल की छीना-झपटी मे लग जाते है। वे रायसाहब की साली के हाथ से—जो उनकी पत्नी की मृत्यु के पश्चात् गृह-स्वामिनी बनी हुई थी—गुच्छा छीन लेते है। कृपा कैशबक्स उठा लेता है। आपस मे छीना-झपटी होती है।

अम्बिका—सुनो, कृपा, यह कैशबक्स यही रख दो, समझे ? नही तो मुझे दूसरी कार्रवाई करनी पड़ेगी।

दीनानाथ—(अम्बिका से) मैं भी तो सुनूँ तुम्हारा मुझ से गुच्छा छीनने का क्या अधिकार है ? सीधी तरह से गुच्छा दे दो, नही तो खून-खराबी हो जाएगी।

अम्बिका—(कृपा से) तुम यहाँ से एक भी चीज नही ले जा सकते, समझे ? भागीरथी, बुला तो ला किशन को। देखूँ कैशबाक्स कैसे हथियाते हैं ?

इस प्रकार वे आपस मे लडते है, मार-पीट करते है। सिद्धेश्वर पड़ौसी, जो रायसाहब के अतिम समय मे उन्हें गीता का पाठ सुना रहा है, यह नाटक देख कर हैरान रह जाता है। वह उन्हे फटकारता हुआ कहता है—"बड़े दुख की बात है। एक प्राणी कष्ट मे है, और आप लोग उसकी अवस्था से दुखी होना तो दूर, आपस मे उसके पैसे के लिए लड़ रहे है। कितनी शरम की बात है !"

---

१ सेठ गोविन्ददास : 'एकादशी' संग्रह मे 'व्यवहार' एकाकी।

वे सिद्धेश्वर को भी घर से बाहर कर देते है। चद्रिका (रायसाहब की लडकी) और सरोजिनी 'हाय, हाय !' करती रह जाती है। वे सब बॉट-बखरे पर राजी होते हुए धन को जाचना चाहते है। इसी समय डाक्टर साहब द्वार खटखटाते है। पर दीनानाथ आदि डाक्टर को वापस भेज देते है—अब खेल जो खत्म हो रहा है।

इतने मे ही रायसाहब सज्ञा खोलते है। लेखक ने करारा व्यग्य किया है। वे तुरन्त इस घर से जाने को प्रस्तुत हो जाते है—(सरोजनी से) उठो, हम लोग इस मकान में अब एक क्षण भी न रहेगे। उठो।"

दीनानाथ और अम्बिका—भाई साहब, तुम तो मर गये थे ? यह पाखण्ड !

रायसाहब—मै मरा नही। अभी जिन्दा हूँ। तुम्हारी परीक्षा ली थी। आज मेरी आँखे खुल गई हैं। मुझे मालूम हो गया, कौन कितने पानी मे है। मै तुम्हारा भाई भी नही। मै वापस बर्मा जाऊँगा। चलो, सरोजिनी, चद्रिका !"

(सरोजिनी, चद्रिका और रायसाहब सामान लेकर खडे होते है।)

(यवनिका)"

श्री भगवती चरण वर्मा के 'मै—और केवल मै' मे आजकल के निरे स्वार्थी लोगो की घृणित मनोवृत्ति पर प्रकाश डाला गया है। आज के बहुत से बाबू लोगो को अपने स्वार्थो से ही मतलब है। अपने स्वार्थ की होड मे ये दूसरो के हितो को हडप कर जाने पर उतारू रहते है। अपने किसी साथी को नौकरी से डिसमिस कराने, उसे अपमानित कराने आदि के फेर मे ही पड़े रहते है। न इनको किसी के दुख-दर्द की बात सुनने से मतलब है, न किसी के प्रति सहानुभूति ही है। सहानुभूति केवल मौखिक-बनावटी और दिखावे की रह गई है। रामेश्वर की पत्नी मरणासन्न है। वह भारी विपदा मे है, यह जानते हुए भी कृष्णचन्द्र, बेनीशंकर आदि उसके सहयोगी क्लर्क उस की कुछ नही सुनते, अपनी ही हाकते रहते है और उल्टा अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए रामेश्वर को खन्ना के विरुद्ध बहकाकर टॉमसन के पास भेजना चाहते हैं। रामेश्वर की बात अनसुनी करके कृष्णचन्द्र अपने साथी से कहता है—लेकिन साला है बदमाश ! मैं कहता हूँ बेनीशकर, जब तक यह आदमी यहाँ है तब तक हम लोग कोई सुख-चैन से नही रह सकते।' रामेश्वर कृष्णचन्द्र से बीच मे कहता है—भाई, तुम्हारे बहनोई तो बड़े मशहूर डाक्टर है। जरा मै उन्हे दिखलाना चाहता हूँ।

कृष्णचन्द्र—हॉ, हॉ, चलना (बेनीशकर की तरफ घूम पड़ता है) न जाने कब से........।

रामेश्वर—भाई कृष्णचन्द्र, तो आज शाम को चलोगे न ?

(कृष्णचन्द्र इस प्रश्न का जवाब न दे कर रामेश्वर से कहता है)

कृष्णचन्द्र—क्यो जी रामेश्वर, टॉमसन साहब तुमसे तो बडे खुश हैं। तुम उन्हे क्यो नही सुझावे कि वह खन्ना को अलग करें।"

रामेश्वर किसी का अनिष्ट नही चाहता। तब वे उसके पास से उठकर चले जाते है। देवनारायण यह सब देखकर कहता है—"चले गये—बिना तुम्हारी बात सुने चले गये! यह दुनिया काफी मजेदार है। है न ?

"........मानवता ! हा-हा-हा ! जिसे तुम मानवता कहते हो वह ढकोसला है—छल है ! जो मानवता है, वह बडी कुरूप चीज है रामेश्वर ! मानवता के माने है एक-दूसरे को खा जाना, मानवता के माने है स्वय सुखी बनने के लिए दूसरे को दुखी बनाना।"

रामेश्वर को भी आखिर कहना पड़ता है—"हूँ, इतनी खुदी, इतनी उपेक्षा !" वह इस मानवीय स्वार्थ के प्रति घृणा से भर जाता है।

डा० रामकुमार वर्मा के ऐतिहासिक एकाकियो मे भी वैयक्तिक आचारण के अनेक घृणित रूप प्राप्त होते है। शैतान भी एक बार तो अपने कुकृत्यो से सिहर उठता है, चाहे वह सिहरण केवल उसकी मौत के आखिरी क्षणो मे हो। 'औरगजेब की आखरी रात' नामक एकाकी मे वर्मा जी ने औरगजेब के मन की ऐसी ही अवस्था का चित्रण किया है। अब जबकि मौत सर पर सवार है, उसके गुनाहो का हिसाब होने वाला है, तो वह अपने अत्याचारो, अपने गुनाहो का स्मरण करके ही सिहर उठता है। पश्चात्ताप, आत्मग्लानि, भय और आत्मभर्त्सना के भावो से वह अभिभूत हो जाता है। अपनी अर्द्धचेतनावस्था में रोगी आलमगीर की आत्मा पुकार रही है—"ओह !..... ...कितना अधेरा है, खुदा ! हमने तेरा नाम लेकर सल्तनत पर कब्जा किया, तेरा नाम लेकर..... औरतो और बच्चो को कैद किया, वे सब तेरे बच्चे !

तेरा नाम लेकर ' कुरान की कसम खाकर मुराद ' ' ' भाई मुराद से सुलह की और फिर ' ' और फिर' ''' उसका खून ' ''कौन ? अब्बा जान ! (आँखे फाडकर) तुम ?' ' तुम जीनत हो ? अब्बा जान कहाँ गए ? अभी तो यहाँ आये थे। (सोचता हुआ) जर्द था उनका चेहरा ''''''आँखो मे आँसू थे। ' ' उन्होने हमारे सामने घुटने टेक दिए और कहा—शाहशाहे आलमगीर ! हमे हमारा बेटा औरगजेब वापस कर दो ....! बादशाही लिबास मे हमारा बेटा खो गया है '' ' । उसे हमें वापस कर दो ! '' (घबराहट से भर्राए हुए स्वर मे) यह खिड़की के पास कौन है ? (सकेत करते हुए) कराहता हुआ, चीखता हुआ ! ओह ! उसने फिर चीख भरी, अरे दारा ' !

" ' ' लेकिन जीनत, इस होश से हमारी बेहोशी अच्छी है। गुनाहो की याद अब बर्दाश्त..... '''ऐसे बाप को तुम क्या कहोगी जिसने बादशाहत मे खलल पडने के वहम से अपने कलेजे के टुकड़ो को सज़ा देकर हमेशा कैदखाने मे रक्खा ?..... ' ' हमें भी कैद मे समझो, बेटी ! हमारे गुनाहो ने हमे चारो तरफ से घेर रक्खा है। जमीर की जजीरो ने भी हमारे हाथ-पैर बाँध लिए है। हम अब इस दुनिया को आँख उठाकर भी नही देख सकते। जिस सल्तनत को खून से सीच-सीच कर हमने

इतना बडा किया है उसे अगर अब आँसुओं से भी सींचना चाहें तो हमे एक पूरी जिन्दगी चाहिए। वह हमारे पास कहाँ है ? ...... जीनत, हमने जिन्दगी भर इबादत का ढिंढोरा पीटा, लेकिन खुदा के पास तक नहीं पहुँच सके। ....जीनत, जब हम पैदा हुए थे, तब हमारे चारो तरफ हजारो लोग थे, लेकिन........लेकिन इस वक्त हम अकेले जा रहे है। हम इस दुनिया में आए ही क्यो, हम से किसी की भलाई नही हो सकी। हम वतन और रैयत दोनों के गुनाह अपने सर पर लिए जा रहे है।

"......और हमारे मुराद बख्श ने सामूगढ की लडाई मे हमारे कहने पर दारा से लोहा लिया। और बस इस सबके बदले मुरादबख्श को क्या मिला! ओह... पा.... नी ...।

'इस वक्त हमे मत रोको जीनतउन्निसा! हमे मत रोको। हम कहेंगे, जरूर कहेगे। बुझने से पहले शमा की लौ भड़क उठती है। हमारी याददाश्त भी ताजी हो रही है। एक-एक तसवीर आँखो के सामने आ रही है। हम हाथी पर बैठकर सैरगाह जा रहे है। आगे-पीछे हिन्दुओ का बेशुमार मजमा है। वे चीख-चीख कर कह रहे है कि आलमपनाह, जजिया माफ कर दीजिए।... हम कहते है... तुम काफिर हो। जजिया नही हटेगा। वे लोग हमारे रास्ते पर लेट जाते हैं। हमारा हाथी आगे नही बढ़ रहा है। हम गुस्से मे आकर फीलवान को हुक्म देते हैं, इन कम्बख्तो पर हाथी चला दो। हाथी आगे बढ़ता है और सैकड़ो चीखे हमारे कान मे पड़ती है। हम हसकर कहते है, काफ़िरो, तुम्हारी यही सज़ा है। जजिया माफ नही हो सकता... नही हो सकता...!

"आजम, हमारे बेटे, हम जा रहे है.......! हम जिन्दगी मे अपने साथ कुछ नही लाए, लेकिन अपने साथ गुनाहो का कारवा लिए जा रहे है।......

"कामबख्श, हमारे बेटे... हम अकेले जा रहे है... जो सज़ाये हमने दी है....... जो गुनाह हमने किए है....... जो बेइसाफियाँ हमने की है........उन सबका अजाब हम अपने आगोश मे लिए है.........।"[१]

आत्मग्लानि के रूप मे वीभत्स रस का सुन्दर परिपाक इस एकाकी मे हुआ है। आरंभ से अंत तक इसी भाव की प्रधानता है। लेखक ने पापी औरगज़ेब से ही उसके पापो की भर्त्सना कराकर हमारी घृणा भावना का पोषण किया है। पाप को स्वय पुकारते-छटपटाते सुनकर या देखकर हमारी घृणा को तोष प्राप्त होता है। अत: यह एकाकी वीभत्स-रस-प्रधान है। इसे करुण रस का विषय मानना भ्रांति होगी। लेखक के हृदय की घृणा भावना ही इसमे पुष्ट हुई है। इस आत्मग्लानि-रूप

---

१. डा० रामकुमार वर्मा: 'सप्तकिरण' एकाकी-संग्रह के 'औरगज़ेब की आखिरी रात' एकाकी स

बीभत्स रस मे शोक, पश्चात्ताप, लज्जा, स्मरण, निर्वेद आदि कितने ही संचारी भाव प्रकट हुए हैं। मन की अर्द्धचेतन-अवस्था भी स्पष्ट है।

श्री उदयशकर भट्ट ने 'गिरती दीवारे' नामक एकाकी में पुरातन-पंथी लोगो—कुएँ के मेढक बने सकुचित-हृदय लोगो की घृणित मनोवृत्ति पर प्रकाश डाला है। ये लोग नए युग के नए प्रकाश से अपनी आँखे बन्द रखते हैं। अपने सकुचित घेरे को ही सब-कुछ समझते हैं। इन का रूप घृणित तब बनता है जब दूसरो के साथ भी इनका व्यवहार सकुचित और अमानुषीय हो जाता है। इस एकाकी मे राव साहब, उनका बेटा विजय और उनका मु शी ऐसे ही परम्परापथी है, जो सभवत- अपने युग से सैकडों वर्ष पीछे है। विजय कहता है—"मैने भूल से एक-दो बार समाचार-पत्र पढा था। तभी मैंने देखा कि समाचार-पत्रो में बहुत-सी बाते झूठ होती है। उदाहरण के लिए यह कि अमुक देश मे अकाल पड गया। हजारो लोग भूखो मर गए। भला यह कोई बात है! उस जगह का अनाज कहाँ गया? 'देश मे हजारो की सख्या मे बाल-विधवाएं है—बाल विधवाएँ!' मैने नही सुना हमारे नगर मे दो-चार भी बाल-विधवाएँ हो। इन समाचारों से लाभ क्या है, मैं पूछता हूँ।"

राव साहब—भाई कलियुग है। कलियुग मे जो न सुनने मे आए सो थोडा है। शिव! शिव! न जाने क्या होने वाला है? सुना है रेल नाम की कोई चीज बनी है जो जल्दी ही एक जगह से दूसरी जगह पहुँचा देती है। मैं कहता हूँ कि हमे इधर-उधर जाने की आवश्यकता क्या है? हमारे घर मे क्या नहीं है?

विजय—एक बार एक अग्रेज हमारे घर मे आ गया (पिता से) जिन दिनो आप तीर्थ-यात्रा को गये थे। तो मै बडी दुविधा में पड़ गया। क्या करूँ? कहाँ बिठाऊँ? मैने बाहर दालान मे तख्त बिछवाए। गद्दी, कालीन, तकिये ठीक तरह जमा किये। वहाँ मैं उससे मिला। उसके बाद सारा घर गोबर से पुतवाया, सब कपडे धुलवाए। गगा जल छिडकवाया। तब कही जाकर घर पवित्र हुआ। घर की मर्यादा है! ...... मै स्वयं उससे दूर एक और तख्त पर बैठा था। जब उसने मिलाने को हाथ उठाया तो मैंने दूर से ही हाथ जोड दिए, उसके पास नही गया। फिर भी मैंने सब कपड़ो के साथ स्नान किया।" इन दकियानूसी बातो और विचारो के प्रति घृणा ही जगती है।

छुआछूत की बीमारी भी समाज का कोढ है। हरिकृष्ण प्रेमी के 'पश्चात्ताप' एकांकी मे 'ऊँच-नीच' की राष्ट्रघातक सामाजिक बुराई के प्रति घृणा उत्पन्न की गई है। कट्टरपंथी हिन्दुओ के हरिजनो पर अत्याचार की मार्मिक कहानी लेखक ने इस एकाकी मे प्रकट की है। वैद्य पचकौडीदास हमारी घृणा के प्रमुख पात्र बनते हैं। वैद्य जी एक मैली धोती पहने है, जो आधी पहने हुए है और आधी कधे पर डाले हुए है। बदन उघाड़ा है। एक मैला और मोटा जनेऊ पहने हुए हैं। वे मन्दिर मे घुस जाते हैं रघिया अपनी मा से कहती है मा हम ऐसे पंडितों से तो अधिक स्वच्छ

है। ये मन्दिर मे जा सकते है, तो हम क्यो नही ?'

रधिया की मा—बडी जातवाले गदे रहकर भी पवित्र गिने जाते है.........।"

रधिया जिद करके मन्दिर की एक सीढी चढ़ती है, ऊपर शोर मच जाता है। पचकौडीदास कन्हैया को धक्के मारता हुआ बाहर ला रहा है।

पचकौडी—तुम गाधी के चेलो ने धर्म-कर्म को नष्ट करने की ठान ली है। चाडाल रोज भंगियो के मोहल्ले मे पढाने जाता है। भगवान् के मन्दिर की सीढी पर पैर रखा तो सिर फोड दूंगा। यह धर्म का मामला है।

(जोर से धक्का देते है। कन्हैया सीढ़ियो पर से लुढक जाता है। उसके सिर मे चोट आती है। रधिया और रधिया की मा उसे सम्हालती हैं। रधिया अपनी चुन्नी फाड कर चोट पर पट्टी बाधती है।)

रधिया—भैया, तुम्हे हमारे कारण बहुत कष्ट मिला।

रधिया की मा—मै तुम से पहले ही कहती थी कि हमारे मुहल्ले मे मत आया करो। इसे ये ऊँची जात वाले कभी सहन नही करेंगे।

कन्हैया—ये लोग अभी समझते नही है—एक दिन समझ जायेंगे।

रधिया—हम लोग इनका काम छोडदे तो एक दिन मे इनकी बुद्धि ठिकाने आ जाय।"

मास्टर कन्हैयालाल के सब सवर्ण हिन्दू विरुद्ध हो जाते है। हिन्दुओ के डर से हरिजन भी मास्टर जी से पढ़ना खतरे की बात मानने लगते है। घसीटा कहता है—अम्मा कहती थी कि गाँव वाले कहते हैं अगर तुम लोग मास्टर कन्हैयालाल से कोई सरोकार रक्खोगे, उनसे बच्चो को पढवाओगे तो इस गाँव से निकलवा दिये जाओगे।

एक बूढा—हाँ, ऐसी चर्चा गाँव मे है सही। वे कहते है कि पढ़-लिख कर ये कमीने लोग बराबरी करेंगे।

कन्हैया—हाँ चाचा जी, ये लोग मुझे भी डराते-धमकाते है। जान से मार देने की धमकी भी देते है।

दूसरा बूढा—फिर भैया, तुम क्यो हमारे पीछे अपनी जान जोखम मे डालते हो ?

कन्हैया—ऊँच जात मे पैदा होने के पाप का प्रायश्चित्त कर रहा हूँ। ससार मे न कोई बड़ा है, न कोई छोटा।......"

इस छुआछूत ने हिन्दू जाति का ही कितना अहित किया है! हरिजन कहलाने वाले—नीच समझे जाने वाले कितने ही हिन्दुओ को इसने ईसाई बनने पर बाध्य किया है। डा० नवनीत राय इस का प्रमाण है। ये पचकौड़ीदास है कि भाँग चढाते है हरिजन के स्पर्श से अपने को अपवित्र समझते है इतने अमानुषी है कि रधिया के बीमार पड़ जाने पर उसे देखने तक नहीं जाते रधिया की मा नाक रगड़ कर

रह जाती है। धर्म जो भ्रष्ट हो जायगा ! उधर ईसाई बने हुए हरिजन से अपने बेटे को दवाई दिलाने मे कोई हर्ज नही समझते। भगी के स्पर्श से इनके सौ बिच्छू काटते है। पचकौडी रधिया की मां को जवाब देते है—मुझे भी कन्हैया की तरह भ्रष्ट समझ लिया है तूने। अरे ! ब्राह्मन का बेटा भगी के घर कैसे जायगा ?" ऐसे पंचकौडी के प्रति रधिया की घृणा का चित्र देखिए—

रधिया—जी बड़ा घबराता है, कन्हैया !

कन्हैया—घबराओ नही, रधिया ! मा जी पचकौड़ी के यहाँ गई है, वह आकर दवा देगा।

रधिया—वह चाण्डाल हमारे घर कभी नही आएगा। मै तो उसकी दवा खाऊँगी भी नही। मुझे उसकी सूरत से घिन आती है।"

अन्तत पचकौडी को अपने बच्चे की खातिर अपनी कट्टरता छोड़नी पडती है, अधविश्वास को तोडना पडता है।

प्रेमी जी ने अपने एकाकियो मे अनेक समस्याओ और सामाजिक विकृतियो को प्रकट किया है। जाति-पाति की कट्टरता के अतिरिक्त, "दूषित विवाह-पद्धति, बहू पर सास के अत्याचार, चरित्र पर सन्देह, दुर्व्यवहार, वासना का अप्राकृतिक दमन, देवर की दुश्चरित्रता, जीजा की वासना-लोलुप भावना, सामाजिक कार्यकर्त्ताओ का अपनी सुन्दर पत्नियो से अधर्म की कमाई कराना, साहित्यिको की गरीबी, बेबसी, आधुनिक शिक्षा-प्राप्त नारियो की स्वच्छन्द-प्रियता, उन्मुक्त प्रेम, झूठा वैभव, सिनेमा-प्रेम, पुरुषो की कठोरता, विवाहित होकर अन्य स्त्रियो के प्रति आकर्षित होना, झूठे प्रेम का अभिनय, धन के प्रलोभन द्वारा सतीत्व पर प्रहार, बिना पर्याप्त श्रम किए आरामतलबी का जीवन, किताबी शिक्षा की हानियाँ, सामाजिक कठोरता, मान्यताएँ तथा उनके विरुद्ध विद्रोह करते हुए आधुनिक शिक्षित स्त्री-पुरुषो का चित्रण किया है। इनके सामाजिक एकाकियों में रूढि के जीर्ण-शीर्ण खंडहर धराशायी होते है, तथा उनके स्थान पर नई बौद्धिक पीढी का निर्माण प्रकट होता है। पुरानी जडता तथा रूढिवादिता के विरुद्ध प्रेमी जी का बुद्धिवाद सघर्षपूर्ण नव-निर्माण करता है।" [१]

डा० रामकुमार वर्मा का 'चारुमित्रा' एकाकी ऐतिहासिक पीठिका पर युद्ध की विभीषिका के प्रति घृणा उत्पन्न करता है। अशोक ने कलिगवासियों के भीषण नर-सहार, रक्त-पात—सर्वनाश पर अपनी विजय-दुदुभी बजाई। लेखक ने इस रक्त-पात के प्रति घृणा जगाई है। तिष्यरक्षिता अशोक को कहती है—

"क्षमा, दया, करुणा, महाराज ! आचार्य उपगुप्त कल यहाँ आये थे। उन्होने

१. डा० रामचरण महेन्द्र : हिन्दी एकाकी—उद्भव और विकास, पृ० १९८।

कलिंग के भीषण रक्तपात को देखकर कहा था कि बुद्धि का अक्षय-कोष मनुष्य, थोडी-सी भूमि के लिए मनुष्यत्व को मिट्टी में मिला देना चाहता है ।"

एक स्त्री अपने मृत बालक को लिए रोती-चिल्लाती आती है—"मेरे बच्चे के टुकड़े-टुकड़े कर डालो ! यह अभी मरा नही है ! (पुत्र की ओर देखकर) लाल, अभी तुम मरे नही हो । ये लोग तुम्हारे टुकडे-टुकड़े कर डालेगे, तब तुम मरोगे ।.... तेरा खून इतना मीठा है मेरे बच्चे ! राजा तक उसे पीना चाहता है । और खून हो तो अपने नन्हे से कलेजे को सामने रख दे । ये सब मिल कर पी लें ।"

तिष्यरक्षिता—क्या तुम्हारा बच्चा मर गया है ! कैसे ?

स्त्री—अशोक राक्षस ले गया मेरे बच्चे को । राज्य नही चाहता था मेरा लाल, लेकिन.........मुझे न्याय नही चाहिए.........इसके पिता को सैनिको ने घेर कर मारा और जब मैं इसे बचाने लगी तो इसके फूल-से कलेजे मे भाला घुसेड़ दिया उन राक्षसो ने । मेरे बच्चे को राज्य नही चाहिए था ।.........।

इस प्रकार भीषण काण्ड को देख-सुनकर तिष्यरक्षिता घृणा से भर जाती है, वह कहती है—"नही स्वयप्रभा, अब मुझे इस राज्यश्री से घृणा हो रही है । उसके सजाने के लिए कितने मनुष्यो की बलि देनी पड़ रही है । रात-दिन युद्ध की बाते सुनते-सुनते जैसे मेरी श्रवण-शक्ति विद्रोह कर रही है । अब मैं और कुछ सुनना नही चाहती । देख, इतनी अच्छी वन-श्री है । यहाँ ये पेड और पर्वत कैसे सुख मे दीख पड रहे है । ये तो किसी से लडने नही जाते, किसी का खून नही बहाते ।.... " यह मनुष्य ही रात-दिन न-जाने किस सुख के लिए दूसरे का सुख नष्ट करने मे जुटा रहता है, खून की नदियाँ बहाता है ?" इसी युद्ध की विभीषिका ने अशोक की ऐतिहासिक परिणति कराई । वह कहता भी है—देवि, आज विश्राम-शिविर मे जाने पर ज्ञात हुआ कि एक लाख से अधिक सैनिक अभी तक युद्ध मे मारे जा चुके है, जिन मे बहुत अधिक सख्या कलिक के सैनिकों की है । तीन लाख सैनिक घायल हुए है ।......... आज पाटलिपुत्र की विजय हुई, किन्तु देवी, उस स्त्री की आत्म-हत्या ने मेरा ध्यान सग्राम मे मरे हुए वीरो की माताओ की ओर आकर्षित कर लिया है और मेरी विजय मे जैसे उल्लास के बदले अभिशाप तड़प रहा है ।"

श्री विष्णु प्रभाकर के 'रक्त चंदन' एकाकी में निरीह काश्मीरियों पर आक्रमण करने वाले दुष्ट कबायलियो के प्रति तीव्र घृणा पैदा होती है । देश-भक्ति की इस वीरतापूर्ण दास्तान मे भयानक और बीभत्स रस की भी प्रचुर सामग्री पाई जाती है । कबायलियो से भयभीत राधाकृष्ण और उनकी पुत्री गौरी की भयभीत दृष्टि पाठक को भी आशका से भर देती है—

(सहसा कही शोर उठता है । गोली चलती है । वे दोनो काँपते हैं)

राधाकृष्ण—यह क्या ! फिर गोली चली । चलो, चलो, गौरी ।

गौरी भयातुर काका

(गौरी एकदम राधाकृष्ण से चिपट जाती है। वह शीघ्रता से उसे थामता है और खिड़की बन्द करता है। शोर पास आता है। वह स्पष्ट होता है। गदी गालियाँ, बीभत्स हसी पास आती जाती है। कुछ ही क्षण में कई कबायली वर्दियाँ पहने और हथियारो से लैस स्टेज पर प्रवेश करते है। उनकी चाल बताती है कि वे नशे मे चूर है।)

पहला कबायली— "उसने हमको दौलत नही दिया, औरत नही दिया। खाँ! तुमने इधर औरत देखा है। कमबख्त ये काफिर लोग कहाँ से रुपया लाता है? कहाँ से औरत पैदा करता है?

दूसरा—खबसूरत औरत!! खूबसूरत औरत कहाँ है? हम औरत माँगता है।

तीसरा—तुम को औरत मिलेगा, तीन औरत, मौलवी के घर में तीन परीजादियाँ है। (हँसकर) तीन परीजादियां। खाँ, हम बी तीन। वो बी तीन।

दूसरा—(नाचता हुआ) हम बी तीन, वो बी तीन, ओ ओ ओ हम वी तीन, वो बी तीन।

....

गुल—हाँ काका! खबर बहुत खराब है। उन लोगो ने गाँव के गाँव तबाह कर दिए है। वे बेगुनगाह इन्सानो की जिन्दगी पर मौत बरसा रहे हैं। उनके नापाक इरादे औरतो की अस्मत को बरबाद कर रहे है। वे जमीन नहीं चाहते।"[1]

पहला उद्धरण बीभत्स रस के विभाव पक्ष का उदाहरण है, दूसरा (गुल का कथन) काव्यगत अनुभावपक्ष है। स्मृति, शोक, क्षोभ आदि सचारी स्वत ध्वनित हैं।

श्री जगदीश चन्द्र माथुर के 'रीढ की हड्डी' एकाकी मे लेखक ने समाज के उन लोगो को घृणा का आलम्बन बनाया है, जो अपने लड़को के लिए ठोक-बजाकर लडकी देखते है, जिन्होने विवाह-शादी को 'बिजनैस' बना रखा है, जो नारी की आत्मा की उपेक्षा करते हैं, और अपने लड़के को ही सब से बडा रत्न-धन समझते हैं। बाबू गोपालदास का लडका शकर कालेज-जीवन मे आवारा होने के कारण अपनी बैकबोन खो चुका है—किसी शरारत के कारण उसकी कुदी हुई थी। फिर भी अपनी इस कमज़ोरी को, अपने चरित्र के दाग को लडका और लड़के वाले कुछ समझते ही नही, लड़की की ही जाँच-पड़ताल, देख-भाल ऐसे करते है, जैसे खरीदार मेज़-कुर्सी को खरीदते वक्त करता है। रामस्वरूप की लडकी उमा, जिसे वे देखने आते हैं, उन्हें खरी-खरी सुनाकर अपनी घृणा व्यंजित करती है। गोपालदास कहते है—चाल मे तो कुछ खरावी है नहीं। चेहरे पर भी छवि है—हाँ, कुछ गाना-बजाना सीखा है?" कभी पेंटिंग-बेंटिंग जानने के बारे मे पूछते हैं, कभी कहते हैं कि चश्मा क्यों, अधिक पढ़ी-लिखी

---

१ रक्त चदन विष्णु प्रभाकर सात प्रधान एकांकी सग्रह मे उद्धृत)।

तो नही ? वास्तव मे उन्हें डर है कि कही कालेज मे पढी हो, और शकर की करतूत जानती हो। उमा शंकर को पहचान लेती है, और उनके अपमानपूर्ण प्रश्नो से तग आकर कहती है—"क्या जवाब दूँ बाबू जी ! जब कुर्सी-मेज बिकती है, तब दूकानदार कुर्सी-मेज से कुछ नही पूछता, केवल खरीदार को दिखला देता है। पसद आ गई तो अच्छा, वरना

रामस्वरूप—(चौककर खडे हो जाते है) उमा, उमा !

उमा—अब मुझे कह लेने दीजिए बाबू जी ! " ये जो महाशय मेरे खरीदार बन कर आये है, इनसे जरा पूछिए कि क्या लडकियो के दिल नही होता ? क्या उनके चोट नही लगती ? क्या वे बेबस भेड-बकरियाँ हैं, जिन्हे कसाई अच्छी तरह देखभाल कर खरीदते है ? "और जरा अपने इन साहबजादे से पूछिये कि अभी पिछली फरवरी मे ये लडकियो के होस्टल के इर्द-गिर्द क्यो घूम रहे थे, और वहाँ से कैसे भगाये गये थे ?"

इस प्रकार लेखक ने समाज की उस घृणित मनोवृत्ति का चित्रण किया है जो कुंवारी युवती को गाय के समान निरीह तथा मेज-कुर्सी की भाँति बेजान और बेहिस समझती है।

सेठ गोविन्ददास के 'ईद और होली' एकाकी मे हिन्दुओं और मुसलमानो के पारस्परिक वैमनस्य और लडाई-झगड़े पर घृणा का भाव व्यंजित किया गया है।

उपेन्द्रनाथ अश्क के 'तूफान से पहले' का भाव भी यही है। हिन्दुओं-मुसलमानों में मार-पीट, लड़ाई-झगडा हो जाता है। इस फिसाद का आधार है धार्मिक कट्टरता। "तबलीग, शुद्धि, दीवाली, मुहर्रम, गाय, बाजे का सवाल हटा तो साला यह झडो का सवाल आ गया। इन लोगो को तो फिसाद कराने और अपना उल्लू सीधा करने का बहाना चाहिए।''' ''भाई को भाई काट रहा है। फिसाद तो हिन्दु-मुसलमानो मे पहले भी हुए, लेकिन ऐसा भयानक और खूनी फिसाद पहले कभी नही हुआ।''' नन्हे मासूम बच्चों के सीनो मे छुरे भोंके गए। औरतों की छातियाँ काटी गई। बेकसूर बच्चे-बूढो को चार-चार मजिले मकानो के नीचे फेका गया, जिन्दा जलाया गया।''''' सरकार का क्या जाता है ? भूसे में आग लगा जमालो तो दूर खडी है ! लीडरो का भी क्या जाता है ? अपने दीवानखानो मे आराम से बैठे भड़कीले बयान झाड देते है, उनका आराम और उनकी लीडरी कायम है, मौत तो हम गरीबो की है।'' 'हिंसा''' 'हिंसा''' 'हिंसा '''इन सबके सिर पर यह कैसी हिंसा सवार है ! इन्हे कौन बताये कि यह हिंसा तो अपना ही गला काटने के बराबर है। मुसलमान बच्चो की हत्या क्या अपने बच्चो की हत्या नही ? मुसलमान औरतो का अपमान क्या अपनी मा-बहिनो का अपमान नही ?''''' ''एक तूफान आ रहा है ' भयंकर तूफान आ रहा है !! जिसमे ये सब दगे ये गुण्डे ये धम और जात-पात के दर्प ये गरीबो का लोहू चूसने वाले

पूजीपति, ये भोले-भाले लोगों को लडवाकर अपना उल्लू सीधा करने वाले नेता—सब मिट जायेगे। एक नई दुनिया बसेगी, जिसमे गरीबो का, मजदूरो का राज होगा, जहाँ हिन्दू-मुसलमान न होगे। काले-गोरे न होगे। सब इन्सान भाई-भाई होगे।" घीसू का यह कथन घृणा के वाचिक अनुभाव का सुन्दर उदाहरण है। शोक, आशका, क्षोभ आदि सचारियो के साथ यहाँ भावी आशा का प्रकाश भी स्पष्ट है।

श्री विष्णु प्रभाकर के 'मा-बाप' एकाकी मे भी धार्मिक विद्वेष और साम्प्रदायिक भावना के प्रति घृणा उत्पन्न की गई है। नगर मे हिन्दू-मुसलमानो की लडाई हो जाती है। इस साम्प्रादायिक दगे में धर्मान्ध लोग निर्दोष प्राणियो की हत्या करते है। अशोक अपने प्राणो की परवाह न करता हुआ लोगो को बचाता है। अशोक का मित्र यदुनाथ चिंतित माता-पिता का धीरज बँधाने आता है। अशोक का पिता दामोदरस्वरूप उससे पूछता है—"अभी तक लोग लड रहे है? कैसे है वहाँ के आदमी?"

यदुनाथ—आदमी तो हमारे जैसे ही है। पर कभी-कभी आदमी के भीतर का राक्षस जाग पडता है।

यदुनाथ धर्म और परमेश्वर के ठेकेदारो को भी खरी-खरी सुनाता है। वह धर्म के सकुचित-कुत्सित रूप और जघन्य परिणाम के प्रति घृणा से भरा हुआ है। वह कहता है—"इस धर्म ने आदमी को आदमी का खून पीना सिखाया है। इस ईश्वर ने ही हमको कायर बना दिया है।"

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क के 'लक्ष्मी का स्वागत' एकाकी मे भी समाज की एक घृणित मनोवृत्ति पर प्रकाश डाला गया है। पहली पत्नी के मर जाने पर मा-बाप को झट-पट अपने पुत्र की दूसरी शादी करने का फिकर हो जाता है। वे ऐसा प्रकट करते हैं मानो मर जाने वाली से कोई सम्बन्ध ही न था। रौशन अपने घर वालों की इस मनोवृत्ति से खीझ उठता है। उसके मन में ग्लानि भर जाती है। वह कहता है—आप नही जानते डाक्टर साहब! यह सब लोग हृदयहीन है। आपको मालूम नही। इधर मैं अपनी पत्नी का दाह-कर्म करके आया था, उधर ये लोग दूसरी शादी के लिए शगुन की सोच रहे थे।.........दुनिया का व्यवहार इतना शुष्क, इतना निर्मम, इतना क्रूर है? मै इससे नफरत करता हूँ। क्या यह लोग नही समझते कि वह जो मर जाती है, वह भी किसी की लड़की होती है—किसी माता-पिता के लाड मे पली होती है।"

रौशन अपनी मा के बार-बार के प्रस्ताव से ऊब कर कहता है—"मै नही जानता, मै पागल हूँ, या आप! आप क्या मेरी सूरत नही देखतीं? क्या आपको इस पर कुछ लिखा दिखाई नही देता? शादी- शादी- शादी! क्या शादी ही दुनिया मे सब कुछ है? घर म बच्चा मर रहा है और तुम्हें शादी की सूझ रही है

मा-बाप तथा नाता करने वालो को पहली पत्नी का बच्चा भी काँटा-सा नजर आता है। वे यही चाहते है कि यह काटा भी निकल जाए तो अच्छा हो ! रौशन के पिता कहते है—हाँ, मैंने तो उनसे कह दिया—बच्चा है, पर मा की मृत्यु के बाद उसकी हालत ठीक नही रहती।" बच्चा अरुण अपनी अन्तिम साँस फड-फडाता है, उधर रौशन के मा-बाप शगुन लेकर लक्ष्मी का स्वागत करते है। रौशन का पिता शगुन लेने की बधाई देने आता है, इधर मृत बालक का शव लिए रौशन प्रवेश करता है। वह खीझ कर कहता है—"हाँ, नाचो, बाजे बजाओ। ......लक्ष्मी का स्वागत कर लो।" सचमुच "यह नाटक भारतीय गृहस्थ जीवन की दूसरी शादी-सम्बन्धी निर्मम प्रथा का बीभत्स चित्र सम्मुख लाकर रख देता है।"[१]

सुदर्शन जी के 'राजपूत की हार' मे वीर राजपूती जीवन की एक और झाकी है। सामत जसवंतसिह युद्ध मे पीठ दिखा कर, जान बचा कर घर आ जाता है। उसकी वीर पत्नी को पता चलता है तो वह दुर्ग का द्वार नही खोलती। राजपूत युद्ध से हार कर अपनी पत्नी या मा की शीतल गोद पाना चाहता है ! पर यह कलक वह कैसे बर्दाश्त करेगी ? वह अपनी सहेलियो मे अपमान का यह घूट कैसे पियेगी ? क्या उसका पति इतना निर्लज्ज, इतना कायर है कि अपने प्राणो के मोह मे उसने राज-पूती गौरव को मिट्टी मे मिला दिया ? आखिर किसी तरह जसवतसिह की माता कह-सुनकर दरवाजा खुलवा देती है। और जसवन्तसिह की पत्नी से कहती है—

कुलीना—अब जसवन्तसिह आ रहा है, उसका अपमान न करना। थका हुआ है, घायल है, कई रातो का जागा हुआ है ! हार कर आया है, क्रोध मे होगा। दरवाजे पर पडा रहा है, लज्जित होगा। तुम्हारे कटु वचनो से और भी बिगड जायगा। तुम्हारी दो मीठी बातो से उसे सारे कष्ट भूल जायेगे।

महामाया—(बेबसी से) माँ ! मुझे कत्ल कर दो, मगर यह न कहो, मुझ से यह न होगा। मेरे हृदय मे घृणा की आग जल रही है।"

इस उद्धरण में यद्यपि महामाया अपने पति के भाग आने पर बहुत क्षुब्ध है, और उसके "हृदय मे घृणा की आग जल रही है।" पर पाठक उतनी तीव्र घृणा का अनुभव यहाँ नही करता। इसका कारण आज के बदले हुए युग-मान है। परि-स्थितियों से विवश होकर रण से भाग आया जसवन्तसिह आज हमे इतना उत्तेजित नही करता जितना उस राजपूतकाल की महामाया को करता था। अत. बीभत्स रस का आलम्बनत्व यहाँ इतना पुष्ट सिद्ध नही हुआ है, इसीलिए पाठक की हल्की घृणा ही जग कर रह जाती है। वास्तव मे यहाँ घृणा वीर रस के सचारी रूप मे ही प्रकट हुई है। महामाया (काव्यगत आश्रय) की वीरभावनाओं से हमारा तादात्म्य होता है और उसी वीर भाव के आश्रय घृणा व्यजित हुई है।

१ महामहोपाध्याय डा० लक्ष्मीधर शास्त्री साहित्यिक एकाकी सग्रह पृ० १

'अश्क' जी का 'अधिकार का रक्षक' एकाकी हास्य-व्यग्य के रूप मे घृणा उत्पन्न करता है। उस मे सेठ घनश्यामदास हमारी तीव्र घृणा का आलम्बन बनता है। वह रगा-सियार, झूठे आश्वासनो पर वोट लेना चाहता है। वह हरिजन-सेवा का दभ भरता है, किन्तु अपनी जमादारिन को तीन-तीन महीने मजदूरी नही देता, मागने पर डाट-डपट करता है, इलैक्शन जीतने के लिए नौकरों और मजदूरो का हिमायती बनता है, परन्तु अपने नौकर का हिसाब नही करता, उसे धमकाता है, मार-पीट तक करता है। उसके नौकर भगवती का यह कथन उसके प्रति कितनी घृणा जगाता है :"...... ...नही बाबू जी, एक-एक नही। आप मेरा अब हिसाब चुका दीजिए। वेतन मिले तीन-तीन महीने हो गए हैं। एक-एक, दो-दो से कितने दिन का काम चलेगा ? हमारे भी आखिर बीवी-बच्चे है, उन्हे भी खाने-ओढने को चाहिए। आप एक दिन के चाय-पानी मे जितना खर्च कर देते हैं, उतना हमारे एक महीने........।"

बेचारे गरीब नौकर के इस प्रकार अपना हक मागने पर मि० सेठ अपना पशु-रूप प्रकट करते हुए कहते है—"क्या कहा ? आज ही लोगे। अभी लोगे ! जा, नही देते। एक कौड़ी भी नही देते। निकल जा यहाँ से ! ...पाजी, हरामखोर, सुअर ! आज तक सब्जी मे, दाल मे, सौदा सुलुफ मे, यहाँ तक कि बाजार से आने वाली हर चीज़ में से पैसे रखता रहा, हमने कभी कुछ न कहा और अब यो अकड़ता है। जा निकल जा। जाकर अदालत मे मामला चला दे। चोरी के अपराध मे ६ महीने के लिए जेल न भिजवा दू तो नाम नही।

भगवती—सच है बाबू जी, गरीब लाख ईमानदार हो तो भी चोर है, डाकू है और अमीर यदि आखों मे धूल झोक कर हजारों पर हाथ साफ कर जाए, चन्दे के नाम पर सहस्रो........"

यह रंगा-सियार पूरा शोषक है। उधर यह होजरी यूनियन के मन्त्री को मज़दूरों और श्रमजीवियो के हित के लिए उद्योग करने की बात कहता है, इधर अपने पत्र के सम्पादक का शोषण करता है। उससे १३-१३ घण्टे काम लेता है। रात के ३-३ बजे तक बेचारा सम्पादक मरता-खपता है पर उसकी कोई परवाह नही की जाती। बच्चो की उन्नति तथा स्त्रियों के अधिकारो का यह 'रक्षक' रक्षक नही, भक्षक ही है। वह अपने बच्चे और पत्नी से भी बुरा व्यवहार करता है। लेखक ने उसके ढोंगी चरित्र का पर्दाफाश करके समाज के ऐसे रगे-गीदड़ो और बहुरूपियो के प्रति घृणा जगाई है। इस प्रकार यह एकाकी भी बीभत्स-रस-प्रधान ही माना जाना चाहिए। इसमे हास्य-व्यग्य के मूल मे भी घृणा भाव ही है। हास्य, व्यग्य, क्षोभ आदि संचारी बीच-बीच में घृणा को ही पुष्ट करते हैं।

डा० रामकुमार वर्मा के ऐतिहासिक एकांकी 'कलक-रेखा' मे राजपूतों को अपने सम्मान की रक्षा में शत्रु से लोहा लने की बजाय दिखाना

हमारी घृणा का विषय है। राजकुमारी कृष्णा का टीका जयपुर के महाराज जगतसिंह को भेजा जा चुका है, किन्तु धूर्त्त अमीरखा जोधपुर के महाराजा मानसिंह से दुरभिसन्धि करके उदयपुर के महाराणा को चेतावनी देता है कि यदि राजकुमारी का विवाह जोधपुर के महाराजा मानसिंह से नही किया गया, तो उदयपुर की ईट-से-ईट भिडा दी जायगी। वह भारी सेना लेकर उदयपुर की सीमा पर पहुँच जाता है। महाराणा और उसके सामन्त विकट परिस्थिति का अनुभव कर यह निर्णय करते है कि राजकुमारी का ही किसी प्रकार अत कर दिया जाय, ताकि इस समस्या का मूल कारण ही न रहे और इस प्रकार मेवाड को बचाया जाय। राजकुमारी कृष्णा विष-पान करने का निश्चय करती है। उसके ये शब्द राजस्थान के राजपूतो की कन्याघाती प्रवृत्ति के प्रति घृणा ही उत्पन्न करते है—'नही, पिता जी ! राजस्थान की कन्याएँ तो जन्म से ही मृत्यु को सौंप दी जाती है। आपने मुझे इतने वर्षो का वरदान दे कर मुझ पर कितना उपकार किया है !''

शक्तावत सरदार सग्रामसिह को जब इस बात का पता चलता है कि राजपूतो की कायरता के कारण राजकुमारी कृष्णा विषपान करना चाहती है, और इस प्रकार उसका आत्मत्याग वीर राजपूतो के मस्तक पर कलंक-रेखा ही होगा, तो वह उत्तेजित होकर महाराणा से कहता है—

सग्रामसिह—(आवेश से) तो यह कहिये कि राजपूत की तलवार का पानी उतर चुका ! मेवाड़ की राजकुमारी अपने आत्म-सम्मान के लिए मृत्यु से सहायता मागे और जोक की तरह जीवन से चिपटे हुए राजपूत, मातृभूमि का रक्त चूसते रहे ? और जब कृष्णा को मृत्यु-दण्ड दिया गया, तो आपने मेवाड के सैनिको को आत्महत्या की आज्ञा नही दी ? आपकी कमर से यह तलवार लटकती रही और आपने इसके टुकड़े-टुकड़े नही किये ? असमर्थता का राग अलापने वाला पिता क्या कन्या से पहले विष-पान नहीं कर सकता था ?

"........कायर-कलकी अजीतसिह का प्रस्ताव आपने माना ही क्यो ? क्या इससे सारी राजपूत-जाति हमेशा के लिए लाछित नही हुई ?

"........नही सुनूँगा, महाराणा ! राजनीति की बातें सुनने का अवकाश नही है। जो राज्य अपनी राजपुत्री की रक्षा नही कर सका, उसे नष्ट हो जाना चाहिए। जो पिता अपनी पुत्री की हत्या के षड्यन्त्र मे शामिल हो, वह पिता........

महाराणा—खामोश, सग्रामसिह !

सग्रामसिह—यह लीजिए तलवार ! इसे वापस लौटाता हूँ। (तलवार फेकता है।) युगो से यह तलवार हमारे वश में रही है। इसने उदयपुर की सेवा मे सहस्रो मस्तको को काटा है। हमारे पूर्वजों ने इसी से इस राजवश की सेवा की है कृष्णा की इस लज्जाजनक मृत्यु के बाद यह तलवार हमारे वश मे नही रहेगी आ· से हमारी तलवार इस राज्य से भिन्न हुई .स गिरी हुई तलवार को तोड़ डालि

या अपनी कन्या के मृत शरीर पर इस तलवार से फिर प्रहार कीजिए ! जय एकलिंग !

....

महारानी—(चीखकर) मेरी कृष्णा !

महाराणा—(कातर होकर) मुझे धिक्कार है !"

इस प्रकार लेखक ने राजपूतों की पतनोन्मुख अवस्था का एक चित्र प्रस्तुत किया है और उनकी दुर्बलता के प्रति घृणा उत्पन्न की है। साहम, व्यंग्य, विरक्ति, क्षोभ, आत्मग्लानि, पश्चात्ताप, गर्व, आवेग, चपलता आदि कितने ही सचारी भाव उपर्युक्त सवाद मे प्रकट हुए है।

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'एक दिन' एकांकी मे वर्तमान युग मे युवको की उस मनोवृत्ति के प्रति घृणा पैदा की गई है, जिसके कारण वह स्वय लडकी को देखकर विवाह का निश्चय करना चाहते है। लेखक ने दिखाया है कि इस देखने मे वासना छिपी रहती है और युवक विवाह से पूर्व ही लडकी से अपनी इच्छा-अनुसार एकांत-मिलन की आकाक्षा रखता है। मिश्र जी ने आधुनिक विलासिता पर भी व्यग्य किया है। राजनाथ कहता है—"बस एक ही व्यापार चल रहा है—कुमारियों और उनके प्रेमियो की प्रेमलीला। यूरोप और अमेरिका मे भी इतना मद नही जिसमे यह देश डूब रहा है।"

निरजन शीला को देखने आता है। वह लुक-छिप कर शीला को हर रूप मे देखना चाहता है। उससे एकान्त मे मिलना चाहता है। शीला कहती है—वह मुझे खीचना चाहता था अपनी चटक-मटक से, अपने उतावलेपन से, शिक्षा और धन के दम्भ से। किसी-न-किसी बहाने मै बराबर उसके पास रहूँ, वह मुझे देखता रहे, मुझ से बातें करता रहे। मेरे भीतर उसके लिए कुछ छिपा न रहे, कुछ रहस्य न रहे। दो ही दिन मे वह सब कुछ जान जाय, उसकी सारी भूख मिट जाय।" निरजन और शीला का वार्त्तालाप सुनिए—

निरजन—भावी पत्नी को ठीक से देख लेना, समझ लेना, ठगा जाना है ? कैसी बेढगी बात कह रही हैं ?

शीला—आपकी अवस्था का पुरुष जब मेरी आयु की लड़की के पास जाता है, अधा हो जाता है ! कही सयोग से लडकी सुन्दरी हुई तो वह उन्मत्त हो उठता है। अधा क्या देखेगा ? उन्मत्त क्या समझेगा ?"

श्री उदयशकर भट्ट के 'समस्या का अन्त' नामक एकाकी मे जातिगत भेदभाव की सकीर्णता के प्रति घृणा उत्पन्न की गई है। माणविका वामरथगण की कन्या है। उसका स्वाभाविक सच्चा प्रेम मद्रकगण के सेनानायक श्रुतबुद्धि से है। किन्तु दोनो गणो मे परम्परागत शत्रुता है। लेखक ने पहले तो इस पारस्परिक शत्रुता के जघन्य रूप को प्रकट किया है एक बार श्रुतबुद्धि माणविका स मिलने वामरथो की

सोमा मे माणविका के खेत पर आता है, तो उसे माणविका का भाई और पिता दोनो पकड़ लेते हैं।

दर्भक—'''' '''तुम हो कौन ?

श्रुतबुद्धि—मैं मद्रक हूँ, श्रुतबुद्धि मेरा नाम है।

दोनो—मद्रक, दुष्ट मद्रक, अब तुम बच कर नही जा सकते।

(दोनो मे युद्ध होता है, शबर, दर्भक दोनो मिलकर श्रुतबुद्धि को मारते है, श्रुतबुद्धि 'अ.ह' करके गिर जाता है।)

शबर—मर गया ?

दर्भक—हा, मर गया। '''' '''अब यह उठ नही सकता। मद्रकगण के किसी व्यक्ति को देखकर उसे सुरक्षित जाने देना वामरथो का धर्म नहीं है।' इस अमानुषीय कृत्य के पश्चात् जब माणविका की इच्छा से श्रुतबुद्धि उसे अपने गण मे उठा लाता है, तब वामरथ क्रुद्ध होकर मद्रको पर आक्रमण कर देते है।

वामरथ—मद्रको ने हमारा अपमान किया है। माणविका को उठा ले चलो।

मद्रक—वामरथो ने हमारे ऊपर आक्रमण किया है, इसलिए हम उन्हे दण्ड देगे।

माणविका—क्या युद्ध किसी भी तरह बन्द नही हो सकता ?

सब—युद्ध होगा। युद्ध बन्द नही होगा।

माणविका—दोनो मेरे ही गण हैं।

वामरथ—दुष्टे, तूने हमारा गण कलकित किया। हम तुझे भी मार डालेगे।

माणविका—मनुष्य सब समान है। गण का भेद बनावटी है।

युद्ध होता है, और तुरन्त माणविका बीच में खडी होकर अपना सर खड्ग से अलग कर के भेंट करती है। तब कही दोनो पक्ष चेतते है और युद्ध बन्द करते है। इस प्रकार लेखक ने प्रेम के बीच मे जाति-भेद की प्राचीर बन कर खडी होने वाली सकीर्णता के प्रति घृणा व्यंजित की है।

मिश्र जी के 'मेड तोड दी' एकाकी मे रघुनाथ हमारी घृणा का पात्र बनता है। वह भोला के खेत की मेड अपनी लाठी के बल पर तोड़ देता है। और उसके पुत्र बनवारी को लाठियों से मार गिराता है। सारा गाँव उससे घृणा करता है, विरुद्ध हो जाता है। थानेदार बनवारी के बयान लेता हुआ, रघुनाथ और उसके भाइयों के नाम पूछता है, जिन्होंने बनवारी को मारा था। बनवारी नाम बताता है

बनवारी—रघुनाथ, रघुनन्दन, रामदास तीनों भाई, और''' '''

थानेदार—नाम तो इन तीनो का राम का है। पर काम इनका किसका है ?

एक स्वर—रावण का (सब हसते है।)"

श्री विष्णु प्रभाकर के 'दूर और पास' एकांकी में सूदखोर देवी और धूर्त्त रामप्रसाद हमारी घृणा को जगाते है। देवी ऐसा सूदखोर है कि एक बार जो उसके शिकजे मे फस जाये, उससे ऋण लेले, तो उमर भर नहीं छूट सकता। वह हजार लिखाता है तो ५०० नकद देता है। इसी प्रकार रामप्रसाद महा धूर्त्त है। वह जगन्नाथ का मित्र बना हुआ है। पर अपनी मीठी-मीठी बातों से फंसा कर उसके रुपये हड़प कर जाता है। चाँदी खरीदवाने का धोका करता है, और उसमे भारी हानि जताता है। वह जगन्नाथ से एक हजार रुपये घाटे के और मांगता है। बेचारा दे तो कहाँ से दे? वह अपनी पत्नी से कहता है—कुछ तो कहना ही होगा। मेरी समझ मे नही आता। वह कहता है कि दुकान पर दो हजार और लेकर तीन हजार का कागज लिख दो।

कलावती—(काप कर) क्या?

जगन्नाथ—हाँ, वह यही कहता है।

कलावती—वह चोर है, डाकू है, लुटेरा है। हाय रे कैसे-कैसे लोग बसते है दुनिया मे! मैं सब जानूँ हूँ वह दुकान हड़पना चाहता है।"

इस प्रकार सैकडो एकांकियो से बीभत्स रस के उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते है। हिन्दी एकांकी-साहित्य में बीभत्स रस का चित्रण जीवन की अनेक समस्याओ से सम्बन्ध रखता है। इस रस के आश्रय मानव-जीवन का व्यापक अध्ययन हमारे लेखको ने किया है, इसमे सन्देह नही।

श्री देवीलाल सामर ने अपने सामाजिक व्यंग्यात्मक नाटको मे आश्रयहीन तिरस्कृत विधवाओ, समाज मे उनके प्रति दुर्व्यवहार, छुआछूत, वेश्या, पुरानी जीर्ण-शीर्ण परम्पराएँ, रूढ़िवादिता तथा परिवारो में होने वाले छोटे-छोटे अत्याचारो की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। इस वर्ग मे आपके १. परित्यक्ता, २ तवायफ के घर बगावत, ३. मृत्यु के उपरान्त, ४. अछूत इत्यादि हैं।

'परित्यक्ता' में विधवा की समस्या और सामाजिक रूढ़ियों, भ्रमात्मक धारणाओं, संकुचितता मे फँसे हुए ग्रामीणो का एक चित्र खींचा गया है। सारा ग्राम एक गरीब विधवा के विरुद्ध हो उठता है, वह उपेक्षिता और तिरस्कृत होकर जीवन व्यतीत करती है। अपनी एक-मात्र पुत्री के लिए वह जीना चाहती है किन्तु रूढ़िवादी समाज उसके विरुद्ध हो जाता है। पानी भरने जाती है तो लोग ढेले मारते है। उसकी छाया से बच्चा बीमार हुआ समझा जाता है। अत मे विधवा के नि:स्वार्थ वात्सल्य का मर्म खुलता है और उसका बलिदान प्रकट होता है। इस नाटक में अंध-विश्वासो, जादू-टोना, रूढिवादिता और हिन्दूसमाज मे विधवा की दुरवस्था की एक मार्मिक झाँकी दी गई है। समाज को नए आदर्शों के अनुसार बदलना चाहिए, पापी नही, पाप घृणा के योग्य है, ये तत्त्व नाटक में प्रकट किये गये है।

'मृत्यु के उपरांत' में बाहरी दिखावा झूठा प्रेम मिथ्या ज्ञान बनावटी

आदर, रुपये का बोलबाला और दुनियादारी का मिथ्याचार चित्रित किया गया जो आज के युग तथा समाज का यह बोलता हुआ सजीव चित्र है। इसमें सामर जी ने व्यंग्यमयी यथार्थवादी शैली का प्रयोग किया है। 'अछूत' समाज की कुरीतियों का एक विशद चित्र है। सामर जी समाज के तीखे आलोचक है। अपने सामाजिक नाटकों में आपने आजकल की संकुचितता, झूठा दिखावा, कल्पना का वातावरण और मिथ्यावाद पर प्रहार किये है। वे समाज के उन गले-सडे अंशों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते है, जिन्हें प्राय हम नही देखते। छोटे-बडे पात्र जो आज भी पुराने युग की गदगी अपने अन्दर समेटे हुए है, उन्ही में से कुछ को लेकर वे निर्मम मूर्तिकार की तरह सब कुछ हमारे समक्ष प्रस्तुत कर देते है।[1]

इस प्रकार हिन्दी एकांकी मे वैयक्तिक तथा सामाजिक कुरूपताओ के अनेक चित्र हमारी घृणा के विषय बनते है। समाज और व्यक्ति के इन घोर काले तमस् चित्रों से भी व्यक्ति तथा समाज-निर्माण की शक्ति प्राप्त होती है। ये चित्र अपना अमिट प्रभाव छोड जाते है और जीवन-सुधार की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय है। इन काले कारनामो मे भी स्वस्थ मानवीय सद्वृत्तियो के नव-निर्माण की अपूर्व शक्ति है। अनेक लेखकों की अनेक रचनाएँ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है जिनमे बीभत्स रस का पूर्ण प्रसार पाया जाता है। उपर्युक्त लेखकों और एकाकियो के अतिरिक्त श्री मोहन सिंह सेंगर (पीले हाथ, मिस्टर ४२० आदि), प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त (विजय किसी की), श्री कृष्ण चन्द्र (हमारा मदरसा), प्रो० गोविन्दलाल माथुर (सूदखोर, हरिजन, शफाखाना, बाल विधवा, काला बाजार आदि), डा० प्रेमनारायण टण्डन (कन्वेंसिंग, बचपन के साथी आदि), श्री प्रभाकर माचवे (गली के मोड पर, धनवान बनो, गुडबाई मि० शर्मा आदि), चन्द्रगुप्त विद्यालकार (मनुष्य की कीमत, भेडिये आदि) श्री धर्मप्रकाश आनन्द (दीनू), आचार्य चतुरसेन शास्त्री (अस्मत पर हाथ, विधवा सिंहनी आदि) गोविन्दवल्लभ पत (विष का दांत, काला जादू, अपराध मेरा ही, आदि) आदि अनेक लेखक और इनके एकाकी उल्लेखनीय है।

---

1. डा० रामचरण महेन्द्र : हिन्दी एकांकी—उद्भव और विकास, पृ० २४५-४६।

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची

संस्कृत—

ग्रन्थ	लेखक
१. साहित्यदर्पण	आचार्य विश्वनाथ
२. काव्य प्रकाश	आचार्य मम्मट
३. काव्यालंकार	आचार्य भामह
४. काव्यालंकार	रुद्रट
५. नाट्य शास्त्र	भरत मुनि
६ काव्यालंकार सूत्र-वृत्ति	वामन
७ ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन आचार्य
८. वक्रोक्तिजीवितम्	कुन्तक
९. दशरूपकम्	धनंजय
१०. अग्निपुराण	
११. भावप्रकाश	शारदातनय
१२ व्यक्ति-विवेक	महिम भट्ट
१३. अभिनव भारती	अभिनवगुप्त
१४. सरस्वती कंठाभरण	भोजराज
१५. नाट्यदर्पण	रामचन्द्र गुणचन्द्र
१६. रस-गंगाधर	पण्डितराज जगन्नाथ
१७. रस-तरंगिणी	भानुदत्त
१८. काव्यानुशासन	आचार्य हेमचन्द्र
१९. बृहदारण्यकोपनिषद्	
२०. काव्यादर्श	दण्डी
२१. दशकुमारचरित	दण्डी
२२. मृच्छकटिक	शूद्रक
२३. वेणीसंहार	भट्ट नारायण
२४. शिशुपालवध	माघ

२५. वैराग्य शतक भर्तृहरि
२६. मालतीमाधव भवभूति
२७. काव्यमीमासा राजशेखर
२८. शृंगारप्रकाश भोजदेव

अँग्रेजी—

1. Oxford Lectures On Poetry · A.C Bradley
2 Principles Of Literary Criticism : I A Richards
3. What Is Art · Tolstoy
4. Essays In Criticism Mathew Arnold
5. Aesthetics . Benedetto Croce
6. History Of Sanskrit Poetics S K. De 1952
7. An Introduction To Social Psychology. : Willium Mcdougall 28th Ed 1964
8. Psychological Studies In Rasa . Dr. Rakesh Gupta First Ed.
9. The Number Of Rasas . Dr. V. Raghvan
10 An Introduction To Dramatic Theory . A Nicol
11. Idea Of Comedy : Meridith
12. A History Of Aesthetics Bernard Bosanquet
13 Understanding Human Nature : Alfred Adler
14. M. Ribot's Theory Of The Passions. : A.F Shand
15. Character & The Emotions . A F. Shand
16. Psychology Of The Emotions Th. Ribot
17. The Expression Of The Emotions In Man & Animal . Darwin
18, Bhoja's Srangar Prakash : Dr V. Raghvan First Ed.
19. Science Of Emotions · Dr Bhagwan Dass ,,
20. History Of Sanskrit Poetics Dr P V Kane

1. Psychology : R S. Woodworth 1952 Ed
!2. Othelo Shakespeaie

ेन्दी-आलोचना-ग्रन्थ—

१. नया साहित्य : नये प्रश्न — आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी — प्रथम संस्करण
२ पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा — सपादक डा० नगेन्द्र — ,,
३. काव्य मे उदात्त तत्त्व — ,, — ,,
४ भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा — ,, — ,,
५. हिन्दी साहित्य-दर्पण — अनुवादक डा० सत्यव्रतसिंह — ,,
६. हिन्दी अभिनवभारती — भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर — ,,
७. समीक्षा-शास्त्र — प० सीताराम चतुर्वेदी — ,,
८ हिन्दी कविता मे युगान्तर — डा० सुधीन्द्र — ,,
९. नवरस — बाबू गुलाबराय — द्वितीय संस्करण
०, बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य — डा० प्रतिपालसिंह — प्रथम संस्करण
१. करुण रस — डा० ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव — ,,
२. काव्य-प्रकाश (हिन्दी अनुवाद-सहित) — मम्मट (साहित्य सम्मेलन) — द्वितीय संस्करण
३. काव्य-विवेचन — डा० विपिनबिहारी त्रिवेदी तथा डा० उषा गुप्ता — प्रथम सस्करण
४. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास — डा० रामकुमार वर्मा — द्वितीय सस्करण
५ हिन्दी साहित्य मे हास्य रस — डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी — प्रथम सस्करण
६ हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य — डा० गोविन्दराम शर्मा — ,,
७ काव्य-दर्पण — आचार्य रामदहिन मिश्र — ,,
८. हास्य के सिद्धान्त — प्रो० जगदीश पाण्डेय — ,,
९. रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण — डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित — ,,
०. अरस्तू का काव्य-शास्त्र — सपादक डा० नगेन्द्र — ,,
१. हिन्दी साहित्य का इतिहास — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल — द्वितीय सस्करण
२ रस-मीमासा — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल — द्वितीय संस्करण
३. चिन्तामणि भाग १, २ — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
४. देखा-परखा — इलाचन्द्र जोशी — प्रथम संस्करण
५. पुरुषार्थ — डा० भगवानदास — ,,
६. रस-कलस — अयोध्यासिंह उपाध्याय — तृतीय संस्करण
७ काव्य रसायन — देव — २००८ वि०

२८. रस-विलास	देव	
२९. काव्य में अभिव्यंजनावाद	डा० लक्ष्मीनारायण सुधांशु	प्रथम संस्करण
३०. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय	डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल	,,
३१. वृन्दावनलाल वर्मा और उनकी मृगनयनी	डा० शिवकुमार मिश्र	द्वितीय संस्करण
३२. जीवन-साहित्य	काका साहब कालेलकर	,,
३३. रसिक प्रिया	केशवदास	
३४. विवेचना	इलाचन्द्र जोशी	प्रथम संस्करण
३५. हिन्दी ध्वन्यालोक	अनु० आचार्य विश्वेश्वर	,,
३६. काव्यालोक	रामदहिन मिश्र	,,
३७. काव्य-कल्पद्रुम	कन्हैयालाल पोद्दार	,,
३८. हिन्दी रसगंगाधर	अनु० पुरुषोत्तम शास्त्री	,,
३९. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास	डा० श्रीकृष्णलाल	,,
४०. आधुनिक हिन्दी साहित्य	डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	,,
४१. हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास	डा० दशरथ ओझा	,,
४२. सिद्ध-साहित्य	डा० धर्मवीर भारती	,,
४३. अपभ्रंश-साहित्य	डा० हरिवंश कोछड़	,,
४४. प्रेमचन्द और उनका युग	डा० रामविलास शर्मा	,,
४५. आधुनिक साहित्य	डा० भोलानाथ	,,
४६. रस-रत्नाकर	हरिशंकर शर्मा	,,
४७. वक्रोक्ति जीवित (कुन्तक)	भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर	,,
४८. हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास	डा० रामचरण महेन्द्र	,,
४९. आधुनिक हिन्दी नाटक	डा० नगेन्द्र	,,
५०. रीति काव्य की भूमिका	डा० नगेन्द्र	द्वितीय संस्करण

काव्य—

१. सिद्धराज	मैथिलीशरण गुप्त	सप्तमावृत्ति
२. द्वापर	मैथिलीशरण गुप्त	२०१६ वि०
३. यशोधरा	मैथिलीशरण गुप्त	सं० २०१०
४. भारत-भारती	मैथिलीशरण गुप्त	एकादश सं०

५. पंचवटी	मैथिलीशरण गुप्त	२७वाँ सं० २००८ वि०
६ किसान	मैथिलीशरण गुप्त	२००५ वि०
७. जयद्रथवध	मैथिलीशरण गुप्त	३२वाँ सं०
८. पउम चरिउ (हिन्दी अनुवाद-सहित)	अनु० श्री देवेन्द्रकुमार जैन	प्रथम संस्करण
९. अंगराज	श्री आनन्दकुमार	,,
१०. नन्ददास-ग्रन्थावली	नन्ददास	,,
११. पृथ्वीराज रासो	स० कविराय मोहनसिंह	,,
१२. जायसी-ग्रन्थावली	स० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	पंचम संस्करण
१३. रामचरित-मानस	तुलसीदास	
१४. रामचन्द्रिका	केशवदास (स० ला० भगवानदीन)	सप्तम आवृत्ति
१५. कबीर बीजक	कबीरदास	वेंकटेश्वर प्रेस स० १८८४
१६. कामायनी	जयशंकर प्रसाद	चतुर्थ संस्करण
१७. भूषण ग्रन्थावली	भूषण(प्रकाशक हिन्दी भवन)	स० १९५० ई०
१८ बिहारी सतसई	बिहारीलाल	
१९. हम्मीर रासो	जोधराज	चतुर्थ संस्करण नागरी सभा
२०. दीनदयाल गिरि	स० डा० श्यामसुन्दरदास	स० १९१९ ई०
२१. दीपशिखा	महादेवी वर्मा	
२२ यामा	,,	
२३. लोकोक्ति शतक	प्रतापनारायण मिश्र	सन् १८८८
२४. भारतेन्दु ग्रन्थावली	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सं० ब्रजरत्नदास)	प्रथम संस्करण
२५. कृष्णायन	द्वारिकाप्रसाद मिश्र	
२६. साकेत	मैथिलीशरण गुप्त	२००७ सं०
२७. दैत्यवंश	हरदयालुसिंह	प्रथम संस्करण
२८ नूरजहाँ	गुरुभक्तसिंह भक्त	,,
२९. विक्रमादित्य	गुरुभक्तसिंह भक्त	,,
३०. साकेतसंत	बलदेवप्रसाद	,,
३१ भूमि की अनुभूति	मिलिन्द	

३२. हल्दी घाटी	श्यामनारायण पाण्डेय	प्रथम सस्करण
३३. जौहर	श्यामनारायण पाण्डेय	,,
३४ युग-द्रष्टा प्रेमचन्द	परमेश्वर द्विरेफ	,,
३५. मीरा	परमेश्वर द्विरेफ	,,
३६. जननायक	रघुवीरशरण 'मित्र'	सं० १९५८ ई०
३७. कुणाल	सोहनलाल द्विवेदी	प्रथम सस्करण
३८ युगवाणी	सुमित्रानन्दन पत	तृतीय सस्करण
३९ ग्राम्या	,,	,,
४० रजतशिखर	,,	
४१ अनामिका	निराला	,,
४२ कुकरमुत्ता	निराला	
४३. परिमल	निराला	,,
४४ भ्रमरगीतसार	स० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	
४५ सूरसागर	सूरदास	,,
४६. बगाल का अकाल	बच्चन	प्रथम स०
४७ दिल्ली	रामधारीसिंह दिनकर	,,
४८. चक्रवाल	,,	,,

उपन्यास—

१ सेवासदन	प्रेमचन्द	दिसम्बर १९६०
२. प्रेमाश्रम	प्रेमचन्द	
३. रगभूमि	प्रेमचन्द	
४. निर्मला	प्रेमचन्द	
५ गबन	प्रेमचन्द	
६. कर्मभूमि	प्रेमचन्द	
७. गोदान	प्रेमचन्द	दसवाँ संस्करण
८. ककाल	जयशंकर प्रसाद	नवाँ सस्करण
९ सरकार तुम्हारी आँखों मे	उग्र	पाकेट सस्करण
१०. शराबी	उग्र	तृतीय सस्करण
११. जीजी जी	उग्र	सन् १९५५ सस्करण
१२. शेखर एक जीवनी	अज्ञेय	द्वितीय सस्करण
१३. बयालीस	प्रतापनारायण श्रीवास्तव	प्रथम सस्करण
१४ वेदना	प्रतापनारायण श्रीवास्तव	,,
१५ संन्यासी	इलाचन्द्र जोशी	पचम

१६. निर्वासित	इलाचन्द्र जोशी	
१७ पर्दे की रानी	,,	
१८. घृणामयी (लज्जा)	इलाचन्द्र जोशी	
१९. प्रेत और छाया	इलाचन्द्र जोशी	
२० सुबह के भूले	इलाचन्द्र जोशी	चतुर्थ सस्करण
२१ जहाज का पछी	इलाचन्द्र जोशी	प्रथम संस्करण
२२. दायरे	रांगेय राघव	पाकेट सस्करण
२३ हुजूर	रांगेय राघव	१९५९ ई०
२४ गद्दार	कृशन चन्दर	पाकेट संस्करण
२५. होटल डी नाज	मन्मथनाथ गुप्त	प्रथम संस्करण
२६ अँधेरी गलियां	विनोद रस्तोगी	पाकेट संस्करण
२७. अँधेरा-उजाला	ख्वाजा अहमद अब्बास	,,
२८. लाल पानी	चतुरसेन शास्त्री	प्रथम सस्करण
२९. गोली	चतुरसेन शास्त्री	,,
३०. सोना और खून	चतुरसेन शास्त्री	,,
३१. कचनार	वृन्दावनलाल वर्मा	,,
३२. मृगनयनी	वृन्दावनलाल वर्मा	चतुर्थ सस्करण
३३. राम-रहीम	राजा राधिकारमण-प्रसाद सिंह	स० १९५९ ई०
३४. त्याग-पत्र	जैनेन्द्र	१९५६ ई०
३५. बाबा बटेसरनाथ	नागार्जुन	१९५४ ई०
३६. रतिनाथ की चाची	नागार्जुन	द्वितीय सस्करण
३७. बलचनमा	नागार्जुन	,,
३८. हाथी के दाँत	अमृतराय	प्रथम संस्करण
३९. पार्टी कामरेड	यशपाल	द्वितीय सस्करण
४० दिव्या	यशपाल	प्रथम संस्करण
४१. देश-द्रोही	यशपाल	,,
४२. मनुष्य के रूप	यशपाल	,,

कहानी—

१. विपथगा	अज्ञेय	
२ मानसरोवर ८ भाग	प्रेमचन्द	सातवाँ संस्करण
३. शिवपूजन-रचनावली	शिवपूजन सहाय	१९५६ ई०
४ विभूति		

५ धरती अब भी घूम रही है	विष्णु प्रभाकर	१९५६ ई०
६. नया स्वर्ग	मोहनसिंह सेंगर	प्रथम संस्करण
७. कला का पुरस्कार	बेचन शर्मा उग्र	,,
८ इन्द्रजाल	जयशंकर प्रसाद	
९ आकाश-दीप	,,	
१० कहानी की कहानी	सं० कृष्णदेव झारी	,,
११ बेनीपुरी ग्रंथावली	रामवृक्ष बेनीपुरी	,,
१२. वो दुनिया	यशपाल	
१३. यशपाल की श्रेष्ठ कहानियाँ	यशपाल	पाकेट संस्करण
१४. नये धान से पहले	देवेन्द्र सत्यार्थी	प्रथम संस्करण

नाटक तथा एकांकी-संग्रह—

१. महात्मा ईसा	बेचन शर्मा उग्र	
२. छाया	हरिकृष्ण प्रेमी	द्वितीय संस्करण
३. भारतेन्दु ग्रंथावली	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सं० ब्रजरत्न सहाय)	प्रथम संस्करण
४. सती चन्द्रावली	राधाचरण गोस्वामी	,,
५. राज्यश्री	जयशंकर प्रसाद	दसवाँ संस्करण
६. विशाख	,,	पंचम संस्करण
७. जनमेजय का नाग-यज्ञ	,,	
८. अजातशत्रु	,,	तेरहवाँ संस्करण
९. चन्द्रगुप्त	,,	नवाँ संस्करण
१०. ध्रुवस्वामिनी	,,	दसवाँ संस्करण
११ स्कन्दगुप्त	,,	,,
१२. रक्षा-बंधन	हरिकृष्ण प्रेमी	द्वितीय संस्करण
१३. विषपान	हरिकृष्ण प्रेमी	तीसरा संस्करण
१४. साँपों की सृष्टि	हरिकृष्ण प्रेमी	प्रथम संस्करण
१५. अलग-अलग रास्ते	उपेन्द्रनाथ अश्क	तीसरा संस्करण
१६. सिंदूर की होली	लक्ष्मीनारायण मिश्र	चतुर्थ संस्करण
१७. वरमाला	गोविन्दवल्लभ पंत	प्रथम संस्करण
१८. शतरंज के खिलाड़ी	हरिकृष्ण प्रेमी	१९५५ ई०
१९. अंधी गली	उपेन्द्रनाथ अश्क	१९५६ ई०
२०. जय-पराजय	उपेन्द्रनाथ अश्क	आठवाँ संस्करण
२१. नाटक-संग्रह	सेठ गोविन्ददास	प्रथम संस्करण

२२	शक-विजय	उदयशंकर भट्ट	प्रथम संस्करण
२३.	डाक्टर	विष्णु प्रभाकर	प्रथम संस्करण
२४.	कोणार्क	जगदीशचन्द्र माथुर	प्रथम सस्करण
२५.	ललितविक्रम	वृन्दावनलाल वर्मा	द्वितीय सस्करण
२६	हंस-मयूर	वृन्दावनलाल वर्मा	,,
२७.	गरुडध्वज	लक्ष्मीनारायण मिश्र	,,
२८	दशाश्व मेघ	लक्ष्मीनारायण मिश्र	,,
२६	पुरुष का पाप	विनोद रस्तोगी	द्वितीय सस्करण
३०.	शाप और वर	सेठ गोविन्ददास	
३१.	एकादशी	सेठ गोविन्ददास	
३२	वापसी	उदयशकर भट्ट	
३३	सप्त किरण	रामकुमार वर्मा	
३४.	मात प्रधान एकाकी (सग्रह)		
३५.	रीढ की हड्डी	जगदीशचन्द्र माथुर	
३६.	ईद और होली	सेठ गोविन्ददास	
३७	तूफान से पहले	उपेन्द्र नाथ अश्क	
३८.	मां-बाप	विष्णु प्रभाकर	
३६.	साहित्यिक एकाकी-सग्रह	म० महामहो० डा० लक्ष्मीधर शास्त्री	
४०	अधिकार का रक्षक	उपेन्द्रनाथ अश्क	
४१	एकाकी एकावली	प्रकाशक हिन्दी भवन	
४२.	कलंक-रेखा	डा० रामकुमार वर्मा	
४३	समस्या का अंत	उदयशकर भट्ट	

पत्र-पत्रिकाएँ—

साहित्य सदेश	जुलाई, अगस्त १६५६
बिहार बधु	अक्तूबर १८८१ ई०
सरस्वती	१६१० ई०–१६१६ ई०
आलोचना	अक ४, ६ ।
The Tribune	Dec. 20, 1960